आत्मविलास

लेखक—

स्वामी आत्मानन्द मुनि

'श्रीआनन्दकुटीर-ट्रस्ट पुष्कर' की स्वीकृतिसे
श्रीश्रद्धा-साहित्य-निकेतन, कचहरी रोड,
अजमेरद्वारा प्रकाशित किया गया

द्वितीयावृत्ति
२०००

मूल्य २॥)

नोटः—

पुस्तक प्राप्ति स्थान—

(१) श्रीमैनेजर, श्रद्धा-साहित्य-निकेतन,
कचहरी रोड, अजमेर

(२) भ० गणपतराम गंगाराम सर्राफ,
नया बाजार, अजमेर

नोट—यदि कोई सज्जन रेल्वे पारसलसे अधिक पुस्तकें मँगवाना चाहें तो चौथाई मूल्य पेशगी भेज देना चाहिये।

मुद्रकः—
(१) सस्ता-साहित्य प्रेस, अजमेर
(प्रथम खण्ड सम्पूर्ण तथा परिशिष्ट भाग)
(२) अग्रवाल प्रेस, अजमेर
(द्वि ख० ७२ पृष्ठ)
(३) गुरुकुल प्रेस, ब्यावर
(द्वि. खं पृ. ७३-२०८)

दो शब्द

इस ग्रन्थकी प्रथमावृत्ति एक हजारकी संख्यामें श्रीयुत द्वारकाप्रसादजी लक्ष्मणदासजी नारनौलनिवासीने सन् १९४० में अपनी फर्म कराचीसे प्रकाशित कराई थी। उन्होंने अपनी स्वर्गीया श्रीमाताजीके स्मारकमें लोकहितार्थ दृष्टिसे इस ग्रन्थको किसी नकद मूल्यके बिना ही वितरण किया था। अर्थात् 'श्रद्धा व विचारसहित पाठ तथा यथाशक्ति धारणा' ही इसका मूल्य रखा गया था। थोड़े समयमें ही इस ग्रन्थकी सब प्रतियाँ वितरण हो गई और जनताने आदरभावसे इसको ग्रहण किया। कुछ महानुभावोंने अपने सद्विचार भी इस ग्रन्थके विषयमें प्रकट किये, जो पाठकोंकी जानकारीके लिये अलग पृष्ठपर उद्धृत किये जाते हैं। यहाँतक कि 'सस्तु-साहित्य-वर्धक कार्यालय ट्रस्ट' अहमदाबादने गुजराती जनताके हितकी दृष्टिसे इस ग्रन्थको गुजराती भाषामें अनुवाद कराके ५ हजार प्रतिएँ प्रकाशित कीं। हर्षका विषय है कि गुजराती जनताने इस ग्रन्थको बहुत आदर दिया और उक्त ५ हजार प्रतियाँ हाथों-हाथ बिक गईं। यह अनुवाद इस ग्रन्थके लेखकसे अनुमति प्राप्त किये बिना और इसके कुछ आवश्यक भाग छोड़कर प्रकाशित किया गया था।

जिज्ञासु जनताके सद्भाव और आदरको देखकर तथा इस दृष्टिसे कि भविष्यमें कोई व्यक्ति मनमाने रूपसे इस ग्रन्थका अङ्ग-भङ्ग न कर सके, इस ग्रन्थके लेखकने सन् १९४६में इस ग्रन्थका और अपनी दूसरी पुस्तक 'गीतादर्पण'का प्रकाशन अधिकार 'श्री-आनन्द-कुटीर-ट्रस्ट पुष्कर' को समर्पण कर दिया है। ट्रस्ट उस समयसे ही सचेष्ट रहा कि जहाँतक हो सके यह ग्रन्थ जनताके हाथोंमें शीघ्र पहुँचाया जाय। परन्तु देश-कालकी अनेक वर्तमान कठिनाइयोंके कारण हमें इस विषयमें इससे पहले सफलता न

मिल सकी। ब्यावरनिवासी भक्त श्रीकन्हैयालालजी गार्गीय तथा श्रीभँवरीलालजी दाणीने इस प्रकाशनकार्यमें तन-मनसे सहायता की है। और उक्त ट्रस्टके सेक्रेटरी बा० श्रीजयकृष्णजी टण्डनने सब प्रकारसे इस कार्यके सम्पादनमें व्यक्तिगत सहयोग दिया है। भ० श्रीमुनिलालजीने इस पुस्तकके प्रूफशोधनमें पूरी सहायता दी है। इनके अतिरिक्त निम्नलिखित सज्जनोंने अपने ही भावसे प्रेरित हो इस ग्रन्थके प्रकाशनमें आर्थिक सहायता प्रदान की है—

(१) १०००) एक प्रेमी भक्तका गुप्त दान।
(२) ६१५) श्रीमान् लाला कन्हैयालालजी भोलानाथ फिरोजपुर
(३) ४४०) " लाला जगन्नाथजी रामजीलाल फीरोजपुर
(४) २००) " भ० घट्टीदासजी अजमेर
(५) १५०) " लाला कन्हैयालालजी जगदीशप्रसाद फीरोजपुर
(६) १००) " एक प्रेमी भक्तका गुप्त दान
(७) ५०) " भ० हरिरामजी ब्यावर

उपर्युक्त सब सज्जनोंकी सेवा और सहयोगके लिये हम आभारी हैं। ग्रन्थके विषयमें इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि ग्रन्थ अपने स्वरूपसे पूर्ण है। प्रकृतिराज्य प्रवृति व निवृति दो मार्गोंपर ही अवलम्बित है। हमें विश्वास है कि यह ग्रन्थ प्रत्येक मार्गावलम्बीके लिये सोपान-क्रमसे श्रेय-पथका प्रदर्शक होगा और प्राकृतिक नियमकी उत्तम शिक्षा देनेवाला प्रमाणित होगा। यदि मनमें सत्यताका आदर धारणकर इसे पढ़ा गया तो 'वर्तमानमें हमारा चित्त किस सोपानपर है' ऐसा प्रत्येक पाठक अपने-अपने चित्तोंको इस ग्रन्थकी कसौटीपर रखकर भली-भाँति परख सकेंगे और इससे आगेके लिये उनके साधनका मार्ग दर्शन भी इस ग्रन्थसे प्राप्त हो सकेगा।

मदनमोहन वर्मा, एम० ए०, राय बहादुर
(रजिस्ट्रार राजपूताना विश्वविद्यालय), प्रधान, आ. कु. ट्र. पुष्कर

इस ग्रन्थके सम्बन्धमें

कुछ महानुभावोंके सद्भाव

माननीय श्रीमनु सूबेदार बम्बई (M. L. A Onetrel) प्रधान

श्रीसस्तु-साहित्य-वर्धक-कार्यालय-ट्रस्ट अहमदाबाद, इसी ग्रन्थके गुजराती अनुवादकी भूमिकामें इस ग्रन्थका परिचय देते हुए यूँ लिखते हैं—

'आत्मविलास' अर्थात् 'संसारके खरे-खोटे खेलमें अपना आत्मा किस प्रकार रम रहा है' यह दिखलानेवाला तथा 'अज्ञानमेंसे ज्ञानमें किस प्रकार पहुँचा जाता है' यह सूचित करनेवाला, यह ग्रन्थ है। लेखककी प्रखर विद्या और ज्ञान-बल तो इस पुस्तकसे ज्ञात-होगा, परन्तु उन्होंने इस पुस्तकमें तो अपने अनुभवकी कथा लिखी है। उनका गम्भीर और हृदय-स्पर्शी अध्यात्म-ज्ञान इस पुस्तकमें स्थल-स्थलपर तर आता है।

वस्तु एक ही है। देहभाव तथा जीवभावमेंसे आत्म-भाव व ब्रह्मभावमें कैसे पहुँचा जा सकता है; व्यवहारिक जीवन मेंसे आंशिक अथवा पूर्णरूपसे पारमार्थिक जीवनमें कैसे जा सकते हैं; तामसमेंसे राजसमें और राजसमेंसे सत्त्वमें कैसे जाना होता है और क्यों जाना चाहये-इत्यादि प्रश्न प्रत्येक जिज्ञासुके चित्तमें प्रतिदिन खडे होते हैं और वह इनका उत्तर वारम्बार नई-नई दृष्टिबिन्दुसे माँग रहा है। इस पुस्तकमें लेखकने ये उत्तर निश्चयात्मक रीतिसे प्रस्तुत किये हैं। भिक्षु अखण्डानन्दजीद्वारा जो ज्ञान-गंगारूप यह संस्था बहाई गई है, उसकी ओरसे ऐसे उप-योगी और पथप्रदर्शक पुस्तकको जनताके सम्मुख रजु करते हुए हमें प्रसन्नता होती है

'प्रभु सर्व शक्तिमान् है' ऐसा प्रत्येक समय और प्रत्येक विषयमें अनुभव हो सके, तभी आत्मानुभवका आरम्भ हुआ है, ऐसा मानना चाहिये।

शास्त्रार्थ महारथि पण्डितराज श्रीवेणीमधवजी शास्त्री, घटिका-शतक शतावधान संस्कृताशु कवि कविचक्रवर्त्ती काशीसे लिखते हैं.—

आपका लिखा हुआ आत्मविलास नामका दार्शनिक रहस्य प्रकाश देखकर हृदय अत्यन्त प्रसन्न हुआ। आपने बहुत परिश्रमसे इस दर्शन-शास्त्रको तैयार किया है। आपने इस पुस्तकको विद्यावलसे नहीं लिखा, किन्तु विद्या-ज्ञान दोनों बलसे लिखा है, जैसा कि तुलसीदास स्वामीका, रामायण दोनों बलसे है। लोकमान्य तिलकके प्रवृत्तिमार्गको आपने प्रमाण व युक्तियोंसे ऐसा खण्डन किया है कि अभूतपूर्व कल्पना आपने किया है। इस पुस्तकसे देशका महान् कल्याण है। व्याकरण-न्यायादि शास्त्रोंमें हम भी बहुत टीकाएँ लिख चुके हैं। लेखरहस्यका हमको अनुभव है आपका सुलेख हमको मुग्धकर आपके दर्शनकी इच्छा करा रहा है।

श्रीयुत् हनुमानप्रसादजी पोद्दार सम्पादक 'कल्याण' गोरखपुर लिखते हैं:—

यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि प्रस्तुत ग्रन्थ आध्यात्मिक विषयकी खानि है। और यदि इसका विस्तृत रूपसे प्रचार किया जाय तो निश्चय ही यह पाठकोंको अत्यन्त आध्यात्मिक लाभ प्रदान करेगा।

मनकी एकाग्रताका स्वरूप और तत्सम्बन्धी विभिन्न विचार व प्रार्थनाएँ

यह पुस्तक अलग भी छपाई गई है मूल्य =)

गीता-दर्पण

(श्रीमद्भगवद् गीतापर एक अपूर्व हिन्दी-भाष्य)

लेखक स्वामी आत्मानन्द मुनि

पृष्ठ संख्या ८६२, २० x ३०=१६ पेजी पक्का बाईंडिंग

मूल्य ३॥)

समालोचनाएँ

अंगरेजी समाचार-पत्रोंके मुख्य-मुख्य स्थलोंका हिन्दी अनुवाद भी दिया जाता है—

"Sind Observer Karachi, Dated 8/11/44"

Prof: R. S. Dwvedi M. A. St. Johns College, Agra says:—

I have read with great interest & profit Swami Atmanandji's Gita-Darpan in Hindi. Its merit lies in the correct exposition of the highest philosophical truths of the Gita in a language that is intelligible to the mind of a layman like myself. The treatment of the subject matter is marked by a depth of learning and & thought that is rare. Swamiji's interpretation establishes a synthesis between 'Karmyog' and Sankhyayog' that is at-once masterly & canvincing.

The most important point emphasized by Swamiji is that Karmyog taught by

Bhagwan Krishna consists in 'skilled action' (योगः कर्मसु कौशलम्) which is neither actionlessness nor action whose fruit is dedicated to God, but action that is devoid of reactions which create bondage for the doer & cause the endless chain of births and deaths. This is अकर्म or सहजकर्म. This shows how Gita is primarily a guide to right knowledge & a guide to right action only in so far as such action automatically springs from right knowledge.

Gita-Durpan thus corrects erroneous views of some of the modern commentations whose approach has been mainly intellectual & who have read in the divine words little more than the approval of their own mental inclinations tempered, as they are, by the contemporary envoirment. Any one interested in the right message of the Gita ought to read Gita-Darpan.

(१) सिंध-ओब्जर्वर कराची, ता० ८-११-४४ समालोचक

पं. श्रीरामस्वरूपजी द्विवेदी, एम० ए० प्रोफेसर सेण्ट-जोन्स कालेज, आगरा

मैंने अत्यन्त रुची तथा लाभके साथ स्वामी आत्मानन्दजी-द्वारा रचित 'गीता-दर्पण'का स्वाध्याय किया है। इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि इसमें गीताके उच्चतम दार्शनिक तथ्योंका यथार्थ विवेचन ऐसी सरल भाषामें किया गया है, जिसे मेरे जैसा साधारण व्यक्ति भी समझ सकता है। विषयका

प्रतिपादन जिस पाण्डित्य तथा गम्भीर विचारसे किया गया है, वह अन्यत्र नहीं मिलेगा। स्वामीजीकी व्याख्या 'कर्म-योग' व 'सांख्य योग'का जैसा समन्वय करती है, वह एकदम अनूठी तथा हृदयग्राही है।

स्वामीजीके दृष्टिकोणसे भगवान् श्रीकृष्णद्वारा प्रतिपादित 'कर्म योग' अर्थात् 'कर्म-कौशलता' न तो निष्क्रियतामें ही है और न उस कर्ममें ही है जिसका फल भगवान्के अर्पण कर दिया जाय, वरन् उस यथार्थ कर्ममें है, जिसमें वह बन्धनात्मक प्रतिक्रिया नहीं होती जोकि कर्ताके असंख्य जन्ममरणके प्रवाहका हेतु होता है। यही वास्तवमे 'अकर्म' या 'सहज कर्म' है। इस प्रकार गीता-दर्पण कतिपय टीकाकारोंके उस नितान्त बौद्धिक दृष्टि-भ्रमका उन्मूलन करता है, जिसके अनुसार उन्होंने तत्कालीन वातावरणसे प्रभावित होकर भगवद् वचनोंमें केवल अपने ही विचारोंकी पुष्टि समझ ली है। अतः गीताके सत्य सन्देशके जिज्ञासुओंको गीता-दर्पण अवश्य पढ़ना चाहिये।

(2)THE MODERN REVIEW,Sep.1942 page.223

This book contains all the original slokas of the Gita with simple Hindi rendering of each, given just after the text, and then followed by an explanatory note on it in the light of the Sankara Bhasya. The notes, being a sort of commentary, are called 'Sri Rameshwaranandi Anubhavartha-Dipeka Bhasha-Bhasya' after the name of author's Guru. The sub-title of the book is rightly given

Jnana-yoga Shastra, as Gita expounds Brahma-Jnana and the means to its realisation. This is, no doubt, the orthodox and age-old view according to which Absolute Wisdom existing already in the heart of every human being is spontaneously unfolded with the extinction of desires and the consequent purification of the mind.

In the lengthy introduction covering more than three hundred pages, The Swami gives a critical analysis of each chapter of the Gita and useful annotations on the nature of Freedom, bondage, Yoga and other relevant problems. This has made the volume quite interesting and attractive to the general readers for whom it is primarily intended The historical setting in the form of a narrative leading to the origin of the Gita, is appropriately appended to the introduction. It must be said to the credit of the author that his exposition has succeeded in carrying his understanding and insight to the reader in a simple manner. Because he practises what he writes abouts, his exposition is so clear and convincing. The Gita is said to epitomize the essentials of Hindu re-

ligion and philosophy but few people have the necessary time and opportunity to study its abstruse original commentaries in Sanskrit. Hence the only way to popularise its grand teachings is to publish such lucid dissertations in the provincial Vernaculars as has been successfully attempted in Hindi by the writer of the book under review. It is a book unique of its kind and is sure to democratise the massage of the Gita among the Hindi-reading public. The more the gospel of the Gita is thus broadcasted, the better it will be for our life and society.

Sd. Swami Jagadiswarananda.

(२) 'मोडर्न-रिव्यु' कलकत्ता-सितम्बर सं० १६४३, समालोचक श्रीस्वामी जगदीश्वरानन्दजी महाराजः—

प्रस्तुत पुस्तकका नाम जो 'ज्ञान-योग-शास्त्र' रखा गया है वह उपयुक्त ही है, क्योंकि गीता ब्रह्मज्ञान और उसके साक्षात्कारके साधनोंका ही प्रतिपादन करती है। तीन सो (३००) पृष्ठसे अधिक इस ग्रन्थकी विस्तृत प्रस्तावनामें स्वामीजीने गीताके प्रत्येक अध्यायकी आलोचनात्मक विश्लेषण करते हुए 'मुक्ति', 'बन्धन', 'योग' तथा अन्य सम्बन्धित विषयोंकी उपयोगी व्याख्या की है, जिससे यह ग्रन्थ साधारण जनताके लिये, मुख्यतया जिनको लक्ष्य करके ही यह लिखा गया है, अत्यन्त रोचक तथा हृदयग्राही बन गया है। महाभारतका वह ऐतिहासिक वृत्तान्त भी जो गीताके जन्मका कारण बना, प्रस्तावनाके साथ जोड़ा गया है, वह उपयुक्त ही है। यह माननीय है कि स्वामीजी

अपने विश्लेषणद्वारा अपने भाव व अनुभवको सरलताके साथ पाठकोंतक पहुँचनेमें सफल हुए हैं, क्योंकि वे अपने अनुभवके आधारपर लिखते हैं इसलिये उनकी व्याख्या स्पष्ट व विश्वास करानेवाली है। यह ग्रन्थ अपने ढंगका अनुपम है और हिन्दी जनतामें निश्चयसे गीताका सन्देश विस्तृतरूपमें प्रचार कर सकेगा।

(3)'BOMBAY CHRONICLE' Dated 19. 12. 43.
Page 13 *Reviewer Hon Manu Subedar (M. L. A. Central)*

This is an outstanding publication consisting of two parts. The original verses with explanation for each verse are in the second part There is a note at the end of each chapter, giving a review of the teaching therein. It is, hower the first part which is remark ably original contribution to the Gita literature of India In this the author, whose previous publications have been warmly received by the Hindi public, has dealt in fine terse language with plenty of illustrations and stories with some of the basic doctrines both of Sankhya and of yoga philosophy. He has further given a discourse on each chapter correlating the taching and picking out the central thread, which is running throughout this great and universally accepted revelation.

A variety of new standpoints, the same teaching in a different from and from a new angle, is therefore helpful, and it is in this light that we strongly recommend lovers of Gita to read this Hindi publication of Swami Attmanand Muni.

(३) बोम्बे-क्रानिकल ता० १६-१२-४३ समालोचक माननीय श्रीमनु सूबेदार (M. L. A. Central)

यह अमूल्य रचना दो खण्डोंमे विभक्त है। पहले खण्डमें मूल श्लोक और उनका भावार्थ दिया गया है। प्रत्येक अध्यायके अन्तमें उसी अध्यायका स्पष्टीकरण भी दिया गया है। परन्तु यह वह पहला खण्ड है, जोकि भारतके गीता-साहित्यके लिये एक मौलिक और स्वतंत्र देन है इसमें लेखकने 'सांख्य' व 'योग' दोनोंके मूलभूत सिद्धान्त अनेकों युक्तियों व दृष्टान्तोंसे सुन्दर व संक्षिप्त भाषामें खोला है। उन्होंने प्रत्येक अध्यायपर समालोचना भी दी है, जिसके द्वारा उन्होंने गीताके उपदेशोंका समन्वय किया है तथा इस जगन्मान्य भगवद्-वाणीमे आदिसे अन्ततक चलनेवाले सारभूत सूत्रको पकडकर प्रकटकर दिया है।

नये-नये मतोंका कई रूपोंमें प्रतिपादन तथा मूलभूत उपदेशका एक निराले ढंगसे तथा नये दृष्टिकोणसे विवेचन बहुत उपयोगी है। इस आधारपर हम गीताप्रेमियोंको सानुरोध परामर्श देते हैं कि वे इस हिन्दी रचनाका मनन करें।

(४) 'माधुरी' लखनउ, अक्टूबर सन् १६४४, समालोचक राय बहादुर श्री मदनमोहनजी वर्मा, एम ए, सेक्रेट्री शिक्षा-विभाग-बोर्ड अजमेर, वर्तमान रजिस्ट्रार राजपूताना विश्व-विद्यालय—

हिन्दुधर्मके अध्यात्मिक ग्रन्थोंमें श्रीमद्‌भगवद्‌गीताका अनूठा स्थान है और यह सद्‌ग्रन्थ भारतके अतिरिक्त पाश्चात्य देशोंमे भी प्रतिष्ठित है। इसकी अनेक टीकाएँ तथा टिप्पणियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। परन्तु बहुधा टीकाकारोंने अपनी-अपनी निष्ठाके अनुसार अपनी टिप्पणियोंमें 'कर्म'को विशेष स्थान देकर साधन और साध्यको अभेद सा कर दिया है। स्वर्गीय विद्यावाचस्पति तिलक महोदयने अपनी प्रख्यात पुस्तक 'गीता-रहस्य'में गीताके सूक्ष्म उपदेशको कर्मपर ही तोड़ दिया है। ज्ञाननिष्ठ श्रीआत्मानन्द मुनिजी महाराजने 'गीता-दर्पण' रचकर एक प्रकारसे दूध-का-दूध और पानी-का-पानी कर दिया है और अपने स्थान पर कर्मकी उपयोगिताको मानते हुए यह सिद्ध किया है कि निष्काम-कर्म गीताके सूक्ष्म उपदेशकी पराकाष्ठा नहीं है, वरन् आत्मसाक्षात्कारके पात्र बननेका एक साधन है। स्वामीजीने बड़े परिश्रम तथा बड़ी विद्वत्तासे ही नहीं, बल्कि स्वानुभवसे गीताके अमृतमय उपदेशोंमें पद-पदपर जो रहस्य भरा पड़ा है, उसपर ख़ूब ही प्रकाश डाला है। हो सकता है कि आधुनिक टीकाकारोंकी मार-मारसे पीड़ित होकर लेखककी लेखनीमें कर्मवादियोंके प्रति कहीं-कहीं किसी अंशमें कठोरता नहीं तो पक्षपातकी-सी झलक प्रतीत हो और भाषाकी दृष्टिसे कई बातें अनेक बार दुहराई गई मालूम हों, परन्तु उससे यह लाभ भी होगा कि अधिकतर आधुनिक टीकाकारोंकी टीकाएँ जिन्होंने पढ़ी हैं, उनको तथा अन्य पाठकोंको स्वामीजीके स्पष्ट, विस्तृत व सरल लेखनीद्वारा समझनेमें बड़ी सुगमता होगी। इस दृष्टिसे 'गीता-दर्पण' एक बड़ी ही उपयोगी और नवीन पुस्तक साबित होगी, जिससे जिज्ञासु व विद्वान् परम लाभ उठावेंगे—

(५ पं० श्रीदुर्गाशङ्करजी नागर सम्पादक 'कल्प-वृक्ष' उज्जैन—

पुस्तक वास्तवमें अपने ढगकी अनूठी है। आपने इसे

प्रकाशित करके आध्यात्मिक जगतको एक अमूल्य वस्तुप्रदान की है। इसके लिये आपको हार्दिक धन्यवाद।

(6 TRIBUNE Monday January 13. 1944

What is Karam, wherein lies the salvation of man? What is freedom, bondage, yoga, knowledge, happiness and Maya? How the universe grew? These and many other relevant questions pertaining to the Philosophy of the Gita have been answered in this work of great utility in a lengthy introduction forming the first part, covering more than 300 pages, with a critical analysis of each chapter with useful annotations. The historical setting in the form of a narrative leading to the origin of the Gita, is appropriately appended to the introduction. In must be said in fairness to the author that the exposition of the various difficult subjects has been given in simple language which is quite understandable by an average reader for whom this work is meant.

The Gita epitomizes the essentials of Hindu religion and philosophy but few people have the necessary time, and opportunity to delve deep into its inmost recesses and to study its abstruse original cammenta-

ries in Sanskrit. The rendering of the original "Slokas" of the Gita into simple Hindi and the Lucid disserations given by Swamiji, will certainly help to popularise the great teachings of Lord Krishna the gospel of Truth and Karam which has moved many a time the infidels to the depth of their very souls

(६ 'ट्रीब्यून' लाहौर ता० १० जनवरी सं० १६४४—

कर्म क्या है और किस स्थलपर मनुष्यका इससे निस्तार हो सकता है? 'मुक्ति', 'बन्धन', 'योग', 'ज्ञान', 'आनन्द' और 'माया' क्या हैं? विश्व कैसे उत्पन्न हुआ? ये तथा अन्य बहुतसे गीता-दर्शनसे सम्बन्धित प्रश्न बड़े रहस्यके साथ इस ग्रन्थ की विशाल प्रस्तावनामें, जो ३०० पृष्ठमें है, प्रत्येक अध्यायका सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए लाभदायक व्याख्याके साथ हल किये गये हैं। यह कहना न्यायसंगत ही होगा कि अनेक कठिन विषय एक सरल भाषामें समझाये गये हैं, जोकि साधारण पाठकके समझमें आनेयोग्य हैं, जिनको लक्ष्य करके ही यह पुस्तक लिखी गई है। गीताके असली श्लोकोंका हिन्दीमें सरल अनुवाद तथा स्पष्ट विवरण जो स्वामीजीके द्वारा दिया गया है वह निश्चयसे भगवान् श्रीकृष्णके महान् उपदेशके प्रचारसे सहायक होगा, जोकि 'सत्य' व 'कर्म'का सन्देश है और जिसने नास्तिकोंके भी हृदयतलको हिला दिया है।

(7) **HINDUSTAN TIMES** Monday January 10 1944.

Commentaries on the Gita are legion. Almost every major Philosphical writer and religious teacher during the last seven hundred years has reinterpreated its rich doctrine to gain support for his own point of view, Swami Atmanand Muni's commentary is an interesting addition to the Gita literature. Swamiji has emphasized the Janna aspect of Yoga in a way somewhate different from shankara and reinforced his arugment with a wealth of homely illustrations.

(७) 'हिन्दुस्थान टाइम्स' १० जनवरी सं० १६४४

गीतापर अनेकानेक भाष्य हैं, लग-भग प्रत्येक दर्शनाचार्य और धर्मोपदेशकने गत ७०० वर्षमे अपने-अपने दृष्टिकोणको समर्थन करनेके लिये गीताके अमूल्य सिद्धान्तकी पुनः-पुनः व्याख्या की है। स्वामी आत्मानन्द मुनिका भाष्य गीतासाहित्य के लिये एक चित्ताकर्षक वृद्धि करनेवाला है। स्वामीजीने 'योग' को ज्ञानके पहलुमें ग्रहण किया है जोकि शङ्करसे यत्किञ्चित् भिन्न है और सबके निजी अनुभवमे आनेवाली बहुत-सी युक्तियों और दृष्टान्तोंसे उसकी पुष्टि की है।

(8) PRABUDDHA BHARATA Page 221

May 1944

The book consists of two parts The first Part, in which the author's originality comes out very strikingly, deals with the

basic doctrines of sankhya and yoga. In the second part are the shlokas of the Gita follow ed by the author's elucidations. After each chapter there is a resume of the main topics. Furthermore the author, with judicious care picks up the main themes and waves them into a beautiful pattern. All the main philo-sophical terms receive careful consideration and exposition.

Gita epitomizes the essentials of Hind-uism. As such, it should be studied from all possible points of view. We therefore, wel-come this volume heartily, though we do not agree fully with its author. The Sanskrit commentaries are too often beyond the in tellectual ken of the masses This Hindi exposition is calculated to reach wider public.

(८) 'प्रबुद्ध-भारत' मई सं० १६४४—इस पुस्तकके दो खण्ड हैं, प्रथम खण्ड जिसमें लेखककी विचार-स्वातंत्र्यता चित्ताकर्षक रूप से निखर आती है, वह 'सांख्य' व 'योग'के तात्त्विक सिद्धान्तोंसे सम्बन्धित है। दूसरे खण्डमें गीताके श्लोक हैं जिनके साथ लेखक ने अपना भावार्थ भी दिया है। प्रत्येक अध्यायके अन्तमें उसी अध्यायके सारतत्त्वोंका स्पष्टिकरण भी दिया गया है। इसके अतिरिक्त लेखकने न्यायपूर्वक सावधानीसे मुख्य लक्ष्यको चुन-कर उसे सुन्दर नमूनेमें पिरो दिया है। सम्पूर्ण दार्शनिक परि-भाषाओंका सावधानीसे ध्यानपूर्वक विश्लेषण किया गया है।

गीतामें हिन्दु धर्मके समस्त सारतत्त्वोंका संग्रह है। इसलिये इस ग्रन्थका प्रत्येक सम्भव दृष्टिसे स्वाध्याय करना चाहिये। अतः हम इस रचनाका हृदयतलसे स्वागत करते हैं, यद्यपि हम सर्वांशमें लेखकसे सहमत नहीं है। संस्कृतके भाष्य बहुधा जन-साधारणकी समझसे बाहर हैं, हमें आशा है कि यह हिन्दी भाष्य जनसाधारणके हाथोंमें विस्तृत रूपसे पहुँचेगा।

मिलने का पताः—

(१) श्री मैनेजर श्रद्धा-साहित्य-निकेतन, कचहरी रोड, अजमेर

(२) भ० गणपतराम गंगाराम सर्राफ, नयाबाजार, अजमेर

निवेदक—
जयकृष्ण टंडन,
सेक्रेटरी ट्रस्ट

॥ ॐ ॥

भूमिका

'केनापि देवेन हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि'

[अर्थात् हृदयस्थित किसी देवके द्वारा जैसे मैं जोड़ दिया जाता हूँ, वैसे ही बलात्कारसे मुझे करना होता है।]

उक्त वचनके अनुसार ग्रन्थरचनाका कोई सङ्कल्प न होते हुए भी, न जाने किस बलवान् शक्तिद्वारा ग्रन्थाकारमें ये पङ्क्तियाँ इसीप्रकार बलात्कारसे लिखा दी गई हैं, जैसे कोई हृदयमें खल-बली मचाकर और हाथमें क़लम पकड़ाकर आग्रहपूर्वक कहता हो कि 'लिख'। इस लिये लेखकने भी बिना किसी ऐसे विचारोंके कि 'ये पंक्तियाँ विद्वानों और महानुभावोंके सम्मुख आदरणीय होंगी या नहीं, अथवा ठुकराई जाकर अपमानित तो न होंगी' किसी कर्ताभावके बिना निर्भयतासे जैसी अन्दरसे प्रेरणा हुई और जिसपर अन्दरवालेने अपनी स्वीकृतिकी मोहर लगाई, ज्यूँ-की-त्यूँ लिख दी गई हैं। जिसप्रकार शरीरमें फोड़ा उत्पन्न होकर पीप भर जाय, तब पीप अपने निकलनेका मार्ग चाहती है और जबतक उसको निकलनेका मार्ग न दिया जाय चित्तको चञ्चल ही करती है तथा पीपके निकल जानेसे शान्ति प्राप्त होती है। ठीक, इसी प्रकार ग्रन्थरचनाका यदि कोई प्रयोजन

हो सकता है तो इतना ही, कि समय-समयपर विचारोंके प्रवाहने जब-जब अन्दर खलबली मचाई, तब-तब उनको निकालकर चित्त को शान्त कर लिया गया। शेषमें यह ग्रन्थ किसीके लिये कुछ उपयोगी होगा या नहीं, यह तो दृष्टि रक्खी ही नहीं गई है। क्योंकि, ईश्वरकी नीति कुछ ऐसी ही है कि कोई वस्तु कदापि निरुपयोगी उत्पन्न होती ही नहीं है, जैसी वस्तु उत्पन्न होती है उसकी उत्पत्तिसे पहले वैसे ही उसके ग्राहक भी मौजूद रहते हैं। जिसप्रकार समुद्र-मथनके समय अमृत और वारुणी साथ-साथ उत्पन्न हुए, परन्तु उनकी उत्पत्तिसे पहले ही वस्तुके अनुसार उन दोनोंके ग्राहक देव और असुर हाजिर खड़े हुए थे।

संसारमें प्रवृत्ति और निवृत्ति दो ही मार्ग हैं। दोनों प्रकारके मार्गावलम्बियोंको अपने-अपने अधिकारानुसार जिस-जिस मार्गके जिस-जिस सोपानप जो अधिकारी है, उसको यह ग्रन्थ आत्म-विकासका मार्ग देगा, ऐसी आशा की जाती है। 'पुण्य-पापकी व्याख्या'में प्रवृत्ति-मार्ग और 'साधारण धर्म' शीर्षकमें निवृत्ति-मार्गका बहुलतासे वर्णन है।

अपनी अज्ञान-निद्रामें यह आत्मदेव प्रवृत्ति और निवृत्ति-रूप कैसे-कैसे विलास (खेल) करता है, इसी विषयका इस ग्रन्थमें निरूपण हुआ है, इसलिये इस ग्रन्थका नाम 'आत्मविलास' रखा गया है ॥ ॐ ॥

—लेखक

-ग्रन्थ समर्पणम्-

ब्रह्मलीन पूज्यपाद देवाधिदेव श्रीगुरुदेव श्री १०८
मुनिराज श्रीस्वामी रामेश्वरानन्दजी महाराजके

चरण कमलों में

हे गुरो! तीन लोक, चौदह भुवन, सप्त द्वीप, नव खण्ड केवल आपका भृकुटी-विलास है। आपके नेत्र खोलनेसे संसार की उत्पत्ति और नेत्र बन्द करनेसे ससारका प्रलय स्वतः सिद्ध है। अनन्त ब्रह्माण्ड आपका स्फुरणमात्र है। अखिल संसारके आदि कारण 'कारणं कारणानाम्' आप ही हैं, सत्यस्य सत्यं प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यमिति' सत्यके सत्य वह परम सत्य आप ही हैं। सब कुछ करते हुए भी आप अकर्ता हैं सब कुछ भोगते हुए भी आप अभोक्ता हैं। हे सर्वसाक्षिन्! सम्पूर्ण अध्यात्म, आदिदेव और अधिभूत अर्थात् समष्टि इन्द्रियाँ, उनके विषय और उनके देवता आपके स्वरूपमें मायामात्र हैं, जोकि आपके आश्रय प्रतीत होते हुए भी आपके स्वरूपमे इनका न भाव है, न अभाव। सभी भाव-अभावोंसे परे आप परम भावरूप हैं और किसी भी वृत्तिके विषय नहीं होते। यद्यपि प्रत्येक वृत्ति और प्रत्येक भाव-अभावरूप विषयमें आप होते जरूर हैं तथा सर्वरूप होकर सबके द्रष्टा भी हैं, परन्तु किसी करके दिखलाई नहीं पड़ते।

'येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्'

हे सर्वात्मन्! यद्यपि आप सबकी आत्मा हैं, सबके अपने-आप हैं और सबको देखते-जानते हैं, तथापि आपको देखे व जाने बिना बड़ा कष्ट है। संसारके सब दुःखोंका मूल केवल आप

को न देखना और न जानना ही है। सब भूत प्राणियोंके जीवन का लक्ष्य साक्षात् अथवा परम्परा करके एकमात्र आपके स्वरूप की प्राप्ति ही है। न जाने आप कैसे मधुर होंगे? जिन्होंने सभी भूत-प्राणियोंको अपने लिये ऐसे ही व्याकुल किया हुआ है, जैसे 'फणि मणि बिनु जिमि जल बिनु मीना'।

हे देव! साक्षात् आप न यज्ञसे प्राप्त किये जाते हैं न तपसे, न दान करके ही आप मिलते हैं न जपसे, न तीर्थयात्रा करके ही आपको पाया जा सकता है और न व्रत करके। यदि आप हमसे कुछ भिन्न हुए होते तो इन साधनोंद्वारा आपको भली-भाँति मनाया जा सकता था। परन्तु आप तो सबके अपने-आप हैं, फिर साक्षात् इन साधनोंद्वारा आपको कैसे पाया जाय? केवल महावाक्यरूप शब्दोंसे सर्वत्यागद्वारा अपने ज्ञान करके ही आप पाये जाते हैं, अन्य कोई मार्ग आपकी प्राप्तिके लिये न हुआ है और न होगा।

'नान्यः पन्था विमुक्तये'

यद्यपि आपको जानकर शब्द निस्सार हो जाते हैं, तथापि जाने जाते हैं आप शब्दोंद्वारा ही। जैसे धानको लेकर भूसा त्याग कर दिया जाता है, परन्तु धानकी प्राप्ति होती तो भूसेसे ही है।

हे वैराग्यमूर्त्ति शिवस्वरूप! पत्र-पुष्परूपसे ये कुछ त्यागकी भेंटें आपके चरण-कमलोंमें निवेदन की जा रही हैं। यद्यपि आपके दर्शनसे त्यागका भी त्याग सिद्ध हो जाता है, तथापि जिस प्रकार दीपकसे सूर्यनारायणकी आरती करनेमें सूर्यनारायणको प्रकाश करना उद्देश्य न जान, केवल भावुक भक्तका भाव ही ग्रहण कर लिया जाता है। इसी प्रकार इन भेंटस्वरूप पत्र-पुष्पोंसे आप भ्रमरके समान अपने प्रिय शिष्यके भावरूप सुगन्धको ग्रहण करनेकी कृपा करें, यही आपके चरणोंमें विनम्र निवेदन है ॥ॐ॥

दासानुदास—आत्मानन्द मुनि

विषय सूची

प्रथम खण्ड

पुण्य-पापकी व्याख्या १-६१

साधारण धर्म ६२-२६४

(१) पामर पुरुष ८८-१०६

(२) विषयी पुरुष १०६-१२७

(३) निष्काम जिज्ञासु १२७-१५६

(४) उपासक जिज्ञासु १५६-२२९

(५) वैराग्यवान् जिज्ञासु २४०-२६४

द्वितीय खण्ड १-१३४

ज्ञान १२५-१४६

तत्त्व-विचार १४७-२०७

ॐ तत्सत्

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

आत्मविलास

पुण्य-पाप की व्याख्या

सृष्टिकी उत्पत्तिका निमित्त और त्रिविध-प्रलयनिरूपण
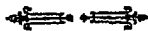
वेदका सिद्धांत है कि संसार जीवका भोगरूप है, जीवके भोगसे भिन्न संसारका और कोई रूप नहीं । अर्थात् जीवके कर्मसंस्कार जब भोगके सम्मुख होते हैं, तब वे ही संसारके रूपमें परिणत होते है और जब वे भोग देनेके सम्मुख नहीं होते, तब संसारका लय हो जाता है। जैसे बीज ही वृक्षरूपमे विकसित होता है, इसी प्रकार भोगके सम्मुख कर्मसंस्कार ही संसाररूपमें विकसित होते हैं। यथा श्रुतिः—

तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते
एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते

अर्थ यह है कि जिस प्रकार यह कर्मरचित लोक क्षय हो जाता है, उसी प्रकार पुण्यरचित परलोक स्वर्गादिक भी अपना भोग

देकर क्षय होजाते हैं। सो लोकक्षय अथवा प्रलय नित्य, नैमित्तिक और महाप्रलय रूपसे तीन प्रकारका माना गया है। यथाः—

(१) नित्य ही सुषुप्त-अवस्थामें जीवके कर्मसंस्कार भोगसे उदासीन रहते हैं, नित्य ही ऐसा होते रहनेसे इसको नित्य-प्रलय कहते हैं।

(२) जब प्रारब्धका अन्त होकर शरीर मृत्युसम्मुख होता है, तब अन्य शरीरकी प्राप्तिपर्यन्त नैमित्तिक-प्रलय कहा जाता है, क्योंकि प्रारब्धके क्षयके निमित्तसे ही इस प्रलयकी उत्पत्ति होती है।

(३) जब अपने परमात्मस्वरूपके साक्षात्कारके अनन्तर अविद्याकी निवृत्तिद्वारा संचित व प्रारब्ध कर्मका नाश हो जाता है, तब इसको महाप्रलय कहते हैं।

द्विविध भोग उनका निमित्त तथा जीवन का लक्ष्य

इससे सिद्ध हुआ कि भोगके सम्मुख जीवके कर्मसंस्कार ही संसाररूपमें प्रकट होते हैं, संसारका और कोई रूप नहीं। सो भोग सुखरूप व दुःखरूप दो ही भागोंमें विभक्त कियाजा सकता है। सुख व दुःखकी उत्पत्ति पुण्य व पापसे होती है। पुण्यसे सुख और पापसे दुःख उत्पन्न होता है। सुखकी प्राप्ति और दुःखकी निवृत्ति प्रत्येक प्राणी के जीवनका निर्विवाद लक्ष्य है। प्रत्येक प्राणी अपने जीवनभर में दिन-रात इसी लक्ष्यकी पूर्तिमें लगा हुआ है कि दुःखोंकी अत्यन्त निवृत्ति हो और ऐसा सुख मिले जिसका कभी क्षय न हो। परन्तु जब तक दुःख-सुखका मूल पाप व पुण्यका प्रवाह चल रहा है, इस लक्ष्यकी पूर्ति कैसे सम्भव हो

सकती है ? इसलिये दुःख व सुखका मूल कारण जो पाप व पुण्य है, उनका तत्त्व यथार्थ रूपसे जानना आवश्यक है, वास्तविक रहस्यको जाने विना बहुत-सी भूलोंका होना सम्भव है। यद्यपि शास्त्रोंमें यह विषय अनेक इतिहासों व दृष्टान्तों से स्पष्ट हुआ है, फिर भी यह विषय बड़ा गहन है। 'गहना कर्मणो गतिः।' यक्षके प्रश्न पर युधिष्ठरने कहा है :—

धर्मका निर्णय और त्रिविध बुद्धिके लक्षण

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्नाः
नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम् ।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां,
महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥

(महाभारत, वनपर्व)

भावार्थः—धर्मका मार्ग कैसे निर्णय किया जाय ? इस विषय में युधिष्ठिर महाराज कहते हैं कि:—

तर्क अर्थात् दलील अनिश्चित है, इसीसे धर्मका निर्णय नहीं हो सकता, क्योंकि जो जितना बुद्धिमान् होगा वह दूसरेकी युक्तियोंको बुद्धिबलसे काट सकता है। श्रुति भी भिन्न २ हैं, इस लिये केवल श्रुतिके आधार पर भी धर्मका निर्णय नहीं हो सकता। मुनि भी अनेक हुए हैं और उनके वचनोंमें भी भेद है तथा ऐसा कोई मुनि नहीं जिसका वचन प्रमाणभूत न हो। अतः धर्मका तत्त्व शुद्धसात्त्विकबुद्धिरूपी गुहामें स्थित है, अर्थात् सात्त्विकी बुद्धिद्वारा वेद व मुनियोंके वचनके अनुकूल तर्ककी संगति लगाकर श्रेष्ठ पुरुष जिस मार्गसे गये हैं, वही धर्ममार्ग हो सकता है। आशय यह है कि (१) वेद, (२) मुनियों का वचन, (३) श्रेष्ठ पुरुषोंका व्यवहार (४) और शुद्ध सात्त्विकबुद्धिद्वारा

उक्त तीनोंकी युक्तियुक्त संगति, किसी भी धर्ममार्गके निर्णय करनेके लिये इन चारोंका मेल आवश्यक है। इन चारोंकी संगतिद्वारा जो निर्णय होगा वह निर्दोप निर्णय कहा जायगा।

इसी लिये गीताके १८ वें अध्यायमे सत्त्व, रज व तमभेद से बुद्धि तीन प्रकार की निर्णय की गई है यथा:-

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिःसा पार्थ सात्त्वकी ॥
यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिःसा पार्थ राजसी ॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥
श्लो० ३०, ३१, ३२

अर्थः-हे पार्थ! जिस बुद्धिद्वारा प्रवृत्ति-निवृत्ति, कर्तव्य-अकर्तव्य, भय-अभय तथा बन्ध-मोक्ष यथावत् जाना जाय वह बुद्धि सात्त्विकी है। जिस बुद्धिद्वारा धर्म-अधर्म तथा कर्तव्य-अकर्तव्य यथावत् न जाना जाय, वह रजोगुणी बुद्धि है। तथा तमोगुण करके आवृत जिस बुद्धिद्वारा अधर्मको ही धर्म मान लिया जाय और सभी अर्थोंको विपरीत जाना जाय, वह तामसी है।

वर्तमानमें मत-मतान्तरोंका वादविवाद भी इसी कारण से है कि आशयके यथार्थ समझे बिना केवल शब्दों व पंक्तियों की ही खैंचातानी की जाती है। विषय यद्यपि गहन है तथापि

शास्त्रोंके बहुत से प्रमाण न देकर, परन्तु उनके आशयको दृष्टि में रख कर निजी अनुभवके आधार पर कुछ कहा जायगा।

पुण्य व पाप का निर्णय

पुण्य-पापका निर्णय शरीर तथा मनकी स्थूल चेष्टासे नहीं हो सकता, परन्तु कर्ताकी बुद्धिके भाव पर ही पुण्य व पाप निर्भर है। भाव कहिये, ख़याल कहिये या विचार कह लीजिये, भाव ही जीवके बन्ध-मोक्षका हेतु है, स्थूल कर्म बन्ध-मोक्ष का हेतु नहीं। स्थूलदृष्टिसे पाप-कर्म भी भावके परिवर्तनसे पुण्यरूप बन सकता है तथा पुण्य-कर्म पापरूप हो सकता है। इस विषयको स्पष्ट करनेके लिये हम एक कहानी कहेंगे:—

किसी ग्राममें एक दुष्ट पापी मनुष्य रहता था, उसका सम्पूर्ण जीवन दुराचार व पापाचरणमें ही व्यतीत हुआ। प्रकृतिका नियम है कि प्रत्येक पदार्थ जब गिरावकी सीमाको पहुँच जाता है तब वहाँसे उसका उठना स्वाभाविक है। क्या देश, क्या जाति, क्या व्यक्ति सभी पर इस नियमका राज्य है। इसी नियमके अनुसार उस मनुष्यको विचार उत्पन्न हुआ कि 'मेरा सम्पूर्ण जीवन दुष्ट कर्मोंमें ही व्यतीत हुआ, हाय! अन्त समय मेरी क्या गति होगी? हे प्रभो! मैं किस प्रकार अपने दुराचारों से मुक्त होऊंगा।' इस प्रकार पश्चात्ताप करता हुआ, ग्रामके बाहर एक महात्मा रहते थे, उनकी सेवामें वह रात्रिके समय गया। महात्माजी द्वार बन्द किये एकान्त सेवन कर रहे थे। इसने अपना नाम बतला कर उनसे द्वार खोलनेकी प्रार्थना की। इसकी प्रसिद्धि महात्माजी को पहले ज्ञात थी, उन्होंने समझा आज इसका वार हमारे ऊपर है, ऐसा विचार कर उन्होंने द्वार नहीं खोला। अन्तमें इसकी विशेष दीनता पर महात्माजीको दया आई और उन्होंने द्वार खोल दिया। यह दीनतापूर्वक महात्माजीके चरणोंमें लिपट

गया और अपने उद्धारका मार्ग पूछने लगा। महात्माजीने विचार किया कि 'इसकी सम्पूर्ण आयु तो दुराचारोंमें ही व्यतीत हुई है अब इसके लिये क्या उपदेश हो सकता है! उपदेश भी पात्रमे ही शोभा पाता है।' इस प्रकार इससे निराश होकर अपना पीछा छुडानेके लिये, उन्होंने एक शुष्क बाँसकी लाठी इसको देकर कहा कि "तू इस लाठीको लेकर जगलमे चला जा, जब यह लाठी हरी हो जाय तथा अगूर ले आवे तब हमारे पास आना।" महात्माजीका आशय तो यह था कि न लाठी हरी होगी न यह हमारे पास आयेगा। यह मनुष्य महात्माजीके वचनोंमे विश्वास रखकर तत्काल बाहर जंगलमे चला गया। रात्रिके समय दूर जाता-जाता थक कर एक ग्रामके बाहर वृक्षके नीचे बैठ गया। थोड़ी देर पीछे दो मनुष्य आये और इससे थोड़े फासले पर वे भी एक वृक्षके नीचे बैठ गये। अन्धेरी रातमे उन्होंने इसको नहीं देखा और वे परस्पर वार्तालाप करने लगे कि 'इस ग्राममें हमारा अमुक शत्रु रहता है उसको मारना हमें जरूरी है, यह हमने निश्चय कर लिया है। परन्तु यदि हम उस अकेलेको ही मारेंगे तो हमारी उसकी शत्रुता प्रसिद्ध है, इसलिये हम अवश्य पकडे जायेंगे। श्रेष्ठ उपाय यही है कि इस रात्रिके समय ग्रामको ही अग्नि लगा दें, जिससे सम्पूर्ण मनुष्योंके साथ वह भी जल मरेगा और हम भी बच जायेंगे।' इस प्रकार वे बाते कर रहे थे और यह मनुष्य उनकी सब चर्चा सुन रहा था। इसका हृदय बड़ा दुःखी हुआ। इसने विचार किया, 'बड़ा अनर्थ है। एक जीवके लियें यह पापी सैकड़ों जीवोंकी हत्या करनेके लिये उद्यत हुए हैं, मेरा जीवन तो हजारों जीवो की हत्या करते ही व्यतीत हुआ है वहाँ यह दो हत्या और अधिक सही, परन्तु इन सैकड़ों जीवोंके तो प्राण बच जायेंगे।' ऐसा विचार कर वह चुप-चाप अंधेरे में उनके निकट गया और महात्माजीकी प्रदान की हुई लाठीसे

उसने दोनोंके सिर फोड दिये और चैनसे अलग जाकर सो रहा। प्रभात उठकर क्या देखता है कि जिस भागमे लाठी उनके रक्त से सनी हुई थी उसी भागमे वह हरी होगई और अंगूर निकल आया। यह कोई आश्चर्य नहीं है, जहाँ समष्टि हित होता है उसके साधनभूत जड़ बाँसमें प्रकृति अपना प्रकाश कर सकती है, जिस प्रकार आनेवाले समष्टि हर्ष-शोक की सूचना पशु-पक्षियोंद्वारा तथा वृक्ष, गुल्म, लताओंद्वारा प्रकृति स्वाभाविक देती रहती है, जैसाकि रामायणमे अनेक स्थलों पर ऐसा कथन किया गया है। तब वह मनुष्य बड़े प्रसन्नचित्तसे महात्माजीके पास दौड़ा गया और उनके उपदेशका पात्र हुआ।

इससे सिद्ध हुआ कि मारणरूप कर्म, जोकि उसके लिये पापोंका ढेर बना हुआ था, वही भावके फेरसे परम पुण्यरूप सिद्ध होकर सम्पूर्ण पापोंका प्रायश्चित्त बन गया। अब देखना यह है कि कौनसा भाव पुण्यको उत्पन्न करनेवाला है और कौनसा पापको ? इस पर विचारद्वारा यह स्पष्ट होता है कि जिस भावमे जितनी मात्रामे हमारा स्वार्थत्याग होगा उतना ही वह पुण्यरूप होगा और जितनी मात्रामें स्वार्थकी पकड़ होगी उतना ही वह पापरूप होवेगा। जिस प्रकार सुख व दुःख सापेक्ष न्यून-अधिक हैं, एक सुखसे दूसरा सुख अधिक और दूसरेसे पहला न्यून, तथा एक दुःखसे दूसरा दुःख अधिक और दूसरेसे पहला न्यून, इसी प्रकार पुण्य-पाप भी अवश्य सापेक्ष न्यूनाधिक है तथा केवल पुण्य व केवल सुख इनसे विलक्षण है। इसको आगे चल कर स्पष्ट किया जायगा।

पुण्य व पापके हेतु राग-द्वेष पर विचार

वेदान्त का कथन है कि रागसे पुण्यकी उत्पत्ति होती है और द्वेषसे पापकी वृद्धि होती है। अब यहाँ प्रश्न होता है कि कौन-सा राग पुण्य

को उत्पन्न करेगा? क्या वह जिसमें हमारा व्यक्तिगत स्वार्थ भरा हुआ है? नहीं, नहीं, स्वार्थमूलक राग पुण्यका हेतु कैसे हो सकता है? वह तो पापरूप ही है। वही राग पुण्यरूप होगा, जिसमे हमारा व्यक्तिगत स्वार्थांश छूटा हुआ हो और जितने अंशसे इस स्वार्थका अधिक त्याग होगा उतने ही अधिक अंश में वह पुण्यरूप भी होगा। तथा कौनसा द्वेष पापको उत्पन्न करेगा? क्या वह द्वेष, जिसमें हमारे स्वार्थका परित्याग है? नहीं, ऐसा द्वेष तो पुण्यरूप होना चाहिये। वही द्वेष पापरूप होगा, जिसमें हमारे व्यक्तिगत स्वार्थ का लगाव है। इस विषय को दृष्टान्त-स्थल पर स्पष्ट किया जाता है।

चोरी, जारी और हिंसा, तीन ही कर्म मुख्य पापके जनक हैं, और निंदित कर्म इनके अन्तर्गत ही आ सकते हैं। अब इन तीनों का भिन्न-भिन्न विचार किया जाता है।

चोरी:—चोरीमें राग पापरूप है और चोरीसे द्वेष पुण्य-रूप है, यह सभी शास्त्रोंका मत है। ऐसा क्यों? इसीलिये कि चोर-कर्म दुष्ट स्वार्थमूलक है। परंतु यदि चोरीका ऐसा कोई दृष्टान्त मिले जिसमें स्वार्थत्यागका सबंध हो तो वह अवश्य पुण्यरूप होगा। महर्षि विश्वामित्रके लिये १२ वर्षके दुष्काल के कारण कुत्तेके निकृष्ट भागके मांसकी चोरी, वह भी चांडाल के घरसे, पुण्यरूप हुई। क्यों? इसीलिये कि इस अभक्ष्य-भक्षणके द्वारा शरीरकी स्थितिमें उनका उद्देश्य भोगपरायण नहीं था, बल्कि परमोपकार-परायण था। परमोपकारके

अन्य पुरुषोंके इहलौकिक श्रेयसाधनको 'परोपकार' कहते हैं, तथा अन्य पुरुषोंका पारलौकिक श्रेयसाधन करना 'परमोपकार' कहा जाता है।

लिये इस निन्दित साधनद्वारा अभक्ष्य-भक्षण करके भी उन्होंने शरीरकी स्थितिको स्वीकार किया, जोकि उनके स्वार्थत्याग का ज्वलन्त दृष्टांत है। इसीलिये यह कर्म पुण्यरूप हुआ। चौराग्रगण्य भगवान् श्रीकृष्णकी तो बात ही क्या है? जिनके चोर-कर्मकी प्रशंसाके कारण ही श्रीमद्भागवतको आदर मिला, जिनकी लीलाएं भक्तोंके हृदयरूपी नन्दन-वनके लिये आनन्दामृतवर्षिणी बन गई। किसी कविने इस चौराग्रगण्यको क्या ही सुन्दर नमस्कार किया है—

व्रजे प्रसिद्धं नवनीतचौरं गोपाङ्गनानां च दुकूलचौरम्।
अनेकजन्मार्जितपापचौरं चौराग्रगण्यं पुरुषं नमामि ॥ १ ॥
श्रीराधिकाया हृदयस्य चौरं नवाम्बुजश्यामलकान्तिचौरम्।
शरणागतानां च समस्तचौरं चौराग्रगण्यं पुरुषं नमामि ॥२॥

अर्थः—व्रजमे जो प्रसिद्ध माखनके चुरानेवाले हैं, जो गोपियोंके वस्त्र चुरानेवाले हैं और जो भक्तोंके अनेक जन्मों के संचित पापोंको चुरानेवाले हैं, ऐसे चोरों मे अग्रगण्य भगवान्को मैं नमस्कार करता हूँ। जो श्रीराधाजीके हृदयको चुरानेवाले हैं, नवीन कमलकी श्यामल कान्तिको चुरानेवाले हैं तथा शरणागतोंका (तन, मन, धन) सब कुछ चुरानेवाले हैं, ऐसे चोरोंमें अग्रगण्य भगवान्को मैं नमस्कार करता हूँ।

ऐसा क्यों हुआ? इसीलिये, कि उनका अपने शरीरके साथ कोई व्यक्तिगत अहंभाव ही मौजूद न था। स्वार्थकी तो वार्ता ही क्या? स्वार्थका सम्बन्ध तो अहंभावसे ही होता है। न उनका अपना शरीर ही अपने पुण्य-पापरचित था, बल्कि

साधुओंके पुण्य और दुष्टोंके पापरचित संस्कारोंद्वारा ही उनके शरीरकी प्रकटता हुई थी। जैसा गीता अध्याय ४ में कहा गया है :—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।
(श्लोक ६, ७ ८)

अर्थ.—मैं अजन्मा व अविनाशीरूप होने पर भी और सब भूतोंका ईश्वर होने पर भी, अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी मायासे प्रकट होता हूँ। कब ? जब-जब धर्ममें ग्लानि उत्पन्न होती है, तब-तब मैं अपने रूपको प्रकट करता हूँ। क्यों ? साधु पुरुषोंका उद्धार तथा दुष्टोंका विनाश करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट होता हूँ।

क्योंकि अपनी शारीरिक चेष्टाओंमें उनका किसी प्रकार कर्तृत्व-अहंकार नहीं था इसीलिये जिन्होंने उनकी चेष्टाओंसे द्वेष किया, भगवान्‌को उन चेष्टाओंका पाप स्पर्श न करके उन द्वेषियोंको ही पापका स्पर्श हुआ। तथा जिन्होंने उनकी चेष्टाओंसे राग किया, उसका पुण्य भगवान्‌को स्पर्श न करके उन पुरुषोंको ही पुण्य भागी होना पड़ा। ईश्वरकोटिको छोड

कर अन्य जीवकोटिके युञ्जानयोगियोंके[1] साथ भी इसी नियम का सम्बन्ध है।

आशय यह है कि राग-द्वेष और पुण्य-पापका सम्बन्ध केवल कर्तृत्व-अहंकारसे ही है। जिनमें कर्तृत्व-अहंकार जाग्रत् है उनको ही राग-द्वेष,पुण्य-पापके साथ बंधना पडता है और जिन में कर्तृत्व-अहंकार जाग्रत् नहीं उनका राग-द्वेषादिके साथ कोई बन्धन नहीं। स्वयं भगवान् तथा योगियोंमे ज्ञानके प्रभावसे कर्तृत्व-अहंकार सर्वथा गलित रहता है, इसीलिये उनको राग-द्वेष और पुण्य-पापका स्पर्श असम्भव है। क्योंकि वहाँ राग-द्वेषादि का आधारभूत कर्तृत्व-अहंकारका ही अभाव है, फिर आधार विना आधेयकी स्थिति कैसे हो? उनकी आभासमात्र चेष्टाओंमें अन्य पुरुष जो राग-द्वेष करते हैं, वही अपने राग-द्वेषद्वारा पुण्य-पापके बन्धनमें आते हैं। जैसे युधिष्ठिरकी यज्ञशालामे दुर्योधन जलमें स्थल और स्थलमें जलकी विपरीत भावनासे अपने अज्ञानद्वारा आप ही भ्रमित हुआ था।

जारी :—जार-कर्ममे राग पापरूप है, यह सभी शास्त्रोंका मत है। क्यों? इसीलिये, कि इसमें इन्द्रियपरायणतारूप स्वार्थ भरा हुआ है। यदि इस रागका संकोच होकर अपनी पत्नीमें ही यह राग केन्द्रीभूत हो तो पुण्यरूप है। यदि यह क्रमशः

---

[1] गुरुशास्त्रके उपदेश और अपने पुरुषार्थद्वारा जिन्होंने अपने परमात्मस्वरूपको प्राप्त किया है, वे युञ्जान-योगी कहे जाते हैं। जिनको अपना परमात्मस्वरूप विस्मरण नहीं हुआ, तथा गुरु-शास्त्रके उपदेशकी जिनके लिये ज़रूरत नहीं हुई, वे युक्त-योगी कहे जाते हैं, जैसे राम-कृष्णादि।

और भी संकुचित होकर पितृ-ऋणसे छूटनेके उद्देश्यसे एक पुत्रकी उत्पत्ति पर ही समाप्त हो जाय तो महान् पुण्यरूप है। जितना इन्द्रियलोलुपतारूप राग संकुचित होगा, उतना ही पुण्य-रूप और जितना विकसित होगा उतना ही पापरूप होगा। जैसा मनुजीने कहा है :—

प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला

अर्थात् भूतोंकी प्रवृत्ति भोगोंमें स्वाभाविक है परन्तु निवृत्ति महाफलदायनी है। इन्द्रियलोलुपताके सर्वथा अभाव के कारण ही महर्षि व्यासदेवके द्वारा धृतराष्ट्र, विदुर और पाण्डुकी उत्पत्ति पापरूप न होकर पुण्यरूप ही हुई।

हिंसा—जो हिंसा अपने पेटको कब्र बनानेके लिये या अन्य किसी तुच्छ स्वार्थके लिये की गई है, वह अवश्य पापरूप है। परन्तु हिंसामें ही यदि उदारतापूर्वक स्वार्थत्याग भरा हुआ हो तो महान् पुण्यरूप है, जैसा एक कहानीके द्वारा पीछे निरूपण किया गया है। राजाके लिये प्रजापालननीतिसे अपराधीको दण्ड देना पुण्यरूप है, अथवा धर्मरक्षाके लिये युद्ध ठानना परम पुण्य है। परन्तु प्रजापालननीति तथा धर्मरक्षा लक्ष्य न रह कर केवल अपने स्वार्थके ही लिये हिंसा की जाय तो महान् अनर्थरूप है। जैसे वर्तमान में राजनीति का प्रवाह चल रहा है, क्योंकि वर्तमान राजनीति प्राकृतिक नियम-विरुद्ध है, इस लिये अवश्य इस नीतिको प्रकृतिके डंडेकी चोट सहनी पड़ेगी, कोई शक्ति नहीं जो इसकी चोटको रोक सके।

---

१. यह ग्रन्थ ब्रिटिशराज्यके समय लिखा गया था, यहाँ उसी नीति से संकेत किया गया है।

राग से पुण्य और द्वेष से पाप मे रहस्य

उपर्युक्त व्याख्यासे सिद्ध हुआ कि केवल राग पुण्यका हेतु और केवल द्वेप पापका हेतु नहीं, किन्तु जिस रागके साथ स्वार्थका लगाव है वह राग भी पापरूप और जिस द्वेपके साथ स्वार्थत्यागका सम्बन्ध है वह द्वेप भी पुण्यरूप है। अर्थात् जिस रागके साथ स्वार्थत्याग है वही पुण्यरूप हो सकता है और स्वार्थमूलक द्वेप ही पापरूप है। अब वेदान्तके इन वचनोंकी 'रागसे पुण्य औरद्वेप से पाप होता है' उपर्युक्त व्याख्या से कैसे सगति लगाई जाय ? इसका समाधान यह है :—

वेदान्त कहता है कि संसारमे एक ही पाप है और एक ही पुण्य। अपने-आपको यावत् संसारसे भिन्न करके जानना, 'मैं और हूँ, शेप सब संसार मेरेसे भिन्न है, मैं इस साढ़े तीन हाथकी हदमें ही महदूद हूँ', इस प्रकारका परिच्छिन्न-अहंकार ही एक पाप है शेष सब पापोंकी जड।

'अन्योऽसावन्योऽहमस्मि न स वेद यथा पशुः।' (श्रुति)

अर्थात् 'वह और है, मैं और हूँ' ऐसा भेद-दृष्टियुक्त पुरुप पशुके समान कुछ नहीं जानता। और इस परिच्छिन्न-अहंभावका अभाव होना, यही एक पुण्य है सब पुण्यों की मूल।

इस सिद्धान्तके अनुसार जिन चेष्टाओंद्वारा अहंभाव दृढ़ होता है वे पापरूप और जिन चेष्टाओंमें अहंभाव शिथिल होता है वे पुण्यरूप होंगी, इसमे संदेह ही क्या है ? इसी कारण यह नियम है कि जितनी-जितनी स्वार्थकी वृद्धि होगी उतना-उतना ही

अहंभाव संकुचित होकर दृढ होगा, यही पाप है और जितना-जितना स्वार्थत्याग होगा उतना-उतना ही अहंभाव विकासको प्राप्त होकर फैलेगा, यही पुण्य है। जैसे पानी जितना-जितना शीतके संयोग को प्राप्त होगा उतना-उतना ही संकुचित होकर जडता को प्राप्त होगा और जितना-जितना अग्निके संयोगको पावेगा उतना-उतना ही द्रवीभूत होकर विस्तारको प्राप्त होगा। यहाँ तक कि भाप के रूपमें सूक्ष्म होकर महान आकाशको घेर लेगा और साथ ही महान् शक्ति सम्पन्न भी होजायगा। ठीक, इसी तरहसे अहंभाव जितना-जितना स्वार्थपरायण होगा, उतना-उतना ही संकुचितहोकर जडताको प्राप्त होगा और उतना-उतनाही भय-क्रोधादि आसुरी सम्पत्तिका अधिकारी होगा। तथा जितना-जितना स्वार्थ-त्यागको धारण करेगा, उतना-उतना ही सूक्ष्म होकर विस्तृत होगा और उतना-उतना ही शक्ति, शान्ति एवं निर्भयता आदि दैवी सम्पत्तिका अधिकारी होगा। यहाँ तक कि वह सूक्ष्मताको धारण करता हुआ और आकाशके समान सम्पूर्ण संसारमें व्याप्त होता हुआ सम्पूर्ण संसारके साथ अपनी एकताका अनुभव कर सकेगा और इस प्रकार जीवसे शिवरूप बन जायगा। इसके विपरीत अहंभाव जितना-जितना जडता को प्राप्त होगा, प्राकृतिक नियमके अनुसार उडदके आटेके समान उतना-उतना ही दुःखोंकी चोटें लगना भी स्वाभाविक है। इसी लिये अहंभावकी दृढ़ता व जडता पापरूप और इसका क्षीण होना पुण्यरूप है।

राग हमेशा उन्हीं पदार्थों मे होता है, जिनमे सुखबुद्धि होती है और सुखबुद्धिके विषय जो पदार्थ हैं, उनमे आत्मबुद्धि करके ही सुखबुद्धि होती है। अर्थात् अपना-आपा जान कर ही उन पदार्थोंमें चित्त दिया जाता है, अन्य प्रकारसे तो

सुखबुद्धि हो ही कैसे ? क्योंकि आत्मासे भिन्न अन्य कोई पदार्थ सुखरूप व प्रियरूप हो ही नहीं सकता। इसी लिये श्रुति ने आत्माको 'अस्ति, भाति, प्रियरूप' वर्णन किया है। धन, पुत्र, स्त्री यावत् संसारके पदार्थ उसी काल तक हमको सुखदाई हैं, जब तक उनमे आत्मबुद्धि विद्यमान है। जिस क्षण उनमे से आत्मबुद्धि दूर होती है, उसी क्षण उनमेंसे सुखबुद्धि भी कूंच कर जाती है। प्रत्येक प्राणी नित्य ही अपने जीवन में इसको अनुभव कर रहा है और श्रुति भी ऐसा ही पुकार-पुकार कर कह रही है।

'न वारे सर्वस्य तु कामाय सर्वं प्रियं भवति
आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति'।

अर्थः—सब पदार्थोंके लिये सब पदार्थोंको प्यार नहीं किया जाता, किन्तु अपने ही लिये सब पदार्थोंको प्यार किया जाता है।

इससे सिद्ध हुआ कि जिन पदार्थोंमे राग होता है, उनमें आत्म-बुद्धिका डेरा पहले ही जमाया जाता है, अर्थात् आत्मबुद्धि करके ही इनमें राग किया जाता है कि यह मेरी आत्मा है। और आत्मबुद्धि ही वेदान्तका प्रतिपाद्य विषय है, इस लिये राग तो पापरूप हो ही कैसे ? रागके द्वारा तो अहंभावका विकास होता है और अपने परिच्छिन्न शरीरसे आगे बढ़कर राग का विषय जो पदार्थ है उसमें भी आत्मबुद्धि अपना आसन लगाती है। और यही वेदान्त का लक्ष्य है कि राग यहाँ तक विस्तृत हो कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें ही आत्मबुद्धि होने लगे।

इसलिये राग तो अपने रूपसे वेदान्तके लक्ष्यके अनुकूल है, वह किसी तरह भी पापरूप नहीं हो सकता। हाँ, प्रकृति का यह अटल नियम है कि किसी भी परिच्छिन्न पदार्थमें सत्यत्वबुद्धिसे राग, उससे भिन्न अन्य सब पदार्थोंमें द्वेष उत्पन्न कर देता है, जो कि अनिवार्य है। वेदान्त तो यह चाहता है कि दूध तो पिया जाय, परन्तु कुत्तेकी खलडीमें डाल कर नहीं। राग तो किया जाय, परन्तु परिच्छिन्न-दृष्टि से नहीं, बल्कि रागकी समतादृष्टिका विस्तार हो, इसीको आत्म-विकास कहते हैं। परन्तु किया क्या जाय ? किसी भी परिच्छिन्न-वस्तुमें सत्यत्वबुद्धिसे राग, अपने साथ द्वेष लिये हुए है। जितना-जितना राग संकुचित होगा, उतना-उतनाही द्वेष विकसित होगा और जितना-जितना-राग विकसित होगा, उतना-उतना ही द्वेष सकुचित होगा। अर्थात् जितना-जितना तुच्छतादृष्टि से राग होगा, उतना ही द्वेषकी वृद्धि होगी और जितना-जितना उदारता व विशालता-दृष्टिसे राग होगा, उतना-उतना ही द्वेष का अभाव होगा।

अत सिद्ध हुआ कि राग अपने स्वरूपसे पापरूप नहीं है। परन्तु परिच्छिन्न-वस्तुका राग, द्वेषको उपजाने करके द्वेषरूप से पाप है, रागरूपसे पाप नहीं। जितना-जितना रागसंकुचित होगा, उतना-उतना ही द्वेष अधिक होगा और उतनी ही पाप की वृद्धि होगी। तथा जितना-जितना राग विकसित होगा, उतना ही द्वेष न्यून होगा और उतना ही पुण्यकी वृद्धि होगी। इसीलिये स्वार्थ-मूलक राग पापरूप और स्वार्थत्यागमूलक राग पुण्यरूप है। क्योंकि स्वार्थ अपने सम्बन्धसे रागको संकुचित व सीमाबद्ध करके द्वेषकी वृद्धि करता है, इसीलिये वह दूषित और पाप है।

द्वेष हमेशा उन पदार्थोंमें ही होता है, जिनके साथ आत्म-बुद्धिका लगाव नहीं, अर्थात् जो अपनी हृदयगत ज्योतिसे धन्य नहीं हुई। इसलिये द्वेष अपने स्वरूपसे तो वेदान्तके लक्ष्यके प्रतिकूल ही है, अपने स्वरूपसे पुण्यरूप हो ही कैसे ? परन्तु स्वार्थत्याग-मूलक द्वेषको जो पुण्यरूप बतलाया गया है, उसका कारण यह है—

वेदान्त कहता है कि हमारे हृदयमे जो रागका स्वाभाविक स्रोत विद्यमान है वह किसी एक व्यक्तिके हृदयकी चीज नहीं है, उस स्रोत पर सम्पूर्ण संसारका अधिकार है। देव, ऋषि, पितर, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतग अर्थात् उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज, जरायुज चारों खानीके भूतप्राणी सभी इससे उस रागके पानेके अधिकारी हैं, उस पर सभीका अधिकार है. जितना-जितना हम उनसे आत्मदृष्टिसे प्रेम करेंगे, उतना-उतना ही प्रेम हम उनसे पायेंगे। वाह ! प्रकृतिका कैसा सुन्दर नियम है, जितना-जितना खर्च किया जायगा उतना-उतना वृद्धिको प्राप्त होगा। जितना-जितना बीज पृथ्वीमें रुलादिया जायगा, उससे कई गुणा होकर वह हमको मिलेगा। कैसा मुनाफेका सौदा है ? परन्तु शोक ! हमने इसको बरतना नहीं सीखा। समुद्रकी तह पर जब एक लहर प्रकट होती है, तब वह पहले स्थूल आकार मे प्रकट होती है। परन्तु यह नियम है कि स्थूलरूपमें प्रगट होते ही वह फैलने लगती है और पतली होते-होते यहाँ तक फैलती है कि अपना आकार मिटाकर समुद्ररूप ही हो जाती है, फिर सम्पूर्ण लहरोंमें वही समाई हुई होती है और सब रूपोंमे झाड़ें मारती है। इसी प्रकार प्राकृतिक नियम चाहता है कि इस रागके स्रोत को जो हमारे हृदयदेशमें उत्पन्न हुआ है, यहाँ तक फैला दें कि यह फैलते-फैलते सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें व्याप्त होजाय, फिर सम्पूर्ण संसारके हम ही स्वामी है और सब हृदयोंमें हमारा ही

आसन है। परन्तु विपरीत इसके, जब हम इस हृदयगत रागको किसी एक केन्द्रमें बाँधकर तुच्छ स्वार्थका बन्धन लगा देते हैं और इसको फैलनेसे रोक देते हैं, तब इसका प्रवाह चलनेसे रुक जाता है। इस प्रकार एक स्थानमें ही रोके रखकर और इसको परिमित बनाके हम इसको अपवित्र व गदला कर देते हैं। जैसे नदीका पानी जब एक स्थानमें ही पाल बाँधकर रोक दिया जाय तो उसका स्रोत रुक जायगा, साथ ही वह मैला होकर सड़ने लगेगा, परन्तु यदि उसकी पाल तोड़दी जाय तो वह स्रोत के रूपमें चालु होजानेसे पवित्र व निर्मल होने लगेगा और साथ ही बहुतसी भूमि उसके प्रतापसे हरी-भरी होजायगी।

'बहता पानी निर्मला, खड़ा सो गंदा होय'

इसी प्रकार स्वार्थत्यागमूलक द्वेष इसीलिये पुण्यरूप है कि वह केन्द्रित रागके तुच्छ स्वार्थी बन्धनको, जिसने रागके प्रवाह को रोककर अपवित्र कर दिया था, तोड़कर फैला देता है, उस रागके स्रोतको चालू करके निर्मल बना देता है और बहुतसे हृदय-क्षेत्रोंको हराभरा करदेता है। इससे सिद्ध हुआ कि स्वार्थ-त्याग-मूलक द्वेष, द्वेषरूपसे पुण्य नहीं, किन्तु रागकी समताका विस्तार करके रागरूपसे पुण्य है। एक वैराग्यवान् महात्माके लिये वैराग्य इसीलिये महान् पुण्यरूप है कि उसने तुच्छ संसार-सम्बन्धी रागके बंधनको तोड़कर रागकी समताका विस्तार किया है और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' भावको जाग्रत कर दिया है।

राग-द्वेषसे पुण्य पापका सम्बन्ध किस प्रकारसे कैसा है? इसकी व्याख्या की गई। अब प्रकृतिके गुणों के तारतम्यसे पुण्य-पाप तथा आत्म-विकासका कुछ निरूपण किया जाता है। प्रकृतिके राज्यमें जितने

जीव विकासवाद निरूपण

भी पदार्थ हैं, सत, रज और तम तीनों गुणोंका सबसे सम्बन्ध है। गीता अ० १८ मे कहा गया है।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥(श्लोक ४०)

अर्थः—पृथ्वी या स्वर्गमे अथवा देवताओमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं, जो प्रकृतिके इन तीनो गुणोंसे रहित हो।

अर्थात् पाषाणसे लेकर चारों खानि व चारों वाणिमें जितने भी पदार्थ है, सब इन त्रिगुणोंसे सम्बन्धवाले हैं। यावत् प्रपंच जबकि प्रकृतिका कार्य है तो प्रत्येक वस्तुमें प्रकृतिके तीनों गुणों का रहना भी आवश्यक है। तीनों गुणोंमेंसे किसी एक गुणका प्रत्येक पदार्थमें विकास होता है, शेष दो दबे रहते हैं, सम्बन्ध तीनों गुणोंका ही बना रहता है। जिस गुणका जिस पदार्थमें विकास होता है, वह पदार्थ उस गुणवाला ही कहा जाता है। पाषाण तमोगुणकी गाढ अवस्थासे सम्बन्ध रखता है, परन्तु तमोगुणकी इस अवस्थाके रहते हुए भी हीरे, माणिक आदिमे प्रकाशके कारण सत्त्वगुणका विकास देखा जाता है, क्योंकि सत्त्वगुण प्रकाशरूप है। पाषाणमें भी जीव माना गया है, इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि पाषाण अथवा मृत्तिकाकी खानिमे पाषाण तथा मृत्तिका निकाल कर कुछ कालके लिये यदि उसको छोड़ दें तो वह खानि अवश्य पूर्वकी अपेक्षा बढ़ी हुई दिखलाई पड़ती है। विकासवादकी दृष्टिसे इससे आगे जब जीवभावका विकास उद्भिज्जवर्गमे प्रकट होता है, तब उनमें तमोगुणकी क्षीण अवस्था का विकास देखा जाता है, इसी कारण उनमें दिन-दिन ऊपरकी ओर गति होती जाती है। तमोगुणकी गाढ़ताके कारण पाषाण में गति भान नहीं होती थी परन्तु तमोगुणकी क्षीणताके कारण उद्भिज्जों मे उसका भान होने लगता है। वृक्षादिक तमोगुणी

होते हुए भी जातिभेदसे वट, पीपल आदिमें सत्त्वगुणकी अधिकता होती है।

'अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्' गी० अ० १०, २६

अर्थात् 'सर्व वृक्षोंमें पीपल मेरी ही विभूति है।' सत्त्वगुणके विकासके कारण ही ऐसा भगवान्ने कहा है। गुणोंके विकासके साथ-साथ ही पंचकोश[1] तथा तीन अवस्थाओंका भी विकास होता जाता है। जिस प्रकार तीनो गुण प्रत्येक पदार्थमे विद्यमान हैं, उसी प्रकार पंचकोश तथा तीनों अवस्थाओंका सम्बन्ध भी प्रत्येक पदार्थ तथा प्रत्येक योनिसे बना रहता है, केवल क्रम-क्रम से उनका विकास गुणोंके साथ-साथ होता रहता है। तीन अवस्थाओंमें सुषुप्ति-अवस्था तमोगुणी, स्वप्न-अवस्था रजोगुणी और जाग्रत्-अवस्था सत्त्वगुणी होती है। तमोगुणके लक्षण जड़ता, आलस्य, प्रमाद और अज्ञान हैं जोकि सुषुप्ति-अवस्थामे मिलते हैं। रजोगुणके लक्षण चंचलता, इच्छा एव तृष्णा आदि हैं, जोकि स्वप्न-अवस्थामे मिलते है। सत्त्वगुणके लक्षण टिकाव, प्रकाश, शांति और ज्ञान है, जोकि जाग्रत-अवस्थामे पाये जाते हैं। जैसा गीता अ० १४ श्लोक १७ मे कहा गया है,—

---

१. पंचकोश नाम—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय। स्थूल शरीर जो अन्नके सम्बन्धसे घटता-बढ़ता है'अन्नमयकोश' कहा जाता है। प्राण व कर्मेन्द्रियों को 'प्राणमयकोश' कहते है। पंचज्ञानेन्द्रियाँ व मन 'मनोमयकोश' है। पंचज्ञानेन्द्रियाँ व बुद्धि 'विज्ञानमयकोश' हैं। जहाँ बुद्धि का पूर्ण विकास होकर सुख की इच्छा प्रज्वलित हो जाती है वह 'आनन्दमयकोश' है। कोशनाम खड्ग के म्यान का है। जिस प्रकार खड्ग म्यान से ढकी रहती है इसी प्रकार आत्मा इन कोशों मे ढका हुआ है।

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥

इस नियमके अनुसार उद्भिज्जवर्गमें तमोगुणके साथ-साथ तीनों अवस्थाओं तथा पाँचों कोशोंके रहते हुए भी विकास केवल क्षीण-सुषुप्ति-अवस्था तथा अन्नमयकोशका ही देखा जाता है। अन्नमयकोशके विकासके कारण ही उनके अन्दर हर समय सीधी रेखामें गति बनी हुई है। ध्यान रहे कि गुण, अवस्था व कोश कहीं बाहरसे इन योनियोंमें प्रवेश नहीं करते, किन्तु प्राकृतिक नियमानुसार अपने अन्दरसे ही इसी प्रकार विकसित होते जाते हैं, जिस प्रकार बीजमें से कूपल, टहनी, फूल व फलादि अपने-अपने समय पर विकसित होते रहते हैं।

उद्भिज्जवर्गसे आगे चलकर जीवभावका विकास स्वेदजयोनिमें होता है। यहाँ उनके अन्दर रजोगुण, स्वप्न-अवस्था और प्राणमयकोशका विकास होने लगता है। उनके भीतर श्वासोच्छ्वासकी क्रिया भी देखनेमें आती है तथा एक स्थानसे दूसरे स्थानमें गति भी पाई जाती है, जोकि उद्भिज्जयोनिमें मौजूद न थी। यही प्राणमयकोश, रजोगुण और स्वप्नअवस्थाके विकासका लक्षण है। क्रियाके सिवाय उनमें मनकी अथवा बुद्धिकी कोई चेष्टा नहीं पायी जाती। न वे अपने बच्चोंको प्यार करना जानते हैं और न किसी प्रकारकी बौद्धिक चेष्टा ही पाई जाती है, केवल जड़ावस्थामें गति तथा प्राणसंचार ही उनके अन्दर मिलता है। स्वेदज-योनिमें अनेक जातिके ऐसे कृमि हैं जोकि शरीरके अन्दर रक्तशोधन तथा शरीरके अनेक दोष दूर करनेमें सहायक हैं, इस लिये साधारणतया स्वेदजयोनिमें रजोगुणका किंचित् विकास होते हुएभी उनको सत्त्वगुणप्रधान कहा जा सकता है।

स्वेदजयोनि से आगे जीवभावका विकास अण्डजयोनिमें

होता है। यहाँ उनमें रजोगुणकी अधिकताके साथ-साथ स्वप्न अवस्थाका प्रसार तथा अन्नमय व प्राणमयकोशके अतिरिक्त मनोमयकोशका विकास भी पाया जाता है। यहाँ उनमें चंचलता का वेग तीव्र गतिसे चल पडता है। जैसे स्वप्न अवस्थामें मन के परिणाम बडी शीघ्रतासे होते हैं, वैसे ही उनमें यहाँ पाये जाते हैं। उनका मन एक क्षणके लिये भी स्थिर नहीं होने पाता, दिनभर उनमें शारीरिक व मानसिक चेष्टाएँ अनियमित रूप से बनी रहती हैं, जोकि नीचेकी योनियोंमें मौजूद नहीं थीं। उनमें भूख-प्यासका वेग जोरों पर होता है, वे अपने बच्चों से प्यार करना भी जानते हैं, एक दूसरेके साथ वैमनस्य भी कुछ देर के लिये ठान लेते हैं, परन्तु स्थायी रूपसे नहीं, जोकि उनमें मनोमयकोश, रजोगुण व स्वप्न-अवस्थाके विकास का परिचायक है। रजोगुणकी प्रौढता रहते हुए भी जातिभेदसे कपोत तथा मयूरादि योनियों में सत्त्वगुणकी अधिकता देखी जाती है। मनुष्य इनको पालते हैं और इनके द्वारा अनेक कार्य भी लिये जाते हैं। यह मनुष्योंके प्रति अपना प्रेमभाव प्रकट करना जानते हैं, इसलिये रजोगुण होते हुए भी इनको सत्त्वगुणप्रधान कहा जा सकता है। 'वैनतेयश्च पक्षिणाम' गी० अ० १० श्लोक ३० में इसीलिये गरुडको भगवानने अपनी विभूति वर्णन किया है।

अण्डजयोनिसे निकलकर जीवभावका विकास अब जरायुजयोनिमें होता है। मनुष्ययोनि भी यद्यपि जरायुजयोनि में ही शामिल है, परन्तु मनुष्ययोनिको छोडकर अन्य चारपायों में रजोगुणके साथ-साथ सत्त्वगुणका भी विकास देखनेमें आता है। यहाँ उनमें अन्य तीन कोशोंके अतिरिक्त विज्ञानमय-कोशका भी विकास देखनेमें आता है। अण्डजयोनिमें जितनी चंचलताका वेग मौजूद था वह अब इनमें नहीं है, किन्तु इनकी

गति सापेक्ष टिकी हुई है, यही सत्त्वगुणके विकासका चिह्न है। अन्य जातिके साथ तथा अपनी जातिमे यहाँ अनेक प्रकारसे प्रेमका प्रकाश स्थिर रूपसे प्रकट होता है। मनुष्य गो, कुत्ते व अश्वादिको पालते हैं, कुत्तोंके द्वारा अनेक प्रकारके कार्य लिये जाते हैं। वह एक चौकीदारकी ड्यूटी भली भाँति पूरी करता है। वह अपने कुटुम्बके मनुष्योंमे तथा अन्य मनुष्योंमें भली-भाँति पहिचान करता है। कोई चीज इसको दिखलाकर पानीमें फैंकी जाय तो वह झट निकाल लाता है। अश्वादिको भी अनेक प्रकारसे सधाया जाता है, जोकि बौद्धिक विकास (विज्ञानमयकोश) के भली-भाँति परिचायक हैं। इस योनिमें जातीय भेदसे गौ आदि पशुओंमे सत्त्वगुणका अधिक विकास देखनेमें आता है।

इससे आगे चलकर जीवभावका विकास मनुष्य-योनिमे हुआ। यहाँ उसमे तीनों गुण, तीनों अवस्था तथा पाँचों कोशों का विकास हो आया, अब उसकी प्रकृति पूर्ण है। जाग्रत्-अवस्था, सत्त्वगुण तथा आनन्दमयकोशका भी यहाँ प्रादुर्भाव हो चुका है। आनन्दमयकोशके विकासका ही यह फल है कि अब उसकी दशों इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि पूर्ण रूपसे विकसित हो चुके है। यहाँ उसको रसना-इन्द्रियके सुस्वादु भोजनोंके नाना रसोंका ज्ञान है और उनकी इच्छा करता है। चक्षु-इन्द्रियके विषय सुन्दर रूपोंके देखनेकी लालसा होती है। श्रोत्र-इन्द्रिय के विषय मधुर शब्दोंके सुननेको चित्त करता है। त्वक्-इन्द्रिय के विषय कोमल स्पर्शके पानेकी जिज्ञासा होती है। घ्राण-इन्द्रियके विषय सुगन्धित द्रव्यके पानेकी रुचि होती है, जोकि नीचेकी योनियोंमें प्रकट नहीं हुई थी। यह उसके अन्दर आनन्दमय-कोश और मन-इन्द्रियके पूर्ण विकासका चिह्न है। यहाँ उसमें बौद्धिक-विकासकी पूर्ण रूपसे प्रकटता हो चुकी है।

साधारण मनुष्य अपने सुख-दुःखको भली-भाँति पहिचानते हैं। किस प्रकारसे सांसारिक सुख सम्पादन किया जाय? किस प्रकार सांसारिक दुःखोंसे छुटकारा पाया जाय? इनके सामान्य साधन भी वह जानता है और करता है। यहाँ वह अनेकानेक सांसारिक विद्याओंका संग्रह करके बुद्धिके विचित्र-विचित्र आविष्कार निकालता है। बुद्धिबलसे भाप व विद्युत आदि पर भी अपना अधिकार जमाता है और देश-कालका उच्छेद करता है। अब वह साढे तीन हाथके अन्दर ही परिच्छिन्न नहीं रह जाता, वरन निराधार-तार (Wireless Telegraphy) के जरिये अपने कानोंसे हजारों मीलके शब्द सुनता है। वायुयान आदि के जरिये अपने पाँव सैंकडों मीलकी रफ्तारके बना लेता है, जो पूर्ण सत्त्वगुण व पूर्ण बौद्धिक-विकासका परिचय देते हैं।

इस प्रकार पाषाण-योनिसे आरम्भ करके जीवभावका विकास प्रकृतिके तले पलटा खाता हुआ मनुष्ययोनि पर्यन्त विकसित हो आया। नीचेकी योनियोंमें जीव अपनी-अपनी प्रकृतिके अधीन था। उसकी खान-पान, रहन-सहन, सोना-जागना, मैथुनादि सर्व चेष्टा प्रकृतिके अधीन होती थी। कोई चेष्टा अपनी प्रकृतिके विरुद्ध करनेमें वह समर्थ नहीं था और न अपनी चेष्टाओंमें उसका कर्तृत्व-अहंकार ही विकसित हुआ था। इसलिये उसकी सब चेष्टाएँ प्रकृतिके अनुकूल ही होती थीं, इसीलिये उन योनियोंमें अपने किसी कर्मकी जुम्मेवारी भी उस पर लागू नहीं हो सकती थी और वह अपनी चेष्टाओंके लिये किसी प्रकार पाप-पुण्यका भागी भी नहीं बनाया जा सकता था। दृष्टान्तस्थल पर समझ सकते हैं कि सिंहका भोजन केवल मांस है, इसके लिये वह किसी जीव-हिंसाका उत्तरदाता नहीं ठहराया जा सकता प्राकृतिक रूपसे उसके अंगोंकी रचना ही

मनुष्ययोनिमें पुण्य-पाप का बन्धन क्योंकर हुआ?

इस विषय को सिद्ध करती है। परन्तु मनुष्ययोनिमें आकर जीवकी वह दशा नहीं रही, यहाँ उसकी प्रकृति पूर्ण हो चुकी है और कर्तृत्व-अहंकार पूर्ण रूपसे उदय होचुका है। अब वह प्रकृतिके अधीन नहीं रहा, बल्कि प्रकृतिके विरुद्ध अनेक चेष्टाएँ करनेमें समर्थ है, इसलिये उस पर अपनी सब चेष्टाओंका पूर्ण रूपसे दायित्व (ज़ुम्मेवारी) है। जिस प्रकार शिशुकालमें बच्चेकी सब चेष्टाएँ माताके अधीन होती थीं, इसलिये अपनी चेष्टाओंकी ज़ुम्मेवारी भी उसपर न रहकर सब भार माता पर ही रहता था, परन्तु जब बाल्यावस्थासे निकलकर मनुष्य यौवन अवस्थाको प्राप्त हो चुका, फिर माता पर अब कोई ज़ुम्मेवारी न रहकर अपनी चेष्टाओंका वह आप ज़ुम्मेवार होता है। इसी प्रकार नीची योनियोंमें प्रकृतिके अधीन होनेके कारण जीव पर अपनी चेष्टाओंका दायित्व न रहकर, मनुष्ययोनिमें अहंभाव व प्रकृतिकी पूर्णताके कारण जीव पर अपनी सब चेष्टाओंका भार है। गवर्नमेंण्टके राज्यमें भी ऐसा ही नियम देखनेमें आता है, मनुष्य पर सब प्रकारकी पाबन्दी लगाई जाती है, बड़े-बड़े नगरोंमें सड़क पर चलनेके लिये दफा ३४ का बर्ताव भी सर्व साधारणसे किया जाता है, परन्तु यह कहीं नहीं देखा गया कि उन्हीं सड़कों पर चलनेवाले घोड़े, बैल आदि पशुओं पर भी मलमूत्र-त्यागके कारण कोई अपराध निश्चित किया गया हो। आशय यह कि अन्य योनियोंमें आनन्दमयकोशका विकास नहीं हुआ था, इसलिये जीवमें सुखकी इच्छा भी बलवती नहीं थी, परन्तु मनुष्ययोनिमें आकर आनन्दमयकोशका पूर्ण रूपसे विकास हो चुका है, इससे सुखकी इच्छा भी तीव्र हो आई है। सुखकी इच्छासे भोक्तृत्व व कर्तृत्व-अहंकार जागृत् हो आया है तथा कर्तृत्व-अहंकारसे पदार्थोंमें अनुकूल व प्रतिकूल बुद्धि खिल आई है। अनुकूलमें राग और प्रतिकूलमें

द्वेष स्वाभाविक ही है और राग-द्वेषबुद्धिमें पाप-पुण्यका सम्बन्ध किस प्रकार है ? यह पृष्ठ ७ से १८ पर वर्णन कर आये है। इस प्रकार सुखकी इच्छासे कर्तृत्व-अहंकार व राग-द्वेष दृढ़ होजानेके कारण जीव मनुष्ययोनिमें पुण्य-पापसे बन्धायमान होता है, परन्तु अन्य योनियोंमें नहीं।

मनुष्ययोनिमें किस-किस अवस्थामें कर्म का बंधन नहीं रहता ?

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट किया गया कि किस प्रकार जीवभावका विकास पाषाण व उद्भिज्जयोनि से आरम्भ होकर गुण, अवस्था और कोशोंके अनुसार क्रम-क्रमसे प्रकृतिके अधीन निर्विघ्नतापूर्वक प्रकट होते हुए वह मनुष्ययोनि पर्यन्त पहुँच जाता है और अन्य योनियोंमें जीव अपने कर्मोंका जुम्मेवार न होकर मनुष्ययोनिमें क्योंकर ज़ुम्मेवार बनाया जाता है। मनुष्ययोनिमें भी माताके गर्भ से निकल कर जब तक बच्चेका जीवन माताके स्तनपान पर निर्भर है, वह उसकी सुषुप्ति-अवस्था है। इससे आगे चल कर जब बच्चेके दाँत निकल गये, कुछ-कुछ अन्न खाने लगा, अपने पाँव पर चलने लगा, गुड्डे-गुड़ियोंके खेलोंमें अपना चित्त बहलाने लगा, तब वह उसकी स्वप्न-अवस्था है। क्योंकि इन दोनों अवस्थाओंमें भी इसकी प्रकृति अपूर्ण है, कर्तृत्व-अहंकार व बुद्धिका पूर्ण विकास यहाँ नहीं है, इसलिये प्राकृतिक नियमानुसार उस पर इन दोनों अवस्थाओंमें अपनी चेष्टाओंका दायित्व आरोपित नहीं हो सकता। तथा उन महापुरुषोंका तो कहना ही क्या है, जो मनुष्य-जन्मको प्राप्त कर 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्' के भारसे मुक्त हुए हैं। जिन्होंने चौरासी लाखके चक्करसे थक कर अपनी कमर खोल दी है और कर्तृत्वाहंकार को ज्ञानाग्नि में भस्म कर दिया है।

लाख चौरासीके चक्करसे थका खोली कमर ।
अब रहा आराम पाना, काम क्या बाकी रहा ?
डाल दो हथियार मेरी राय पुख्ता अब हुई ।
लग गया पूरा निशाना, काम क्या बाकी रहा ?
घोर निद्रासे जगाया सद्‌गुरुने वाह ! वाह !!
अब नहीं जगना-जगाना, काम क्या बाकी रहा ?
मानके मनमें मियाँ मौलाका मेला है यह सब ।
फिर बनुँ अब क्या मौलाना ! काम क्या बाकी रहा ?
जानकर तौहीद[1]का मनशा शुबा सब मिट गया ।
यूँ ही गालोंका बजाना, काम क्या बाकी रहा ?
एकमें कसरत व कसरतमें भी एक ही एक है ।
अब नहीं डरना-डराना, काम क्या बाकी रहा ?
द्वैत व अद्वैतके झगड़ेमें पड़ना है फिजूल ।
अब न दाँतोंको घिसाना, काम क्या बाकी रहा ?

जिन्होंने करामलकवत् संसारके तत्त्वको जान लिया है, ज्ञानरूपी दीपक हृदयमें प्रकट कर चिज्जड-ग्रन्थिको सुलझा लिया है, अविद्याका भार जो अनेक कल्पसे जीव अपने सर पर लादे हुए था उसको फैंक जो अब अनन्त विश्रामको प्राप्त हुए हैं, कर्तृत्व-अहंकार जिनका गलित हुआ है और जो सब कुछ करके भी कुछ न करके रह रहे हैं।

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन् ॥

---

1. अद्वैत

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् (गी० अ०५ श्लो०८,९)
यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते (गी०अ०१८ श्लो०१७)

अर्थ.—तत्त्वका जाननेवाला योगी देखता हुआ, सुनता हुआ, छूता, सूँघता, खाता, चलता, सोता, श्वास लेता, बोलता, त्यागता, ग्रहण करता तथा आँखोंको खोलता व मीचता हुआ भी 'मैं कुछ नहीं कर रहा हूँ, इन्द्रियाँ अपने अर्थोंमे बरत रही हैं' ऐसा मानता है। जिसमे अहंकर्तृत्वभाव नही है और जिसकी बुद्धि कर्मोंमे लिपायमान नहीं होती है वह सब लोकों को मारकर भी नही मारता और नहीं बँधता। इस प्रकार मनुष्य-योनिमे भी इन तीनो अवस्थाओंके कर्म फल देने योग्य नही रहते।

मनुष्येतर योनियोंमें पुण्य पापका असम्भव और मनुष्ययोनि में जीवका कर्तव्य

अब हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि जीवभावके विकास का आरम्भ पाषाण व उद्भिज्जयोनि से होने परभी पुण्य-पापका भार मनुष्ययोनि में ही इसपर लादा जाता है, वह भी कर्तृत्व-अहंकारके पूर्ण विकास पर। अहंकारकी यह अवस्था ही जीवके बन्धन व मुक्तिका कारण है। अर्थात् अहंकारकी इस जाग्रत्-अवस्थाको प्राप्त होकर मनुष्य चाहे अपने-आपको ज्ञानका अधिकारी बनाकर और अपने आत्मस्वरूपको प्राप्त करके आवागमनके बन्धनसे छुडा लेवे, अथवा पाशविकप्रवृत्तिमें फँसकर फिर जड़ योनियोंको प्राप्त होजाय, यह इसकी इच्छा पर निर्भर है। क्योंकि अब वह अपने कर्मोंका जुम्मेवार बन गया है इसलिये इसके लिये निकृष्ट कर्मोंके फलमें जड़ योनियोंकी प्राप्ति भी अनिवार्य है। प्रकृतिका ऐसा

नियम है कि कर्मोके अनुसारही गुणोंकी वृद्धि होती है और गुणों के अनुसार योनियोंकी प्राप्ती होती है, जैसा गीता अ० १४ श्लो० १८ में भगवान् ने कहा है :—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥

अर्थात् सत्त्वगुणी पुरुष ऊर्ध्व लोकोंको जाते हैं, रजोगुणी मध्यमें अर्थात मनुष्य लोकमें रहते है और तामसी पुरुष अधोगति तिर्यगादि (कीट, पश्वादि) योनिको प्राप्त होते हैं।

दोनों अवस्थाओंकी प्राप्ति अब इसके अधीन है और दोनों मार्ग यहींसे आरंभ होते हैं। अहंकार यद्यपि पशु-पक्षियोंमें भी विद्यमान है, अहंकारके विना भूख-प्यास तथा उनकी निवृत्ति का साधन, इत्यादि व्यवहारकी सिद्धि ही नहीं होती। परन्तु उनमें अहंकार अभी जाग्रत-अवस्थाको प्राप्त नहीं हुआ, बल्कि स्वप्नतुल्य है। जिस प्रकार मनुष्यके लिये स्वप्नावस्थामें किये हुए कर्म पुण्य-पापके संस्कार उत्पन्न करके इसके बन्धनके हेतु नहीं होते, जिस प्रकार बाल्यावस्थामें किये गये शुभाशुभ कर्मके लिये राज्यकी ओरसे बालकके ऊपर कोई दायित्व नहीं आरोपित किया जाता; इसी प्रकार उन तिर्यगादि योनियोंमें अहंकार का विकास स्वप्न-अवस्था तक ही परिमित रहनेके कारण वे भी किसी दायित्वके भागी नहीं हो सकते। उनके कर्म पुण्य-पापके हेतु तो तब हों जबकि वे संस्कार को उत्पन्न करें, परन्तु बुद्धिकी अपूर्णताके कारण और कर्तृत्वाहंकारके स्वप्नवत् रहनेके कारण उनके कर्म संस्कारको ही उत्पन्न नहीं कर सकते। इसीलिये उनको अपनी योनियोंके कर्मोंका पुण्य-पाप असम्भव है। चूंकि अब मनुष्य-योनिको प्राप्त करके जीवने अहंकारकी पूर्णता प्राप्त करली है, पाँचों कोशोंका विकास होचुका है, प्रकृति-माताने सर्व प्रकार इसको योग्य बनाकर इस परसे अपनी जम्मेवारी हटाली

है और इसको स्वतन्त्र करके स्वतन्त्रताका प्रमाण-पत्र दे दिया है, इसलिये अब इसकी इच्छा है कि चाहे यह प्रकृति-माताके परिश्रमको सफल करता हुआ, प्रकृति-माताकी सेवा करता हुआ तथा इसके अनुकूल वर्तता हुआ स्वार्थत्यागद्वारा रागकी ममता को सम्पादन करके 'वसुधैव कुटुम्बकम्'[1] भाव उपार्जन करता हुआ निरन्तर सुखको प्राप्त होकर आवागमनके फन्देसे अपने-आपको छुडाले, क्योंकि प्रकृतिकी सम्पूर्ण चेष्टा इसी निमित्त थी; अथवा प्रकृति-माताका अनादर करके और उसके प्रतिकूल चलकर अनियमित प्रवृत्ति और अनर्गल भोगवासनाकी धधकती हुई अग्निकी सामग्री उपार्जन करके दीपकमें पतङ्गके समान अपने-आपको भस्म करले और इस प्रकार आसुरी सम्पत्तिका अधिकारी बनकर अपने लिये चौरासी लाखका चक्कर तैयार करले। ऐसे आसुरी सम्पदावानकी क्या गति होगी? सो स्वयं भगवान् गीता अ० १६ में यूँ वर्णन करते हैं।

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥
आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्॥
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥
तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥

---

1. अर्थात् सम्पूर्ण पृथ्वी ही हमारा कुटुम्ब है।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।

मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ।।(श्लोक १६से२०)

अर्थः—अनेक प्रकारसे भ्रान्तचित्तवाले अज्ञानीजन मोहजाल मे फंसे हुए और विषय-भोगोंमें आसक्त अपवित्र नरकमें गिरते हैं। ऐसे पुरुष अपने-आपको ही श्रेष्ठ माननेवाले, टेढ़े, धन व मानके मदसे मदान्वित दम्भ करके विधिसे रहित अहंकार की पूजाके लिये नाममात्रके यज्ञोंको करते हैं। अहंकार, वल, घमण्ड, काम और क्रोध करके युक्त हुए एक-दूसरेकी निन्दा करनेवाले अपने शरीरमे तथा दूसरे देहोंमें स्थित मुझ अन्तर्यामीदेवसे द्वेष करते हैं। (अर्थात वे यह नहीं जानते कि अपने शरीर तथा प्रतिपक्षी शरीरमें एकही अन्तर्यामीदेव है। उसको न जानकर अर्थात् जलबुद्धिका त्याग कर तरंग-दृष्टिसे शरीरमें ही सत्यत्व-बुद्धि रखकर जो विष उगला जारहा है, वह अन्तमें अपनेको ही चढ़के रहेगा। ऐसे पुरुषों की क्या गति होगी?)। उन द्वेष करनेवाले क्रूर नीच पुरुषोंको मैं घोर अशुभ आसुरी योनियोंमें ही ससारमें फैंक देता हूँ, अर्थात् कूकर-शूकर योनियोंको प्राप्त करता हूँ। हे कुन्तीपुत्र! वे मूढ़ पुरुष जन्म-जन्ममें ही आसुरी योनियोंको प्राप्त होकर और मुझको न पाकर नीच गतियोंको ही पाते हैं।

निष्कर्ष यह कि विकासद्वारा मनुष्ययोनि प्राप्त करके प्रकृति का जीव पर तकाज़ा है कि वह आसुरी सम्पदासे विषके समान भयभीत रहकर दैवी सम्पदाका पथ्य सेवन करे और अपने-आपको शिवस्वरूपका अधिकारी बनावे। सारांश, यह स्पष्ट हुआ कि अहंकार और बुद्धिके पूर्ण विकास करके ही जीव अपने-आपको ऊँचसे ऊँच योनिको प्राप्त कर सकता है और नीचसे नीच जड़ योनियों तक गिरा सकता है। जिस प्रकार

लोहे करके लोहा काटा जासकता है, उसी प्रकार अहंकारके द्वारा अहंकार और बुद्धिके द्वारा बुद्धि काटी जासकती है, अर्थात् सत्त्वगुणी अहङ्कार व बुद्धिके द्वारा ही राजसिक व तामसिक अहंकारादि काटे जासकते हैं, परन्तु यह सब कार्य बुद्धिकी पूर्णताको पाकरही होसकता है। अब कुछ सामान्य रूपसे यह दर्शाया जाता है कि किस रूपसे मनुष्य नीचसे नीच योनियों को और किस रूपसे ऊँचसे ऊँच योनियोंको प्राप्त करनेमें समर्थ है। यह स्पष्ट है कि जिस प्रकार बच्चा अपनी माताकी सेवा पाकर ही यौवन अवस्थाको प्राप्त होता है। जब उसको मल-मूत्रादि की कोई सुधि नहीं थी, तब माताने उसके लिये नीचसे नीच कार्य भी किया है, चाण्डाल तकका धंधा भी उसके लिये प्रेम से धारण किया है, रातों जागती हुई उसके कष्टको न सहकर आप उसके मूत्रमें शयन किया है और उसको सूखेमें सुलाया है। जब बच्चा नन्हा-सा होंट निकालकर रोने लगा तो माताका हृदय भी उसके दुःखको न सहकर द्रवीभूत हो आया है। इसके प्रतिकारमें युवावस्था पाकर अब उसका यह कर्तव्य है कि वह अपनी माताके अनुकूल चलकर उसके परिश्रमको सार्थक करें, इसीमें उसके लिये भलाई है। यदि वह माताके अनुकूल न वरत कर उसके विपरीत चलेगा तो अवश्य उसको यम-यातना सहनी पड़ेगी, इसमें सन्देह नहीं है। इसी प्रकार प्रकृति-माताने अपने जीवरूपी बालकको पाषाण-वृक्षादिकी जड़ावस्था मे उठाकर, जब कि वह सर्वथा दीन-हीन दशाको प्राप्त था और इसको किसी प्रकारसे कोई ज्ञान ही नहीं था, क्रम-क्रमसे निर्विघ्नतापूर्वक अपनी गोदमें लालन-पालन करते हुए मनुष्य-योनि प्राप्त कराके और सर्व प्रकारकी योग्यता प्रदान कर युवावस्थाको प्राप्त करदिया है। अब इस अवस्थामें जीवके लिये एकमात्र कर्तव्य यही है कि वह प्रकृति-माताकी आज्ञामें

चलकर और उसकी प्रसन्नता प्राप्त करके उसके कठिन परिश्रम को सार्थक करे और परमपितासे मेल पाजाय, क्योंकि प्रकृति का सम्पूर्ण व्यवहार इसी निमित्त था। प्रकृति-माताने इसको मुक्त करानेका भार तो अपने सिरपर ले ही लिया है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह इसको मुक्त कराये बिना न आप विश्राम लेगी और न इसको ही चैन से बैठने देगी। इसके विपरीत यदि इसकी चाल बेढङ्गी जड़तापूर्वक ही रही और माताका अनादर ही किया जाता रहा तो अवश्य यह माता कालीरूपसे विकरालस्वरूप धारण करके इसको नीचसे नीच योनियोंमें फैंके बिना भी न रहेगी। जैसा गीता अ० १६ श्लोक १६ से २० में वर्णन किया गया है और इसी प्रसङ्गमें पीछे पृ० ३०, ३१ पर निरूपण कर आये हैं। अब यह जीवकी खुशी है कि चाहे ठोकरें खा-खा कर पिट-पिट कर सीधे मार्ग चल पड़े, चाहे पहले बिना कुटे-पिटे ही अपने रास्ते पर आजाय। इससे अच्छा तो यही है कि पहले ही सीधे रास्ते पर आजाय जिससे मार तो न खानी पड़े।

प्रकृतिका अटल नियम

प्रकृति ही परमात्माका कानून है जोकि बड़ा कठोर है। इसको किसीका लिहाज नहीं, जो इसकी सेवा करते हैं उनके लिये यह भवानीरूप से दर्शन देती है और शिवस्वरूपसे मेल करा देती है, परन्तु अनादर करनेवालोंको यह कालीरूपसे मर्दन किये बिना भी नहीं छोड़ती। पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्रादि जिसकी कला-कौशलसे शून्यमें टिके हुए हैं। जिसके भयसे पवन चलता है, जिसके भयसे सूर्य नियमित समय पर काँपता हुआ निकल आता है, जिसके भयसे अग्नि, इन्द्र तथा मृत्यु दौड़ते रहते हैं। जिसका चलाया हुआ काल-चक्र दिन, रात, पक्ष, मास, षट्-ऋतु तथा संवत्सरके रूपमें घूम रहा है। समुद्र आठों प्रहर जिसके

कटाक्षसे नृत्य करता रहता है और नियमित समय पर ज्वार-भाटेके रूपमें उसकी लीलाका दृश्य दिखला जाता है। आकाश को शून्यता, वायुको स्पन्दता, अग्निको उष्णता, जलको द्रवता, पृथ्वीको कठोरता उसकी ही प्रदान की हुई है। नारांश, ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र जिसके इशारेसे संसारकी उत्पत्ति, स्थिति तथा लय-क्रियाको करते हैं, उस प्रकृति-माताके अनुकूल चल कर ही मनुष्य अपने-आपको प्रकृतिके बन्धनसे छुड़ा सकता है, अन्यथा इसके बन्धनसे छूटना असम्भव है। जिस प्रकार किसी नदीके ऊपरसे रेलगाडी निकालनी मंजूर हो तो पानी को बहावका रास्ता देकर और पुल बनाकर उसके अनुकूल चलकर ही निकाली जा सकती है। जलका प्रवाह रोक कर हजार उपाय कर देखो, क्या कार्यसिद्धि की जा सकती है? कि इसी प्रकार मनुष्य प्रकृतिके अनुकूल चलकर ही प्रकृतिके बन्धन से छूट सकता है।

यहाँ प्रश्न होता है कि प्रकृतिकी अनुकूलता किसमें है और प्रकृति चाहती क्या है? विचारसे देखा जाता है कि जब जीव किसी प्रकारसे धन-पुत्रादि बाह्य पदार्थोंको पकडको ग्रहण करता है, अथवा शरीरसम्बन्धी मान-बडाईकी पकड़ करता है, उसी समय उसका वातावरण दुःख, शोक और चिन्तासे परिपूर्ण होजाता है। पकड़के कारण ही क्या वर्तमान और क्या भावी दोनों काल ही इस जीवके विरुद्ध कटिबद्ध होकर खड़े होजाते हैं। वर्तमानमें तो अनेक भूतसमुदाय इस जीवके प्रति पकडके कारण शत्रुतामें बरतने लगते हैं और भविष्यत् मे उन कर्मोंके फलरूपमें आधिदैविक शक्ति इस जीवके विरोध में दुःखमय फलभोग भुगानेके लिये सशस्त्र खड़ी होजाती है। वर्तमानमें जो भी दुःख जीवको प्राप्त होरहा है, उसके मूलमें निर्विवादरूपसे एकमात्र कारण यही होसकता है कि इस जीव

ने भूत अथवा निकटवर्ती वर्तमान कालमें किसी प्रकार पकड़ को ग्रहण किया था, इसके सिवा अन्य कोई कारण न हुआ है न होगा। इससे स्पष्ट है कि अध्यात्म[1] (आधि-व्याधिताप) अधिदैव[2] व अधिभूत[3] त्रिविध-तापोंकी प्राप्ति एकमात्र पकड़ कर के ही है। जितनी पकड़ अधिक होगी उतने ही ताप भी अधिक होंगे, जितनी पकड़ कम होगी उतने ही ताप भी कम होंगे और ज्यूँ ही पकड़का परित्याग किया जायगा, त्यूँ ही इसका वातावरण सुख-शान्तिमय होजायगा और तीनों ताप भी पीठ दिखाते होंगे। भगवान् दत्तात्रेयने अपने २४ गुरुवोंमें ईल (चील) पक्षी को भी अपना गुरु बनाया है जोकि एक मांसका टुकडा लेकर आकाशमें उड़ी जारही थी। उस मांसके टुकड़ेको देख ईलसमुदाय इसके विरोधके लिये खड़ा होगया और इसको नोच-नोच खाने लगा। ज्यूँ ही इसने मांसके टुकड़ेका परित्याग किया त्यूँ ही सब पक्षियोंने इसका पीछा छोड़ दिया और यह सुखसे विचरने लगी। इससे स्पष्ट है कि जिस-तिस प्रकारसे त्यागका अनुसरण करना, इसीमें प्रकृति की अनुकूलता है और ग्रहणका अनुसरण करना, इसीमें प्रकृतिकी प्रतिकूलता है।

उपर्युक्त रीतिसे स्पष्ट हुआ कि त्यागमें ही प्रकृतिकी अनुकूलता है और सर्वत्याग ही प्रकृतिका ध्येय और अन्तिम लक्ष्य है। वहीं प्रकृतिको विश्राम है और वहाँ पहुँचकर ही प्रकृतिके बन्धनसे छुटकारा है। इसी उद्देश्यको सम्मुख रख कर प्रकृति ने, जैसा पीछे वर्णन किया जाचुका है, जीवको पाषाण व उद्भिज्जादिकी जड़योनियोंसे उठाकर क्रम-क्रमसे तमोगुण व रजोगुण को गलाते हुए पञ्चकोशके विकासद्वारा मनुष्ययोनि

---

१ शारीरिक व मानसिक दु:ख। २. गृह, नक्षत्र व अग्निजलादि-जन्य दु:ख। ३. मनुष्य-पशवादिजन्य दु:ख।

प्राप्ति करदी है और सत्त्वगुणके विकासद्वारा मनुष्यमें बुद्धिकी पूर्णता प्रदान करदी है जिससे उसको सुख-दुःख, हानि-लाभ और पुण्य-पापादिका ज्ञान होने लगा। बुद्धिकी पूर्णताको प्रदान करके यद्यपि प्रकृतिने तो अपने कर्तव्यकी पूर्ति करदी है, जीवको स्वतन्त्रता प्रदान करदी है और अपनी ज़िम्मेवारीसे हाथ उठा लिया है, परन्तु बुद्धिकी इस पूर्णता व स्वतन्त्रताको प्राप्त करके मनुष्य अब अपने व्यक्तिगत स्वार्थको पकड़ बन्दर की भाँति कर बैठा है, इसीकी पूर्तिमें लग पड़ा है और यही जीवनका लक्ष्य मान बैठा है। न इसको छोड़ना चाहता है और न आगे बढ़ना चाहता है। अब प्रकृतिका मनुष्य पर तकाज़ा है कि वह क्रम-क्रमसे अपने तुच्छ तमोगुणी स्वार्थोंकी बलि दे और इस प्रकार स्वार्थत्यागपरायण हुआ अन्ततः अपने परिच्छिन्न-अहंको ही सूली पर चढ़ा दे और जीवसे शिवरूप में आरूढ होजाय। यही प्रकृतिका मुख्य ध्येय है।

यद्यपि प्रकृतिका ध्येय इस प्रकार परम त्यागमें ही है, तथापि प्रकृतिका आशय यह है कि त्याग अधिकारीके अधिकारानुसार हो, अधिकारको उल्लङ्घन करके नहीं। जिस प्रकार अधिकारानुसार उचित मात्रामें खाया हुआ भोजन ही हमको बल देसकता है और अधिकारविरुद्ध अधिक मात्रामें सेवन किया हुआ अमृत भी विषरूप हो जाता है, इसी प्रकार अधिकारानुसार उचित मात्रामें त्यागसे ही हम बल प्राप्त कर सकते हैं और इस त्याग-बलसे बलवान् होकर हम और अधिक त्यागकी बलि देनेमें समर्थ हो सकते हैं। इस रीतिसे बलसे बल प्राप्त करते हुए हम सर्वत्यागके अधिकारी हो सकते हैं और सर्वत्याग कर सकते हैं। यदि अधिकार व मात्राका निरादर करके हमने अनधिकार ऊँचा त्याग भी किया तो भी हम उससे बल प्राप्त न कर सकेंगे, बल्कि उल्टा निर्बल होने की संभावना होगी।

जिस प्रकार रोगीके लिये उचित मात्रामें दिया हुआ संखिया रोग-निवृत्तिमें सहायक है और अमृत है, परन्तु अधिक मात्रामें देने पर वही संखिया उसके रोगकी वृद्धि करके उल्टा उसको दुर्बल कर देगा, इसी प्रकार अधिकारानुसार स्वार्थत्यागकी वलि देते हुए सर्वत्याग सिद्ध करना, इसीमें प्रकृतिकी अनुकूलता है और इसीप्रकार प्रकृतिके अनुकूल चलकर प्रकृतिके वधनसे छूटना हो सकता है, यही सर्व धर्मोंका रहस्य है। इसीलिये भगवान् ने गीताके अन्तमें ऊर्ध्वबाहु होकर स्पष्ट कह दिया है :—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥
यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥

(गी. अ. १८ श्लो. ४७, ४८, ५९, ६०)

अर्थः—अच्छी प्रकार आचरण किये हुए दूसरोंके धर्मसे अपना गुणरहित धर्म भी श्रेष्ठ है, क्योंकि स्वभावसे नियत किये हुए कर्मको करता हुआ मनुष्य पापको नहीं प्राप्त होता। इसलिये हे कौन्तेय ! दोषयुक्त भी स्वाभाविक कर्म नहीं त्यागना चाहिये, क्योंकि आरम्भमें धूम्रसे अग्निके सदृश सभी कर्म किसी न किसी दोषसे आवृत होते ही है। हे अर्जुन ! जो अहंकारके

वशीभूत हुआ तू ऐसा मानता है कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' यह तेरा मिथ्या ही हठ है, क्योंकि प्रकृति तेरेको बलात्कारसे युद्धमें जोड देगी। स्वभावसे अपने स्वकर्मोंसे बँधा हुआ हे कुन्तीपुत्र! जो तू अपने स्वकर्मको न करनेकी इच्छा करता है तो भी वो तेरेको बलात्कारसे करना ही पडेगा।

अर्थात् जिस प्रकार धूम्रकी निवृति करके अग्नि निर्धूम्र हो सकती है, इसी प्रकार प्राकृतिक सदोष कर्म करते-करते भी मनुष्य निर्दोष हो सकता है। आशय यह है कि तमोगुण व रजोगुण का भी अपने अपने समय पर मनुष्यमे विकास होना आवश्यक है और कर्मके द्वारा ही उस गुणका वेग त्याग किया जा सकता है। अर्थात् उस गुणके वेगको कर्मद्वारा ही निवृत्त करके सत्त्वगुण मे आरूढ हो सकते हैं, अन्य कोई उपाय गुणत्यागका नहीं हैं। दृष्टान्तरूप से देखा जाता है कि निद्रारूप तमोगुणको शयनके द्वारा ही दूर किया जा सकता है, यदि हम आग्रह करे कि शयन के बिना ही तमोगुण दूर हो तो असम्भव है। इसी प्रकार भगवान्का कथन है कि यद्यपि सब ही कर्म आरम्भमे धूम्रसे अग्निके समान दोपसे आवृत्त हैं, तथापि स्वाभाविक कर्मका त्याग न करे, क्योंकि उपर्युक्त रीतिसे कर्मके द्वारा ही गुणका वेग दूर करके निष्कर्मताको प्राप्त किया जा सकता है। प्रकृतिके राज्यमे कर्म तो अपने स्वरूपसे दोपयुक्त है ही, एक कर्म एक के लिये एक अंशमें गुणरूप होगा तो किसी दूसरेके लिये अथवा किसी दूसरे अंशमे उसका दोपयुक्त भी होना जरूरी है, जैसा आगे आत्मविकासकी पाँच श्रेणियोंके प्रसंगमें निरूपण किया जायगा। यद्यपि ऐसा है फिर भी अपने स्वाभाविक कर्म-द्वारा ही तमोगुणादिके वेगका त्याग करके मनुष्य सत्त्वगुणमें आरूढ हो सकता है और तब ज्ञानद्वारा गुण-कर्मके बन्धनसे

मुक्त हो सकता है। अभिप्राय यह कि सत्त्वगुण कहीं बाहरसे इसमें प्रवेश नहीं करेगा, बल्कि वह इसके अन्दर ही है और रज-तम गुणोंके नीचे दबा हुआ है, रज-तमका वेग निवृत्त होने पर सत्त्वगुण इसके अन्दरसे ही विकसित हो आयेगा, जैसे फूलके पीछे ही फल है, फूल निकल चुकने पर फल अपने-आप निकल आता है। इसका आशय यह नहीं कि स्वाभाविक सदोप कर्मोंका प्रवाह चालु ही रक्खा जाय, बल्कि आशय यह है कि जिस प्रकार एक मुँहजोर घोड़ा सवारके हाथमें हो किन्तु उसके अधीन न हो तो उसको चाहिये कि उसपर आरूढ होकर उसी के रुखपर थोड़ा उसको चलावे, फिर चाबुक लगाकर उसको अपने मार्गपर ले आवे। इसी प्रकार इधर स्वाभाविकदोषयुक्त कर्मके वेगको थोडा कर्मके द्वारा निवृत्त करे, किन्तु चित्तमें उसको समूल नष्ट करनेका ध्यान रक्खे और उधर प्रकृतिके अनुकूल बरताव करता हुआ, जैसा पीछे वर्णन किया जाचुका है, अधिकारानुसार त्यागका बल अन्दर भरे। इसी प्रकार स्वाभाविककर्मके आचरणमें भगवान्का आशय है। अतः सिद्ध हुआ कि प्रकृतिके अनुकूल चलना ही पुण्य है, धर्म है और इसके विपरीत चलना ही पाप है, अधर्म है। क्या व्यवहारिक, क्या पारमार्थिक, क्या शारीरिक, क्या मानसिक सभी प्रकार की उन्नतियोंके साथ प्रकृतिका सम्बन्ध है। दृष्टान्त रूपसे देखा जा सकता है कि पशु-पक्षियोंमें खान-पान, रहन-सहन, मैथुन आदि सब शारीरिक चेष्टाएँ प्रकृतिके अनुकूल होती हैं, इसीलिये वे प्रायः स्वस्थ रहते हैं। उनके लिये प्रकृति ही एक वैद्य है जो कि उनके स्वास्थ्यकी ज़ुम्मेवार है। परन्तु मनुष्ययोनिमें आकर जीव प्रायः शारीरिक व मानसिक चेष्टाओं में प्रकृतिके नियमको तोडता रहता है, यही उसके त्रितापोंसे तपनेका एकमात्र हेतु है।

प्रकृतिरूपी चौकीदार हर समय जीवके सिरपर खड़ा हुआ

प्रकृतिका अन्य अटल नियम

ऊँचे स्वरसे पुकार-पुकार कर कह रहा है, "आगे बढ़ो, पीछे हटो"। अर्थात् जब तक तुम अपने उद्दिष्ट स्थानपर न पहुँच लो, मार्ग में किसी भी Point (प्वाइंट, स्थान) पर खड़े रहनेकी तुमको इजाजत नहीं हो सकती। यदि तुम आगे बढ़नेसे इन्कार करते हो तो तुमको पीछे हटना ही पड़ेगा। आशय यह कि जबतक तुम अपने अन्तिम ध्येयको प्राप्त न करलो, तब तक बीचके किसी पड़ाव को ही उद्दिष्ट स्थान न मान बैठो और वहीं डेरे डाल देनेकी भूल न करो, क्योंकि सरायको ही घर बना बैठोगे तो वहीं तुमको कोई टिकने न देगा, इसलिये आगे अपने घरकी ओर बढ़ो तो अच्छा, नहीं तो डंडे मारकर पीछेकी ओर फैंक दिये जाओगे। इससे उत्तम यही है कि कुछ काल यहाँ विश्राम करके आगे चलने का ध्यान रक्खो, जिससे पीछे तो न धकेले जाओ। इस प्रकार यद्यपि इन बीचकी सरायोंमें से गुजरना तो जरूरी है, परन्तु डेरे डाल देना भयदायक है। जिस प्रकार नदीका प्रवाह पहाड़की जड भूमिसे निकलकर पहाड़ी मार्गमें शीघ्रता से गद-गद करता हुआ समुद्रमें मिलने के लिये मैदानमें आता है। मैदान में आकर इसकी गति मन्द व टिकी हुई होती है, यहाँ यदि इस प्रवाहको पाल लगाकर आगे बढ़नेसे रोक दिया जाय तो यह प्रवाह उसी स्थान पर खड़ा नहीं रह सकता, इसको पीछे टक्कर मारकर हटना पड़ेगा अथवा किनारे तोड़कर इधर-उधर गड्ढों में पानी फैलकर सूख जाना होगा। ठीक इसी भाँति जीवरूपी नदी का प्रवाह अविद्याकी गाढ़ सुषुप्तिअवस्था पाषाण-वृक्षादि जड योनियोंसे निकलकर ब्रह्मरूपी समुद्रमें मिलनेके लिये चला है। पहाड़ी मार्गमें प्रवाह जिस प्रकार तीव्र गतिसे चलता है और वहाँ यह रोका नहीं जासकता, इसी प्रकार स्वेदज, अंडज, जरायुज योनियों मे जीव-विकासकी गति प्रकृतिके अधीन होनेसे

क्रम-क्रमसे बड़ी शीघ्रतासे बहती रहती है, वहाँ इसके प्रवाह की गति रोकी नहीं जा सकती। परन्तु जाग्रत अवस्थारूप मनुष्य-योनिमें आकर पचकोशों व तीनों अवस्थाओंके विकासके कारण जीव स्वतन्त्र होजाता है और यहाँ उसकी गति मन्द होजाती है। अब यदि इस प्रवाहको आत्मविकासद्वारा आगे बढानेसे रोका जायगा तो अवश्य इसको टक्कर खाकर पीछे जड़ योनियोंमें लौटना पड़ेगा, अथवा शास्त्रमर्यादारूपी किनारों को तोडकर सांसारिक विषयरूपी गड्ढोंमे गिरना पड़ेगा। जिस प्रकार जल गड्ढोंके अन्दर गिरकर सड़ाँद पैदा करता हुआ सूर्यके तापसे जल्दी ही सूख जाता है, इसी प्रकार शास्त्रमर्यादा का त्याग करनेके कारण जीवप्रवाहके लिये प्रकृतिरूपी सूर्यके अध्यात्म, अधिदैव व अधिभूतरूपी त्रितापोंसे तप कर दुःखरूपी सड़ाँद पैदा करते हुए नष्ट-भ्रष्ट होजाना जरूरी है।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥
(गी० अ. १६ श्लो. २४)

अर्थः—इसलिये कार्य-अकार्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही तेरे लिये प्रमाण है, शास्त्रोक्त विधानको जानकर तू कर्म करने के योग्य है।

यद्यपि जीवकी उपाधि अविद्या मलिन-सत्त्वप्रधान होनेके कारण तमोगुणी है, इसलिये मनुष्ययोनिमें जड़ताका प्रकट होना तो स्वाभाविक ही है, परन्तु इस जड़ताका स्थिर रहना पाप है। मनुष्ययोनिमें आकर जीवका पुरुषार्थ यही है कि इस अहंभावरूपी जड़ताको, जोकि साढ़े तीन हाथके टापुमें घरकर बैठा है, शनैः शनैः सोपानक्रमसे विस्तृत करके प्रवृत्तिसे निवृत्तिमें और हदसे बेहदमें समाप्त कर दिया जाय। यदि वह इस

प्रकार इसका विस्तार करनेसे रुकता है, तो जैसाकि ऊपर चर्चा की गई है, उसको टक्कर खाकर पीछे हटना ही पड़ेगा और निकृष्ट योनियोंमें यात्रा करनी ही पड़ेगी। चारों वर्णों और चारों आश्रमोंकी मर्यादा जीवप्रवाहके तटोंको सुदृढ़ बनाये रखनेके लिये ही थी, जिससे जीवप्रवाह इधर-उधर किनारोंको न तोड़कर सीधा अपनी गतिसे चलता हुआ ब्रह्मसमुद्रमें मिलकर प्रवृत्तिसे निवृत्तिमें और हदसे वेहदमें समाप्त हो जाय। इसीलिये वर्णाश्रम धर्मका लक्षण शास्त्रकारोंने इस प्रकार किया है:

प्रवृत्तिरोधको वर्णो निवृत्तिपोषकश्चाश्रमः

अर्थात् वर्णधर्म प्रवृत्तिको आगे बढनेसे रोकता है, यानि विषयप्रवृतिको हदमें रखता है और आश्रमधर्म निवृत्तिका पोषण करके उसको आगे बढाता है। वास्तवमें विचारसे देखा जाय तो विषयप्रवृत्ति भी विषयनिवृत्तिके लिये ही है। प्रवृत्ति बिना तो निवृत्ति ही कैसी? इस प्रकार वर्णधर्मका उद्देश्य भी 'गुड-जिह्वान्याय' से निवृत्तिमें ही है। जिस प्रकार माता अपने रोगी बालकको कटु ओषधि पिलाकर उसका रोग शान्त करना चाहती है। बच्चा ओषधिकी कटुता सुनकर उससे भागता है तो माता उस नादान बच्चेको बहलानेके लिये अपने हाथकी एक अंगुलीमें चुपकेसे गुडका रस लगा लाती है और बच्चेके सम्मुख दूसरी अँगुली ओषधिमें डुबोकर उसको दिखाती है कि देख, ओषधि कटु नहीं, मीठी है। परन्तु चटानेके समय ओषधिवाली अंगुली न चटाकर गुडके रसवाली अँगुली चटा देती है। वास्तवमें माताका आशय गुड चटानेमें ही नहीं बल्कि कटु ओषधि पिलाकर उसका रोग शान्त करनेमें है। ठीक इस प्रकार श्रुतिमाताने भोग-रोगसे रोगी अपने जीवरूपी पुत्रके प्रवृत्तिरूपी कष्टके निवारणके लिये विषय-प्रवृत्तिको गुड-

जिह्वान्यायसे रचा है। वास्तवमें श्रुतिमाताका आशय निवृत्ति-रूपी कटु ओषधि पिलाकर उसका रोग शान्त करनेमें ही है, न कि प्रवृत्तिरूपी कीचड़में फँसाये रखनेमें। यह नियम है कि जहाँ-जहाँ जितनी-जितनी प्रवृत्ती है वहाँ-वहाँ उतनी-उतनी ही संकीर्णता व कृपणता है और जहाँ-जहाँ जितनी-जितनी निवृत्ति है वहाँ-वहाँ उतनी-उतनी ही उदारता है। तथा जितनी-जितनी कृपणता व संकीर्णता है उतनी-उतनी ही अहंभावकी जड़ता है और जितनी-जितनी उदारता है उतनी-उतनी ही अहंभावकी द्रवता व विस्तारिता है। इसीलिये जितनी-जितनी प्रवृत्ति है उतना-उतना ही पाप व दुःख और जितनी-जितनी निवृत्ति है उतना-उतना ही पुण्य व सुख है। प्रवृत्तिमें भी जहाँ कहीं किसी अंश में पुण्य मिलता है तो केवल निवृत्तिके संयोगसे ही, केवल प्रवृत्ति अपने स्वरूपसे कदापि पुण्यरूप नहीं हो सकती।

प्रवृत्ति व निवृत्तिभेद तथा प्रवृत्तिमार्गकी पाँच श्रेणियाँ

इस प्रकार प्रकृतिका जीव पर मनुष्ययोनि प्राप्तिके पश्चात तकाजा है कि वह जिस अधिकार पर स्थित है उससे आगे चलकर आत्मविकासकी ओर अग्रसर होता हुआ, 'वसुधैव कुटुम्ब-कम्' रूपी पूर्ण समताको प्राप्त कर ले। इस सम्बन्धमें जितने भी साधन हो सकते हैं उनको दो भागोंमें विभक्त किया जासकता है (१) प्रवृत्तिमुख (२) निवृत्तिमुख। निवृत्तिमुख साधन वे हो सकते हैं जिनके द्वारा मल-विक्षेपादि दोषोंको दूर करके अन्तःकरणकी निर्मलता उपार्जन की जाय और इस प्रकार राग के विषय जो संसारसम्बन्धी पदार्थ हैं, जिन्होंने हृदयगत राग को सीमाबद्ध करके उसके विस्तारका निरोध किया हुआ है, उस परिच्छिन्न रागको विवेक-वैराग्यद्वारा तोड़कर रागकी समता सम्पादन की जाय। जैसा इसी लेखमें राग-द्वेषके प्रसंग से पीछे पृ. ७ से १८ पर वर्णन किया जा चुका है, यह मार्ग

निवृत्तिमुख होनेसे सत्त्वगुणप्रधान हैं। यज्ञ, दान, तप तथा शास्त्रोंके यावत् विधिरूप कर्म परम्परासे वैराग्यकी उत्पत्तिमें सहायक हैं। उनका आशय केवल वैराग्यकी ओर लेजानेमें ही है, इसलिये प्रकृतिके अनुकूल होनेसे वे सभी पुण्यरूप हैं। जितना-जितना जो साधन वैराग्यकी उत्पत्तिमें निकटतर है उतना-उतना वह अधिक पुण्यरूप है। यज्ञ, दानादिक तथा यावत् विधिरूप कर्म शुभ सकाम भावनासे किये हुए निष्काम-भावकी उत्पत्ति में सहायक हैं, निष्काम-भाव भक्तिकी उत्पत्तिमें सहायक है और भक्तिके द्वारा ही वैराग्य का प्रादुर्भाव सम्भव है। इस प्रकार यह क्रम-क्रमसे अधिक पुण्यरूप हैं। प्रवृत्तिमुख साधन वे हैं, जिनके द्वारा प्रवृत्तिका संकोच न होकर प्रवृत्तिके विस्तारके साथ-साथ स्वार्थत्यागद्वारा अहंभावका विस्तार किया जाय। यह मार्ग रजोगुणप्रधान है इस मार्गमें भी प्रवृत्तिका अपनी अवधिको प्राप्त करके निवृत्तिमें बदल जाना आवश्यक है। वास्तवमें प्रत्येक विधिरूप प्रवृत्ति अपने गर्भमें निवृत्तिको धारण किये हुए होती है, जोकि परिपक्व होकर निवृत्तिमें परिणत हो जाती है। जिस प्रकार फल बढ़ कर और पक कर वृक्षसे आप ही छूट जाता है, इसी प्रकार प्रवृत्तिका भी बढ़ कर और पक कर छूट जाना जरूरी है। दोनों ही मार्ग अपने-अपने अधिकारानुसार उत्तम हैं मुख्य व गौण नहीं कहे जा सकते। अब इस प्रवृत्तिमार्गका संक्षेपसे निरूपण किया जाता है, इस मार्गके अनुसारी मनुष्योंको पाँच श्रेणियोंमें विभक्त किया जा सकता है।

प्रथम श्रेणीके मनुष्य वे हैं, जो केवल इन्द्रियारामी हैं और जिन्होंने इन्द्रियोंकी धधकती हुई अग्नि में विषयरूपी घृतकी आहुति देते रहना ही अपने जीवनका लक्ष्य बनाया है।

प्रथम श्रेणी 'उद्भिज्ज मनुष्य' अर्थात् पेटपालू

बूट-सूट, सोडा-सीगार, व्हिस्की-ब्रॉडी आदि अनेक भोग्य विषय ही जिनके सुखके केन्द्र बने हुए हैं। इस प्रकारकी सोसाइटीके मित्रोंसे मिलकर बैठना और उनकी प्रसन्नताके लिये अपने द्रव्यको लुटा देना, इसीमें वे अपने-आपको कृतकृत्य माने हुए हैं और यही उनके लिये महायज्ञ है। स्त्री-बच्चोंको पेटभर रोटी भी मिलती है या नहीं, इसका उनको ध्यान नहीं। स्त्रीकी ओरसे प्रार्थना की जाती है, "आज घरमें धान नहीं रहा, मेरे सर पर दुपट्टा (ओढ़ना) फट गया है, लल्लूका कुड़ता नहीं रहा, जाड़े मारता है" इत्यादि। इस प्रकारके शब्द उनके लिये ऐसे हैं, मानो एक पके फोड़े पर अंगार रख दिया हो। इसके उत्तरमें खूब अपशब्दोंसे उस अबलाका स्वागत किया जाता है और किसी-किसी समय तो हाथ-पाँवसे भी उसकी पूजा किये बिना उनका सन्तोष नहीं होता, मानो वह अनाथ उनके किसी परमार्थमें विघ्नकारक हो गई है। जाति व देशकी क्या दशा है, इस सम्बन्धमें तो उनका ध्यान ही क्या हो सकता है? हाँ, अपनी सोसाइटीमें उन जातिप्रिय व देशप्रिय सज्जनों पर खुले कटाक्ष किये जाते हैं, मानों इनकी दृष्टिमें ऐसे सज्जन संसार में उत्पन्न होकर केवल भारवाही ही हो रहे हैं, इनकी अपनी दृष्टि से तो उन्होंने संसारका तनिक भी सुख नहीं उठाया और संसारके सुख उठानेके ठेकेदार एकमात्र यही हुए हैं। ऐसे पुरुष केवल पेटपालू हैं, उनकी गतिकी लट्टूकी गतिसे तुलना दी जा सकती है। जिस प्रकार घुमाया हुआ लट्टू चक्कर तो बड़ी शीघ्रतासे काटता है, परन्तु अपने ही इर्द-गिर्द, इसी प्रकार यद्यपि उनके जीवनमें गति व चेष्टाएँ तो अनन्त होती हैं, परन्तु अपने ही शरीरके केन्द्रमें, शरीरके बाहर उनके द्वारा कोई गति प्रकट नहीं होती। इसीलिये ऐसे पुरुषोंको मनुष्य योनि पाकर भी 'उद्भिज मनुष्य' की उपमा दे सकते हैं। जिस प्रकार

उद्भिज्जवर्गमें गति तो है, परन्तु अपने ही केन्द्रमें सीधी रेखा में उनकी गति प्रकट होती है, स्थानान्तरमें उनकी गतिका अभाव है, इसी प्रकार इन पुरुषोंमें भी अपनेसे बाहर कोई गति प्रकट नहीं की जाती। पंचकोशोंका विकास होने पर भी ऐसे पुरुष केवल तमोगुणप्रधान हैं और उनकी चेष्टाएँ जड़ीभूत केवल स्वार्थपरायण होनेसे केवल पापरूप और दुःख-परिणामी हैं।

'अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति'

अर्थ—'हे अर्जुन! ऐसे इन्द्रियोंके सुखको भोगनेवाला पाप-आयु पुरुष व्यर्थ ही जीता है।' चूँकि अविद्याका इस जीवके साथ चिरकालीन सम्बन्ध है, इसलिये यद्यपि इस अवस्थाका प्रकट होना तो स्वाभाविक है, परन्तु इसका स्थिर रहना दोषयुक्त है।

द्वितीय श्रेणी, 'कीट-मनुष्य' अर्थात् कुटुम्ब-पालु।

आत्मविकास अब द्वितीय श्रेणीमें विकसित हुआ और कालप्रभावसे जैसे बीज अपनी जड़ अवस्थासे कोंपलके रूपमें विकसित हो आता है, इसी प्रकार यह शरीरके स्वार्थमें ही टिका न रहकर अब इसने कुटुम्बके स्वार्थमें अपना डेरा डाल दिया। अब यह कुटुम्बके सुखसे सुखी और कुटुम्बके दुःखसे दुःखी होने लगा तथा कुटुम्बकी हानिको अपनी हानि और कुटुम्बके लाभको अपना लाभ जानने लगा। इस प्रकार अब पेटपालू ही न रह कर कुटुम्ब-पालु बन गया और कुटुम्बमें मान-सत्कार पाने लगा। अब इसकी गति लट्टूके समान केवल अपने ही केन्द्रमें घिरी नहीं रह गई, बल्कि अब उसे कोल्हूके बैलकी गतिसे तुलना दी जा सकती है। जिस प्रकार कोल्हूका बैल अपने ही केन्द्रमें न घूमकर कोल्हूके इर्द-गिर्द घूमता रहता है,

यद्यपि दिनभरमें उसके द्वारा अनेक मीलोंका चक्कर तो काटा जाता है, परन्तु सायंकालको कोल्हूसे वहीं गजभरके फासले पर ही रहता है। इसी प्रकार उसकी गति अपने ही शरीरके स्वार्थ पर निर्भर न रहकर अब वह कुटुम्बके स्वार्थके इर्द-गिर्द चक्कर तो काटने लगा, परन्तु अन्य कुटुम्ब, जाति और देशमें जहाँ कहीं भी उसके कुटुम्बसम्बन्धी स्वार्थको धक्का लगनेकी सम्भावना होने लगती है वह वहाँ अन्य कुटुम्ब, जाति और देशके स्वार्थ पर ध्यान न देकर उनके साथ विरोध भी ठानता है। कुटुम्बके रागके कारण उसकी चेष्टाएँ केवल तमोगुणी न रहकर अब तम-रजमिश्रित होने लगीं। इस प्रकार आत्माका किञ्चित विकास होनेके कारण वे चेष्टाएँ यद्यपि किञ्चित् पुण्यरूप तो हैं, परन्तु अन्य कुटुम्ब, जाति और देशके स्वार्थसे द्वेषवती होनेसे वे अधिक पापरूप भी हैं। जिस प्रकार कीटयोनिमें जीवकी गति एक स्थानसे दूसरे स्थानमें भी देखनेमें आती है, परन्तु वह फिसलकर पेटके बल ही चल सकता है। इसी प्रकार यद्यपि इसकी गति भी एक स्थानमें ही रुकी न रहकर स्थानान्तरमें तो प्रकट हुई, परन्तु कुटुम्बके स्वार्थमें बद्ध रहनेके कारण वह फिसलकर चलनेके समान ही है। इसलिये ऐसे पुरुषोंको मनुष्ययोनि पाकर भी 'कीट-मनुष्य' कहा जा सकता है।

प्राकृतिक नियमके अनुसार जैसे-जैसे इसके कुटुम्बका विस्तार होता है, वैसे-वैसे ही कुटुम्बके विस्तारके साथ-साथ उस विस्तृत कुटुम्बके प्रति आत्मत्वभावका विकास करना अब इसका कर्तव्य है। यदि वह कुटुम्बके विस्तारके साथ-साथ भ्राता आदिके कुटुम्बके प्रति आत्मत्वभाव प्रकट करनेसे इन्कार करता है तो जैसा पीछे सिद्धान्त किया जा चुका है, इस विकासके प्रवाहको रोकनेके कारण इसको टक्कर खाकर अवश्य पीछे

हटना पडेगा, जिसके परिणाममे ईर्ष्या-द्वेष भैरव व कालीरूप धारकर इसका रक्तपान किये बिना न रहेंगे और मानके स्थान पर अपमान इसका स्वागत किये बिना न छोड़ेगा। वर्तमान भारतमें अनेक कुटुम्ब इसके ज्वलन्त दृष्टान्तस्वरूप है।

आत्मविकास अब तीसरी श्रेणीमे प्रकट हुआ। अहंभाव

तृतीय श्रेणी, 'पशु-मनुष्य' अर्थात् जातिप्रेमी

अपने शरीर तथा कुटुम्ब तक ही घिरा न रहकर अब आगे बढा और जाति मे डेरा जा लगाया। अब जातिका स्वार्थ ही इसका अपना स्वार्थ है, जातिका लाभ ही इसका लाभ और जातिकी हानि ही इसकी अपनी हानि। इस प्रकार कुटुम्बमें ही मानपात्र न रहकर अब यह जातिमे मान पाने लगा। अब इसकी गति लट्टू व कोल्हूके सदृश्य ही न रहकर आगे बढ़ी, परन्तु सीधी गति अब भी न हुई, जहाँ अन्य जाति व देशके स्वार्थके साथ इसके जातीय स्वार्थको धक्का लगनेकी सम्भावना हुई, वहाँ तत्काल यह अन्य जाति व देशसे विरोध ठाननेको तत्पर हुआ। इसलिये अब इसकी गतिको छकडे के बैलसे तुलना देसकते हैं। जिस प्रकार छकड़ेका बैल, एक दायरेके अन्दर ही न घूमकर, जैसे-जैसे सडक बॉकी-टेढ़ी जाती है वैसे-वैसे ही अपनी धीमी चालसे चला जाता है, सडक छोड़कर नहीं चल सकता, इसी प्रकार इसकी गति भी कुटुम्ब के स्वार्थ तक ही घिरी न रहकर जिधरको जातीय स्वार्थ ले जाता है उधरको ही खिंचा चला जाता है किन्तु जातीय स्वार्थकी सड़क छोडकर स्वतन्त्र नहीं चल सकता। जिस प्रकार पशुवोंमें फिसलकर चलना तो नहीं रहा, परन्तु फिर भी वे सब प्रकारसे प्रकृतिके बन्धनमें ही हैं, स्वतन्त्रता पूर्वक उनकी कोई चेष्टा नहीं हो सकती, इसी प्रकार ऐसे पुरुषों को जातीय स्वार्थमें बँधे रहनेके कारण 'पशु-मनुष्य' की तुलना

दी जा सकती है। यद्यपि ऐसे सज्जनोंके द्वारा जातीय सुधारका बहुत-सा कार्य सम्पादन होता है, परन्तु अन्य जाति व देश के लिये उनके द्वारा बहुत कुछ हानि की सम्भावना भी हो सकती है। इस प्रकार उनकी चेष्टाएँ अधिक रजोगुणी होनेसे रागके अधिक विस्तारके कारण अधिक पुण्यरूप तो हुईं, परन्तु अन्य जाति व देशके साथ द्वेषरूप होनेसे पापरूप भी हैं, केवल पुण्यरूप नहीं।

वर्तमान भारतमें जातीय सुधारका कोलाहल बहुत कुछ मचा हुआ है। प्रति वर्ष अनेक प्रकारकी जातीय कान्फ्रेंस होती हैं, परन्तु जातीय सुधार वैसा देखनेमें नहीं आता। इसपर विचार करनेसे पता चलता है कि ऐसे सुधारकलोग प्रायः दूसरी श्रेणीके होते हैं जिनका अहंभाव कुटुम्ब तक ही परिमित रहता है, जातिके अन्दर उनका अहंभाव अभी विकसित नहीं हुआ और वे कुटुम्बसम्बन्धी स्वार्थ से ऊँचे नहीं उठे। ऐसे पुरुषोंद्वारा यथार्थ रूपसे जातीय सुधार होना असम्भव है, वल्कि कुछ विगाड और जातीय द्वेषकी सम्भावना भी की जा सकती है। जिस प्रकार एक क्लर्कके द्वारा न्यायाधीश का कार्य चलना असम्भव है, इसी प्रकार इनके द्वारा जातीय सुधार होना कठिन है, क्योंकि अभी उनका आत्मभाव जाति में विकसित नहीं हुआ, वल्कि अभी उनका आत्मत्व कुटुम्ब तक ही परिमित है। अर्थात् अभी कुटुम्ब को ही वे अपनी आत्मा माने हुए हैं, जातिको उन्होंने अभी अपनी आत्मा ही नहीं जाना। यह नियम है कि सुधार हमेशा आपेका ही किया जा सकता है, आत्मभिन्न वस्तुका तो सुधार ही कैसा? इसलिये जिस वस्तुके साथ जब तक आत्मसम्बन्ध स्थिर न हो ले, तब तक उसका सुधार नहीं हो सकता। जिन पुरुषोंमें कुटुम्ब तक ही आत्मभाव संकोर्ण

है, उन संकुचित चित्तोंद्वारा जातीय सुधार कैसे सम्भव हो सकता है? जातीय सुधारके लिये तो उतना ही उदारचित्त होना आवश्यक है, जितना तीसरी श्रेणीवालोंका होना चाहिये।

चतुर्थश्रेणी, 'मनुष्य पदवाच्य मनुष्य' अर्थात् देशभक्त

आत्मविकास अब चौथी श्रेणीमें पहुँचा और जातिगत स्वार्थ पर ही निर्भर न करके अब देश का स्वार्थ ही उसका अपना स्वार्थ होगया। अहंभाव जातिके अन्दर ही घिरा न रहकर तीव्र गतिसे आगे बढ़ा और देशके साथ सम्बन्ध पा गया। अब वह देशकी हानिमें दुःखी व देशके लाभमें सुखी होने लगा और इस प्रकार देशमें मानपात्र होगया। ऐसे पुरुषोंमें उदारता झलकने लग पड़ती है और उनका द्वेषभाव लुप्तप्राय हो जाता है। संसारमें उनका व्यक्तिगत, कुटुम्बगत और जातिगत कुछ भी स्वार्थ न रहकर एकमात्र देशकी उन्नति व भलाई ही लक्ष्य रह जाता है। उनका खान-पान, चाल-चलन, रहन-सहन, बल्कि शारीरिक स्थिति भी केवल देशके लिये ही होती है, अपने लिये नहीं। ऐसे महापुरुष वास्तवमें धन्यवाद के पात्र है, जिनका 'मैंपन' साढे तीन हाथके टापुमें घिरा न रहकर व्यापक देश ही जिनका अपना शरीर बन गया है। ऐसे ही सज्जनोंके द्वारा देशका कल्याण सम्पादन होता है। परन्तु जहाँ अन्य देशोंके साथ उनके देशसम्बन्धी स्वार्थकी टक्कर होती है, वहाँ वे अन्य देशोंके साथ द्वेष भी ठानते हैं और प्राय ऐसे अवसर भी आते है कि अपने देशके लिये रक्त की नदियाँ बहाई जाती हैं और पृथ्वीतल रक्तसे सिंचन किया जाता है। ऐसे पुरुषोंकी गति अब छकडेके समान न रहकर मोटरगाडीकी समताको प्राप्त होगई। जिस प्रकार मोटर बडी तीव्र गतिसे दौड़ती है और सैकड़ो मीलोंका रास्ता घंटोंमें काट लेती है, परन्तु चलती है सड़कके अनुसार ही, जिधरको सड़क

चक्कर काटके जाती है उसके अनुसार ही उसको चलना पड़ता है, सीधी रेखामें इसका चलना असम्भव है। ऐसे ही इन महापुरुषोंकी गति भी आत्मोन्नतिकी सड़क पर बड़ी तीव्र गति से तो हो रही है, परन्तु जिधर उनको देशस्वार्थ खींचता है उधर ही चक्कर लगा कर उनको चलना पड़ता है। उनकी चेष्टाओंमें अधिक उदारता तथा अधिक रागका विकास होने से उन्हे सत्त्वगुणी कहा जा सकता है। इस प्रकार उनकी चेष्टाएँ अधिक पुण्यरूप तो हैं, परन्तु केवल पुण्यरूप अब भी नहीं। अन्य देशोंके स्वार्थसे द्वेषवती होने करके वे पापरूप भी हैं। ऐसे महापुरुषोंमें स्वार्थत्याग व उदार भावकी अधिकता के कारण केवल उनको ही 'मनुष्य-शब्दवाच्य मनुष्य' कह सकते हैं।

पिछली तीनों श्रेणियोंमें क्रम-क्रमसे स्वार्थत्यागरूप आत्म-विकासका प्रकट होना तो उत्तम है, परन्तु इनमेंसे किसीमें भी टिक कर मनुष्यकी गतिका रुक जाना प्रकृतिको मान्य नहीं है। यदि प्राकृतिक नियमके विरुद्ध इन मध्यवर्ती किसी श्रेणीमें ही अपनी गति निरुद्ध कर दी जायगी और आगे बढ़ने से संकोच किया जायगा तो अवश्य ही उस मनुष्यका अधःपतन होगा, वह वहीं खड़ा न रह सकेगा। दृष्टान्तस्थल पर देख सकते हैं कि जातीय-भक्त-पुरुष यदि किसी एक जातिमें परिच्छिन्न रहकर अपनी गतिको रोक देता है, उसीमें घर कर बैठता है और अपने जीवनके उद्देश्यकी वहीं पूर्ति मान बैठता है तो उसके द्वारा अनेक प्रकारके जातीयविप्लव प्रकट होने लगते हैं। जैसा आये दिन सनातनधर्म, आर्यसमाज व जैनधर्म आदिके परस्पर वैमनस्य देखनेमें आते हैं। हिन्दू, मुस्लिम और सिख आदि जातियोंमें परस्पर सैंकड़ों जानोंका रक्त इसी नियम के अधीन बहाया जाता है कि वे इन मध्यवर्ती सरायोंको ही

अपना घर मान बैठे, आगे बढ़नेसे सकोच कर लिया और वहीं कमर खोल दी। यदि वे इन सरायोंको ही अपना घर माननेकी भूल न करके वहीं अपनी कमर न खोलते और समझते कि घर इससे आगे है तो इस प्रकार जातीय-विप्लव प्रकट होनेका अवसर ही न मिलता। आये दिनके समाचार-पत्र इसके साक्षी हैं, जिसके परिणाममें रागकी वृद्धिके स्थान पर द्वेषवृद्धि होने लगती है। यदि वे जातीय-स्वार्थ पर ही अपने लक्ष्यकी पूर्ति न मान बैठते तो उनके द्वारा अन्य जातियोंसे द्वेष प्रकट न होता, बल्कि अन्य जातियोंमे भी प्रेमका विकास होता और उनको गति आगे बढ़ जाती। देश-भक्त-पुरुष देशस्वार्थ में ही परिच्छिन्न रहकर यदि अपनी गतिको रोक देता है तो उसके परिणाममें अनेक प्रकारके राष्ट्रविप्लवोंका प्रकट होना जरूरी है इस विषयमे वर्तमान इङ्गलैण्ड इसका ज्वलन्त दृष्टान्त है। इस देशके निवासी यद्यपि देश-प्रेमी तो हैं, जो कि चतुर्थ श्रेणीका पवित्र कार्य है, परन्तु इसके साथ ही अपने देशके लिये जौंकके समान अन्य देशोंका रक्त चूसनेमें भी चतुर हैं। यही कारण है कि भारत, मिस्र, आयर्लैण्डमे जागृति हो आयी है और इङ्गलैंड की उन्नतिका सूर्य मध्याह्न पर पहुँच कर ढलना आरम्भ हो गया है। कुटुम्बपालूकी चर्चा तो इस सम्बन्धमें पहले ही की जाचुकी है तथा पेटपालूकी तो चर्चा ही क्या है? वास्तवमें बात तो यह है कि 'एक देशीय स्वार्थ' यह शब्द व अर्थ प्रकृतिको मान्य है ही नहीं। स्वार्थके नामसे तो चाहे वह किसी श्रेणीका भी क्यों न हो, यह नाक-भौं ही चढ़ाती रहती है। स्वार्थके नामसे तो इसको चौका ही फेरना मंजूर है। परन्तु किया क्या जाय? जब तक परिच्छिन्न-अहंकार किसी भी अंशमें मौजूद है, स्वार्थ से सर्वथा छुटकारा भी कैसे हो सकता है? जब तक हम अपने

आपको परिच्छिन्नरूपसे कुछ और जानते हैं और अपनेसे भिन्न प्रपंचको कुछ और समझते हैं तो अनुकूल-प्रतिकूल ज्ञान का प्रकट हो आना स्वभाविक ही है और यही अज्ञान है। फिर अनुकूलमें राग व प्रतिकूलमें द्वेषका प्रादुर्भाव होना भी जरूरी है। तदनन्तर रागसे पुण्य व द्वेषसे पाप और पुण्यसे सुख व पापसे दु:ख तो कही गया ही नहीं। एकके आनेसे दूसरे सभी अपने-अपने ठिकाने आ ही जाएँगे। इसीलिये तो श्रुति का ढिंढोरा है :—

अन्योऽसावन्योऽहमस्मि न स वेद यथा पशुः

अर्थ:—'मैं और हूँ, वह और है' ऐसा जो जानता है, वह पशुके समान कुछ नहीं जानता। यही भेददृष्टि एक रोग है शेष सब रोगोंकी जड़। आत्म-विकासकी सब श्रेणियाँ तो इस अहंभावकी जड़को निकालनेके लिये पत्ते-डालियोंके तोड़ने के समान निमित्तरूप ही थीं, न कि पत्ते-डालियाँ तोडकर ही सन्तोष कर लेनेके लिये। जड़ निकले बिना तो पत्ते-डालियों का फिर फूट आना आवश्यक ही है। इसी प्रकार अहंभावकी जड निकाले बिना ही रुक जाना और इस निमित्तको ही परिणाम समझ लेना तो प्रकृतिको किसी तरह भी स्वीकार है ही नहीं।

आत्मविकास पञ्चम श्रेणीमें प्रकट होकर अब अपनी अवधिको प्राप्त होगया और उसका आत्मभाव हदसे निकलकर बेहद मे पहुँच गया। तरङ्गोंमें जलके समान सब भूतोंमें स्थित अपने आत्माको देख-देख अब वह विकसित हो रहा है, सर्वात्मैक्य दृष्टिसे (अर्थात् सब मेरी ही आत्मा है) अपने नाना रूपोंको देख-देख समुद्रके समान उछल रहा है और आनन्दसे ढाढ़ें मार रहा है।

पञ्चम श्रेणी, 'देव मनुष्य' अर्थात् तत्त्व-वेत्ता

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः (गी० अ० ६. २९)

भावार्थ—योगयुक्त समदर्शीपुरुष सर्वत्र ही सब भूतोंमें स्थित अपने आत्माको साक्षी रूपसे और आत्मामें स्थित सब भूतोंको विवर्त रूपसे देखता है। अर्थात् जिस प्रकार रस्सीमें सर्प, दण्ड व माला आदि प्रतीतिमात्र हैं, परन्तु रस्सीको उनका कोई स्पर्श नहीं, रस्सी अपने आश्रय केवल उनकी प्रतीति करा रही है और आप ज्यूँकी त्यूँ है; इसी प्रकार आत्मा अपने आश्रय सब भूतोंकी प्रतीति कराता हुआ आप निर्विकार रूपमें ज्यूँका त्यूँ स्थित है। अब उसका परिच्छिन्न-अहंकार तत्त्व-विचारद्वारा ज्ञानाग्निसे जल कर भुने बीजके समान रह गया है जो कि फलके योग्य नहीं रहा। अथवा जली रस्सीके समान होगया है, जो कि यद्यपि आकारको धारण किये हुए है परन्तु बन्धनकी सामर्थ्य नहीं रखता। अब सब श्रेणियोंमें वही अपना खेल खेल रहा है, किन्तु वास्तवमें सब श्रेणियोंसे अतीत है। संसारमें अब उसका न कोई व्यक्तिगत स्वार्थ है, न कुटुम्बगत, न जातिगत ही कोई स्वार्थ है और न देशगत। वह तो अब 'स्वार्थ' शब्द व अर्थसे परे परमार्थ रूपसे स्थित है। सब स्वार्थ उसीसे सिद्ध होते हैं परन्तु वास्तवमें वह सब स्वार्थों से दूर खड़ा हुआ है।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥(गी.अ.३ श्लो.१८)

अर्थ.—इस संसारमें उस पुरुषके लिये कुछ किये जाने से भी कोई प्रयोजन नहीं है और न किये जानेसे भी कोई प्रयोजन नहीं है, तथा उसका सम्पूर्ण भूतोंमें कुछ भी स्वार्थ

का सम्बन्ध नहीं है, अर्थात् आकाशके समान वह भूतोंमें असंग रूपसे स्थित है। सब कुछ उसके द्वारा किया जाता है, परन्तु उसमें कुछ नहीं किया जाता, अर्थात् सब कुछ करता हुआ भी कर्तृत्व-अहंकारके गलित हो जानेसे वह कुछ नहीं करता।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ (गी० अ० ५ श्लो० १३)

भावार्थः—नव द्वारवाले शरीररूपी घरमें स्थित योगयुक्त पुरुष निश्चयसे सर्व कर्मोंका त्याग करके, अर्थात् 'इन्द्रियाँ अपने विषयोंमें वर्तती हैं, मेरेमें उनका कोई स्पर्श नहीं' ऐसा तत्त्वसे जानता हुआ अपने सच्चिदानन्दस्वरूपमें स्थित हुआ निस्सन्देह न कुछ करता है और न कुछ करवाता है।

अब उसका सम्पूर्ण भूतोंमें न किसीमें राग है न द्वेष, यहाँ तक कि रागसे भी न राग है और द्वेषसे भी न द्वेष। वह तो अब राग-द्वेषसे छूटा हुआ सम्पूर्ण मनोवृत्तियोंका आत्मभावसे स्वागत कर रहा है। सब राग-द्वेषोंको सत्ता देनेवाला वही है परन्तु वास्तवमें सब राग-द्वेषोंसे परे है।

(१) ज्ञः सचिन्त्योऽपि निश्चिन्त सेन्द्रियोऽपि निरिन्द्रियः ।
सबुद्धिरपि निर्बुद्धिः साहंकारोऽनहंकृतिः ॥

(अष्टावक्र गीता)

(२) प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।

गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥

(गी० अ० १४ श्लो २२,२३)

अर्थः--(१) तत्त्ववेत्ता ज्ञानी पुरुष चिन्तायुक्त दिखायी देने पर भी चिन्तातीत है, इन्द्रियवान होने पर भी इन्द्रियातीत है, बुद्धियुक्त होने पर भी बुद्धिसे परे है तथा अहङ्कारयुक्त होने पर भी अहंकारसे दूर खडा है। अर्थात् बुद्धि, चित्त व इन्द्रियाँ इन सबका साक्षी हुआ इन सबसे असंग है।

(२) हे पाण्डव! सत्त्वगुणसे प्रकाश, रजोगुणसे प्रवृत्ति तथा तमोगुणसे मोह उत्पन्न होता है। तत्त्ववेत्ता पुरुष इन तीनों गुणोंके प्रवृत्त होने पर न द्वेष करता है और न इन निवृत्त हुए गुणों की इच्छा करता है। (क्योंकि वह अपनी आत्मामें इन तीनों गुणोंका कोई लेप नहीं देखता)। वह तो एक साक्षी के सदृश स्थित हुआ गुणोंके द्वारा चलायमान नहीं होता है। किन्तु गुण अपने गुणराज्यमें वर्त रहे हैं, ऐसा समझता हुआ अपने परमात्मस्वरूपमें अचल रूपसे स्थित रहता है और उस स्थितिसे विचलित नहीं होता।

किसी प्रकारका स्वार्थ न रहनेसे अब उसके लिये कोई सड़क व गति न रह गई, सड़क तो स्वार्थके साथ थी जो कि इसको अपनी ओर खींचती थी। अब वायुयानके समान सम्पूर्ण वायुमण्डल ही इसके विहारके लिये नन्दनवन है। वास्तवमे सब गतियाँ उसके द्वारा सिद्ध होरही हैं, परन्तु वह सब गतियोंसे रहित मन्दराचलके समान अचल है। इस प्रकार उसकी चेष्टाओंको केवल गुणातीत कहा जा सकता है, यद्यपि सब गुण उसीके द्वारा वर्त रहे हैं, परन्तु वास्तवमें वह सब गुणोंसे अतीत है।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ (गी० अ० ३ श्लो० २८)

अर्थः—हे महाबाहु ! तत्त्वको जाननेवाला योगी गुण व कर्मके विभागमें 'गुण अपने गुणोंमें वर्तते हैं' ऐसा मानकर आसक्त नहीं होता, अर्थात् गुण और कर्मोंमें साक्षीरूप से वर्तता हुआ भी कमलदलके समान निर्लेप रहता है ।

यही अवस्था पुण्य-पापसे रहित केवल पुण्य और सुख-दुःखसे रहित केवल सुख है ।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥
(गी० अ० १३ श्लो० १४)

भावार्थः—सब इन्द्रिय व गुणोंको प्रकाश करता है, किन्तु वास्तवमें वह सब इन्द्रियोंसे छूटा हुआ है, सबका भरण-पोषण करता हुआ भी वह निर्लेप है और सब गुणोंका भोक्ता होकर भी वास्तवमें सब गुणोंसे अतीत है ।

पुण्य-पाप, सुख-दुख, गुण-इन्द्रिय, गति व चेष्टा इत्यादि तो प्रकृतिके राज्यमें ही अपना प्रभाव जमाये हुए थे और काँटेके समान खटकते थे तथा प्रकृतिका सम्बन्ध परिच्छिन्न-अहंकार तक ही था । अब उसने तत्त्वविचारद्वारा सिंहके समान परिच्छिन्न-अहंकारके पिंजरेको चूर-चूर कर दिया और प्रकृतिके राज्यसे लंघ गया । सर्वात्मैक्यभावना (सब मैं ही हूँ) की आँधी जो वेगसे चली तो प्रकृति व अहंकारको तृणके समान उड़ा ले गई । अब उसने प्रकृतिके रूपको ज्यूँका त्यूँ जान लिया और प्रकृतिकी कलई खुल गई । वास्तवमें तो प्रकृतिने पुरुष के रिझानेको यह नाना खेल रचे थे और उसको अपनी कलाओं

मे मोहित किया हुआ था। परन्तु जब पुरुषने प्रकृतिकी वास्तविकताको जाना तो पता भी न चला कि वह कहाँ गई। जिस प्रकार नटनी, जब तक उसकी असलियत नहीं जानी जाती, तब तक भाँति-भाँतिके स्वाँग बनाके भ्रमित करती रहती है, परन्तु जब उसकी असलियत जान ली जाती है तो ऐसी छुपती है कि मुँह भी नहीं दिखाती।

दिखाया प्रकृतिने नाच पूरा,
सिलेमें उड़ गई अहह ! सितम है।
गलत गुफ्तम शिकायतकी नहीं जा,
मिली आ पुरुषमें अदलो करम है॥

अर्थात् प्रकृतिने अपना पूरा नाच दिखाया और अपने नृत्यके पुरस्कारमें वह स्वयं उड़ गई, यह बड़ा शोक है। कवि फिर सँभल कर कहता है कि मैंने भूल की, शिकायतका कोई अवसर नहीं, क्योंकि प्रकृति अपने नृत्यके पुरस्कारमें स्वयं पुरुषसे अभेद पा गयी। यही तो उसका पुरस्कार था और यही न्याय, कि जिससे उपजी थी उसीमे लय होगई। यही पुरुषकी कृपा है कि उसने अपनेमें प्रकृतिको एक कर लिया।

उपसंहार

सारांश, सांसारिक पुण्य पापसे मिश्रित है, सांसारिक सुख दुःखसे ग्रसा हुआ है, सांसारिक राग द्वेषसे सना हुआ है। कोई कर्म पुण्यरूप नहीं हो सकता, जिसके साथ स्वार्थत्यागका लगाव किसी भी अंशमें मौजूद न हो। अर्थात् किसी कर्मको पुण्यरूप बनानेके लिये स्वार्थत्याग होना जरूरी है। स्वार्थत्यागकी मात्रा जितनी अधिक होगी, उतना ही पुण्य अधिक होगा। जितना स्वार्थांश अधिक दृढ़ किया जायगा, उतनी ही पापकी वृद्धि होगी।

स्वार्थत्याग पुण्यरूप क्यों है तथा स्वार्थ पापरूप क्यों है ? इस विषय पर विचार करनेसे ज्ञात होगा कि संसारका मूल कारण एकमात्र परिच्छिन्न-अहंकार ही है। एक, निर्विकार, अपरिच्छिन्न, सत्यस्वरूप परमात्माको आवरण करके, उसको दबाकर उसके स्थान पर जब सविकार, परिच्छिन्न, मिथ्या अहंकार डेरा जमाता है, तभी सब अनर्थ आन उपस्थित होते हैं। वह सत्य-स्वरूप भला कब सहन कर सकता है कि उसकी अनन्तता को नष्ट-भ्रष्ट किया जाकर एक तुच्छ अहंकार उसका स्थान ग्रहण करे। वह तो अपने सिवाय किसीको देखना ही नहीं चाहता। इधर यह तुच्छ अहंकार उसकी अनन्तताको सान्त में बदलने पर तुला हुआ है और मिथ्याके नीचे इस सत्य को दबाना व छुपाना चाहता है। अब भला यह सत्यकी अनन्त स्टीम मिथ्या व तुच्छ अहंकारके नीचे कैसे दबाई जा सकती है ? भारीसे भारी अञ्जिनोंको भी आतिशबाजीके अनारदानों की भाँति टुकड़े-टुकड़े करके उड़ाये बिना यह बस न करेगी और जब तक यह स्टीम बिल्कुल आजाद न होजाय जीवको कभी चैन न लेने देगी। इसी सिद्धान्तके अनुसार, चूँकि स्वार्थत्यागमूलक कर्म इस अहंकारके ढक्कनको ढीला व पतला करते हैं जिससे उस सत्यस्वरूपी स्टीमको आजाद होनेका अवकाश मिलता है अर्थात् उसकी अनन्तताका विस्तार होता है, इसी लिये इसका परिणाम पुण्य व सुख है। तथा स्वार्थमूलक कर्म अहंकारके ढक्कनको दृढ व मोटा करते हैं, जिससे आन्तरिक सत्यस्वरूपी स्टीम इस ढक्कनको अपने उपर देखना नहीं चाहती और इसे फैंकती है तथा सूईके समान अपनी तीक्ष्ण नोकसे इसको गूँदती है। इधर यह स्टीम न तो अपने ऊपर कोई आवरण देखना चाहती है और न अपनी अनन्तता का संकोच रखना चाहती है, उधर तुच्छ अहंकार स्वार्थके

द्वारा उसकी अनन्तताको दबाना चाहता है। क्योंकि स्वार्थके द्वारा उस अनन्तताका संकोच होता है, इसी लिये इसका परिणाम पाप व दुःख है। जितना-जितना यह अहंकाररूपी ढक्कन पतला पड़ेगा, उतना-उतना ही पुण्य व सुख अधिक होगा और जब यह ढक्कन सर्वथा दूर हो जायगा, तभी और केवल तभी निरुपाधिक एव निरपेक्ष पुण्य व सुखकी प्राप्ति होगी।

हे सुखके अभिलाषियो! यदि सुख चाहते हो तो अपने स्वार्थोंका बलिदान करो, तभी आप सुखके अधिकारी बनेंगे। त्याग बिना सुख कहाँ? देना ही पाना है। जो कुछ भी वर्तमान में तुमको मिल रहा है, यह तुम्हारे किसी त्यागका ही परिणाम है। छोडना ही पुण्य व सुख है, पकडना ही पाप व दुःख है। अब तुम वन्दरकी[1] भाँति पदार्थोंसे मुट्ठी भी भरे रखना चाहते हो और भाँडेसे हाथ भी निकालना चाहते हो, यह कैसे सम्भव हो सकता है? भाँडेसे सही-सलामत हाथ निकालने के लिये मुट्ठका खाली करना जरूरी है। 'चुपडी और दो-दो'

---

१. भारतवर्षमें बाजीगर वन्दरको विचित्र युक्तिसे पकडते हैं। वे लोग जंगलमें सँकडे मुँहका पात्र उस वृक्षके नीचे रख देते हैं, जिस पर बन्दर बैठा होता है और उस पात्रमें उसके खानेयोग्य रुचिकर पदार्थ डाल देते हैं। बन्दर आता है और उन पदार्थोंको लेनेके लिये पात्रमें हाथ डालता है। खाली हाथ तो उस पात्रमें प्रवेश कर जाता है, परन्तु पदार्थोंकी पकडसे मुट्ठि भारी हो जाती है। अब वह हाथ पात्र से निकालना चाहता है, लेकिन पदार्थोंकी पकडके कारण मुट्ठि भारी होनेसे हाथ निकल नहीं सकता। पदार्थोंको छोडकर मुट्ठि वह खाली करता नहीं और समझता है कि मुझे किसीने पकड़ लिया। ऐसा समझ कर वह चिल्लाता है और बाजीगर आनकर उसको पकड़ लेता है।

यह कैसे निभ सकता है ? हाय ! तुम तो मूलमें ही भूल कर आये हो, इससे पाछे हटो, और क्रम-क्रमसे स्वार्थत्याग का अवलम्बन करके केवल पुण्य व केवल सुखके भागी बनो !

ॐ ॐ ॐ

इसी प्रकार संसाररूपी वनमें अज्ञानी जीवरूपी बन्दर भ्रम रहा है। मायारूपा बाजीगरने इसको पकड़नेके लिये देहाभिमानरूपी सँकड़े मुँहका पात्र रखा है, जिसमें स्वार्थ और भोगोंकी आसक्तिरूपी रुचिकर फल डाल दिये हैं। जीवरूपी मर्कटने इनको प्रिय जान इस देहाभिमानके पात्रमें हाथ डाल दिया है और स्वार्थ व आसक्ति रूपी फलोंसे मुट्ठि भर ली है। मुट्ठि भर तो ली, परन्तु स्वार्थ, आसक्ति व अभिमानकी पकड़से जो दुःख हुआ तो इस पात्रमें हाथ निकालने के लिये यह व्याकुल हो रहा है। परन्तु मूर्ख स्वार्थ व आसक्तिरूपी फलोंसे मुट्ठि खाली नहीं करता। यदि मुट्ठि इन फलोंसे खाली कर दे तो इसके लिये कोई पकड़ नहीं है और इस देहाभिमानके पात्रसे सही-सलामत हाथ निकल सकता है। वस्तुतः दूसरा तो कोई इसको पकड़नेवाला है नहीं, यह स्वयं ही अपने अज्ञानद्वारा मिथ्या पकड़से अपना हाथ फँसा बैठा है। परन्तु इस रहस्यको न जान और अज्ञानद्वारा ऐसा समझ कर कि मुझे किसी विशेष शक्ति ईश्वर अथवा मायाने इस पात्रमें इन फलोंके साथ बाँध रक्खा है, रोता और चिल्लाता तो है, लेकिन मुट्ठी खाली नहीं करता और मायारूपी बाजीगरद्वारा पकड़ा जाकर तथा गलेमें अहंकर्तृत्वाध्यासरूपी रस्सीसे बाँधा जाकर अनेक योनियोंमें खूब नचाया जाता है।

साधारण धर्म

> प्राणीमात्रका ध्येय केवल सुख है।

संसारमें ब्रह्मासे लेकर चिउँटीपर्यन्त प्राणीमात्रकी दौड़धूप दिन-रात, आठ पहर, चौंसठ घड़ी बल्कि प्रत्येक क्षण, किस पदार्थके लिये हो रही है? वह कौन मधुर वस्तु है जो अपने लिये प्रत्येक प्राणीके जीवनको कटु बना रही है? सुख, केवल सुख। यद्यपि प्रत्येक प्राणीकी चेष्टा दिन-रात अपने-अपने विचारानुसार भिन्न-भिन्न हो रही हैं, परन्तु निर्दिष्ट स्थान सबका केवल सुख है, अन्य कुछ नहीं। ब्रह्मा सृष्टिको उत्पन्न कर रहा है। पृथ्वी अपने सिरपर पहाड़ों व वृक्षोंको धारण किये नाच रही है। समुद्र उछल रहा है। सूर्य तपा रहा है। चन्द्रमा अपनी शीतल किरणोंका प्रसार कर रहा है। नदियाँ पहाड़ोंसे तीव्र गति से उतरकर समुद्रकी ओर दौड़ रही हैं। बुलबुलें चहचहा रही हैं। चिउँटियाँ दिन-रात दौड़ रही हैं। कीट रेंग रहे हैं। बीज पृथ्वीमें पड़ते ही फलनेके लिये उतावला हो रहा है। माता प्रसवकी वेदना सह रही है। तपस्वी पञ्चाग्नि ताप रहे हैं। राजाओंमें युद्ध हो रहा है और पृथ्वीको रक्तसे सींचा जा रहा है। इधर ऊँचे-ऊँचे महलोंको त्यागकर विकट जङ्गलों में डेरा लगाया जा रहा है। बाजारोंमें विचित्र ही लेन-देनकी चहल-पहल हो रही है। अदालतोंमें घमसान मच रहा है, जजों, वकीलों, मुद्दई, मुद्दायलोंकी छेड़-छाड़ हो रही है, एक-दूसरेको झुटला रहा है। इधर मत-मतान्तरोंका झगड़ा चल रहा है। सारांश, कहाँतक वर्णन किया जाय? न जाने संसार में प्रत्येक क्षण कितनी असंख्य चेष्टाओंका प्राकट्य हो रहा

होगा, कौन गिनती कर सकता है? परन्तु प्रत्येक चेष्टाद्वारा साक्षात् अथवा परम्परासे जो वस्तु बटोरी जा रही है, वह केवल सुख है।

गावन तुध नूँ पवन पाणी वैसन्तर,
गावन तुध नूँ राजा धर्मद्वारे।
गावन तुध नूँ चित्रगुप्त लिख जाणे,
लिख लिख धर्म विचारे॥
गावन तुध नूँ पण्डित पढन ऋषीश्वर,
जुग जुग वेदाँ नाले।
गावन तुध नूँ मोहनियाँ मन मोहन,
स्वर्गा मच्छ पियाले॥
गावन तुध नूँ रत्न उपायें तेरे,
अठसठ तीरथ नाले।
गावन तुध नूँ जोधा महाबलसूरा,
गावन तुध नूँ खाणी चारे॥
गावन तुध नूँ खण्ड मण्डल ब्रह्मण्डा,
कर कर रक्खे तेरे धारे।
सेई तुध नूँ गावन जो तुध भावन,
रत्ते तेरे भक्त रसाले॥
होर केते तुध नूँ गावन से मैं चित्त
न आवन, नानक क्रिया विचारे।

(गुरुग्रन्थसाहिब मोहल्ला पहला)

अर्थ—हे सुखस्वरूप! अपनी सब चेष्टाओंमें सम्पूर्ण भूत तेरा ही गीत गा रहे हैं, अर्थात् तुझे ही माँग रहे हैं, अन्य कुछ नहीं। वायु जल व अग्नि स्वयं अपनी सब चेष्टाओंसे अथवा अन्य प्राणी वायु जल, व अग्निके द्वारा तेरी ही खोज कर रहे हैं। राजा धर्मके द्वारा, अर्थात् अपना धर्म पालन करके तेरी ही भिक्षा माँग रहा है। चित्रगुप्त (धर्मराजका गुमाश्ता) भी तेरे ही गीत गा रहा है, जो कि जीवोंके कर्मों का हिसाब लिख-लिखकर और धर्मका विचार कर करके जानता है कि तू कैसे पाया जाता है? तथा पण्डित-ऋषिश्वर प्रत्येक युगमें वेदोंद्वारा तेरा ही गीत गा रहे हैं, अन्य कोई ध्येय उनका नहीं हो सकता। इधर मनको मोहनेवाली मोहनियाँ स्वर्गोंमें भोगोंद्वारा ज्ञात अथवा अज्ञात रूपसे अपनी प्रत्येक छवियोंमें तेरे लिये ही नृत्य कर रही हैं कि किसी प्रकार तेरा दर्शन हो। अन्य जो तेरे उत्पन्न किये रत्न अर्थात् अद्भुत शक्तियाँ प्रकट हुई हैं, अथवा तेरे प्रकाशकी झलक मारनेवाले जो हीरे, माणिक आदि रत्न हैं, वे सब तुझे ही गा रहे हैं अर्थात् तेरे ही अस्ति-भातिस्वरूपका चमत्कार दिखला रहे हैं। और साथ ही अड़सठ तीर्थ तेरी ही नित्यनिर्मलताका गीत गा रहे हैं। महाबलवान् जोधा शूरवीर भी केवल तुझे ही गा रहे हैं, अर्थात् उनमें जो शक्ति है वह अपनी नहीं बल्कि वे तेरी ही शक्तिसे शक्तिसम्पन्न हो रहे हैं और अपने बलद्वारा तुझ सुखस्वरूपकी प्राप्ति ही उनका ध्येय है। इस प्रकार चारों खानि तुझको ही गा रहे हैं और सब खण्ड, मण्डल व ब्रह्माण्ड जो तेरे आधार टिके हुए हैं वे सब तेरा ही गीत गा रहे हैं। वे जो तुझे भाये हुए हैं, अर्थात् तेरे रसिकभक्त जो तेरी प्रीतिमें रते हैं, वे तो साक्षात् रूपसे तुझे गाते ही हैं। अन्तमें गुरु नानक-

देव कहते हैं कि और कितने ही अनन्त हैं जो तुझको ही गा रहे हैं, जिनकी संख्या मैं नहीं कर सकता।

कुमरियाँ[1] आशिक हैं तेरी, सरव[2] बन्दा है तेरा।
बुलबुलें तुझ पर फिदा हैं, गुल तेरा दीवाना है॥

जिस वस्तुके लिये इतनी अथक चेष्टा हो रही है, मानो किसी स्थानमें प्रचण्ड अग्नि लगी हो और उसके बुझानेके लिये चारों ओरसे मनुष्योंके झुण्डके झुण्ड दौड़े चले जा रहे हों; उसी प्रकार जिस सुखकी प्यास बुझानेके लिये प्राणियों की तीव्र वेगसे ऐसी चेष्टा हो रही है, उस सुखका उद्गमस्थान हमको जानना चाहिये।

सुखका उद्गम स्थान और धर्मका स्वरूप

इस विषयमें श्रुति-भगवती हमको बतलाती है,

(१) "सत्यमेव जयते नानृतम्"

(२) "यतो धर्मस्ततो जय"

अर्थ यह कि (१) सत्य (धर्म) की जय होती है, झूठ (अधर्म) की नहीं (२) जहाँ धर्म है वहीं जय है।

'जय' शब्दका अनर्थ न कर देना, 'जय' शब्दका यह अर्थ नहीं कि अपने किसी शत्रुको कुचलकर उस पर अपना स्वामित्व जमाया जाय और इस प्रकार अपने व्यक्तिगत अहंकार को पुष्ट करके सर्पको दूध पिलाया जाय। यह तो जय नहीं पराजय है। यह तो सत्य नहीं अनृत है। यह तो धर्म नहीं अधर्म है, उल्टी गङ्गा बहाना है और रोगको बढ़ाना है। 'जय' शब्दका यहाँ अर्थ है, 'सुख' 'शान्ति'। आशय यह है, जहाँ

१. पक्षी विशेषका नाम। २. वृक्षका नाम जो सीधी रेखामें जाता है।

धर्म व सत्य है, वही सुख व शान्ति है। इसलिये जिस धर्ममें हमको हमारा जीवनफल प्राप्त होता है, उस धर्मका रूप हमको कुछ जानना चाहिये।

'धर्म' शब्दका अर्थ है 'येनैतद्धार्यते स धर्मः'। आशय यह कि जिस शक्तिद्वारा यह संसार धारण किया जा रहा है, वही शक्ति 'धर्म' शब्दका मुख्य अर्थ है। जो शक्ति आकर्षण-विकर्षण (राग-द्वेष) अर्थात् Attraction & Repulsion की समताद्वारा पृथ्वी, नक्षत्र, सूर्य, चन्द्रमा आदिको शून्य आकाशमें लटकाये हुए है, मानो किसी विचित्र कारीगरने छतमें निराधार गोले लटका दिये हों। जो शक्ति शून्यमें सूर्यको अपने केन्द्रमें घुमा रही है और पृथ्वी आदि नक्षत्रोंको अपनी-अपनी कक्षामें सूर्यके इर्द-गिर्द घुमा रही है। जो शक्ति पृथ्वी में गंधरूपसे, जलमें रसरूपसे, सूर्य व चन्द्रमामें प्रकाशरूप से, पवनमें स्पर्शरूपसे और आकाशमें शब्दरूपसे विराज रही है। यथाः—

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥
बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्। (गी. अ. ७
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ श्लो.८,९,१०)

अर्थः—हे कौन्तेय! जलमें रसरूप, सूर्य-चन्द्रमामें प्रकाशरूप, सम्पूर्ण वेदोंमें प्रणवरूप, आकाशमें शब्दरूप, मनुष्योंमें बलरूप, पृथ्वीमें पवित्र गंध, अग्निमें तेज, सर्व भूतोंमें जीवन और तपस्वियोंमें तपरूप मैं ही हूँ। सारांश,—

हे पार्थ! तू सर्व भूतोंमें सनातन बीजरूपसे मुझको ही जान तथा बुद्धिमानोंमें बुद्धि और तेजस्वियोंमें तेजरूप मैं ही हूँ।

जो शक्ति अग्निमें उष्णता, जलमें द्रवता, पृथ्वीमें जड़ता, वायुमें स्पन्द और आकाशमें शून्यता रूपसे विराजमान है। जिस शक्तिके अधीन ब्रह्मा रूपसे सृष्टिकी उत्पत्ति, विष्णु रूपसे पालन और शिव रूपसे संहार हो रहा है। जो शक्ति भोजन बनके खाई जा रही है, जठराग्निरूपसे उसको पका रही है, रसरूपमें बदल रही है, रक्तरूपसे नाड़ियोंमें दौड़ रही है, मांसरूपसे शरीरको पुष्ट कर रही है, वीर्यरूपसे बल दे रही है, नेत्रमें होकर देख रही है, श्रोत्रमें होकर सुन रही है, घ्राणमें होकर सूँघ रही है, रसनारूपमें स्वाद ले रही है, त्वचारूपसे छू रही है, जो सबमें सब कुछ है; वह शक्ति ही धर्म शब्दका मुख्य अर्थ है।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥ (गी. अ. १०, ८)

अर्थः—मुझसे ही सर्व जगत्‌की उत्पत्ति हुई है और मेरेसे ही सब चेष्टाएँ होती हैं, ऐसा मानकर भावसंयुक्त बुद्धिमान् मुझको भजते हैं।

काल जिसका भृकुटिविलास है और क्षण-क्षण करके पल, घड़ी, प्रहर, दिन-रात, तिथि, पक्ष, मास, उत्तरायण, दक्षिणायन, वर्ष, मन्वन्तर, युग और सर्गरूपमें जिसके अधीन नृत्य कर रहा है। श्रुति, स्मृति, पुराणादि जिसके वन्दीगण हैं और निरन्तर जिसकी स्तुति करते रहते हैं। जो उत्पन्न नहीं हुआ और नित्यनूतन है; इसलिये इसको सनातन-धर्म के नामसे अभिहित किया गया है। अटकसे कटक और हिमालयसे रासकुमारीतक ही जिसका राज्य नहीं, बल्कि सब देश, सब काल और सब वस्तुपर जिसका अधिकार है। हिन्दूमात्रसे

हो जिसका सम्बन्ध नहीं, वरन् क्या हिन्दू, क्या मुसलिम, क्या बौद्ध, क्या ईसाई, क्या मूसाई, क्या सिक्ख, क्या जैन, क्या बच्चा, क्या युवा, क्या वृद्ध, क्या गर्भस्थ शिशु, क्या मरण सन्निहित और मरणान्त जीव; सब जाति, सब मत व सब सम्प्रदायों और सब अवस्थाओंसे जिसका सम्बन्ध है और जो सबके लिये अधिकारानुसार श्रेय-पथप्रदर्शक है। मनुष्य मात्रके लिये ही जो कल्याणरूप नहीं, परन्तु पाषाणसे लेकर उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज व जरायुज चारों खानियोंके लिये जो माताके समान हितकारी है। जिस प्रकार माता बच्चेको स्तनपान कराती हुई, सब प्रकार उसकी सेवा करके लालन-पालन करती हुई बच्चेको युवावस्थातक पहुँचा देती है; उसी प्रकार जो धर्म जीवको पाषाण-उद्भिज्जादिकी जड योनियोंसे उठाकर तीनों अवस्थाओं और पाँचों कोशोंकी निर्विघ्नतया क्रमोन्नति करता हुआ, जीवको मनुष्ययोनिमें पहुँचा कर प्रकृतिकी पूर्णता सम्पादन कर देता है। मनुष्ययोनि प्राप्त कराके भी जो अपने अनुसारी जीवोंको पार्वतीके समान उनपर कल्याण करके और अपने शिवस्वरूपकी प्राप्ति कराके कैवल्यपदको प्राप्त करा देता है। परन्तु अपनेसे विमुख मनमुखी जीवोंको जो चोटें लगाये बिना भी नहीं रहता, भैरवरूप धारकर अध्यात्म, अधिदैव व अधिभूत त्रितापरूपी त्रिशूलसे उनके हृदयोंको विदीर्ण करता है और योगिनीरूप धारकर उनके रक्तको पान करता रहता है। इस प्रकार अनेक रौरव-नरकोंकी यमयातना भुगाकर भी जो उनको अपने अनुसारी बनाए बिना नहीं छोडता। क्या राजा, क्या प्रजा, क्या जाति, क्या व्यक्ति; क्या देश, किसीका इसको लिहाज नहीं। और तो और, भगवान् रामचन्द्रको भी, रुलाये बिना और भगवान् कृष्णको भी तीरका निशाना बनाये बिना

---

१. इसका विवरण पृ. १८ से २४ पर्यन्त पीछे किया जा चुका है।

इसने न छोड़ा। देवर्षि नारदको भी बन्दरकी आकृति प्रदानकर तपाये बिना यह न रहा और इसके फलस्वरूपमें अपरिच्छिन्न विष्णुको भी परिच्छिन्न रूपसे माताके गर्भमें सुलाये बिना न माना। वेदव्यासजीको रुलाके ही छोडा और प्रतापी दुर्वासा-ऋषिको भी सुदर्शन चक्रको मारसे भगाये बिना न रहा। महर्षि-वशिष्ठके शत पुत्रोंको पूर्णाहुति लिये बिना इसकी तृप्ति न हुई और विश्वामित्रकी सम्पूर्ण सेनाको हड़प किये बिना इससे न रहा गया। इन्द्रके शरीरको छलनी बनाके ही इसने दम लिया और जयन्तकी आँख निकलवा कर ही इसको सन्तोष हुआ। वर्तमान ब्रिटिश गवर्नमैंएटकी तो चर्चा ही क्या करनी है, काल आप ही अपनी मोहर लगायेगा। इसके विपरीत पाँच वर्षके बालक ध्रुव को निर्जन वनके क्लेश भुगाकर भी अटल पदवी दिये बिना यह न रहा। प्रह्लादको कुमार अवस्थामें ही पत्थरोंकी वर्षा, पहाड़से गिराना, अग्निमें जलाना इत्यादि प्रचण्ड कष्ट भुगाकर भी अपनेमें तल्लीन करके ही इसने दम लिया। हरिश्चन्द्रके परिवारके बीच बाजार टुकड़े करके भी उत्तम लोकोंको प्राप्त करके ही छोडा। मोरध्वजके द्वारा अपने पुत्रके बीचमेंसे ठीक दो टुकड़े कराके भी उसको सद्गति दिये बिना न माना। और अब भारत-सपूतोंको जेलमें ठूँस-ठूँस तथा गोलीका निशाना बना-बनाकर भी स्वराज्य [यद्यपि यह वास्तविक स्वराज्य नहीं कहला सकता, वास्तविक स्वराज्य किसीके अधीन नहीं, किन्तु अपने ही परम पुरुषार्थके अधीन है] प्रदान किये बिना यह कब रहने लगा है? सारांश, कहाँतक निरूपण किया जाय, यह बड़ा हठीला है। इसको बालक, वृद्ध, ज्ञानी, अज्ञानी किसीपर भी दया नहीं आती। लोहेके चने चबाये बिना यह किसीको नहीं छोड़ता। सुखके प्रेमियोंको इसके आगे नतमस्तक होना ही पड़ेगा, इसके नियमको सिरपर धारना ही होगा, इसके बिना

छुटकारा है ही नहीं। इस प्रकार जब यह अपने प्रेमियोंकी अण्टी ढीली करा लेता है और उनके अहंभावके बीच बाचार, एक, दो, तीन करके टुकड़े कर लेता है, तब उनसे रीझता भी ऐसा है कि कुछ न पूछो। सारा संसार उनपरसे न्योछावर कर देता है और पतिव्रता स्त्रीकी भाँति उनके दामनसे ऐसा गठजोड़ा करता है कि छुड़ाये भी नहीं छूटती।

> यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
> तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥ (गी० अ० १८, ३७)

अर्थ—जो सुख प्रथम साधनके आरम्भ कालमें यद्यपि विषके सदृश भासता है परन्तु परिणाममें अमृतके तुल्य है, ऐसा जो भगवत्विषयक बुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न हुआ सुख है वह सात्त्विक कहा गया है।

यही वह शक्ति है, जिससे हमारी वाञ्छित सुखका स्रोत बहता है, जो हमारी वाञ्छित जीवनफल प्रदान करनेके लिये चिन्तामणिके समान है। आयुर्वेद-शास्त्रमें आयुके बढ़ानेवाले घृतको भी 'आयुष्य' शब्दसे प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार वह चेष्टाएँ भी जिनके द्वारा हम उपर्युक्त धर्मकी ओर सम्मुख हो सकें धर्मरूपसे अभिहित की गई हैं। इसी लक्ष्यको ध्यानमें रखकर धर्मका अन्य लक्षण किया गया है:—

> "यतोऽभ्युदयनिश्रेयससिद्धिः स धर्मः"

अर्थात् जिन चेष्टाओंसे इस लोकमें ऐश्वर्य तथा परलोकमें मुक्तिकी सिद्धि हो वह 'धर्म' है।

अब प्रश्न होता है, वह कौनसी चेष्टाएँ हो सकती हैं जिनके द्वारा अभ्युदय व निश्रेयससिद्धि हो?

धर्मका प्राण केवल त्याग है।

उत्तर एक ही है—'त्याग'। किसी भी चेष्टाको धर्मरूप बनानेके लिये जरूरी है,

कि उसके साथ त्यागरूपी चटनी हो। त्यागका किसी अंशमें सम्बन्ध जुड़नेके बिना धर्म कैसे उपार्जन किया जा सकता है? जितने अंशमें त्यागकी अधिकता होगी, उतने ही अंशमें धर्मकी वृद्धि होगी। धर्मरूपी नीदियेको चलानेके लिये आवश्यक है कि वैराग्यमूर्ति, व्यालभूषण, भस्मविलेपन और गरलपान करनेहारे शिव-शम्भुको उसपर आरूढ़ किया जाय, तभी जय है। इसी त्यागरूपी महेशके मस्तकपर शांतिरूपी द्वितीयाका चन्द्रमा शोभायमान है, जिसकी कलाएं नित्य वृद्धिको प्राप्त होनेवाली हैं, यही शङ्कर-महादेव दुःखरूपी विषपान करनेवाला है।

त्यागको तीन भागोंमें विभक्त कर सकते हैं (१) आर्थिक-त्याग, (२) शारीरिक-त्याग और (३) मानसिक-त्याग। धन, भूमि, गौ आदि अपनेसे भिन्न यावत् पदार्थोंका त्याग आर्थिक-त्याग है। शरीर व वाणीद्वारा अपना स्वार्थ खोकर किसीको लाभ पहुँचाना शारीरिक-त्याग है। काम-क्रोधादि मनोवृत्तियोंका त्याग 'मानसिक-त्याग' है। पहिले त्यागसे दूसरा और दूसरेसे तीसरा अधिक महत्त्ववाला है। जैसे बर्फसे जल तथा जलसे भापमें अधिक बल होता है, इसी प्रकार यह तीनों त्याग भी सापेक्ष महत्त्वशाली हैं। ईश्वरीय नीतिमें त्यागका कुछ ऐसा महत्त्व रक्खा गया है कि जब हम पदार्थोंसे मुँह मोड़ेंगे, वे आप हाजिर हो जाएंगे और जब उनपर अधिकार जमाया जायगा तो उनको खोया जायगा। किसी पदार्थको पानेके लिये उसका पहले त्याग बहुत जरूरी है। जिस प्रकार बीज जमीनमें बोया हुआ, जब तक अपने आपको भूमिमें नष्ट करके मिट्टीमें न मिला ले, उगने व फल देनेके योग्य नहीं बनाया जा सकता।

मिटा दे अपनी हस्तीको, अगर कुछ मरतबा चाहे।
के दाना खाकमें मिलकर, गुले गुलजार होता है॥

अर्थात् 'खोना ही पाना है'। जैसा बीज होगा वैसा ही उससे फल निकलेगा। धन देंगे, धन पायेंगे, भूमि देंगे, भूमि पायेंगे, शारीरिक-सेवा देंगे, सेवा पायेंगे, विद्या देंगे विद्या पायेंगे; सुख देंगे, सुख पायेंगे, दुःख देंगे, दुःख पायेंगे, शान्ति देंगे, शान्ति पायेंगे, इच्छाका त्याग करेंगे, इच्छित पदार्थ पायेंगे।

घर[1] मिले उसे, जो अपना घर खोवे है।
जो घर[2] रक्खे, सो घर[3] घर में रोवे है॥
जो राज तजे, वह महाराज करे है।
धन तजे, तो फिर दौलत से घर भरे है॥
सुख तजे, तो फिर औरों का दुःख हरे है।
जो जान तजे, वह कभी नहीं मरे है॥
जो पलङ्ग तजे, वह फूलों पे सोवे है।
जो घर रक्खे, वह घर घर में रोवे है॥१॥
जो पर दारा को तजे, वह पावे रानी।
और झूँठ वचन दे त्याग, सिद्ध हो वाणी॥
जो दुर्बुद्धि को तजे, वही है ज्ञानी।
मन से हो त्यागी, ऋद्धि मिले मनमानी॥

---

१. नित्य अचल सुख। २. संसारसम्बन्धी अहन्ता-ममता ३. प्रत्येक योनि।

जो सर्व तजे, उसी का सब कुछ होवे है।
जो घर रक्खे, सो घर घर में रोवे है॥२॥
जो इच्छा नहीं करे, वह इच्छा पावे।
अरु स्वाद तजे, फिर अमृत भोजन खावे॥
नहीं मांगे, तो फल पावे जो मन भावे।
हैं त्याग में तीनों लोक, वेद यही गावे॥
जो मैला[1] होकर रहे, वह दिल धोवे है।
जो घर रक्खे, सो घर घर में रोवे है॥३॥

धनादिक संसारके यावत् भोग्य-पदार्थोंके सम्बन्धसे किस प्रकार हमको सुख मिलता है? इस विषयपर यदि विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि संसारके भोग्य-पदार्थ केवल उसी कालमें हमको सुखी करेंगे, जबकि उनका त्याग किया जायगा, उन्हें वर्ता जायगा अथवा नष्ट किया जायगा। जिस प्रकार दीपक में रोशनी पानेके लिये तेल व बत्तीका जलना जरूरी है, तेल व बत्तीको बनाये रखकर दीपक प्रकाश नहीं दे सकता। ठीक, इसी प्रकार भोग्य-पदार्थोंसे भी सुख प्राप्त करनेके लिये इनका नष्ट किया जाना, अर्थात् उपयोगरूपी अग्निपर इनकी धूप-दीप करना बहुत-बहुत जरूरी है। इनको बनाये रखकर इनसे कदापि सुख प्राप्त नहीं किया जा सकता, प्रकृतिका कुछ ऐसा ही नियम है। इस विषयको स्पष्ट करनेके लिये एक कहानीका सहारा लिया जायगा।

---

१. अर्थात् जो संसारसे उदासीन रहे।

दो महात्मा मिलकर तीर्थाटनको निकले। एक उनमें रागी अर्थात् धनसंग्रह करनेवाला था और दूसरा त्यागी। मार्गमें धनके ग्रहण व त्यागके सम्बन्धमें दोनों चर्चा-वार्ता करते जा रहे थे। रागी-महात्मा धनसञ्चयके गुणोंका पक्ष लिये जाते थे और त्यागीजी इसके दोषोंपर डटे हुए थे। सायंकाल के समय दोनों एक नदीके किनारे पहुँचे। रागी-महात्माने कहा "रातको हम जाडेमें यहाँ ठिठुर जायेंगे, साथ ही जङ्गल का मौका है भेड़िये हमको खा जायेंगे, अच्छा यह होगा कि नौकापर आरूढ़ होकर नदीपार उस ग्राममें जा ठहरें।" त्यागीजीको भी यह प्रस्ताव प्रिय हुआ। अन्ततः नौकावाले से ठहराव-चुकाव करके दोनों नदीपार ग्राममें जा ठहरे। नौका से उतरकर रागी-महात्मा बिगड़े और त्यागीजीको डाटने लगे। "धनसंग्रहका तत्काल फल देख लिया, यदि मैं धनका संग्रह न रखता तो हम दोनों आज ही रातको जाड़े व हिंस्र-पशुवों करके मारे जाते, फिर कभी त्यागका उपदेश न करना।" त्यागी-महात्मा बोले "यदि तुम धनका त्याग न करते, नौका-वालेको धन न देते, यदि तुम धनका सञ्चय किये रहते तो हम दोनों अवश्य जाडे व हिंस्र-पशुवों करके मारे जाते, मेरे विश्वास व त्यागके कारण ही तुम्हारी जेब मेरी जेब बन गई, मुझको कभी कोई कष्ट नहीं होता।"

भोग्य-पदार्थोंमें सुखका असम्भव

धनके साथ ही नहीं, यावत् भोग्य-पदार्थोंके साथ इसी नियमका सम्बन्ध है। कोई भोग्य-पदार्थ अपनी विद्यमानतामें ही, जबतक कि वह नष्ट न किया जाय, सुखसाधन नहीं हो सकता। जिस प्रकार आतिशबाजीके अनारदानेसे शब्द व प्रकाश उसी कालमें प्राप्त होता है, जब कि उसको अग्नि लगा कर टुकड़े-टुकडे करके उड़ा दिया जाता है। परिणाम स्पष्ट है, भोग्य-पदार्थोंको ही

सुखरूप जानकर इनके पीछे दौड़ना ऐसा ही है, जैसा कि हरिण का बच्चा प्यास बुझानेके लिये मृगतृष्णाके जलके पीछे दौड़-दौड़कर अपनेको व्याकुल बना लेता है और प्यास बुझाने के बदले धूपमें दौड़कर प्यास बुझाना तो कैसा ? उलटा अपनी दाहको अधिकाधिक बढ़ा लेता है। ठीक, वही गति इन जीवों की है, जो सुखके लिये इन भोग्य-पदार्थोंके पीछे उठ भागते है और सुखी बनानेके बजाय अपनेको अधिकाधिक व्याकुल बना लेते हैं। वास्तवमें यदि यह पदार्थ सुखरूप होते तो इनको अपनी विद्यमानतामें ही हमें सुखी बनाना चाहिये था, न कि अपने नाश किये जानेपर, अपने जलानेपर। दूसरी बात यह है कि यदि इन भोग्य-पदार्थोंको ही सुखस्वरूप माना जाय तो इनको हमें उस कालमें भी सुखी बनाना चाहिये था जब कि हमको इनकी इच्छा नहीं रहती। तीसरे, यदि यह पदार्थ सुखस्वरूप होते तो इन भोग्य-पदार्थोंमेंसे कोई एक वस्तु सब जीवोंके लिये सुखस्वरूप मन्तव्य होनी चाहिये थी, क्योंकि ब्रह्मासे लेकर चिऊँटीपर्यन्त भिन्न-भिन्न प्राणियोंकी भिन्न-भिन्न चेष्टाओंमें जो वस्तु बटोरी जा रही है, वह केवल सुख है और वह एक वस्तु है, न कि अनेक। यद्यपि अपने-अपने विचारानुसार उसके पानेके मार्ग भिन्न-भिन्न हैं, लेकिन लक्ष्य केवल एक सुख ही है। इस प्रकार यदि यह पदार्थ सुखस्वरूप ठहरें तो कोई एक ही पदार्थ सबके लिये सुखस्वरूप ठहरना चाहिये था, जैसे मिश्री अपने स्वरूपसे मीठी है तब सबके लिये वह मीठी ही भान होती है। परन्तु ऐसा तो नहीं हो रहा, कोई धनमें सुखको ढूँढ रहा है तो कोई स्त्रीमें; कोई सुख की तलाश पुत्रमें कर रहा है तो कोई मान पानेमें; कोई विद्या में सुख देख रहा है तो कोई जाति व कुलमें; कोई इन पदार्थों के रागमें आनन्द पाना चाहता है तो कोई त्यागमें। चौथे,

जिस-जिसने अपने उद्देश्यके अनुसार जिस-जिस वस्तुको सुखस्वरूप जाना है यदि वास्तवमें वही वस्तु उसके अपने विचारानुसार सुखस्वरूप हुई होती तो उस वस्तुके प्राप्त हो जानेपर सुखके लिये उसकी दौड़-धूप समाप्त हो जानी चाहिये थी, क्योंकि सुखस्वरूप वह वस्तु उसको अब प्राप्त है। परन्तु ऐसा भी देखनेमें नहीं आता, इष्ट पदार्थकी प्राप्तिके पश्चात् भी सुखके निमित्त अनर्गल प्रवृत्तिका प्रवाह देखनेमें ही आता है। इससे स्पष्ट है कि वास्तवमें भोग-पदार्थ सुखस्वरूप नहीं, बल्कि सुखशून्य पदार्थोंमें सुखबुद्धि उलटा हमारे दुःख का साधन है, जैसे जलशून्य मृगतृष्णाकी नदीमें जल-बुद्धि प्यास बुझानेके स्थानपर प्यासकी वृद्धि करनेवाली है। और जब यह पदार्थ अपने स्वरूपसे ही सुखशून्य हैं, तब इन सुख-शून्य पदार्थोंके साथ ममत्व भी सुखका साधन न होकर दुःख का ही साधन होगा।

सुख इच्छानिवृत्ति में ही है

अब प्रश्न होता है कि जब यह पदार्थ वास्तवमें सुख-स्वरूप नहीं तो इनके सम्बन्धमें सुख क्यों भान होता है? इस विषयको वेदान्त यूँ स्पष्ट करता है कि सुख पदार्थमें नहीं, किन्तु केवल इच्छाकी निवृत्तिमें ही है। इच्छा खड़ी हुई हमारे लिये दुःख-दायी रहती है और उसकी निवृत्तिसे सुख-शान्ति प्राप्त होती है। जैसे फोड़ा पका हुआ दुःखदायी रहता है और उसको चीरनेसे सुख मिलता है। संसारमें प्राणिमात्रके लिये जब-जब सुख-दुःखकी प्राप्ति होती है, उन सबके मूलमें बिना किसी विवादके केवल एक इसी नियमका राज्य होता रहता है। अर्थात् जब-जब जिस-जिस प्राणिको दुःखकी प्राप्ति होती है, तब-तब इसके मूलमें अवश्य कोई इच्छा उसके हृदयको मसोसती हुई दीख पड़ती है और जब-जब जिस-जिस प्राणि

को सुखकी प्राप्ति होती है, तब-तब उसका हृदय अवश्य किसी न किसी इच्छासे खाली हुआ जाना जाता है। इसके सिवाय और कोई सुख-दुःखका निमित्त बन नहीं पड़ता।

'आशा हि परमं दुःखं, निराशा हि परमं सुखम्'

जैसे जब हमको शौचादिकी शङ्का होती है, उस समय हम अपने-आपको कष्टमें पाते हैं और जब शौचशङ्काकी निवृत्ति कर लेते हैं तो अपने-आपको सुखी मानते हैं। अथवा अपने शरीरपर कीचड़ लपेटकर हम अपनेको दुःखी बनाते हैं और कीचड़ धोकर कीचडके मलसे छूटकर अपनेको सुखी मानते हैं। ठीक, इसी प्रकार पदार्थोंकी इच्छा करके, कीचड लपेटकर हम अपने हृदयको चञ्चल करते हैं व दुःखका अनुभव करते हैं और उस इच्छित पदार्थकी प्राप्तिद्वारा इच्छारूपी कीचड़ धोकर अपने हृदयको निश्चल पाते हैं और हृदयकी निश्चलतामें सुखका अनुभव करते हैं। इससे स्पष्ट हुआ कि सुख केवल हृदयको इच्छासे खाली करनेमें है, चाहे पदार्थकी प्राप्ति करके उसको खाली करलें, अथवा विचार-सत्संगद्वारा पदार्थोंसे वैराग्य करके। भेद इतना ही है कि जिस विषयकी प्राप्तिद्वारा इच्छा निवृत्त हुई है वह विषयजन्य सुख क्षणिक होता है, क्योंकि जहाँ उस विषयकी इच्छानिवृत्तिद्वारा क्षणभरके लिये हृदय निश्चल हुआ, वहाँ तत्काल दूसरी इच्छा हृदयको चञ्चल कर देगी। तथा विचार-वैराग्यद्वारा जो इच्छानिवृत्ति है, वह निर्विषयक होनेसे और केवल त्याग ही उसका विषय होनेसे स्थायी है, अर्थात् पदार्थोंमें अज्ञानद्वारा सुखरूपताका जो भ्रम हो रहा था, वह भ्रम विचार-वैराग्यद्वारा निवृत्त हो जाता है, इसलिये फिर इच्छा होती ही नहीं। चाहे कुछ भी हो, सुख मिलेगा केवल इच्छासे पल्ला छुड़ानेपर ही। जब ऐसा है तब

प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम् ।

अर्थात् कीचड़ लपेटकर धोनेसे कीचड़से दूर रहना ही श्रेष्ठ है। गीता अध्याय २ के अन्तमें इसीलिये भगवान्‌ने हाथ उठाकर कह दिया है—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥
विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः । (गी० अ० २
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ श्लो० ७०, ७१.)

अर्थः—जैसे सब ओरसे परिपूर्ण अचल प्रतिष्ठावाले समुद्र में नाना नदियोंके जल प्रवेश करके उसको क्षोभित नहीं करते, उसी प्रकार जिस गम्भीर हृदयमें कामनाएँ किसी प्रकार विकार उत्पन्न किये बिना समा जाती हैं, वही शान्तिको प्राप्त होता है न कि कामकामी-पुरुष। जो सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर इच्छारहित, ममतारहित व अहंकाररहित विचरता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है।

चाह चमारी चूहड़ी चाह नीचन की नीच ।
तू तो पूर्ण ब्रह्म था जो चाह न होती बीच ॥

इससे सिद्ध हुआ कि सुख केवल इच्छाकी निवृत्तिमें है। जिस प्रकार वायुद्वारा हिलते हुए दर्पण या पानीमें हमारे मुख का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता और वायुके निःस्पन्द कालमें ठहरे हुए दर्पण वा जलमें हमारे मुखका प्रतिबिम्ब स्पष्ट भासता है; इसी प्रकार इच्छारूपी वायुके वेग करके हिलते हुए अन्तःकरणमें हमारे वास्तविक सुखस्वरूप आत्माका आभास नहीं पड़ सकता और इच्छाशून्य अन्तःकरणमें उसका भलीभाँति

भान होता है। इस रीतिसे सुखकी प्राप्ति तो होती है केवल सुखस्वरूप आत्माका निश्चल अन्तःकरणमें आभास ग्रहण करने से ही, परन्तु चूँकि पदार्थकी प्राप्ति तथा निश्चल अन्तःकरणमें आत्म-आभास, एक ही कालमें होता है, इसलिये बुद्धि को यह भ्रम हो जाता है कि विषयसम्बन्धसे ही सुख मिला। यदि विषयसम्बन्धसे ही सुखकी प्राप्ति मानी जाय, तो सुखरूप विषयकी प्राप्तिके पश्चात् हमको दुःख कदापि नहीं होना चाहिये तथा सुखकी इच्छा निवृत्त हो जानी चाहिये, परन्तु ऐसा तो नहीं होता। इससे यह स्पष्ट है कि सुखरूप विषय नहीं, सुखरूप केवल आत्मा ही है और सुखप्रतीति कालमें विषयसम्बन्धसे सुख नहीं था, किन्तु इच्छानिवृत्तिद्वारा सुखस्वरूप आत्माके आभाससे ही सुख था। क्योंकि सुखका निमित्तभूत कोई तीसरी वस्तु तो हो नहीं सकती, या तो इच्छितवस्तुकी उपलब्धि ही निमित्त हो सकती है, या निश्चल अन्तःकरणमें आत्म-आभास। इससे स्पष्ट है कि सुख वास्तवमें कहीं बाहर नहीं है, बल्कि सुख केवल हमारे अन्तरात्मासे ही निकलता है। कैसे आश्चर्य की बात है कि हम आप ही इच्छा खड़ी करके अपनी दृष्टियोंसे उन भोग्यपदार्थोंको मनोहरता प्रदान करते हैं और फिर आप ही उनके पीछे भाग पड़ते हैं।

यदि विचारको कुछ और आगे बढ़ाया जाय तो स्पष्ट होगा कि सुख वास्तवमें इच्छाकी निवृत्तिमें भी नहीं। इच्छाकी निवृत्ति सुखकी प्राप्ति में सहायक है जरूर, परन्तु साक्षात् सुख को प्राप्त करनेवाली नहीं, बल्कि परम्परा करके सुखको देने वाली है। सुखकी साक्षात् प्राप्ति है अहंकारके निवृत्त होने में। अहंकारके उत्पन्न होते ही इच्छाकी उत्पत्ति होती है, इच्छा उत्पन्न होकर अहंकारको दृढ़ करती है और उसी समय दुःख

सुखकी साक्षात् प्राप्ति केवल अहंकार से पल्ला छुड़ानेमें है।

सिर झुकाकर सलाम कर लेता है—'हुजूरके बोलवाले रहें, खादिमको कैसे याद फरमाया गया? खादिम हर तरह खिदमतके लिये हाजिर है'। जब इच्छा निवृत्त होती है, तब इच्छा-निवृत्ति कालमें अहंकार भी लय हो जाता है, जैसे वायुके निःस्पंदकालमें सौम्यजलमें तरङ्ग लय हो जाता है और तब साथ ही दुःख भी पीठ दिखाता होता है। जैसे हमको हमारे घ्राणका तभी पता लगता है जब कोई गन्ध हमारे सम्मुख होती है, अथवा रसनाका तभी ध्यान होता है जब किसी रसका उससे सम्बन्ध होता है; इसी प्रकार अहंकारकी प्रतीति तभी होती है जब कोई इच्छा सम्मुख खड़ी होती है। क्रोध, लोभ, मोह एवं भय आदि मनोवृत्तियाँ तो इच्छाके परिणाममें ही उत्पन्न होती हैं, इच्छा ही इन सबका मूल है। जैसे वायुके निःस्पन्द होनेपर जलमें तरङ्ग लय हो जाती हैं और तरङ्गके लय हुए सौम्य जल अपने-आपमें प्रकाशता है, इसी प्रकार इच्छारूपी वायुके निःस्पन्द हुए अहंकाररूपी तरङ्ग भी लय हो जाती है और अहंकाररूपी तरङ्गके लय हुए ही सुखस्वरूप आत्मा अपने-आपमें प्रकाशता है। अर्थात् इच्छा अपनी निवृत्ति-द्वारा अहंकारको निवृत्त करके ही सुखसाधनरूप होती है, अन्य रूपसे नहीं।

इससे सिद्ध हुआ कि इच्छानिवृत्ति कालमें जब अहंकार भी खोया हुआ रहता है, तभी हम सुखका मुँह देखते हैं, अन्यथा नहीं। विषयभोग भी हमको केवल उसी समय सुख देते हैं, जब कि हम उनके भोक्ता नहीं रहते। हम भोगोंका सुख भी भोगें और उनके भोक्ता भी बने रहें, यह दोनों बातें एक साथ नहीं निभ सकतीं। भोग केवल उसी कालमें हमें आनन्दित करेंगे, जब कि हमारा भोक्तृभाव उनपर बलिदान चढ़ चुका होगा। अर्थात् भोक्तापनसे छूटकर भोग्यरूप बन

कर ही हम भोगोंका रस ले सकते हैं, भोक्ता बने रहकर ही कदापि नहीं।

उपर्युक्त व्याख्यासे सिद्ध हुआ कि सुख एकमात्र अहंकार से पल्ला छुड़ानेमें है, चाहे विषयसम्बन्धी सुख हो चाहे परमार्थ सम्बन्धी। विषयभोग भी अपनी प्राप्तिकालमें यद्यपि किसी क्षणके लिये अहंकारसे छुट्टी दिलाते हैं, परन्तु साथ ही अहंकारकी जड़को निकालनेमें सहायक नहीं, इसके विपरीत अहंकारकी जड़को पातालपर्यन्त दृढ़ करनेमें ही अपनी सहायता देते हैं, जिसके परिणाममें वास्तविक सुखप्राप्तिके बजाय नरकादिककी यम-यातना ही पल्ले पड़ती है। जिस प्रकार कोई मदिरा-प्रेमी मदिरासेवनसे कुछ कालके लिये देहाध्याससे छुटकारा पाकर अपने-आपको सुखी मानता है, परन्तु उसके निरन्तर सेवनसे चुपके-चुपके फेफड़े गलने लगते हैं, क्षय-रोग उसकी गर्दन पकड़ लेता है और उसकी हड्डियोंको छलनी बना डालता है। ठीक, यही गति विषयप्रेमीकी विषयोंके सम्बन्ध से होती है। सारांश, सुखका चमत्कार तो हुआ था उपर्युक्त रीतिसे अहंकार व इच्छाकी निवृत्तिद्वारा हमारे अन्तरात्मा से, परन्तु अज्ञान करके सुख आया हुआ जानते हैं हम उन विषयोंसे। इसी अज्ञानसे विषयों की इच्छा कर-करके हमारी गति कुञ्जरके स्नानके तुल्य हो जाती है और कुञ्जर (हस्ति) की भाँति हम आप ही अपने मस्तकपर विषयरूपी धूल डालते रहते हैं। एक पुरुषने एक सुन्दर गुलाबके पुष्पको देखकर सूँघनेके लिये तोड़ा। ज्यों ही उसको नाकतक ले गया कि एकदम चिल्ला उठा। जानते हो! इसके अंदर क्या था? एक शहदकी मक्खी उसके अन्दर छुपी हुई थी, उसने अपना आहार कर लिया। इसी प्रकार इन रमणीय पदार्थोंको सुन्दर जानकर आप इनको भले ही भोगें, परन्तु इनके भीतर जो विष छिपा हुआ है,

वह आपको भोगे बिना न रहेगा। मिथ्या भासमान पदार्थोंमें मन फँसा बैठनेके कारण, 'अरे! मेरा कलेजा फट गया,' 'हाय! मैं मारा गया,' इस प्रकार रुलाये बिना वह विष पीछा न छोड़ेगा। आखिर ईश्वरसम्बन्धी सत्यता तुमने इन मिथ्या पदार्थोंमें आरोपण क्यों की? इस रीतिसे विषयप्रवृत्ति सुखको बुलानेके बजाय अन्तमें दुःखको ही निमन्त्रित करती है। अपने आचरणमें आया हुआ तथा धोया-पीया हुआ 'धर्म' ही एकमात्र ऐसा अमृत है, जो शनैः-शनैः अधिकारानुसार इच्छारूपी कूकरीसे पल्ला छुड़ाकर इस दुःखरूप अहंकारकी मूलको निकाल फैंकता है और नित्य-निरन्तर अक्षयसुखका भागी बनाता है। इस धर्मरूप, कल्याणस्वरूप शिवको मेरा हार्दिक नमस्कार है। हे देव! तू धन्य है! कि तूने मेरी अपनी छातीसे छाती, हाथसे हाथ और अपने स्वरसे स्वर मिलाया, जिससे मैं तेरे अपने गीत गानेमें समर्थ हुआ।

स्वधर्म क्या है?

अब प्रश्न होता है कि वह कौनसी चेष्टाएँ हैं, जिनको धर्मरूपसे धारण किया जाय, जिनके द्वारा इस दुःखस्वरूप अहंकारकी मूलको निकाल फैंका जा सके? इस विषयमें भगवान्‌ने गीतामें अर्जुनके प्रति उपदेश किया है:-

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः (अ० ३ श्लो० ३५)

अर्थः— पराये धर्मको भली भाँति आचरणमें लानेसे अपना थोड़ा गुणरहित धर्मका वर्ताव भी श्रेष्ठ है, अपने स्वधर्मको वर्तते-वर्तते मरजाना श्रेष्ठ है परन्तु पराया धर्म (अधिकार-भिन्न धर्म) भयदायक है।

जिस प्रकार रोगीके लिये उसके दोषोंके अधिकारके अनुसार यदि एक दमडीकी भी औषध दी गई तो वही उसकी रोगनिवृत्ति में सहायक हो सकती है, बहुमूल्य औषधसे कुछ न बनेगा। ठीक, इसी प्रकार जिस अधिकारपर वर्तमान कालमें चित्त है, उसके अनुसार की जानेवाली चेष्टा ही उसको ऊँचा उठाकर शनैः-शनैः जीवसे शिवरूपको प्राप्त करा सकती है। जैसे बीजको पृथ्वी में दबानेके उपरान्त फलकी प्राप्तिपर्यन्त उसको दिन-दिन सैंकड़ों अवस्थाओंमेंसे गुजरना पडता है। बीजको पृथ्वीमें दबानेके उपरान्त वह फूलता है और अपनी कोमल जड़ पृथ्वीमें फैलाने लगता है। इधर बीज फूलकर बीचमेंसे ठीक दो दाल बनकर फूठ जाता है, वह दाल झडकर खादका काम देती है और उसके अन्दरसे एक नयी ही वस्तु, जिसका देखनेमें बीजसे कोई सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता, निकल आती है जिसमें दो कोमल पत्तियाँ होती हैं। वहीं ज्यूँ-ज्यूँ अपनी जड़ नीचे फैलाती है, त्यूँ-त्यूँ ऊपर को पत्ते, टहनी व तनेके रूपमें फैलती-फैलती दृढ़ होकर और असंख्य अवस्थाओंमेंसे गुजरकर फूलको निकाल देती है तथा फूलमेंसे ही फल निकल पड़ता है। यदि इस बीजको बीचकी किसी भी अवस्थामें गुजरनेसे रोक दिया जाय तो वह कदापि फलके सम्मुख नहीं हो सकेगा, जबतक उस अवस्थाकी पूर्ति न करले। ठीक, इसी प्रकार हृदयक्षेत्रमें अधिकारानुसार धर्मरूपी बीज आरोपण करनेकी आवश्यकता है, उसमें बारम्बार अभ्यासरूपी जल सींचनेकी जरूरत है तथा बहिर्मुखी कुसङ्गरूपी डंगरोंसे उसकी रक्षा उपयोगी है। यह हो गया तो फिर इसके निमित्त विशेष कर्तव्यकी जरूरत नहीं, ज्यूँ-ज्यूँ इसकी जड़ें त्यागरूपी शिवमें अन्दरकी तरफ फैलेंगी, त्यूँ-त्यूँ यह बाहर विस्तार पाता जायगा और सांसारिक सुख (अभ्युदय) रूपी नाना अवस्थाओंमेंसे गुजरता-हुआ निःश्रेयसरूप मोक्षफल पा

जायेगा। स्वधर्मका अर्थ केवल वर्णाश्रम-धर्म ही न ले लेना। स्वधर्मका व्यापक अर्थ यह है कि जिस किसी भी शुभ चेष्टामें स्वाभाविक चित्तका लगाव हो, उसके लिये वही स्वधर्म हो सकता है। प्रकृतिका नियम है कि चित्त जिस अधिकारका होगा, अपने अधिकारानुसार चेष्टाके साथ स्वभाविक ही उसका लगाव हो जायगा और उस स्वभाविक चेष्टासे लगकर ही चित्त ऊँचा उठाया जा सकता है। जिस तरहसे बीजमेंसे सब अवस्थाएँ अपने-अपने समयपर उसके अन्दरसे आप निकल आती है, उसी प्रकार धर्मरूप स्वाभाविक चेष्टाओंमेंसे भी शेष अवस्थाएँ अपने-आप उसके अन्दरसे निकलेंगी। इसी लिये ताकीद की गयी है —

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः (गी० अ० १८ श्लो० ४८)

अर्थ—हे कौन्तेय ! स्वभावसिद्ध कर्म चाहे सदोष भी हो तोभी उसका परित्याग न करे, क्योंकि सभी कर्म इसी प्रकार आरम्भमें दोषोंसे घिरे हुए हैं जैसे अग्नि धूमसे। अग्निको स्वच्छ व निर्मल करनेके लिये जैसे धूममेंसे होकर निकलना जरूरी है, वैसे ही मनुष्यको निर्मल करनेके लिये भी स्वभाव-सिद्ध कर्मोंमेंसे होकर निकलना जरूरी है। यही स्वधर्मका व्यापक अर्थ है। (विस्तार के लिये देखो पृ० ३३ से ३६)

धर्म व अधिकारका परस्पर सम्बन्ध

धर्म व अधिकारका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है, धर्म व अधिकारको भिन्न-भिन्न नहीं किया जा सकता। धर्म ही अधिकार है और अधिकार ही धर्म है। अधिकारानुसार वर्ता हुआ धर्मका कोई भी अङ्ग शेष सब अङ्गोंको इसी प्रकार खींच लाता है, जैसे जञ्जीरकी एक कड़ी

पकड़कर खींचनेसे सारी जञ्जीर खिंची चली आती है, अथवा मनुष्यकी एक अङ्गुली पकड़कर खींचनेसे शेष सब अङ्ग खिंचा चला आता है, धर्मके सब अङ्गोंमें भी परस्पर ऐसा ही घनिष्ट सम्बन्ध है। इसी लिये आवश्यकता है धर्मके किसी भी अङ्गको वास्तविक रूपसे व्यवहारमें लाने की, हाथ-पाँवमें उतर आने की। फिर शेष सब अङ्ग अन्दरसे इसी प्रकार निकल पड़ेंगे, जैसे छोटेसे बीजसे बड़े विस्तारवाला वृक्ष निकल पडता है। अग्निकी एक चिनगारी भी यदि जीती-जागती है तो वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको भस्म करनेमें समर्थ है। इसी प्रकार धर्म का कोई भी अङ्ग वास्तविकरूपमें वर्ता हुआ दुःखरूप संसार को भस्मकर निरन्तर अक्षय आनन्दकी झाँकी करा सकता है। प्रकृतिदेवीने इस जीवको शिवरूपमें पहुँचानेका भार तो अपने सिरपर उठा ही लिया है, अब जरूरत है मार्ग चल पड़ने की, जिस स्थानपर हम खड़े हुए हैं उससे आगे क़दम उठाने की। यदि आपको छतके ऊपर चढ़ना मंजूर है तो आपको चाहिये कि अपना एक क़दम सबसे नीची पौड़ीपर मजबूतीसे जमा ले, जब इस पौड़ीपर क़दम जम गया तो दूसरा कदम बिना किसी रोक-टोकके अपने-आप उठकर दूसरी पौड़ीपर पहुँच जायगा। इस प्रकार आप खट-खट करते हुए बिना किसी बाधाके छतपर पहुँच जायँगे। इसके विपरीत यदि आपने बीचकी किसी पौड़ी को छोड़कर छलाँग मारकर जानेकी चेष्टा की तो आप धमसे उलटा नीचे गिर पड़ेंगे और सिर फुड़ा लेंगे। अन्ततः छतपर पहुँचनेके लिये आपको इस पौडीपर पाँव टिकाकर ही जाना होगा, फिर मुफ्तमें सिर फुड़ानेसे क्या लाभ? ठीक, इसी प्रकार यदि आप नाम-रूप संसारसे ऊपर जाना चाहते है तो आपको चाहिये कि जिस सोपान (पौडी) पर आप अपना पाँव टिका सकते हैं, उसपर दृढ़तापूर्वक अपना पाँव जमा ले। यह

होगया तो प्रकृतिदेवीके रचे हुए अन्य सोपानोंको आप विना किसी वाधाके अपने-आप लाँघते चले जायेंगे, कोई शक्ति आपको ऊपर जानेसे रोक नहीं सकेगी। पानीका वहाव उल्टा चल पड़ा है यानी पर्वतोंकी ओर वहने लग पड़ा है, अर्थात् जीव का प्रवाह जो जड़तारूप भोगोंकी ओर चल पड़ा है, जरूरत केवल इतनी ही है कि इसका प्रवाह अधर्मरूप जड़तासे मोड़कर सीधा कर दें धर्मरूप समुद्रकी ओर, फिर कोई चिन्ता नहीं। प्रवाह अपनी गतिके साथ चलता हुआ ब्रह्मरूपी समुद्रमे आप जा मिलेगा, कोई शक्ति वाधा डालनेमे समर्थ नहीं है। स्वय भगवान्‌ने गीतामे पक्का लिख दिया है —

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।

न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गति तात गच्छति ॥ (गी० ६. ४०)

अर्थ :—हे पार्थ! न इस लोकमे ही उसका नाश हो सकता है और न परलोकमे ही, क्योंकि हे तात्! कल्याणका करनेवाला दुर्गतिको जा ही नहीं सकता।

मरके भी उसको वलात्कारसे उसी ओर इसी प्रकार खिंचना पड़ेगा, जैसे पक्षी पेटीसे वॅधा हुआ खींचा जाता है। यदि आपने किसी दरजे (पौड़ी) पर विना पाँव टिकाये छलाँग मारनेकी चेष्टा की तो आप नीचे गिरेंगे और चोट खा लेंगे, आखिर मरहम-पट्टीसे छुटकारा पानेके पीछे फिर भी आपको उस पौड़ी के ऊपर पाँव जमाकर ही ऊपर जाना होगा, इसके विना छुटकारा है ही नहीं। यह कानून वड़ा ठोस है, जोकि उल्लङ्घन नहीं किया जा सकता। यह वात तो सवको ही स्वीकार करनी पड़ेगी कि वल घृतमें नहीं है, वल केवल उस भोजनमे है जिसको जठराग्नि पचा ले। यदि घृतमे ही वल माना जाय तो ज्वर-पीड़ित रोगीको घृत पिला देखिये, घृतके सेवनसे वह वलिष्ट

होता है या दुर्बल। हाँ, रूखा अन्न खाकर तो वह बलवान् हो सकता है, रूखे अन्नसे बल प्राप्त करते-करते वह फिर घृतको भी पचा जायगा और उससे भी बल प्राप्त कर लेगा, परन्तु अपने अधिकारको स्थिर रखकर। जिस प्रकार बच्चा अपनी माताका स्तन-पान करते-करते दाँत निकाल लेता है, फिर अन्न भी खाने लग पड़ता है और कच्चे चने भी चबा लेता है। ठीक, यही व्यवस्था धर्मसम्बन्धमें है। प्रत्येक प्राणी अपने चित्तके अधिकारानुसार धर्मको आचरणमें लाता हुआ 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम' उस परम धामको प्राप्त कर जाता है, जिससे फिर लौटना नहीं पड़ता। यही स्वधर्मका व्यापक अर्थ है।

जहाँ संकीर्णता है वहाँ कृपणता है, जहाँ कृपणता है वहाँ जड़ता है और जहाँ जड़ता है वहाँ चोटोंका पड़ना स्वाभाविक ही है। तथा जहाँ विशालता है वहाँ उदारता है, जहाँ उदारता है वहाँ कोमलता है और जहाँ कोमलता व द्रवता है वहाँ चोटोंसे क्या सम्बन्ध? सोना (धातु) जब ठोस जड़ावस्थाको प्राप्त है तब अहरन व हथौड़ेकी चोटसे बच नहीं सकता। परन्तु अग्निके संयोगसे जब वह द्रवीभूत होगया और अपने असली स्वभावको प्राप्त होगया, फिर उसका चोटोंसे क्या सम्बन्ध? वह तो अब सर्वरूप है, जैसे-जैसे साँचेकी उपाधिको प्राप्त होगा, वही रूप धारण करनेको तैयार है। अग्निके सम्बन्ध बिना उसको एक रूपसे दूसरे रूपमें बदलना असम्भव था, अब उसको मनमाने रूपमें बदल सकते हैं। इसी प्रकार जीवके सम्बन्धमें जितनी-जितनी अहंकारकी जड़ता है, उतनी-उतनी ही कृपणता है और उतनी-उतनी ही हृदयबेधी दुःखोंकी चोटों का सहना अनिवार्य है। इन चोटोंसे बचनेके लिये तथा जीव से शिवरूपमें बदलनेके लिये जरूरी है कि इसको धर्मरूपी अग्निके संयोगसे कोमल व द्रवीभूत किया जाय। इस उद्देश्य

की पूर्तिके लिये जितने साधन हो सकते हैं, उनको प्रवृत्तिप्रधान व निवृत्तिप्रधान दो ही भागोंमे विभक्त कर सकते हैं। प्रवृत्ति-प्रधान साधन वह है कि जिसके द्वारा व्यक्तिगत स्वार्थ व व्यक्ति-गत अहंताका विस्तार करते हुए और कुटुम्ब, जाति व देशके स्वार्थ व अहन्तासे जोडते हुए 'वसुधैव कुटुम्बकम्' (अर्थात् सब पृथ्वी ही हमारा कुटुम्ब है।) के रूपमे इस स्वार्थ व अहन्ताकी पूर्णाहुति दे दी जाय। संक्षेपसे जिसका निरूपण 'पुण्य-पापकी व्याख्या' मे किया जा चुका है। इन साधनोंमें प्रवृत्तिका संकोच न होकर इसका विस्तार किया जाता है और विस्तारके साथ-साथ इसको पतला करते-करते इसका लय किया जाता है। निवृत्तिप्रधान साधनका संक्षेपसे नीचे निरूपण किया जाता है। इसमें प्रवृत्तिका विस्तार न होकर प्रवृत्तिको गलाया जाता है। जिस प्रकार सुवर्णकी डलीको फैलानेके दो ही साधन हो सकते हैं, एक इसको कूट-कूटकर फैलाया जाय, दूसरे इसको गलाकर। इसी प्रकार अहंकारकी जडताको फैलानेके लिये भी या तो इसे प्रवृत्तिद्वारा कूट-कूटकर फैलाया जा सकता है, अथवा निवृत्तिद्वारा गलाकर। अधिकारभेदसे प्रवृत्तिमुखीन व निवृत्तिमुखीन साधनोंकी प्रकृतिने रचना की है, इनके लक्ष्यका भेद नहीं है, लक्ष्य दोनोंका एक त्याग ही है।

१) पामर पुरुष

संसारमें जितने भी मनुष्य हैं उनको चार प्रकारकी कोटि मे विभक्त किया जा सकता है, (१) पामर, (२) विषयी, (३) जिज्ञासु और (४) ज्ञानी। इनमेंसे प्रथम पामर-पुरुषका वर्णन किया जाता है। पामर कोटिमें वे मनुष्य समझे जा सकते हैं, जिनके

पामर पुरुषका लक्षण और उसके प्रति उपदेश

जीवनका उद्देश्य केवल विषयभोग ही है और जो केवल शिश्नोदरपरायण हैं। विषयभोगकी पूर्तिमें जिन्होंने पशुओंको भी पीछे छोड़ दिया है। जिन्होंने विषयोंकी धधकती हुई प्रचण्ड अग्निमें तन-मनकी आहुति देनेके लिये कुलकी मर्यादाको नमस्कार कर लिया है, जातिकी मर्यादाको ठुकरा दिया है, लोकमर्यादाको दूरसे ही हाथ जोड लिये हैं और धर्मकी नीतिको भी चुपकेसे ताकमें तह करके रख दिया है। सब प्रकारके बन्धनोंसे छुटकारा पा लिया है और सब मर्यादाओं से आज़ाद हो गये हैं। परन्तुः—

क्या यह आजादी है ? हाय ! यह तो आजादी नहीं।
गोयेचोगाँ[1] की परेशानी है, आजादी नहीं ॥
अस्प[2] हो आज़ाद, सर पर कैद होता है सवार।
अस्प हो मुत्लक़-इनाँ[3] हैरान, रोता है सवार ॥
इन्द्रियोंके घोड़े छूटे बाग-डोरी तोड़ कर।
वो गिरा ! वो गिर पड़ा !! अस्वार सर-मुँह फोड़ कर ॥

भैया ! घोड़ेको आज़ाद करके आज़ाद होना चाहते हो, काँटेदार झाड़ियोंमें फँसोगे, गड्ढोंके अन्दर धसोगे, सिर-मुँहकी खाओगे, जहाँ दाँत पीसना ही होगा। इस प्रकार मर्यादा-रूप बन्धनोंको तोड़कर तो उल्टा बन्धनोंमें फँसना पड़ेगा। यह गोरखधन्धा किसी ऐसे-वैसेका रचा हुआ नहीं, जो सहज ही निकल भागोगे। अपने-आप यह गोरखधन्धा नहीं सुलझने का।

---

१ मैदानका गेंद, अर्थात् फुटबाल। २ घोड़ा।
३ खुली लगामवाला।

बन्दरकी भाँति थे तो उल्टा अपना हाथ आँतों तरोंके बीच में फँसा लोगे। किसी सद्गुरुकी शरणमें जाओ, वह तुम्हारे गोरखधन्धेकी कड़ी सुलझानेका रास्ता बतला देगा। फिरसे तख्तोंके बीचमें पत्थर ठोककर तुम्हारा दबा हुआ हाथ निकाल देगा, फिर तुम आज़ाद ही आज़ाद हो। तुम तब शरीर से भी आज़ाद, इन्द्रियोंसे भी आज़ाद, फिर तो सारे संसारमें तुम्हारा ही राज्य है। सूर्य-चन्द्रमा सब तुम्हारी सेवाके लिये हाज़िर हैं, पृथ्वी-नक्षत्र सब तुम्हारी परिक्रमाके लिये उपस्थित हैं। परन्तु मनके साथ बँधे रहकर शरीर व इन्द्रियोंसे आज़ाद होना चाहते हो, यह हो कैसे सकता है? गौका बछा जिस प्रकार खूँटेसे बँधा रहकर रस्सेसे आज़ाद होना चाहे तो वह कैसे हो सकता है? वह तो उल्टा अपने गलेमें अधिकाधिक बन्धन पाता जायगा। इसी प्रकार मेरी जान! आज़ाद होना

---

१. दो बढ़ई एक बड़े भारी लकड़ीके लट्ठेको चीर रहे थे, बढ़ई लोग अपने कार्यकी सुगमताके लिये चीरे हुए लकड़ीके भागमें एक लकड़ी की मेख़ ठोक देते हैं, जिससे शेष चिराई शीघ्रतासे हो जाय। जब वे लोग मध्याह्नके समय भोजन करनेको अपने घर गये तब पीछेसे एक बन्दर आया। बन्दर स्वभावसे चञ्चल होता ही है, उसने लकड़ीके लट्ठेपर बैठकर अपनी चञ्चलताके कारण उस मेख़को ज़ोरसे खींचा। बहुत ज़ोरसे खींचनेपर मेख़ लट्ठेमेंसे निकल गई और उसका हाथ चीरे हुए दोनों तख्तोंके बीचमें फँस गया। हाथका फँसना था कि वह बड़ी व्याकुलतासे चिल्लाया, इतनेमें बढ़ई आ गये उन्होंने फिरसे तख्तोंके बीचमें मेख़ ठोककर उसका दबा हुआ हाथ निकाला।

इसी प्रकार यह संसाररूपी भारी लकड़ीका ठोस लट्ठा है, सद्गुरु व सच्छास्त्ररूपी दो बढ़ई इस संसाररूपी लट्ठेको चीरनेके लिये उद्यत हुए हैं। इस विचारसे कि यह संसाररूपी लट्ठा शीघ्रतासे व सुगमतासे

चाहते हो तो मनरूपी खूँटेको तोड़ो, इससे छुटकारा पाओ, तब तुम शरीर व इन्द्रियोंसे भी अपने-आप ही आज़ाद हो। अन्यथा तो अपने गलेको बछड़ेकी भाँति अधिकाधिक फँसाते जाओगे। और मनसे आज़ाद तभी हो सकते हो, जब कि उपर्युक्त मर्यादाओंके अधीन तुम्हारा व्यवहार हो। मर्यादाओंके अधीन रहकर ही तुम मर्यादाओंसे छुटकारा पा सकते हो, और कोई उपाय है ही नहीं, चाहे कितना ही सिर पटक लो। जिस प्रकार नदीका जल किनारोंकी मर्यादामें चलकर ही बहरे-बेकिनार तटविनिर्मुक्त-सागर बन सकता है, किनारे तोड़कर कदापि नहीं। इसी प्रकार धर्मोक्त सकल प्रवृत्तियाँ भी तुमको

चीरा जाय उन्होंने इसमें मर्यादारूपी मेख ठोक दी है। जब वे अपना कुछ कार्य करके विश्राम करने लगे तो पीछेसे पामर जीवरूप मर्कट आता है, संसारमर्यादारूपी मेखकी अवहेलना करके उसको तोड़ देता है और संसाररूपी लट्ठेके पूर्णरूपसे चीरे जानेके पहले ही वह मर्यादा-रूपी मेखको तोड़कर आज़ाद होनेके लिये उतावला हो रहा है। यद्यपि संसाररूपी लट्ठा पूर्णरूपसे चीरा जाकर यह मर्यादारूपी मेख भी निकाल डालनेके लिये ही थी, परन्तु यह तो पहले ही मर्यादा तोड़कर आज़ाद हुआ चाहता है। इस प्रकार इस पामर-जीवरूपी मर्कटने ज्ञानरूपी आरेसे इस संसाररूपी लट्ठेको चीरनेसे पहले ही मर्यादारूपी मेखको तोड़ तो दिया, परन्तु कर्मोंका कर्ता व भोक्ता बना रहनेके कारण, उन दुष्ट कर्मोंके प्रतिकाररूपमें आध्यात्मिक, आधिदैविक व आधिभौतिक त्रिविधतापरूपी सांसारिक तख्तोंने चहुँ ओरसे इसके हाथ-पाँवको जकड़ लिया लिया आज़ादीका मज़ा? अब चिल्लाता है, सिर पीटता है!! परन्तु निकलनेका तो और कोई उपाय है ही नहीं। अन्ततः रो-पीटकर जब यह फिर उन सद्गुरु व सच्छास्त्ररूपी बढ़इयोंकी शरणमें जाय तब वे भी और कोई उपाय न देख, फिर मर्यादारूपी मेखको तख्तोंके बीचमें ठोंककर ही इसके दबे हुए शरीरको निकाल सकते हैं।

अन्तमें सकल बन्धनोंसे छुटकारा दिलानेके लिये ही ज़ुम्मेवार बन रही हैं। परन्तु तुम तो बीचमें ही छुटकारा पानेके लिये उतावले हो रहे हो। अच्छा, किनारे तोड़कर नदी के जलके समान संसाररूपी गड्ढों में न गिरो और सड़-मड़कर न सूखो तो कहना! स्मरण रहे कि धर्म तुमको किसी भी विषयसे वञ्चित रखना नहीं चाहता, बल्कि समय-समय पर सभी विषय योग्य मात्रामें योग्यतानुसार भुगताकर और वहाँसे तृप्त कराके, जहाँसे यह सब सुख निकलते हैं उन सुखोंके घर सब आनन्दोंके उद्गम-स्थानकी ओर उठा ले जानेका भार इसने अपने ऊपर लिया हुआ है। परन्तु एक तुम हो कि इन्द्रकी[1] भाँति सूकररूप धारण करके विष्ठापर ऐसे गिरते हो कि मुँह ही नहीं उठाते। काँसीके सिक्केकी[2] महाराणीकी छापपर इतने लट्टू होगये हो कि मोहरकी याद ही नहीं आती। उस पवित्र धर्मकी यहाँतक तुम्हारे लिये भारी उदारता है कि संसारमें निन्दितसे निन्दित कार्य पशु-धर्मरूप व्यभिचार भी विवाह-संस्कारके द्वारा ऐसी पवित्र व उत्तम रीतिसे धर्मरूपसे रचा गया कि धर्मानुकूल मर्यादामें वर्तकर आप इसके द्वारा ईश्वरके प्रेम-पात्र हो सकते हैं और भोग व मोक्ष दोनोंके अधिकारी बन सकते हैं।

---

१. एक बार इन्द्रने स्वप्नमें सूकरका शरीर धारण किया और विष्ठा खाने लगा यह देख देवताओंको लाज आई और उन्होंने उसे जगाया। इसी प्रकार यह इन्द्ररूपी जीव अज्ञान-निद्रामें भोगरूपी विष्ठापर गिर रहा है।

२. जिस प्रकार काँसीकी धातुपर महाराणी विक्टोरियाकी छाप हो तो मूर्ख लोग मिथ्या धातुको उस छापके कारण सत्य जानकर ग्रहण कर लेते हैं। इसी प्रकार यह संसारिक भोग स्वयं काँसीके समान मिथ्या होते हुए भी उस अधिष्ठान सत्तारूपी महाराणीके सान्निधान के कारण अज्ञानियोंद्वारा सत्यरूप ग्रहण किये जा रहे हैं।

धार्मिक विवाहका उद्देश्य

क्या धर्मसम्बन्धी विवाहका उद्देश्य केवल विषयवासनाकी भधकती हुई अग्निमे भोगरूपी घृतकी आहूति देते रहना ही हो सकता है ?नहीं, कदापि नहीं। ऐसा करके तो आप इस रमणीय संसारको श्मशानरूपमें बदल देंगे, नन्दनवनको रौरव-नरक बना लेंगे, कुत्तोंकी भाँति भौंक-भौंककर मर जायेंगे, हथिनीके पीछे हाथीकी भाँति लगकर अपने-आपको संसाररूपी गड्ढेमें गिरा लेंगे। धार्मिक-विवाहका उद्देश्य तो यह था कि जीवमें वह जडता, जो उद्भिज्जादि योनियोंसे आरम्भ होकर अनन्त कालसे चली आ रही है और जीवका मनुष्ययोनिमें विकास होनेपर भी चिरकालीन सम्बन्धसे जिसका रहना स्वभाविक ही है, उस जडताको अब धार्मिक विवाह-संस्कारके द्वारा पिघलाया जाय। अर्थात् जीवका आत्मभाव (मैंपन) जहाँ अपने साढ़े तीन हाथके टापूमें ही घिरा हुआ है और उसीमें घर किये बैठा है, उससे आगे बढ़े और पिघलकर पवित्र धार्मिक प्रेमद्वारा अपनी धर्म-पत्नीमें पसर जाय। इस प्रकार सत्य व दृढ़ प्रेमकी अग्निमें वह 'मैंपन' पिघल-पिघलकर क्रमशः जहाँसे यह प्रेमका स्रोत निकल रहा है, उस प्रेमस्वरूप, आनन्दकन्द, मदनमोहनके चरणकमलोंसे सम्बन्ध पा जाय। परन्तु इसकी सिद्धि तभी हो सकेगी जबकि यह प्रवाह नदीके तटों के समान धार्मिक मर्यादामें चले। प्रेम ही भगवानका स्वरूप है, प्रेमसे भिन्न उसका और कोई रूप नहीं बनता। इसी लिये मनु आदिकोंने स्पष्ट रूपसे कह दिया है:—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।

अर्थः—जहाँ स्त्रियोंका आदर-सत्कार होता है वहीं देवता रमण करते हैं।

इस आशयकी पूर्ति एक पतिव्रत व एक पत्निव्रतके द्वारा ही हो सकती है, अन्यथा नहीं। इस प्रकार विषयवासना भी, जिसका अपने समयपर जीवमें प्रकट होना आवश्यक है, धर्मानुकूल सदुपयोगद्वारा ईश्वरप्राप्तिका साधन बनाई जा सकती है। यही आपके उदार धर्मकी पूर्ण उदारता है। इस प्रकार धार्मिक विषय-प्रवृत्ति विषयनिवृत्तिके लिये ही है। निकटवर्ती कालके भक्तशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदासजी और सूरदासजी आदि इस सिद्धान्तकी सत्यतामें ज्वलन्त दृष्टान्त हैं। धर्मशास्त्रमें विवाहसम्बन्धमें जितनी आज्ञाएँ हैं, वे साक्षात् या परम्पराद्वारा इसी सिद्धान्तकी पूर्तिके लिये हैं।

'वैताल' शब्दकी व्याख्या

अच्छा जी! कुछ भी हो हमारा काम कहना है, कोई माने तो भला, न मानेंगे तो प्रकृति, फुटबालकी भाँति चारों ओरसे ठोकरें मार-मार आप भीतरसे फूँक निकला लेगी। आखिर ब्रह्मासे लेकर चिउँटीपर्यन्त प्राणीमात्रके सिरपर जो यह वैताल सवार हो रहा है कि 'हम सुखी हों, और ऐसा सुख मिले जिसका कभी क्षय न हो' यह केवल मखौलके लिये ही नहीं है, बल्कि सचमुच पूरा होनेके लिये है। यह वैताल कभी दम न लेने देगा और कभी चैनसे बैठने न देगा, जबतक सोलह-आना इस उद्देश्यकी पूर्ति करा न ले, चाहे कोटि कल्प क्यों न बीत जाएँ। परन्तु मूढ़ पामर-पुरुष इस उद्देश्यकी पूर्ति तथा वैतालकी इस पहेलीका उत्तर विषयभोगके द्वारा देकर इसको मखौलबाजी में उड़ाना चाहते हैं, इससे उसका (वैतालका) कभी सन्तोष नहीं होने का। इस विषयमें उनकी गति ठीक उस मदमस्त शराबीकी जैसी है, जो शराबके नशेसे चकनाचूर हो गली-कूँचोंमे घूम रहा है और दीवारों व नालियोंसे टक्कर व चोटें खा-खाकर और सिर फुड़ा-फुड़ाकर आखिर अपना नशा उतरवा लेता है। ठीक, इसी

प्रकार जो मूढ़ पुरुष विषयोंके नशेमें मदमस्त हो आगा-पीछा न देखकर चल रहे हैं, उनको उस वैतालके डण्डेकी चोट सिर पर सहनी होगी, आखिर वे चोटें खा-खाकर अपना नशा उतरवा लेंगे और सीधे मार्गपर चल पड़ेंगे। यह भूत किसी कच्चे-पक्केका चढ़ाया हुआ नहीं, जो यूँ ही टूनोंसे ही उतर जाय और बातोंसे ही पीछा छोड़ दे। इसको किसीका लिहाज नहीं है। इससे अच्छा तो यह है कि पहले ही सीधी राह चल पड़ें, जिससे डण्डेकी चोटसे तो बचे रहें। प्रकृतिके उपर्युक्त नियमको हम आगे 'वैताल' शब्दसे प्रयोग करेंगे।

पामर पुरुषोंद्वारा किये जानेवाले यज्ञ-दानादिका स्वरूप

यद्यपि पामर पुरुषोंके सम्बन्धमें विशेष चर्चा करना सभ्यताके विरुद्ध है। प्रकृतिदेवीने स्वयं अपनी आँखें लाल-लाल करके अपने कठोर कुठारको परशुरामकी भाँति तीक्ष्ण बनाया हुआ है। हमको किसी प्रकार हस्तक्षेपकी क्या जरूरत है? वृथाही कटाक्ष करके हमें अपनेको क्यों कलुषित करना चाहिये? तथापि जिज्ञासुओंकी इससे निवृत्तिके अर्थ उन पुरुषोंकी स्वाभाविक प्रकृतिका थोड़ा निरूपण कर देना आवश्यक है। ऐसे पुरुष केवल तमोगुणप्रधान होते हैं और केवल आसुरी सम्पत्तिके ही धनी होते हैं। निद्रा, आलस्य, क्रोध, द्वेष, काम, घमण्ड, कठोरता इत्यादि उनकी दास-दासियाँ हैं, जोकि हर समय उनकी सेवामें हाजिर रहते हैं, योगिनीरूपसे उनके हृदयोंको काट-काटकर भक्षण करते और रक्तपान करते रहते हैं। ये लोग अनन्त अपवित्र संकल्पोंके जालमें बँधे रहते हैं, जिनका लक्षण गीता अध्याय १६ में इस प्रकार किया गया है:—

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योस्ति सदृशो मया (श्लो॰ १२.
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥ १४.१५)

अर्थः—इन पुरुषोंके संकल्प इस प्रकारके होते हैं:—मैंने आज यह तो पाया है, इस मनोरथको और प्राप्त होऊँगा, मेरे पास यह इतना धन तो है और इतना और भी हो जावेगा। मेरे द्वारा वह शत्रु मारा गया और दूसरे शत्रुओंको भी मारूँगा, मैं ईश्वर हूँ, ऐश्वर्यका भोगनेवाला हूँ और मैं सब सिद्धियोंसे युक्त बलवान् एवं सुखी हूँ। मैं बड़ा धनवाला और बड़े कुलवाला हूँ. मेरे समान दूसरा कौन है? मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा, हर्षको प्राप्त होऊँगा। इस प्रकारके अज्ञानसे वे विमोहित हैं।

ऐसे पुरुषोंके द्वारा दान-यज्ञ, विवाह-यज्ञ, तप-यज्ञ इत्यादि अनेक प्रकारके बहुमूल्य आचारोंका व्यवहार तो होता है, परन्तु सब ही पाप-यज्ञ हैं। जिनका मुख्य उद्देश्य केवल अहंकार व बड़ाईको पुष्ट करना ही होता है, जोकि सब दुःखोंका मूल है। जिनका लक्षण तमोगुणी रूपसे गीता अध्याय १७ में इस प्रकार वर्णन किया गया है।

विधिहीनमसृष्टान्नं मंत्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥ (श्लोक १३)

अर्थः—शास्त्रविधिसे हीन, अन्नदानसे रहित एवं बिना मंत्रों, बिना दक्षिणा और बिना श्रद्धाके किये हुए यज्ञको तामस यज्ञ कहते हैं।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ (श्लोक १९)

अर्थः—जो तप मूढतापूर्वक हठसे मन, वाणी और शरीर को पीड़ा पहुँचाकर अथवा दूसरेका अनिष्ट करनेके लिये किया जाता है, वह तामस कहा गया है।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ (श्लोक २२)

अर्थः—जो दान बिना सत्कार किये, तिरस्कारपूर्वक, अयोग्य देश-कालमें तथा कुपात्रोंके लिये अर्थात् मद्य-मांसादि अभक्ष्य वस्तुओंके खानेवालों एवं चोरी आदि नीच कर्म करनेवालोंके लिये दिया जाता है, वह तामसिक कहा गया है।

ऐसे पुरुषोंद्वारा विवाह आदिके अवसरपर प्रायः इसी प्रकारका दान किया जाता है तथा बड़े परिश्रमसे उपार्जन किये धनका ऐसे पवित्र समयमें आतिशबाजी, बागबहारी, वेश्यानृत्य, आदिके द्वारा दुर्व्यय करके अनर्थ ही उपार्जन किया जाता है, जिसके फलस्वरूप यमयातना ही पल्ले पड़ती है। बजाय इसके कि ऐसे पवित्र विवाहसंस्कारको, जो दुल्हा-दुलहिन, सम्पूर्ण कुल और भावी सन्तानके लिये एक प्रकारसे बुनयाद है, सत्त्वगुणी बनाया जाय,ऐसा तमोगुणी बनाया जाता है कि जिसका विवरण करते हुए लेखनी सकुचाती है। व्यभिचार दृष्टिसे क्या पिता, क्या पुत्र सभी कुटुम्बियोंकी समान दृष्टिका विषय इस समय एक ही वेश्या बनी रहती है, जिसके फलस्वरूप विवाहके उद्देश्यका (जिसका संक्षेपसे निरूपण कर आए हैं) बीज ही, जिसके द्वारा ईश्वरप्राप्ति और चिरशान्तिरूपी फल पकाना इष्ट था,एकदम दग्ध हो जाता है। जो समतादृष्टि सारे संसारके प्रति स्थापन करना

धर्मका लक्ष्य था, उसके स्थानपर सब ओरसे खींचकर वह समतादृष्टि एक वेश्याको प्रदान की जाती है। इस समतादृष्टिको कोटिशः धिक्कार है, जिसके द्वारा सभी मर्यादाएँ भङ्ग हो जाती हैं और भविष्य ऐसा भयङ्कररूप धारण करता है कि न पूछना और न कहना ही अच्छा है। सारांश, सब प्रकारसे ही इस पवित्र संस्कार की ऐसी मिट्टी पलीद की जाती है और अपने तमोगुणका पूर्णरूपसे ऐसा विकास किया जाता है कि 'घर फूँक तमाशा देखना' ठीक-ठीक दर्शाया जाता है। घर फूँक ही नहीं, 'शरीर फूँक, नहीं-नहीं इतना ही नहीं; बल्कि 'सम्पूर्ण जीवन फूँक तमाशा देखना' बन जाता है। क्या इसको खोलनेकी जरूरत है ? धननाश, शरीरनाश, कुलनाश, मर्यादानाश, आचारनाश, विचारनाश, धर्मनाश; अर्थात् लोकनाश व परलोकनाश सभी नाश अपना डेरा जमा लेते हैं। फिर 'सम्पूर्ण जीवन फूँक तमाशा देखनेमें कमी ही क्या रह गई ?

> पामर-पुरुषोंका प्राकृत स्वभाव तथा वैताल्के चरणोंमें त्यागकी प्रथम भेट।

बिच्छूके समान बिना ही प्रयोजन डङ्कप्रहार ऐसे पुरुषोंका स्वाभाविक कर्तव्य है। सहस्र नेत्रोंसे पराये छिद्रोंका देखना उनकी स्वभाविक दृष्टि है, जिस प्रकार गृद्धपक्षी सड़े मांसपर ही दृष्टि रखता है। वे बिना ही काज दूसरोंका अकाज करनेके लिये दाहिने-बाएँ लगे रहते हैं, इतना ही नहीं, बल्कि अपना अकाज करके भी यदि दूसरोंका अहित साधन हो तो उससे उन्हें परमानन्द प्राप्त होता है। उनके जीवनको उपल (ओला) की उपमा दी जा सकती है, जो आप गलकर भी खेतीको नाश कर देता है। अथवा मक्षिकाकी उपमा दी जा सकती है; जो घृतमें गिरकर अपने-आपको नष्ट करके भी घृतको अपवित्र ही करती है। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने रामायणके आरम्भमें ऐसे पुरुषोंका लक्षण इस प्रकार किया है :—

परहितहानि लाभ जिन्ह केरे। उजरे हर्ष विषाद बसेरे ॥
हरिहर जस राकेस राहुसे। पर अकाज भट सहसबाहुसे॥
जे परदोष लखहिं सहसाखी। परहित घृत जिनके मनमाखी ॥
तेज कृसानु रोष महिषेसा। अघ अवगुन धन धनी धनेसा॥
उदयकेतु सम हित सब ही के। कुम्भकरन सम सोवत नीके ॥
पर अकाज लगि तनु परिहरहीं। जिमि हिम उपल कृषि दल गरहीं॥
बंदउँ खल जस सेष सरोषा। सहस बदन बरनइ परदोषा ॥

अर्थः—दूसरोंके हितकी हानि ही जिनके लिये लाभ है, दूसरोंके उजड़नेमें जिनको हर्ष और बसनेमें खेद है। विष्णु व शिवके यशरूपी पूर्णमासीके चन्द्रमाको ग्रास करनेके लिये जो राहुके तुल्य हैं और दूसरोंका अकाज करनेके लिये जो सहस्रबाहु के समान बलवान् योधा हैं। जो अपना दोष न देख दूसरोंके दोषोंको हजार आँखोंसे देखते हैं और दूसरोंके हितरूप निर्मल घृतको अपवित्र करनेके लिये जिनके मन मक्खीके तुल्य हैं,जोकि आप नष्ट होकर भी घृतको मलिन कर देती है। जिनका तेज अग्निके तुल्य है जोकि सबको भस्म कर देती है, क्रोध जिनका महिषासुरके तुल्य है तथा पाप व अवगुणरूपी धनके जो कुबेरके समान भण्डारी हैं। जो सबके हितको नष्ट करनेके लिये उदयकेतु तारेके समान हैं, उनका तो कुम्भकरणके समान सोना ही भला है। जो दूसरोंका अकाज करनेके लिये अपना शरीर भी त्यागकर देते हैं, जिस प्रकार बर्फ व ओला आप गलकर भी कृषिको गला देते हैं। अन्तमें श्रीगोस्वामीजी कहते हैं कि मैं तो सरोष शेषजी के समान इनको वन्दना ही करता हूँ, क्योंकि जैसे शेषजी हजार जिह्वासे भगवान्का गुणगान करते हैं, वैसेही यह भी हजार जिह्वा से पराये दोषोंका वर्णन करते हैं, हजार जिह्वाकी समानताके

कारण मेरे लिए तो ये शेष-भगवानके समान वन्दनयोग्य ही हैं। भर्तृहरिजीका कथन है:—

एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थान्परित्यज्य ये ।
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये ॥
तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये ।
ये तु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे ॥(भर्तृ,नीति,६४)

अर्थ.—एक ऐसे सत्पुरुष होते हैं, जो अपने स्वार्थोंका परित्याग करके दूसरोंके अर्थसाधनमें तत्पर रहते हैं। सामान्य पुरुष वे हैं, जो अपने स्वार्थोंके अविरोधके साथ-साथ दूसरों के अर्थसाधनमें उद्यमपरायण रहते हैं और वे ये राक्षस-मनुष्य है, जो अपने स्वार्थके लिये दूसरोंके हितको कुचल डालते हैं। परन्तु जो बिना ही किसी अर्थके दूसरोंके हितको कुचलनेवाले हैं वे क्या कहे जा सकते हैं, यह हम नहीं जानते। अर्थात् जो अपना अहित बिना दूसरोंके अहितपरायण हैं, उनके लिये क्या शब्द प्रयोग किया जाय, इस विषयमें शब्दकोष भी मौन है।

क्या इन पुरुषोंके लिये धर्मके राज्यमे कोई उपचार नहीं हो सकता? क्या इनके लिये धर्मराज्यमें कोई अवकाश नहीं है? नहीं,नहीं, ऐसा क्योंकर होसकता है। सर्वव्यापी, सर्वजीवहित-कारी, करुणामय, उदार धर्मका चर-अचर जीवसृष्टिमें सबपर राज्य है। वह प्राणिमात्रके लिये श्रेयःपथप्रदर्शक है और सबको अवकाश देनेवाला है। वह सङ्कुचित कैसे किया जा सकता है? इन पुरुषोंके लिये वह धर्म करुणामय सदाशिव रूप धारकर और उनके हृदयमे साक्षात् प्रवेश करके अपने त्रितापरूपी त्रिशूलसे इनके हृदयोंको विदीर्ण करता है तथा भाँति-भाँतिसे इनके हृदयों मे क्रोधाग्नि प्रज्वलित करके कमसे कम उनको राक्षस-मनुष्यकी

श्रेणीमें जा मिलता है। जहाँ यह निर्विशेषता दूसरोंके हितको कुचलनेमें तत्पर रहते थे, वहाँ वह धर्म अब इनको 'अपने हित के लिये परहितनाशक' स्वभावमें बदल देता है। त्यागकी यह पहली भेट है जो उपर्युक्त 'सुखअभिलाषी वैताल' बरबश अपने चरणोंमें रखा लेता है। अनेक प्राणी जो इस मार्गसे निकले हैं इसकी सत्यतामें आपही दृष्टान्त हैं।

वैतालके चरणोंमें त्याग की द्वितीय भेट

क्योंजी! त्यागकी पहली भेटसे वैतालको कुछ सन्तोष हुआ? नहीं, बिल्कुल नहीं, इससे तो उसके कानपर जूँ भी न चली। यह भेट उसके पेटतक पहुँचना तो कहाँ? दाँतभी न हिले, उसे तो बड़ी-बड़ी कुर्बानियाँ लेनी हैं। परन्तु हाँ! वैतालके सन्तोषके निमित्त सुईके अग्रभाग जितना जीव कुछ आगे तो हिला है। आखिर इसे शनैः-शनैः सब कुछ भेट चढ़वा लेना है। वैतालकी पहेली तो अभी ज्यूँकी त्यूँ खड़ी है। वैताल तो चाहता है सुख, और ऐसा सुख जिसका कभी क्षय न हो। सुनो तो ऐसे सुखका अधिकारी कौन है? और आनन्दकन्द भगवान्‌को प्रिय कौन है? अपने श्रीमुखसे गीता अध्याय १२ मे मुक्तकण्ठसे वे क्या आज्ञा करते हैं? वह भी तो सुन लो.—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥

(श्लो० १३ से १९)

अर्थः—जो सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित, स्वार्थरहित सबका प्रेमी, हेतुरहित दयालु, ममता व अहंकारसे रहित, सुख-दुःखमें समान और अपराध करनेवालोंको भी अभय देनेवाला है, ऐसा क्षमावान् निरन्तर सन्तुष्ट तथा मन-इन्द्रियों को वशमें किये हुए जो मेरेमें दृढ़ निश्चयवाला है और जिसने मन-बुद्धि मेरेमें अर्पण कर दी हैं, ऐसा जो मेरा भक्त है वह मुझे प्यारा है। जिससे कोई भी जीव उद्वेगको प्राप्त नहीं होता और जो आप किसी भी जीवसे उद्वेगवान् नहीं होता तथा जो हर्ष, ईर्षा, भय एवं उद्वेगसे रहित है, वह भक्त मेरा प्रिय है। जो पुरुष आकाङ्क्षारहित, पवित्र और चतुर है, उदासीन भावसे स्थित व दुःखोंसे छूटा हुआ है और कर्तव्यरूपसे सब आरम्भोंका त्यागी है, ऐसा जो मेरा भक्त है वह मेरा प्यारा है। जो न हर्षवान् होता है, न द्वेष करता है, न सोच करता है, न इच्छा करता है तथा जिसकी दृष्टिमें शुभ-अशुभकी भावना निवृत्त हो गई है, ऐसा भक्तिमान् पुरुष मेरेको प्रिय है। जो शत्रु-मित्रमें

और मान-अपमानमें सम है, सर्दी-गरमी व सुख-दुःखमें सम है, सर्व आसक्तियोंसे छूटा हुआ है, जो निन्दा स्तुतिमें समान, मननशील एवं जिस-तिस तरह भी संतुष्ट है और स्थानादिकी ममतासे रहित स्थिर बुद्धिवाला है, ऐसा भक्तिमान पुरुष मुझको प्यारा है।

परन्तु यहाँ तो इसके विपरीत जोंकके समान अपने स्वार्थ के लिये दूसरोंका रक्त चूसना है, अपने स्वार्थके लिये दूसरों को पाँव तले कुचलना है और दूसरोंको पीछे धकेलकर आगे बढ़ना है।

'तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये'

अर्थात् वे ये राक्षस-मनुष्य हैं जो अपने स्वार्थके लिये दूसरोंके हितको नाश करते हैं। परन्तु स्मरण रहे प्रकृतिका यह अटल नियम है कि क्रियाकी प्रतिक्रिया तो फल दिये बिना कभी नष्ट हो ही नहीं सकती। जैसे भित्तिपर फैंककर मारा हुआ गेंद उलटकर मारनेवालेकी ओर ही आता है, ठीक इसी प्रकार रक्त चूसना तो रक्त चुसाये बिना, कुचलना तो कुचले जाने बिना, धक्का देना तो धक्का खाये बिना पीछा कब छोड़ता है? इन्द्रपुत्र जयन्तने भगवान्-रामचन्द्रके प्रभावकी परीक्षाके लिये वनवासके समय सीताके चरणोंमें काकरूप धारणकर चोंच मारी, जिससे कोमलाङ्गी-सीताके चरणोंसे रुधिरका प्रवाह चल पड़ा। भगवान्-रामचन्द्रने उसके पीछे एक तृणका बाण छोड़ा। बाणसे भयभीत होकर जयन्त दौड़ा, भगवान्के द्वारा फैंका हुआ बाण भी उसके पीछे चला। जयन्त क्या आकाश, क्या पाताल, चौदह भुवनमें व्याकुल होकर घूम आया, परन्तु उस बाणसे किसीने उसको अपनी शरणमें न लिया, पिता भी शरणमें न ले सका। अन्ततः वह लौटकर स्वयं भगवान्

की ही शरणमें गया और उन्होंने भी प्रतिक्रियारूपमें उसको एक आँखसे विहीन करके ही अभय किया।

ओ! धक्का देकर आगे बढ़नेवाले! देख, यह धर्मरूपी विष्णुका प्रतिक्रियारूप सुदर्शनचक्र तेरे पीछे-पीछे आ रहा है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें इस सुदर्शनचक्रसे तेरी रक्षा करनेमें कोई समर्थ नहीं है। तुझको इसकी मार खानी ही पड़ेगी।

> बद[1] न बोले जेर[2] गरदूँ[3] गर[4] कोई मेरी सुने।
>
> है यह गुम्बद की सदा[5] जैसी कहे वैसी सुने॥

इस आकाशरूपी गुम्बदके नीचे जैसा बोलोगे लौटके वैसा सुनना ही पडेगा। जिस प्रकारसे यह अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके पीछे पडा हुआ है, उस प्रकारसे तो आजतक किसीने भी स्वार्थ सिद्ध कर न पाया। परन्तु दुनियाँ है कि अन्धेवाली लकडी हाँकती ही जाती है, भेडकी चाल चले ही जाती है, एक भेड़ कूपमें गिरी कि सब उसके पीछे दना-दन गिरती ही जाती हैं। ठीक, यही हाल इस दुनियाँका है। भाई! स्वार्थ पकड़े रहकर स्वार्थ बनानेके पीछे पड़े रहना, तो स्वार्थ बनानेका कोई मार्ग है ही नहीं। फिर तुम कैसे स्वार्थ सिद्ध कर जाओगे? यह तो आकाशमे बगीचा लगानेके समान है। और तुम तो इससे भी आगे बढ़कर, दूसरोंके स्वार्थको कुचलकर, अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके पीछे पडे हुए हो। स्वार्थ बनानेका तो एकमात्र मार्ग यही है कि स्वार्थका परित्याग कर दो, स्वार्थ आप सिद्ध हो जायगा। जैसे जबतक तुम कमानको खीचे हुए हो, तीर कभी को नहीं बेध सकेगा, बल्कि तुम्हारे पास ही रहेगा। लक्ष्य को भेदना चाहते हो तो कमानको ढीली छोड़ो, तभी तुम

---

[1] बुरा, खोटा। [2] नीचे। [3] आकाश। [4] जो। [5] शब्द।

लक्ष्यको भेद सकोगे। ठीक, इसी प्रकार स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये भी स्वार्थकी तिलाञ्जलि देनी होगी, स्वार्थरूपी कमान ढीली छोड़नी पड़ेगी, तभी तुम सफलमनोरथ होगे। महाभारत के अन्तमें भगवान् वेदव्यासजीने कहा है:—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति माम् ।
धर्मादर्थश्चकामश्च स धर्मः किं न सेव्यते ॥

अर्थात् 'मैं ऊँची भुजा उठाकर चिल्लाता हूँ, परन्तु मेरी कोई नहीं सुनता कि धर्मसे ही अर्थकी तथा कामकी सिद्धि हो सकती है, ऐसा धर्म क्यों नहीं सेवन किया जाता ? परन्तु यहाँ तो मामला ही दूसरा हो रहा है। यहाँ तो पिटने-पिटानेका बाजार गरम है, फिर वैतालके सन्तोषका क्या प्रश्न ? मान लो, बिजलीके चमत्कारके समान तुमने किसी क्षणके लिये स्वार्थ सिद्ध कर भी लिया, परन्तु दूसरोंके स्वार्थको कुचलकर जो स्वार्थ सिद्ध किया गया है, उसका प्रतिक्रियारूप विष तो तुमको चढ़े बिना, रुलाये बिना, तपाये बिना नहीं छोड़ने का। जरा सोचो तो सही, स्वार्थके लिये तो स्वार्थ नहीं चाहा जाता था, परन्तु स्वार्थके मूलमें जो धेय वस्तु थी (अर्थात सुख) वह तो उल्टा अङ्गुली दिखाकर कोसों दूर जा छुपी, बल्कि सुखी होनेके बजाय उल्टा दुःखका बीज बो लिया गया, रोगको बढ़ा लिया गया।

खैर जी! कुछ भी हो, वैताल हाथ धोकर पीछे पड़ा है। हड़काये कुत्तेके समान इसने पीछा किया है और अपना भोजन लिये बिना पीछा न छोड़ेगा। वैतालका भोजन है 'सच्चा सुख', 'शान्ति'। इसके बिना विषयसुखकी चटनीसे ही बातोंमें टालनेसे इसकी तृप्ति नहीं होने की। यदि तुम इसको इसका यह भोजन देनेकेलिये तैयार नहीं, तो कलेजेका रक्तपान करना तोकहीं

गया ही नहीं। परन्तु स्मरण रहे कि इस रक्तपानसे भी इसकी भूख नहीं मिटने की, यह तो मुफ्तमे ही है। अपने भोजन की मॉंग तो इसकी दिन-दूनी, रात-चौगुनी बढ़ती ही रहेगी। फिर मुफ्तमें कलेजेका खून भी क्यों पिलाते हो? ऐसे अतिथि-सत्कारके पीछे क्यों पडे हो? 'वॉंस भी खाए, मलाइ भी दी' वह हिसाब क्यों करते हो।

लो जी! वैतालको भोजन तो अभी क्या मिलना था? परन्तु उसने तो कलेजेका खून जोकके समान चूस-चूसकर बरबश त्यागकी दूसरी भेट अपने चरणोंमें रखवा ही ली। अर्थात् इसको पामर-कोटिसे निकाल विषयी-कोटिमें और निषिद्ध-सकाम-कोटिसे निकाल शुभ-सकाम-कोटि में प्रवेश कर ही दिया। धन्य है! वैतालकी इस दयालुताको धन्य है! इसकी सच्ची पतित-पावनताको वारम्बार धन्य है॥

[२] विषयी-पुरुष

विषयी-पुरुषके लक्षण

विषयी-पुरुष वे हैं जो संसारके भोगों तथा इन्द्रियोंके शब्द-स्पर्शादि विषयोंमें रते हुए हैं। पामर-पुरुषोंसे भेद इतना ही है कि वे शास्त्रमर्यादा व लोकमर्यादाका उल्लंघन करके भी विषयभोग भोगनेसे नहीं सकुचाते, परन्तु विषयी-पुरुषोंकी भोगप्रवृत्ति लोक व शास्त्रमर्यादा की हद्दमें रहकर होती है। यद्यपि भोग-कामनादृष्टिसे इनमें कोई विशेष अन्तर नहीं हुआ, बल्कि कामनामात्रकी दृष्टिसे तो इनकी कामनाएँ अग्निमें घृतके समान कुछ वृद्धिको ही प्राप्त हुई हैं, ऐसा कहा जाय तो अनुचित नहीं। पामर पुरुषोंकी कामनाएँ इस लोकतक ही सीमित होती हैं, परन्तु इन्होंने तो इस लोकसे आगे बढ़कर आकाशव्यापी पारलौकिक स्वर्गादिकी कामनाओंपर भी हाथ मारना आरम्भ कर दिया है। इस प्रकार इस लोकके

स्त्री, पुत्र, धन एवं मान, अर्थात् पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा व शास्त्रैषणा इत्यादिका योगक्षेम ही इनके जीवनका लक्ष्य बन गया है तथा स्वर्गादिकी प्राप्ति ही इनकी अपनी दृष्टिसे परम पुरुषार्थका पर्यवसान है और यही मोक्ष है। यद्यपि इनकी कामनाएँ एक प्रकारसे लोक व शास्त्रकी मर्यादाके अन्तर्गत होती हैं, तथापि धनमद, मानमद व विद्यामद आदि का पिशाच इनकी ग्रीवाको दबाये ही रखता है और किसी प्रकार इनकी गर्दन उठने ही नहीं देता। सब एषणाओंके योगक्षेमके लिये अनेक साधन यज्ञ, दान, तपादिका संग्रह किया जाता है। भेद केवल इतना ही है कि पामर-पुरुषोंकी चेष्टाएँ जहाँ तमोगुणप्रधान होती हैं, वहाँ इनकी चेष्टाओंमें रजोगुणकी प्रधानता होती है। जिनका लक्षण गीता अ. १७ मे इस प्रकार किया गया है:—

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्॥

(श्लो० १२)

अर्थः—हे भरतश्रेष्ठ! जो यज्ञ दम्भके लिये अथवा फल को उद्देश्य करके किया जाय, उस यज्ञको तू राजस जान।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥

(श्लोक० १८)

अर्थः—जो तप सत्कार, मान एवं पूजाके लिये और केवल पाखण्डसे ही किया जाता है, वह अनिश्चित और क्षणिक फल-वाला तप यहाँ राजस कहा गया है।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्॥
(श्लो० २१)

अर्थः—जो दान प्रत्युपकारके लिये अर्थात् बदलेमें सांसारिक कार्यसिद्ध करनेकी आशासे, फलको उद्देश्य रखकर और क्लेशपूर्वक दिया जाता है वह राजस कहा गया है।

वर्तमानमें चन्दे-चिट्ठे आदिका दान इसी कोटिमें समझना चाहिये। ऐसे पुरुषोंकी सब चेष्टाओं यज्ञ, दान, तपादिका फल केवल संसार ही है। इनमेसे जिन्होंने इस लोकसे आगे बढ़कर स्वर्गादि लोककी प्राप्ति अपना लक्ष्य बनाया है, वे इनकी अपेक्षा धन्य कहे जा सकते हैं। यद्यपि इन यज्ञ-दान-तपादिके द्वारा भावकी विलक्षणता करके अन्त.करणकी निर्मलता सम्पादन की जा सकती थी, जिससे वास्तविक मोक्षका अधिकार प्राप्त हो सकता था। परन्तु सब कुछ करते हुए भी केवल भावकी हीनता करके वे इस अधिकारसे वञ्चित ही रह जाते हैं। भावका महत्व बड़ा आश्चर्यरूप है। शास्त्रैषणाकी पूर्तिके लिये इनमेंसे कई अपना तन, मन, धन तथा आयुका बड़ा भाग व्यय करते हैं, परन्तु उसका फल भी केवल संसार ही है। वैताल हँसता है कि तम, मन, धन तथा जीवन सभी कुछ दिया गया, परन्तु मेरी पहेली तनिक भी न सुलझाई गई, किन्तु उल्टा पाण्डित्य-अहंकार को ही पुष्ट किया गया। विद्याका फल तो सच्ची शान्तिको प्राप्त करना ही था और अपने व सब भूतोंमें समान भावसे स्थित एक नित्य अविनाशी तत्त्वको ढूँढ निकालना ही था। यथाः—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥
(गी.अ.१८,२०)

अर्थः—सब भिन्न-भिन्न भूतोंमें एक अभिन्न व अविनाशी भाव जिस ज्ञानके द्वारा ढूँढ निकाला जाय, वह ज्ञान सात्त्विक जानना चाहिये।

परन्तु यहाँ तो इसके विपरीत इनके पाण्डित्याभिमानके सम्मुख कोई वस्तु ठहर ही नहीं सकती। मानो, नालाकि व श्वेतकेतुके समान सारे संसारको पराजय करनेका इन्होंने ठेका ही ले लिया है। इनमेंसे कई संसारके उपदेशके लिये मैदानमें आते हैं, परन्तु अपने उपदेशके प्रभावसे सुख-शान्ति स्थापन करनेके स्थानपर अपने रजोगुणकी प्रबलतासे द्वेष व विरोध ही बढ़ाया जाता है और इस नन्दनकाननरूप संसारको श्मशानरूपमें ही बदल दिया जाता है। वर्तमानमें अनेक साम्प्रदायिक विरोध इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। ऐसे महाशय शास्त्रोंके केवल भारवाही ही कहे जा सकते हैं। हाँ! पामर-पुरुषोंकी अशुभ कामनाओंका फल जहाँ नरकादि यमयातनाको भुगानेवाला था, वहाँ इनकी कामनाएँ अपेक्षाकृत शुभ हैं जिनका फल मृत्युलोक वा स्वर्गलोक की प्राप्ति है, परन्तु है अनित्य। पामर-पुरुष जहाँ अपने स्वार्थके लिये दूसरोंके स्वार्थको कुचलनेमें तत्पर रहते थे, वहाँ यह लोग जिस हद्दतक अपने स्वार्थका विरोध नहीं होता है, उस हद्दतक दूसरोंके स्वार्थसाधनमें भी उद्यमी रहते हैं। अर्थात् अपने स्वार्थ के लिये यद्यपि दूसरोंके स्वार्थको तो नहीं कुचला जाता है, तथापि दूसरोंके स्वार्थके सम्मुख अपने स्वार्थको मुख्य रखा जाता है।

'सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाऽविरोधेन ये।'

अर्थ यह कि सामान्य पुरुष वे हैं, जो अपने स्वार्थके अविरोधके साथ-साथ परार्थमें भी उद्यमी रहते हैं। आचार व व्यवहारकी दृष्टिसे भी इनमें अपेक्षाकृत पवित्रता दीख पड़ती है।

प्यारे विषयप्रेमी ! वैतालकी पहेलीको सुलझानेके लिये विषयभोगकी सडकपर सरपट घोडा दौडानेवाले भोले महेश !! थोडा दम ले। आगे बढनेसे पहले तनिक लेखकसे भी तो परस्पर विचारोंका परिवर्तन करता जा। जिस सडकसे तुम तीव्र वेगसे आँखें बन्द किये दौड़े जा रहे हो, जरा देखो तो सही, क्या वह तुमको तुम्हारे निर्दिष्ट स्थानकी ओर ले जा रही है वा नहीं ? तुमने अपनी दृष्टिसे सुख की जो अवधि मानी हुई है, वह नीचे लिखे वचनोंतक ही व्याप्त है ना ?

विषयी-पुरुषके साथ परस्पर विचारोंका परिवर्तन तथा इहलौकिक पदार्थों में सुखका असम्भव

पहला सुख निरोगी काया, दूजा सुख घरमें हो माया।
तीजा सुख पुत्र अधिकारी, चौथा सुख सुलक्षणी नारी ॥

और अनेक प्रकारके सुख अर्थात् 'गोधन, गजधन, वाजिधन और रत्नधन खानि' तो तुम्हारी इस मायासुखके अन्तर्गत ही आ जाते हैं।

अच्छा जी ! अब यह बताओ कि इन चतुर्विध सुखों मेंसे तुम प्रत्येकको सुखरूप मानते हो ? अथवा इनमेंसे किन्हीं दोके जोड़ेमें अथवा तीनमें वा चारोंके समुदाय में सुख मानते हो ?

यदि किसी एकको सुखरूप माना जाय तो सबके अनुभव-विरुद्ध है। क्योंकि इनमेंसे एक-एक सुख बहुतोंको प्राप्त है भी, परन्तु वे दुःखी ही देखनेमें आते हैं। यदि शरीरका सुख है और पुत्र, स्त्री तथा मायाका सुख नहीं, तो भोगसाधन विना वह निरोग शरीर भी रोगरूप हो है। जिस प्रकार जठराग्नि तीव्र हो, परंतु अन्न न मिले तो वह उल्टा शरीरको ही भक्षण करती है। घर में मायाका सुख है, किन्तु शरीर, पुत्र व स्त्रीका सुख नहीं, तो

वह माया भी खानेको दौड़ती है, सुख नहीं देती। यदि पुत्रका सुख है, परन्तु शरीर, माया तथा स्त्रीका सुख नहीं, तब भी शेष पदार्थोंकी इच्छा कलेजेको जलाती ही रहती है। और यदि स्त्रीका सुख है, परन्तु शरीर, धन व पुत्रका सुख नहीं, तो वह प्राप्तसुख भी दुःखमें बदल जाता है। इस प्रकार चारोंमेंसे एक-एक पदार्थ तो कोई भी सुखरूप नहीं ठहरता।

लो जी! एक-एक पदार्थ तो इनमें से कोई भी सुखरूप नहीं ठहरा। देखें, इनमेंसे किन्हीं दोके जोड़ेमें ही सुख मिल जाय, परन्तु दोका जोड़ा भी सुख नहीं देता। अर्थात् शरीरसुख व मायासुख है परन्तु स्त्री व पुत्रका सुख नहीं, तो शरीर व माया का सुख सुखरूप नहीं रहता, बल्कि दुःखदाई हो जाता है क्योंकि भोगसाध्य-सामग्री बिना साधन निष्फल है। शरीरसुख का भोग्य यदि स्त्रीसुख नहीं तो पुष्ट शरीरको देखकर जलना ही पड़ता है और मायासुखके भोगके लिये स्त्री-पुत्र नहीं तो वह माया भी पृथ्वीमें दबाये हुए मुरदेके समान है। यदि स्त्री व पुत्र का सुख है परन्तु शरीर व मायाका सुख नहीं, तो भोगके साधन शरीर व मायाके अभावसे वे भोग्यरूप स्त्री व पुत्र भी रोगरूप ठहरते हैं। यदि शरीर व स्त्रीका सुख है परन्तु माया व पुत्रका सुख नहीं, तो पति व पत्नी दोनों मिल-मिलकर रो-रोकर ही दिन निकालते हैं और आनेवाले बुढापे व मृत्युसे भयभीत होते हैं। यदि माया व पुत्रका सुख है परन्तु शरीर व स्त्रीका सुख नहीं, तब भी सुख कहाँ? रोगी शरीर व कुटिला स्त्रीजन्य दुःख, मायासुख व पुत्रसुखको नीचे दबा देता है। सारांश, किसी प्रकार भी दो के जोड़ेमें सुख नहीं मिलता।

अच्छा जी! देखें, इनमेंसे किसी तीनके मेलमें ही सुख-शांति आ जाय। परन्तु हाय! सुख-शान्ति तो फिर भी नहीं मिलती। शरीरसुख, मायासुख, पुत्रसुख, और स्त्रीसुख इनमेंसे किसी

एकका अभाव और उसकी प्राप्तिकी इच्छा ही शेष सब प्राप्त-सुखोंको गँदला व दुःखरूप बनानेमें पर्याप्त है। अब यदि चारोंके समुदाय में ही सुख मानते हो, तो प्रथम चारों पदार्थोंकी यथेच्छ प्राप्ति ईश्वरसृष्टिमें किसी एक-आध भाग्यवान्‌को ही सुलभ हो सकती है। हर! हर!! भूल होगई, भाग्यवान् नहीं, अभाग्यवान्, हमारे मतमें तो विषयसुख भाग्यवानीके लक्षण ही नहीं बनते। जो मनुष्य अपना भव्य-भवन (आत्मस्वरूप) परित्याग करके उसके कूड़े-कचरे (भोग्य-विषय) पर ही अधिकार जमा बैठे, वह भाग्यवान् कहाँ? जिनका कूड़े-कचरेपर ही अधिकार होता है वे तो कुछ और ही कहलाते हैं, हम तो स्वर्गपर्यन्त विषयसुखको भी नरकरूप ही जानते हैं। दूसरे, इन चारों प्रकारके सुखोंका कोई निश्चित परिमाण नहीं बन पड़ता। एक साधारण जमींदारको जो सुख प्राप्त है वह एक कृषीकारकी दृष्टिसे अलंरूप है, परन्तु उस जमींदारकी अपनी दृष्टिसे एक जागीरदारकी अपेक्षा वह अपना सुख तुच्छ जँचता है। जागीरदारके बराबरीके सुखोंकी इच्छा उसके मनको मसोसती रहती है और प्राप्त सुखोंको कटु बना देती है। इसी प्रकार राजाके सुखोंकी इच्छा, जागीरदारके प्राप्तसुखोंको दु खोंमें बदल देती है। महाराजाके सुखोंकी इच्छा, राजाके सुखोंको; महाराजाधिराजके सुखोंकी इच्छा, महाराजाके सुखों को, और इन्द्रके सुखोंकी इच्छा, महाराजाधिराजके सुखोंको दुःखरूप में बदल देनेके लिये काफी है। तीसरे, यदि इन्द्रके सुखों को ही अवधिरूप मान लिया जाय, फिर भी प्यारे! विषयजन्य सुखसे शान्ति कहाँ? प्राप्त विषयोंसे हम प्यार उसी अवस्थामें कर सकते हैं, जब हम अपने प्रिय पदार्थोंमें सत्यत्व व स्थिरत्व बुद्धि जोड़ते हैं। अर्थात् जो पदार्थ हमको प्राप्त हुआ था अब भी वह वही है, वही पुत्र, वही स्त्री और वही हम हैं इत्यादि। यदि इस प्रकार सत्य व स्थिरबुद्धि न हो, अर्थात्

'देखत ही छिप जायगी ज्यूँ तारा प्रभात'

तब इस अस्थिरबुद्धि करके तो हम उन पदार्थोंमें आपा दे ही कैसे सकते हैं? परन्तु हाय! पहले ही ठगे गये, यहाँ तो मामला ही दूसरा है। तुम समझते हो हमारी प्रिय वस्तु वही है, परन्तु वस्तु वही रही नहीं। जिस क्षण तुमको प्राप्त हुई थी उससे दूसरे क्षणमें ही वह तो बदल गई, धोका दे गई, अर्थात् नष्ट हो गई! जिस प्रकार गंगाके जिस प्रवाहमें तुमने स्नान किया था, बाहर निकलकर तुम देखते हो कि प्रवाह वहा है। अरे! यह तो तुम्हारा भ्रम है, वही प्रवाह कहाँ? वह तो कोसों दूर निकल गया। अथवा सायंकालको तुम दीपक जलाकर सो जाते हो और प्रभात उठकर कहते हो कि 'दीपशिखा वही है।' यह तो तुम्हारी भूल है, न वह तेल रहा, न वह बातीरही, फिर शिखा वही कहाँसे आई? जिस क्षण तुमने दीपक जलाया था, उससे उत्तर प्रत्येक क्षणमें ही उस दीपशिखाके प्रवाह बदलते जा रहे हैं। ठीक, यही अवस्था तुम्हारे प्रिय पदार्थोंकी है। जिस क्षण तुम्हारा प्रिय पदार्थ तुमको प्राप्त हुआ था, उसी क्षण उसका प्रवाह तो मृत्युमुखकी ओर चल पड़ा, जिस प्रकार गंगाका प्रवाह तीव्र वेगसे समुद्रकी ओर दौड़ा जा रहा होता है। और इधर तुम उस पदार्थको वही समझके प्यार करते रहते हो। महान् आश्चर्य! कैसी भूल! पदार्थोंको तुम भले ही प्यार करो, खूब भोगो, परन्तु बदलेमें तुम्हारा यह अज्ञान, यह भूल, यह भ्रम तुमको भोगे बिना कब छोड़ सकता है? हँसीके बदले रुलाये बिना, शान्तिके बदले तपाये बिना कैसे छुटकारा देगा? बल्कि सच पूछो तो हँसीके बदले रुलाये जाने और शान्तिके बदले तपाये जानेकी मात्रा कई गुणा अधिक है। 'मै अनाथ मारा गया'! 'हाय! मेरा सर्वस्व नष्ट हो गया!!' 'अरे मेरा कलेजा फट

गया !!!" परंतु तुमने मिथ्या नाम-रूप स्वप्नके पदार्थोंसे अपने आप को ठगा क्यों जाने दिया! इनमें सत्यता क्यों आरोपण की? एकमात्र सत्यता, जिसका परमात्मासे सम्बन्ध था, वह सत्यता तुमने मिथ्या मायाके पदार्थोंमें क्यों जोड़ दी? आखिर यह परमात्मा भी तो अपने सिवाय किसी पदार्थको सत्य ठहरने ही नहीं देता। जिस क्षण मिथ्या पदार्थोंको ईश्वरसम्बन्धी सत्यता प्रदान की जाती है, उसी क्षण वह क्लेशोंमें पकड़वाना आरम्भ कर देता है और आखिर क्लेशोंसे चिथड़े करके ही छोड़ता है। इस विषयमें तो वह बड़ा ही ईर्षालु है। इस प्रकार यदि तुमको अपने प्रिय पदार्थ छोड़ने पड़े। तो दुःख, और प्रिय पदार्थोंने तुमको छोड़ा तो दुःख। दुःखसे तो छुटकारा किसी प्रकार है ही नहीं। यह तो सभी जानते हैं कि सुखकी एक घड़ी एक पलके बराबर बीत जाती है और दुःखकी घड़ी कई प्रहरके समान लम्बी हो जाती है। मायाकी विचित्र शक्ति है जिसके प्रभावसे असत्यमें सत्यबुद्धि, दुःखमें सुखबुद्धि बन जाती है, अन्यथा विचारके सम्मुख तो किसी प्रकार भी यह विषय सुखरूप नहीं ठहरते। प्रथम तो इनका उपार्जन बड़ा क्लेशरूप है, शरीर व मन को किसी प्रकार शान्ति नहीं देता, बल्कि जिन साधनोंद्वारा यह उपार्जन किये जाते हैं वे तो इस लोकमें ही क्या? परलोकमें भी यमयातना भुगाये बिना नहीं छोड़ते।

धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे भार्या गृहद्वारि जनाः श्मशाने।
देहश्चितायां परलोकमार्गे कर्मानुगो गच्छति जीव एकः॥

अर्थ—धन भूमिमें ही पड़ा रह जाता है, पशु पशुशालामें ही बँधे रह जाते हैं, स्त्री घरके द्वारपर ही साथ छोड़ देती है, बाँधव लोग श्मशानभूमितक ही साथ जाते हैं और शरीर चिता

तक ही साथ देता है, परन्तु कर्मके साथ बँधे हुए अकेले इस जीवको ही परलोकयात्रा करनी पड़ती है।

दूसरोंके स्वार्थको कुचलकर अपना स्वार्थ साधनेमें स्वभाविक ही चित्त कठोर हो जाता है और जैसा पीछे कहा जा चुका है, प्रकृतिका यह स्वभाविक नियम है कि जितनी-जितनी कठोरता होगी उतना-उतना लोहेके समान अग्निसे तपना और चोटोंका खाना जरूरी है। इस प्रकार इन विषयोंका उपार्जन तो दुःखरूप स्पष्ट ही है। दूसरे, इनके नाशमें तो दुःखकी सीमा ही क्या है? तीसरे, इन पदार्थोंका मध्य रक्षाकाल भी नाशके भयसे दुःखसे ग्रसा हुआ है। प्रत्येक मनुष्य अपनी छातीपर हाथ रखकर अपने अनुभवसे इस विषयकी साक्षी देगा कि जितनी-जितनी वस्तु अधिक प्रय है उतना-उतना ही उससे अधिक भय है। जब कभी उसकी दृष्टि अपने प्रिय पदार्थ पर पड़ती है, अथवा उसका चिन्तन होता है उसी कालमें भयकी उत्पत्ति होती है। 'हाय! यह मेरी प्यारी वस्तु मुझसे बिछड़ गई तो मैं क्या करूँगा, मेरी क्या गति होगी?' इत्यादि विचार उसके कलेजेको पकड़े ही रहते हैं। प्रकृतिका यह अटल नियम है कि 'अन्योऽसावन्योऽहमस्मि' अर्थात् वह और है मैं और हूँ, इस भेददृष्टिसे किसी भी पदार्थको ग्रहण करो, भयरूपी पिशाच तत्काल गर्दन दबा लेता है, चाहे उस पदार्थमे रागबुद्धि ही क्यों न हो। फिर द्वेषबुद्धिसे भय हो, इसमें तो आश्चर्य ही किया है? जब तुम अपनी परछाँईमे ही भेददृष्टि करते हो तो वह तुम्हारी अपनी पारछाँई ही तुमको भयदायक हो जाती है तब इतर-पदार्थोंसे भय हो, इसमे तो सन्देह ही क्या है? सारांश, प्रकृतिको भेददृष्टि किसी भी रूपसे स्वीकार है ही नहीं, 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' अर्थात् द्वैतभावमें भय निश्चय है। इस रीतिसे जहाँ द्वैतभावसे किसी प्रकार भी आसक्ति होती है, वहाँ भय अवश्य है, यथा:—

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद्भयम् ।
माने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जरायाः भयम् ॥
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयम् ।
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम् ॥
(भर्तृ शतक)

अर्थ यह कि जहाँ पकड़ है, अधिकार है, कब्जा है, वहीं रगड़-झगड़ है और भय ही भय है। भोगोंकी पकड़में रोगका भय है। कुलकी पकड़मे च्युतिका भय है कि कुलकी मर्यादा भङ्ग न हो जाय। धनकी पकड़में राज्यका भय है। मानकी पकड़में अर्थात् 'हमारा मान बना रहे' दीनतासे भय है कि हमको दीन न होना पड़े। बलकी पकड़में शत्रुसे भय है। रूप-सौन्दर्यमें बुढ़ापेसे भय है। शास्त्रकी पकड़में दूसरेसे वाद-विवादका भय है। गुणकी पकड़में दुष्टोंसे भय है कि वे हमारे गुणोंको नष्ट न कर दें और शरीरकी पकड़में मृत्युसे भय है। सारांश, पकड़से भय ही भय है, केवल छोड़, त्याग अर्थात् वैराग्य ही अभयरूप है जो सब भयसे रहित है।

जब तुमको अपने प्रिय पदार्थोंसे भय बना हुआ है, फिर उनके सम्बन्धसे सुख कहाँ? भय व सुखका तो मेल कदापि बनता ही नहीं, जैसे रात व दिन कभी इकट्ठे नहीं रह सकते। इस प्रकार विषयोंका उपार्जन, रक्षा व नाश अर्थात् आदि, मध्य व अन्त तीनों अवस्थाएँ ही सुखशून्य हैं और दुःखसे ग्रसी हुई हैं।

धर्म अर्थ अरु मोक्ष को, नारि बिगारत ऐन ।
सब अनर्थ को मूल लखि, तजे ताहि है चैन ॥१॥

पुत्र मदा दुख देत यूँ, बिन प्राप्ति दुख एक ।
गर्भ समय दुख, जन्म दुख, मेरे तो दुख अनेक ॥२॥
तजि तिय पूत जो धन चहै, ताके मुख में धूर ।
धन जोरन, रक्षा करन, खरच, नास, दुख मूर ॥३॥

(विचारसागर ५ तरङ्ग)

यह तो तुम्हारे इस लोकसम्बन्धी विषयोंकी अवस्था निरूपण की गई । अब स्वर्गादि विषय जिनको तुमने मोक्षरूप जाना हुआ है, उनकी अवस्था सुन लो । स्वर्गादि भोग्य पदार्थ भी परिच्छिन्न होनेसे अनित्य व नाशरूप तो अपने स्वभावसे ही हैं, इसलिये क्षय व अतिशय दोषोंसे ग्रसे हुए हैं। जबकि अनित्य व क्षयरूप सिद्ध हुए तो जैसा अभी निरूपण हुआ है वे अपने आदि उपार्जनकालमें भी दुखरूप हैं और नाशकालमें तो दारुण दुःखरूप हैं ही। कर्मभोग की पूँजी समाप्त होते ही वहाँ एक क्षणके लिये भी ठहरनेका अवकाश नहीं मिलता, यथा:—

स्वर्गसम्बन्धी भोग्य विषयोंमें सुखका असम्भव ।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥

(गी० अ. ९ श्लो. २१)

अर्थ:—वे उस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर मृत्युलोकको प्राप्त होते हैं, इस प्रकार स्वर्गके साधनरूप तीनों वेदोंमें कहे हुए सकाम कर्मके शरण हुए और भोगों की कामनावाले मनुष्य वारम्वार आवागमनको प्राप्त होते हैं ।

अन्ततः वह स्वर्गसम्बन्धी भोग कालकी अवधिवाले हैं, फिर चाहे काल कितना ही दीर्घ क्यों न हो, नाशके भयसे

वर्तमान भी भयसे खाली नहीं। साथ ही ये अतिशयदोषसे भी दूषित हैं अर्थात् स्वर्गवासी जीवोंके भोग परस्पर समान नहीं, बल्कि न्यूनाधिक हैं। जिनके भोग अपनेसे न्यून हैं, उनको देखकर घमण्ड-भैरवके दर्शन होते हैं। जिनके भोग अपने बराबर हैं, उनको देखकर ईर्षा-भैरवी अपना रूप दिखाती है और जिनके भोग अपनेसे अधिक हैं, उनको देखकर हृदय जलता है। अरे ! यहाँ तो घमण्ड, ईर्षा एवं ताप सभी सेवामें मौजूद हैं, फिर इस स्वर्गको नरक क्या न कहा जाय ? हर ! हर !! ऐसे स्वर्गसुखको धिक्कार है।

यह बात तो स्पष्ट ही है कि जब जीव भोगकामना करके आतुर होता है, उस समय इन्द्रको इन्द्राणीसे, सूकरको सूकरीसे, इन्द्रको अमृतपानसे तथा सूकरको विष्ठासे समान सुख है, कोई विलक्षणता नहीं। बल्कि सूकरको तो अपनी योनिरचित विष्ठा व सूकरी ही सुखी कर सकते हैं, अमृत व इन्द्राणी कदापि सुखी नहीं कर सकते और वेग दूर होनेके पीछे न इन्द्राणी ही सुख देती है, न अमृत ही। वास्तवमें यदि विचारदृष्टिसे देखा जाय तो विषयोंमें कभी भी सुख नहीं, जैसा पीछे (पृ ७४ से ८२ पर) इस विषयको स्पष्ट किया जा चुका है, सुख केवल हृदयको इच्छासे खाली करनेमें है। इन विषयसुखों की ठीक अवस्था वही है जैसे जब तुमको मल-मूत्रत्यागकी शङ्का होती है, तब तुम अपने आपको उस शङ्काके वेगसे चञ्चल पाते हो और उस वेगकी निवृत्तिसे अपने आपको स्वस्थ व शान्त अनुभव करते हो। ठीक, यही अवस्था विषयजन्य सुखोंकी है, चाहे वे इस लोकसम्बन्धी हों चाहे स्वर्गसम्बन्धी। विषयों ने वास्तवमें तुमको सुखी नहीं किया, सुख तुमको मिला है केवल तुम्हारे वेगकी, निवृत्तिद्वारा तुम्हारे अन्तःकरणकी स्थिरता में। विषयोंमें सुखबुद्धि केवल भ्रान्ति है। यदि विषयोंमें ही सुख

होता तो तुम्हारे वेगके अभावकालमें भी उनसे तुमको सुख मिलना चाहिये था, परन्तु ऐसा तो नहीं होता। जिस कालमें क्षुधा निवृत्त हो जाती है और उदर पूर्ण हो जाता है, उस समय तुमको यदि थोड़ा भी मधुर भोजन दिया जाय तो तुम ऊर्ध्व-बाहु होकर चिल्लाते हो "नहीं, अब एक ग्रासका भी अवकाश नहीं चाहे अमृत भी क्यों न हो।"

अच्छा अब यदि तुमको यह शंका हो कि वास्तवमें स्वर्ग-सुख ऐसे ही तुच्छ हैं तो वेदने उनकी इतनी प्रशंसा क्यों की? इसका समाधान यह कि वेद के वचन, जो स्वर्गादि सुखों की महिमा में हैं, अर्थवादरूप हैं। वास्तवमें वेदका तात्पर्य उनकी महिमा में नहीं, किन्तु 'गुड-जिह्वान्याय'से उनके छुड़ानेमें ही है। जैसे एक बालक प्रथम मदरसेमें पढ़ने जाता है, तब उस्ताद उसको आरम्भमें प्रथम अक्षर 'अलिफ' सिखाता है। परन्तु बालक अभ्यास न होनेके कारण 'अलिफ'के स्थान पर 'अफल' बोलता है। दो-चार बार बोलकर जब उस्ताद देखता है कि इसकी जिह्वा नहीं खुलती है, तब उस्ताद भी उसके साथ-साथ 'अफल' ही बोलने लगता है और इस प्रकार 'अफल' बोलते-बोलते उस बालकसे 'अलिफ' कहला लेता है। ठीक, इसी प्रकार वेदरूपी गुरु भी जब देखता है कि विषयी पुरुष जो विषयोंमें रमे हुए हैं भोगोंको छोड़नेमें असमर्थ हैं तो उनको स्वर्गके विषयोंकी महिमा पुष्पित-वाणीसे कहने लगता है। परन्तु वास्तवमें इसका आशय स्वर्गके विषयोंमें फँसाये रखनेके लिये नहीं है, किन्तु इस लोकके विषयोंसे उपराम करानेमें ही है। इस प्रकार स्वर्ग सुखोंको 'अफल' (फलरहित, निस्सार) कहकर 'अलिफ़' (एक-अद्वैत) में लेजानेमें ही उसका मुख्य तात्पर्य है। इस विषयमें गीता अध्याय २ श्लोक ४२से. ४४ साक्षात् भगवान्के वचन ही लेखक साक्षीमें पेश करता है।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥

अर्थः—हे अर्जुन ! जो अज्ञानी फलश्रुतिमें ही प्रीति रखनेवाले, कामनापरायण, 'इससे बढ़कर और कुछ है ही नहीं' ऐसा कहनेवाले हैं। वे स्वर्गके भोगपरायण पुरुष जन्म-रूप कर्मफलको देनेवाली और भोग ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिये बहुत-सी क्रियाओंके विस्तारवाली जिस दिखाऊ शोभायुक्त वाणी को कहते हैं, उस वाणीद्वारा हरे हुए चित्तवाले तथा भोग-ऐश्वर्यमें आसक्तिवाले उन पुरुषोंके अन्तःकरणमें निश्चया-त्मक बुद्धि नहीं होती है। अर्थात् स्वर्ग-सुखोंकी महिमा वर्णन करनेवाली पुष्पित-वाणी वेदका अर्थवाद वचन है यथार्थ नहीं, वह अज्ञानियोंका वचन है, ज्ञानियोंका नहीं और उसका फल जन्म व भोग है, मोक्ष नहीं।

पतिव्रता स्त्रीकी भाँति वह परमात्मदेव आपका प्रेम अपने सिवाय अन्य किसी पदार्थपर सौकनके समान सहन नहीं कर सकता।

'सह न सकदी मैं सौकन वैरण झांजर दा झंकार नी'

अर्थात् मैं ही एक अकेली उसकी प्यारी होना चाहती हूँ, उसकी दूसरी स्त्री (सौकन) देखना मैं स्वीकार नहीं कर सकती और न किसी सौकनके झाँजरोंकी झंकार सुनना सहन कर

सकती हूँ। एक परमात्माके सिवाय किसी पदार्थमें चित्त दिया कि अग्निके स्पर्शके समान तत्काल छाला उठा देता है। सारांश, त्यागरूपी शिव-शम्भूने अपने हाथमें त्रितापरूपी त्रिशूल धारण किया हुआ है, अपनेसे विमुखी रागी-जीवोंके हृदयोंको वह विदीर्ण किये बिना नहीं छोड़ता। तीन लोक, चौदह भुवन, सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें प्राणीमात्र पर इस महेशका अधिकार है और अपने अनुसारी जीवोंके लिये वह सब कुछ न्यौछावर करनेके लिये हाजिर है। यहाँतक कि साक्षात् अपनी शिवा-शक्ति भी उनको सौंप देता है, जोकि उनके अधीन रहकर उनकी सेवा करती रहती है।

पीछे हटो! अपने घोड़ेकी बागडोर मोड़ो!! तुम आरम्भ में ही भूल कर आए हो। जिस सड़कसे तुम जा रहे हो, वह तुमको तुम्हारे निर्दिष्ट-स्थान (सच्चे सुख) की ओर लेजानेवाली नहीं है। इस मार्गसे चलकर तुम वैतालकी पहेलीको नहीं सुलझा सकते। इससे हमारा यह आशय नहीं कि तुम अभी हमारी तरहसे सर्वत्यागी हो जाओ, परन्तु केवल विषयसुख ही जिसे तुमने अपने जीवनका धेय बनाया है और जिसकी पूर्तिमें 'आसुप्तेरामृते' अर्थात् जागनेसे सोनेतक और जन्मसे मरण-पर्यन्त तुम लगे हुए हो, यह तुम्हारी भारी भूल है, भोगरूपी काँचके बदले मनुष्यजन्मरूप चिन्तामणिको हार बैठना है और मोक्षद्वारमें प्रवेशकर गिर पड़ना है। इस प्रकार तुम कभी सफलमनोरथ नहीं होने के, दुःखसे छूटने और सुख पानेका यह मार्ग नहीं। इसलिये कमसे कम अपने जीवनका लक्ष्य ठीक-ठीक निश्चित करो। जब तुम्हारा लक्ष्य निश्चित-रूपसे क़ायम हो जायगा, तब अवश्य तुम्हारी गतिमें काफी परिवर्तन होगा।

युधिष्ठिरने राजसूय-यज्ञकी रचना की, जिसमें भगवान् श्रीकृष्ण ने अतिथियोंके पादप्रक्षालन और जूठन उठाने की सेवाका भार स्वयं अपने ऊपर लिया था। धन्य है ! प्रभुके इस आतिथ्यको धन्य है ! फिर

सुखस्वरूपी वैताल के चरणोंमें त्याग की तीसरी भेंट

जो प्रेमीभक्त आत्मसमर्पण करके उनके द्वारपर अतिथि बनकर आयेंगे, उनके लिये तो वे क्या कुछ नहीं करेंगे। अतिथिसेवामें वे प्रमाणपत्र तो प्राप्त कर ही चुके हैं, सनद्‌याफ्ता तो हैं ही। इधर 'ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्' अर्थात् जो मुझे भक्तिपूर्वक भजते हैं वे मेरे में हैं और मैं उनमें हूँ, यह अपना प्रतिज्ञापत्र भी वे प्रकाशित कर चुके हैं, जो उस कालमें भी मिथ्या नहीं हो सकता जब अग्निकी ज्वाला नीचे की ओर और जलका प्रवाह ऊपरकी ओर बहने लग पड़े। कलियुग आदि तो इसको मिथ्या सिद्ध कर ही क्या सकते हैं ? कलियुगके भक्त पड़े कहा करें, आज-कल जमाना ऐसा है वैसा है इत्यादि। भले ही वे कलियुगके गीत गाया करें और अन्धकारमें पड़े घोर निद्रामें खर्राटे मारा करें, परन्तु भैया ! जिनके सिरपर सफ़र सवार है उनको निद्रासे क्या प्रयोजन ? चलनेवाले तो अपना सफर पूरा कर ही जायेंगे और कलियुगको भी सत्युगमें बदल देंगे। युधिष्ठिरकी उस सभाकी रचना ऐसी विचित्रतासे की गई थी कि जहाँ चर्मदृष्टिसे जल प्रतीत होता था, वास्तवमें वहाँ भीत होती थी और जहाँ चर्मचक्षुका विषय भीत होती थी, वहाँ वास्तवमें जल होता था। दुर्योधन इस यज्ञशालाको देखने गया तो वह चर्मचक्षुका अभ्यासी होने के कारण, जहाँ भीत देखता था वहाँ धमसे पानीमें गिर पड़ता था और वस्त्र गीले हो जाते थे। जहाँ पानी देखकर कपड़े उठाकर चलता था, वहाँ पड़ाकसे भीतसे उसका सिर टकरा

जाता था। द्रौपदी और पाण्डव ऊपर बैठे देखकर हँसे कि अच्छा अन्धेके अन्धा पैदा हुआ। दुर्योधनको बड़ी लज्जा आई और वह अपने घरको लौट गया। ठीक, यही अवस्था इस संसाररूपी यज्ञशालाकी है जो मायापतिने अपनी माया से अपने विनोदके लिये रची है। वहिर्मुखी जीवरूप-दुर्योधन इसको सत्य जान, सुखमें दुःख और दुःखमें सुख-बुद्धिकी विपरीत भावनासे कहीं धमसे गिरता हुआ और कहीं पड़ाक से सिर फुड़ाता हुआ लज्जित होकर अन्ततः अपने घरकी ओर लौटनेकी सोचता है। प्रकृतिका ऐसा ही कठोर नियम है, यह चोटें लगा-लगाकर अपने सीधे मार्गपर लाये बिना किसीको नहीं छोड़ती। जो पदार्थ श्वेत माखनके पेड़ेके समान चिकने दिखलाई देते हैं, वास्तवमें कलई (चूने) के गोले निकलते हैं जो खानेवालेकी अँतड़ियोंको फाड़े बिना नहीं रहते। हमारा विषयप्रेमी भी उपर्युक्त प्राकृतिक नियमके अनुसार प्यास बुझाने के लिये मृगतृष्णाके जलके पीछे दौड़-दौड़कर कमर तो तोड़ ही चुका था, परन्तु प्यास तो उल्टी अधिकाधिक बढ़ती ही जाती थी। इधर उपर्युक्त परस्पर विचारोंके परिवर्तनने सोनेपर सुहागेका काम दिया, इन वचनोंसे उसे विश्राम मिला, सुखेच्छु वैतालने इसके घोड़ेकी बागडोर उल्टी मोड़ दी और उसने त्यागकी तीसरी भेट इस रूपमें अपने चरणोंपर रखवाली कि जहाँ वह अपने स्वार्थके अविरोधके साथ-साथ, अर्थात् जिस हद तक उसके स्वार्थमें बाधा न हो उस हद्दतक, यानि अपने स्वार्थ को मुख्य रखकर दूसरोंके स्वार्थसाधनमें उद्यमी रहता था, उसकी बजाय अब दूसरोंके स्वार्थोंको उसी दृष्टिसे देखने लगा जिस दृष्टिसे वह अपने निजी स्वार्थोंको देखता था। साथ ही जहाँ उसके सभी इहलौकिक व पारलौकिक-कर्म कामना-पूर्ण होते थे, वहाँ पारलौकिक नित्य-नैमित्तक कर्म निष्कामभाव

से आचरणमें आने लगे। यही वास्तवमें शुभ-सकाम-कर्मकी अवधि है और यही परमार्थरूपी वृक्षका बीज है। विचार-सागरके रचियता श्रीस्वामी निश्चलदासजीने ॐकारकी ब्रह्मरूप से उपासनाका प्रकार वर्णन करके कैसा उत्तम कहा है? —

जो यह निर्गुण ध्यान न है तो,
सगुण ईश करि मनको धाम ॥
सगुण उपासन हू नहीं है तो,
करि निष्काम कर्म भज राम ॥
जो निष्काम कर्म हू नहीं होवे,
तो करिये शुभ कर्म सकाम ॥
जो सकाम कर्म हू नहीं होवे,
तो शठ वार वार मरि जाम ॥

अर्थात् शुभ-सकाम-कर्मके प्रवाहमें पड़ा हुआ भी यह जीव क्रम-क्रमसे ऊँचा उठता हुआ ब्रह्मरूपी समुद्रमें मिल जाने का ज़ुम्मेवार है। यदि कमसे कम इतना भी मनुष्य न कर सके तो जीवन निष्फल ही है।

त्यागकी तीसरी भेटका भावार्थ और उसका फल।

'दूसरोंके स्वार्थको उसी दृष्टिसे देखना जिस दृष्टिसे अपने स्वार्थको देखा जाय' इसका तात्पर्य यह है कि अपने संसर्गमें आने-वालोंके स्वार्थोंका उतना ही ध्यान रखा जाय, जितना अपने निजी स्वार्थोंका रखा जाता है। अर्थात् यदि आप व्यापारी हैं तो अपने ग्राहकोंके स्वार्थोंका, आप वैद्य हैं तो अपने रोगियोंके स्वार्थोंका, आप वकील हैं तो अपने मवक्किलोंके स्वार्थोंका, आप दलाल हैं तो अपने दुकानदारोंके स्वार्थोंका, आप जागीरदार हैं तो अपने कृषिकारोंके स्वार्थोंका, आप

हाकिम हैं तो अपने महकूमोंके स्वार्थोंका, आप राजा हैं तो अपनी प्रजाके स्वार्थोंका उतना ही ध्यान रखे, जितना आप अपने निजी स्वार्थोंका ध्यान रखते हैं। परस्पर आपके और उन के स्वार्थोंकी एकता विना किसी भेदभावके स्थिर होनी चाहिये। दृष्टांत स्थलपर इस विषयको यूं समझा जा सकता है कि 'हाथ' यदि यह विचार करे कि 'अपने परिश्रमसे कमाई तो मैं करूँ और समग्र शरीर मेरी कमाईका भागी बन जाय, ऐसा क्यों हो? मैं तो अपनी कमाईसे अपने-आपको ही पुष्ट करूँगा' तो ऐसी अवस्थामें 'हाथ' के लिये अपने विचारों को सिद्ध करनेका एकमात्र साधन यही होगा कि वह अपना भोजन पेटको न देकर और छुरीसे चीरकर अपने भीतर प्रवेश करले। इसके सिवाय और कोई उपाय नहीं बन पड़ता जिससे उसका मनोरथ सिद्ध हो सके। परन्तु क्या इस युक्तिसे हाथ पुष्ट हो जायगा? हरगिज नहीं। वह तो मोटाई नहीं, सूजन है; वह तो पुष्टि नहीं, उल्टा रोग है। मोटा होनेके लिये एकमात्र साधन हाथके लिये यही है कि वह अपना भोजन पेट को दे और पेट उसको पचाकर उसका रस शरीरके सब अङ्गोंमें समान भागमें पहुँचा दे और सब अङ्गोंकी पुष्टिके साथ-साथ हाथ भी पुष्ट होजाय। इसके सिवाय और कोई उपाय उसके लिये अपने मनोरथकी सिद्धिके निमित्त नहीं बन पड़ता। इसी प्रकार अपने संसर्गियोंके स्वार्थोंको बनाकर ही आप अपना स्वार्थ बना सकते हैं। इस दृष्टिपर पहुँचते ही जहाँ आप अपने संसर्गमें आनेवालोंका स्वार्थ सिद्ध करनेमें तत्पर होंगे, वहाँ आपका अपना स्वार्थ तो विना किसी बाधाके और विना कष्टके अपने-आप सिद्ध हो जायगा। प्रकृतिका ऐसा ही सुन्दर नियम है। पामरपुरुष जहाँ दूसरोंके स्वार्थोंकी काँट-छाँट करके, अपने तन-मनकी आहुति देकर एव इस लोक तथा

परलोकके सुखोंको वेचकर भी अपना स्वार्थ सिद्ध न कर पाते थे, वहाँ यह महाशय अनायास ही अपने स्वार्थोंको सिद्ध कर जाते हैं। साथ ही वह संसारके लिये सन्तोषरूप और अपने इस लोक व परलोकके लिये शान्तरूप ठहरते हैं। कैसा आश्चर्य-रूप आकाश-पाताल जैसा अन्तर है ?

जिस प्रकार कुटिला व इच्छाचारिणी स्त्री जब अपने पति की आज्ञाविरुद्ध मनमानी चेष्टाओंमें प्रवृत्त होती है, तब पति उसके लिये विकरालरूप धारकर उसके दारुण दुःखका हेतु होता है और पतिद्वारा प्राप्त की हुई वेदनाको न सहकर जब यह अबला पतिके अनुकूल वर्तने लगती है, तब वही पति उसके लिये परम प्रेमका हेतु हो जाता है। ठीक, इसी प्रकार प्राकृतिक नीतिके साथ जीवका पति-पत्निके समान घनिष्ठ सम्बन्ध है। पामर जीव जो नीतिके विरुद्ध मनमुखी रहकर इच्छाचारी रहते हैं, उनके लिये प्रकृति भैरवरूप धारकर अपने त्रितापरूपी त्रिशूलसे उनके हृदयोंको विदीर्ण करती रहती है। उस समय वे चोटे ही जीवको नीचेसे ऊपर उठानेमें सहकारी होती हैं और जब जीव उन चोटोंको न सहकर क्रमसे उपर्युक्त नीतिके अनुसारी होता हुआ शुभसकाम-भावकी उपर्युक्त अवस्था पर पहुँचकर नीतिके अनुकूल बन जाता है तब वही नीति उस जीवके लिये भैरवरूप त्यागकर सुन्दर चित्त-चोर अपनी बाँकी छविसे मनको हरनेवाली कन्हैयाकी झाँकीके रूपमें दर्शन देती है, अर्थात् परम प्रेमका हेतु हो जाती है। नीचेकी अवस्थाओंमें हृदयकी दारुण वेदना ही जीवको क्रम-क्रमसे ऊँचा उठानेमें हेतु रही है और त्यागकी भेंट वैतालके चरणों पर रखवाती रही है, परन्तु उसको बजाय इस अवस्थापर पहुँचकर जीवके हृदयमें जो यत्किञ्चित आनन्दकी लहर उत्पन्न होने लगी वह आनन्दकी चटक ही अब इसको श्रेयपथ में

अग्रसर करनेमें उतावली होने लगी। इस प्रकार आनन्दकी घटकने अब इस जीवको इस अवस्थापर भी बहुत काल टिकने न दिया और इसे शुभ सकाम-भावसे निकालकर निष्काम भावमें तथा विषयी-कोटिसे निकालकर जिज्ञासु-कोटिमें इसका डेरा जा लगाया और त्यागकी चोथी भेंट वैतालके चरणोंमें रखवादी। त्यागकी भेंटें पूर्व अवस्थामें बरबस उसको रखनी पड़ती थीं, परन्तु अब ये वैतालपर न्यौछावर करके अपने उत्साह व प्रेमसे रखी जाने लगीं।

[३] निष्काम-कर्म-जिज्ञासु

चतुर्थ भेंट और निष्काम जिज्ञासुका स्वरूप

त्यागकी चतुर्थ भेंटका आशय यह है कि जहाँ शुभ सकामभावकी अवस्थामें अपने और अपने संसर्गमें आनेवालोंके स्वार्थोंको समान भावसे देखा जाता था, वहाँ इस अवस्थापर पहुँचकर जिज्ञासुका अपना निजी व्यक्तिगत संसारसम्बन्धी कोई स्वार्थ ही शेष नहीं रहता। उसकी दृष्टि व्यापक होगई है अब वह घर-बार, कुटुम्ब-परिवार, शरीरतकको भी अपने व्यक्तिगत नातेसे ग्रहण नहीं करता, किन्तु अपने संसर्गमें आनेवाले समस्त पदार्थों को केवल ईश्वरके नातेसे ग्रहण करता है। पूर्व अवस्थामें कुटुम्ब-परिवार आदि समस्त पदार्थ 'यह मेरे शरीरके सम्बन्धी हैं और मेरे हैं' इस भावसे ग्रहण होते थे। अब वही पदार्थ 'यह सब मेरे ईश्वरके हैं और मैं भी उसीका हूँ क्योंकि यह मेरे ईश्वरके हैं इसलिये मेरे हैं' इस भावसे ग्रहण होते हैं। जिस प्रकार एक गोपाल अपने स्वामीकी गौवोंके प्रति ममत्वका सम्बन्ध जोड़ता है। जब वह जंगलमें गौवोंको चराने जाता है, तब अपने अधिकारमें पाई हुई गौवोंकी सेवाके निमित्त दूसरे गोपालोंसे झगड़ा भी ठानता है, 'तूने मेरी गौको लाठी क्यों

मारी ? तेरी गौने मेरी गौको सींग क्यों मार दिया ?' इत्यादि शब्दोंके व्यवहारमें ममत्वका प्रयोग करते हुए भी चित्तसे वह उनमें अपना ममत्व नहीं मानता। उनके प्रति अपना काल्पनिक ममत्व जोड़ते हुए भी वास्तवमें चित्तसे अपने स्वामीका ही ममत्व स्थिर रखता है और इस प्रकार गोपालन-व्यवहारके द्वारा भी वास्तवमें वह स्वामीकी सेवा ही करता होता है। ठीक, यही भाव इस भावुकका 'ममत्व' शब्दसे अपने अधिकारमें पाये हुए पदार्थोंके प्रति चित्तसे दृढ़ होता है। यद्यपि उसके द्वारा धनो-पार्जन, कुटुम्ब-सेवा, जाति-सेवा, देश-सेवा इत्यादि अनेक चेष्टाएँ प्रकट होती हैं, परन्तु उन सब चेष्टाओंद्वारा वास्तवमें वह ईश्वरसेवा ही करता होता है। सकामी पुरुषोंकी बुद्धि भिन्न-भिन्न चेष्टाओंमें भिन्न-भिन्न लक्ष्यको धारण करनेवाली होती थी, कभी धनमें सुख ढूँढने लगे तो कभी पुत्रमें, कभी स्त्रीमें सुख ढूँढा तो कभी मानमें, कभी बाग-बगीचे, घोड़े-गाड़ीमें सुख बटोरने लगे तो कभी राजसन्मानमें। इस प्रकार उनकी बुद्धि बहुशाखावाली बनकर 'तवेसे उतरे तो चूल्हेमें गिरे'का मामला बन रहा था। परन्तु इस अवस्थापर पहुँचकर इस निष्कामीकी बुद्धिका लक्ष्य अपनी सब चेष्टाओंद्वारा एकमात्र ईश्वरसेवा व ईश्वरप्राप्ति ही बना रहता है और इसीको व्यवसायात्मिका-बुद्धि कहते हैं; यथा:—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥

गी. अ २ श्लो ४१

अर्थः—हे अर्जुन! इस कल्याण-मार्गमें निश्चयात्मिका-बुद्धि एक ही है और अनिश्चित सकामी-पुरुषोंकी बुद्धियाँ बहुत भेदोंवाली एवं अनन्त होती हैं।

भावका महत्त्व

जहाँ क्रिया चेष्टा है वहाँ रजोगुणका होना स्वभाविक है, रजोगुणके बिना किसी प्रकारका हिलन-चलन ही असम्भव है। यद्यपि इस अवस्थामें क्रिया व चेष्टाएँ किसी प्रकार घटाई नहीं जाती, बल्कि चेष्टाओंमें वृद्धि ही देखनेमें आती है; तथापि भावकी विलक्षणताद्वारा वे सब चेष्टाएँ यज्ञरूप बन जाती हैं और रजोगुणकी अपेक्षा सत्त्वगुण-प्रधान होती हैं तथा बन्धनका हेतु न रहकर मोक्षका हेतु होती हैं। भावका ऐसा ही आश्चर्यरूप महत्त्व है। कर्म यद्यपि अपने स्वरूपसे सदोष है चाहे शुभ हो वा अशुभ, क्योंकि वह पुण्य-पापरूप संस्कारद्वारा अपना सुख-दुःख फल भुगानेके लिये कर्ताको बरवश शरीररूपी कारागारमें बन्धन करता है। यथाः—

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ॥ गी. अ. १८, ३

अर्थात् कई एक विद्वान् ऐसा कहते हैं कि सभी कर्म सदोष हैं इसलिये वे त्यागने योग्य हैं। तथापि कर्म अपने स्वरूपसे जड़ है, जड़ वस्तुमें जीवको बन्धन करनेकी सामर्थ्य नहीं। साथ ही प्रकृतिका यह नियम है कि बाहरके कोई पदार्थ धन, पुत्र, स्त्री आदि अपने स्वरूपसे जीवको बन्धन नहीं कर सकते, केवल अपना आसक्ति व ममतारूप भाव ही अपने बन्धनका हेतु होता है। वास्तवमें धनादिक पदार्थ बन्धनरूप नहीं, बल्कि इन पदार्थोंके साथ अपना ममत्वभाव ही अपनेको बन्धन करता है। जो वस्तु (अर्थात् जीव) बन्धनके योग्य है उसका बन्धनके साथ संयोग-सम्बन्ध आवश्यक है, इसलिये बन्धनका भी वहीं होना जरूरी है जहाँ बन्धनयोग्य वस्तु है। बन्धनयोग्य जीव अन्तर है पदार्थ व कर्म बाह्य हैं, जीव चेतन है पदार्थ व कर्म जड़ हैं। इसलिये जड़ तथा बाह्य पदार्थ चेतन तथा अन्तःस्थित जीवको किसी प्रकार बन्धनका सामर्थ्य नहीं रखते।

किन्तु अन्तःस्थित जो कर्ताकी बुद्धिका भाव जिसके द्वारा कर्ताका कर्म व पदार्थसे सम्बन्ध है, उस अपने भावद्वारा ही जीवको बाह्य पदार्थोंसे बन्धन है। आसक्तिरूप व अनासक्तिरूप वह भाव ही जीवके बन्ध व मोक्षका हेतु होता है। अर्थात् जिन पुरुषोंकी इन बाह्य पदार्थोंमें आसक्ति है वे अपने भावद्वारा इन पदार्थोंसे बन्धायमान होते हैं, परन्तु जिन पुरुषोंकी इन पदार्थोंमें आसक्ति नहीं वे अपने अनासक्त भावद्वारा इनसे बन्धायमान न होकर मोक्षके अधिकारी होते हैं। इससे स्पष्ट हुआ कि अपना भाव ही अपने बन्ध व मोक्षका हेतु है, बाह्य पदार्थ व जड़ कर्म बन्ध-मोक्षका हेतु नहीं। इसीलिये कहा गया है:—

'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः' (गी. अ.६, ५)

अर्थात् अपना-आपा ही अपना मित्र है और अपना-आपा ही अपना शत्रु। बाहरके कोई पदार्थ हमारे शत्रु वा मित्र नहीं हो सकते, अपने भावको परिवर्तन करके शत्रुको मित्र और मित्र को शत्रु बनाया जा सकता है। इतना ही नहीं, बल्कि यह अनहुआ अनादि-ब्रह्माण्ड केवल अपने कर्तृत्व-भावके प्रभाव करके ही अपने सम्मुख खड़ा कर लिया गया है, जिसने 'मैं और हूँ वह और है' की भेद भावना करके नाकमें दम कर दिया है। परन्तु जब यह शिव-शम्भू अपना ज्ञानरूपी तृतीय नेत्र खोलकर 'सब मैं ही हूँ' की अभेद-भावना करके सब कामनाओंको भस्म कर देता है, तब यह दुःखरूप संसार भी नित्यानन्दरूपमें बदल दिया जाता है। भावराज्यका ऐसा ही विलक्षण महत्व है।

बन्ध व मोक्षहेतुक भावका स्वरूप

इससे सिद्ध हुआ कि कर्ताकी बुद्धिका भाव ही उसके बन्ध तथा मोक्षका हेतु होता है, जड़ कर्म बन्ध-मोक्षका हेतु नहीं। अब देखना यह है कि भाव किस रूपसे कर्ताके बन्ध तथा मोक्षका हेतु

बनता है। विचारसे जाना जाता है कि कर्तामें कर्तृत्व-अहंकार तथा कर्म-फलकी इच्छा ही उसके बन्धनके हेतु हो सकते हैं, चाहे वे शुभ हों अथवा अशुभ। 'मैं कर्मका कर्ता हूँ और इस कर्मके द्वारा मुझको अमुक फलकी प्राप्ति हो' यह भाव ही जीवके बन्धनका हेतु है। इस भावसे किये गये यज्ञ-दान-तपादि भी जीवके बन्धनके हेतु होते हैं और उसे पुण्य-संस्कारद्वारा सुखभोगके लिये शरीरके बन्धनमें लाये बिना नहीं छोड़ते। इस प्रकार अपरिच्छिन्नको परिच्छिन्न-शरीरका बन्धन, चाहे वह सुखभोगके लिये ही हो, मूलमें क्षय-अतिशयादि दोषोंसे ग्रसा हुआ होनेके कारण जैसा पीछे स्पष्ट किया जा चुका है, दुःखरूप स्वतः ही बन जाता है। 'मैं कर्मका कर्ता नहीं, किन्तु प्रकृतिके गुणोंद्वारा ही सब चेष्टाएँ हो रही हैं' केवल यह भाव ही यथार्थ रूपसे अपने आचरणमें आया हुआ जीवके मोक्षका हेतु होता है। यथाः—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥
तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥

(गी. अ ३ श्लो. २७, २८)

अर्थः—वास्तवमें सम्पूर्ण कर्म प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जाते हैं तो भी अहंकारसे मोहित हुए अन्तःकरणवाला पुरुष 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मान लेता है, यही बन्धन है। परन्तु हे महाबाहो! गुण-विभाग व कर्म-विभागके तत्त्वको जाननेवाला ज्ञानी पुरुष सम्पूर्ण गुण ही अपने गुणोंमें वर्तते हैं (मैं कुछ नहीं करता), ऐसा मानकर आसक्त नहीं होता।

इस प्रकार तत्त्व-दृष्टिद्वारा प्रकृतिके गुण व कर्मविभागसे अपने आत्माको सम्यक् प्रकार भिन्न कर लेना ही कर्तृत्व-

अहंकारसे पल्ला छुड़ा लेना है और यही मोक्षका हेतु है। यद्यपि यह परम उच्चभाव साधनचतुष्टय-सम्पन्न होकर जीव-ब्रह्मके अभेद-साक्षात्कारद्वारा ही सिद्ध हो सकता है, तथापि इस निष्काम-भावके जिज्ञासुकी अवस्थामें यह कर्तृत्व-अहंकार तथा कर्मफल जो पामर व विषयी दशामें पत्थरके समान ठोस व दृढ़ बना हुआ चला आ रहा था, भावके परिवर्तन करके अब शिथिल किया जाता है। जिस प्रकार पीपलका वृक्ष, जिसकी जड़ें चहुँ ओर पृथ्वीमें फैलकर दृढ़ होगई हैं, यदि इस वृक्षको समूल निकाल फैंकना मञ्जूर है तो पहले यह जरूरी है कि इसके चारों तरफसे आसपासकी मिट्टी खोदकर उसकी दबी हुई जड़ें निकाल ली जाएँ, फिर ही उसकी जडों पर कुल्हाड़ा चलाकर उनको मूल-सहित निकाला जा सकता है। ठीक, इसी प्रकार अहंकाररूपी वृक्ष जो हृदय-क्षेत्रमें दृढ़ हो रहा है और जिसकी जड़ें पाताल तक फैल गई हैं, यदि इसको समूल निकालना इष्ट है तो प्रथम निष्काम-कर्मरूपी कुदालीसे इसकी जड़ोंको स्पष्ट कर लेना चाहिये, तदन्तर ही ज्ञानरूपी कुल्हाड़ेसे इसकी जड़ें काटी जा सकती हैं, अन्यथा इसको निर्मूल नहीं किया जा सकता।

निष्काम कर्मका उपयोग व स्वरूप।

उपर्युक्त आशयसे इस जिज्ञासुके सभी कर्म ईश्वरके नातेसे होते हैं और अपने अधिकारके कर्मोंद्वारा वह ईश्वरकी ही पूजा करता होता है। जैसा गीता अ० १८ श्लो० ४५, ४६ में कहा गया है—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥

१—साधन-चतुष्टयके नाम.—विवेक वैराग्य, शमादि षट्सम्पत्ति, मुमुक्षुता।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

अर्थः—अपने-अपने स्वभाविक कर्ममें लगा हुआ मनुष्य अन्तःकरणकी निर्मलतारूप सिद्धिको प्राप्त होता है, परन्तु जिस प्रकार अपने स्वभाविक कर्ममें लगा हुआ मनुष्य सिद्धिको प्राप्त होता है उस विधिको तू सुन। जिस परमात्मासे सब भूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सब जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वर को अपने स्वभाविक कर्मद्वारा पूजकर ही मनुष्य उस सिद्धिको प्राप्त हो सकता है।

जिस प्रकार राजाके अनेक कर्मचारी उसकी प्रजाकी अपने-अपने अधिकारके अनुसार सेवा करते हुए भी राजाकी ही सेवा करते होते हैं; अर्थात् जैसे तहसीलदार प्रजाकी भूमिकी रक्षा करता है, पुलिस-कर्मचारी प्रजाके जानमालकी रक्षा करते है और मेडीकल-आफिसर प्रजाके स्वास्थ्य की रक्षा करता है, इत्यादि। अपने-अपने अधिकारके अनुसार प्रजाकी भूमि-रक्षा, जानमाल-रक्षा और स्वास्थ्य-रक्षा करते हुए भी वे अपने-आपको राजाकी ही सेवा करनेवाले मानते हैं। यद्यपि उनको वेतन भी प्रजाके कर-द्वारा ही मिल रहा है, तथापि वे वेतन भी राजासे ही प्राप्त हुआ जानते हैं। इस प्रकार प्रजाकी सेवा करके तथा प्रजासे वेतन पाकर भी वे अपना सीधा सम्बन्ध राजासे ही जोड़ते हैं। ठीक, इसी प्रकार यह निष्काम-जिज्ञासु भी कुटुम्ब-सेवा, जाति-सेवा देश-सेवा तथा अन्य प्रकारसे अन्न-वस्त्रादिका व्यवसाय करता हुआ भी उपर्युक्त निष्काम-भावके प्रभावसे ईश्वरसेवा ही करता होता है तथा अन्तःकरणकी निर्मलताद्वारा अपने व्यक्तिगत ममत्वसे छूटा हुआ ईश्वरीय कुटुम्ब, जाति व देशकी ही सेवा करता होता है। इस प्रकार अपने व्यवसायद्वारा भी कमसरेटके

गुमाश्तेकी भाँति ईश्वरीय प्रजाको ही अन्न-वस्त्रादिकी सप्लाई (Supply) करता होता है और अपनी सब चेष्टाओंद्वारा ईश्वरीय सेवा करते हुए जो कुछ अनिच्छित प्राप्त होता है, वह भगवान्‌के द्वारा ही आया हुआ जानकर ग्रहण करता है तथा केवल अन्न-वस्त्र ही अपना वेतन मानकर शेष द्रव्य उसके कुटुम्ब के पोषणमें ही लगाता है। इस प्रकार किसी वस्तुपर ममता नहीं करता, यही गीतोक्त स्वकर्मद्वारा ईश्वरीय पूजा है।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥

(गी अ. ३, १६)

अर्थः—हे पार्थ ! जो पुरुष इस लोकमें इस प्रकार चलाये हुए सृष्टिचक्रके अनुसार नहीं वर्तता, अर्थात् अपने स्वभाविक कर्मोंद्वारा ईश्वरसेवा नहीं करता वह केवल इन्द्रियोंके सुखको भोगनेवाला पाप-आयु-पुरुष व्यर्थ ही जीता है।

इस प्रकार निष्काम-भावसे ईश्वरीय आज्ञा मानकर संसार-चक्रको चलानेके लिये जो चेष्टाएँ धारण की जाती हैं,वे ही वास्तवमें यज्ञार्थ-कर्म होती हैं और वे ही अपने फलके बन्धनसे इस जीवको मुक्त करनेवाली होती हैं, यथा—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ॥

(गी. अ ३, श्लो. ८)

अर्थः—ईश्वरनिमित्त कर्मके सिवाय अन्य कर्ममे लगा हुआ ही यह पुरुष कर्मद्वारा बँधता है, इस लिये हे अर्जुन ! आसक्ति से रहित होकर तू ईश्वरनिमित्त कर्मका भली प्रकार आचरण कर।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥
(गी. अ ३, श्लो. १९)

अर्थः—इसलिये तू अनासक्त हुआ कर्तव्य-कर्मका भली प्रकार आचरण कर, आसक्तिरहित कर्मोंके आचरण करनेसे पुरुष परमात्माको प्राप्त होता है।

इस प्रकार इन भावुक पुरुषोंके यज्ञ-दान-तपादिक सभी कर्म सत्त्वगुणप्रधान होते हैं, जिनका लक्षण गीता अ. १७ में इस प्रकार किया गया है।

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥ (श्लो ११)

अर्थः—फलकी इच्छारहित पुरुषोंद्वारा शास्त्रविधिके अनुसार जो 'यज्ञ करना मेरा कर्तव्य है' ऐसे मनके निश्चयपूर्वक किया जाय, वह सात्त्विक यज्ञ कहा जाता है।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ (श्लो १७)

अर्थः-शरीर, मन व वाणी, तीन प्रकारका तप जो परम श्रद्धासे और फलकी इच्छा न रखनेवाले पुरुषोंद्वारा किया जाय, वह सात्त्विक तप कहा गया है।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ (श्लो २०)

अर्थः—जो दान देश, काल व पात्रके अनुसार बदलेमें उपकार न चाहकर अनुपकारीके प्रति 'दान देना कर्तव्य है' इस दृष्टिसे दिया जाय वह सात्त्विक दान है।

जीवका कर्मके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। जो कुछ भी, जब कभी भी, जिस किसीको भी, जिस प्रकार प्राप्त होता है उसके मूलमें अपना कर्म ही है।

कर्मका महत्त्व

संसारमें धन, पुत्र, स्त्री, मान, अपमान, सुख, दुःख, रोग, आरोग्य यावत् पदार्थोंकी प्राप्ति तथा वियोग कर्मके अधीन ही सिद्ध होता है। अङ्ग-प्रत्यङ्गकी रचना भी कर्मानुकूल ही रची जाती है। इतना ही नहीं, बल्कि जो कुछ भी हम आँखसे देखते हैं, कानसे सुनते हैं, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंधमय सम्पूर्ण संसार जीवके अपने कर्मसे ही रचा गया है। इहलोक, परलोक सम्पूर्ण ईश्वरसृष्टिके मूलमें निमित्तरूप एकमात्र कर्मही है। ब्रह्मा कर्मसे बँधा हुआ संसारकी रचना करता है, विष्णु कर्मके अधीन पालन करता है, शिव कर्मके अधीन प्रलय करता है। जीवकी प्रकृति व प्रकृतिके तीनों गुणोंका हेरफेर भी कर्मके अधीन ही है। कर्म करके ही जीवको बन्धन है और कर्मके द्वारा ही मोक्ष है। कर्म ही प्रधान है, कर्मसे भिन्न और कोई सार वस्तु संसारमें है ही नहीं—

कर्म प्रधान विश्व करि राखा।
जो जस करहिं सो तस फल चाखा॥ (रामायण)

ऐसा जो मुख्य व सार वस्तु कर्म है, उसका स्वरूप जानना चाहिये। इसलिये इस विषयमें कुछ विचार किया जाता है।

सामान्य रूपसे किसी प्रकारकी क्रिया, चेष्टा और हिलन-चलन आदि स्पन्दरूप गति या परिणामका नाम कर्म है। न्यायमतमें गुण, कर्म, द्रव्य, समवाय, सामान्य, विशेष और अभाव, इन मुख्य सात पदार्थों

कर्मकी व्याख्या

में कर्मको भी पदार्थ माना गया है और उसके १ उत्क्षेपण (ऊपर फैंकना) २ अपक्षेपण (नीचे फैंकना) ३ आकुञ्चन (सुकोड़ना) ४ प्रसारण (फैलाना) ५ गमन (चलना) ये पाँच भेद किये गये हैं, और जितनी भी क्रियाएँ हैं इन पाँचोंके अन्तर्गत ही मानी गई हैं। परन्तु वेदान्त कर्मकी व्याख्या विलक्षण रीतिसे करता है। वेदान्तदृष्टिसे हिलन-चलन आदि गति ही कर्मरूप नहीं, किन्तु शरीरके अन्दर-बाहर प्रत्येक क्षण ऐसी असंख्य चेष्टाएँ प्रकट होती हैं जो शरीरद्वारा प्रकट होते हुए भी वेदान्तदृष्टिसे वास्तविक रूपसे कर्मकी व्याख्यामें सम्मिलित नहीं होतीं। उदाहरण रूपसे समझ सकते हैं कि भोजन खानेके पीछे पककर मल आदि विसर्जन होनेतक खाद्यको असंख्य नाडियोंमेंसे निकलना पड़ता है और वह असंख्य परिणामोंको प्राप्त होता है। सम्पूर्ण नाड़ियोंमें प्रत्येक क्षण रक्त-सञ्चार हो रहा है, शरीरके रोम-रोममें क्रिया हो रही है, बाल बढ़ रहे हैं, आँखोंकी पलकें हिलती हैं, अङ्ग फड़कते हैं, उन सब चेष्टाओंकी कौन गिनती कर सकता है? यद्यपि ये सब चेष्टाएँ शरीरमें वर्त रही हैं, परन्तु वेदान्तदृष्टिसे ये कर्मकी यथार्थ गणनामें नहीं आ सकतीं। वेदान्तदृष्टिसे उन्हीं शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक चेष्टाओं का नाम कर्म है जिनके साथ मनका सम्बन्ध है। गीताने इसी आशयसे कर्मकी व्याख्या एक ही पादमें इस प्रकार की है।

'भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥' (अ. ८, ३)

अर्थात् भूतोंमें भावको उत्पन्न करनेवाले चेष्टारूप व्यापार की 'कर्म' नामसे संज्ञा की गई है।

मन व बुद्धिमें जो स्पन्दरूप परिणाम होता है उसीका नाम 'भाव' है। इसलिये जो चेष्टाएँ मन-बुद्धिमें, अथवा मनबुद्धि की आदतमें होती हैं वे ही 'कर्म' हैं। जिन चेष्टाओंमें मन-बुद्धि

की आढत नहीं होती अर्थात् जो मन-बुद्धिकी जानकारीमें नहीं हो रही हैं वे कर्मरूप भी नहीं होतीं, क्योंकि वे किसी भाव को उत्पन्न नहीं करतीं और न वासना तथा संस्कारकी ही जनक होती हैं। इसलिये न तो वर्तमानमें किसी सुख-दुःखके भोगकी हेतु होती हैं और न भविष्यमें पुण्य-पापरूप संस्कारोंको ही उत्पन्न करती है। शरीरके भीतर भोजन खानेके पश्चात् उस खाद्यके रस, रक्त, मांस, मेद, मज्जा व वीर्य आदि धातु बनने तक न जाने कितने असंख्य परिणाम होते होंगे, परन्तु वे सब परिणाम मनबुद्धिकी आढ़तमें नहीं होते इसलिये वे कर्मकी वास्तविक व्याख्यामें भी नहीं आते। परन्तु सोना-जागना कर्म है, चलना-फिरना कर्म है, बोलना-मौन रहना कर्म है, ग्रहण-त्याग कर्म है, संन्यास व भिक्षा माँगना कर्म है, विवेक, वैराग्य, सम, दम, श्रद्धा, समाधान, तितिक्षा, उपरति व मुमुक्षुता कर्म है, श्रवण-मनन-निदिध्यासन कर्म है, विचार कर्म है तथा यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधि कर्म है। सारांश, प्रत्येक प्रवृत्ति और प्रत्येक निवृत्ति कर्म है तथा गीतोक्त सांख्ययोग व कर्मयोग भी कर्म है। ऐसा क्यों? इसीलिये कि वे सब चेष्टाएँ मन-बुद्धिके साक्षात् परिणाम हैं अथवा मन-बुद्धिकी आढ़तमें होती हैं, इसलिये वे भावको उत्पन्न करती है और अपना फल रखती हैं।

कर्मकी उपर्युक्त व्याख्याको ध्यानमें रखकर कहना पड़ेगा कि कर्म सर्वथा अनिवार्य है। जबकि कर्मका त्याग भी कर्म सिद्ध हुआ तब प्रकृतिके राज्यमें किसी प्रकार कर्मसे छुटकारा है ही नहीं। वास्तवमें विचार करके देखिये तो अधिकारानुसार कर्मका आचरण करते-करते प्रकृतिके बन्धनसे छूटकारा भी कर्मके द्वारा ही हो सकता है। स्वकर्मके प्रवाहमें पड़ा हुआ ही यह जीव ब्रह्म

कर्मकी अनिवार्यता

रूपी समुद्रमें मिलकर ब्रह्मरूप होनेका जुम्मेवार है। यही कर्मका फल है, यहाँ पहुँचकर ही कर्म पर्यवसानको प्राप्त होते हैं और जीवको अपने बन्धनसे छुटकारा देते हैं। जबतक तत्त्व-साक्षात्कारद्वारा इन ज्ञानोके कर्म अकर्मता (नैष्कर्म्यता) को प्राप्त न हो जाएँ, कर्तव्यरूपी वैताल कि 'मैं दुखी हूँ और मुझको सुख मिले' कदापि इसका पीछा नहीं छोड़ सकता और इस कर्तव्यसे मुक्त हो जाना यही स्वकर्मरूपी यज्ञकी पूर्णाहुति है। इसके विपरीत अधिकारभिन्न कर्म ही इस जीवके बन्धनका हेतु है। अपने विपरीत आचरणद्वारा ही यह जीव कर्मबन्धनसे इसी प्रकार भटकता फिरता है और इसकी वही गति होती है जो आँधीमें पड़े हुए एक सूखे तृणकी। इसलिये कर्मका प्रवाह यदि शुभ मार्गकी ओर खोल दिया जाय तो अशुभकी ओर इसका प्रवाह स्वतः रुक जायगा और यदि शुभकी ओर प्रवाह बन्द कर देंगे तो अशुभकी ओर इसका प्रवाह बरबश खुल जायगा, आखिर यह प्रवाह रुकनेका तो है ही नहीं। जिस प्रकार जल का प्रवाह यदि सीधे मार्ग चलनेसे रोक दिया जाय तो वह अपने निकासका मार्ग किसी और तरफको बरबश अपने-आप दीवार तोड़कर भी निकाल लेगा, वह रुक नहीं सकता। इसी प्रकार जब कि प्रकृतिके राज्यमें कर्मका प्रवाह ऐसा बलवान् और अनिवार्य है तो इसको प्रकृतिके अनुकूल सीधा मार्ग ही क्यों न दिया जाय? जिससे यह अपनी गतिसे चलता हुआ ब्रह्मरूपी समुद्रमें मिलकर अपने-आप शान्त होजाय। इसी आशयको लक्ष्य करके गीता अ० ३ श्लो० ४ से ८ में कहा गया है:—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥
कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥

अर्थः—किसी भी प्रकार कर्मका स्वरूपसे त्याग अशक्य है इसलिये भगवान् कहते हैं:—पुरुष कर्म न करनेसे न तो निष्कर्मताको प्राप्त होता है और न कर्म के त्यागसे ही उसे भगवत्-साक्षात्काररूप सिद्धि मिलती है। तथा किसी क्षणके लिये कोई भी पुरुष बिना कर्मके स्थित नहीं रह सकता, बल्कि प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणोंद्वारा परवश यह जीव कर्म करता ही रहता है। (जब कर्म ऐसा बलवान् और अनिवार्य है तो) कर्म-इन्द्रियों को रोककर जो मनसे भोगोंका चिन्तन करता रहता है, वह तो मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी ही कहा जाता है। हे अर्जुन ! जो पुरुष मनसे इन्द्रियोंको वशमें करके अनासक्त हुआ कर्म-इन्द्रियों से कर्मयोग (अर्थात् फलाशारहित कर्म) का आचरण करता

---

१ कर्म करके भी कर्मके बन्धनमें न आना, जैसे कमल जल में रहकर भी जलसे लेपायमान नहीं होता, ऐसी अवस्थाका नाम 'निष्कर्मता' है।

है इससे वह श्रेष्ठ है। इसीलिये तू शास्त्रविधिसे (अपनी प्रकृतिके अनुसार) नियत किये हुए स्वधर्मरूप कर्मको कर, क्योंकि कर्म न करनेसे कर्म करना श्रेष्ठ है, यहाँतक कि कर्म विना तेरा शरीरनिर्वाह भी सिद्ध न होगा।

यद्यपि प्रकृतिके राजमें कर्म सर्वथा अनिवार्य है, तथापि

कर्मद्वारा प्रकृतिकी निवृत्तिमुखीनता

कर्मद्वारा प्रकृतिका स्वाभाविक स्रोत निवृत्तिमुखीन ही है। आशय यह कि उद्भिज्जादि जड़ योनियोंसे लेकर, जो जीवभावके विकासका आरम्भिक स्थल है, स्वेदज, अण्डज, जरायुज योनियोंसे लंघकर मनुष्ययोनिकी प्राप्तिपर्यन्त जितनी भी चेष्टा व कर्म प्रकृतिद्वारा प्रकट होते है, उन सबके मूलमें वास्तवमें त्याग ही विद्यमान है। जीवभावका मनुष्ययोनिमे विकास होने पर ब्रह्मभावकी प्राप्तिपर्यन्त पामर, विषयी आदि कोटिमें भी यद्यपि स्थूलदृष्टिसे प्रतीत न होता हो तथापि प्रकृतिकी सर्व चेष्टाओंमें केवल निवृत्तिरूप त्याग ही निहित है। यथाहि—पाषाण-उद्भिज्जादि जड़ योनियोंसे लेकर मनुष्य योनिकी प्राप्तिपर्यन्त क्रम-क्रमसे प्रत्येक योनिमें प्रकृतिद्वारा जड़ताको गला कर उनमें चेतना शक्ति सम्पादन की जाती है। पाषाणयोनिमें जीवकी गाढ़-सुषुप्ति-अवस्था होती है, उस जड़ताको पिघलाकर प्रकृतिद्वारा उद्भिज्जयोनिमें क्षीण-सुषुप्ति-अवस्थाकी प्राप्ति की गई और प्रथम अन्नमयकोशका विकास किया गया। इस अवस्थासे जीवको ऊँचा उठाकर स्वेदज योनिमें गाढ़-स्वप्न-अवस्थाका विकास हुआ और दूसरा प्राणमयकोशका प्रादुर्भाव हो आया। इससे आगे चलकर अण्डजयोनिमें प्रकृतिद्वारा क्षीण-स्वप्न तथा तृतीय मनोमयकोशकी और जरायुज योनिमे केवल स्वप्न तथा चतुर्थ विज्ञानमय कोशकी प्रकटता की गई। और मनुष्ययोनिमें जाग्रत-अवस्था तथा आनन्दमयकोशका

विकास करके चेतना शक्तिकी पूर्णता सम्पादन कर दी गई। इस क्रमका विस्तृत विवरण 'पुण्य-पापकी व्याख्यामें (पृ० १८ से २४ पर किया जा चुका है।

इसप्रकार नीचे जड योनियोंसे आरम्भ करके मनुष्ययोनि में पाँचों कोशोंका विकास करते हुए जडताके त्यागद्वार प्रकृति की प्रत्येक चेष्टामें निवृत्तिरूप त्याग ही दर्शाया जा रहा है, जिससे प्रकृतिकी निवृत्तिमुखीनता ही सिद्ध होती है। संसार में जड़ व चेतन दो ही पदार्थ हैं, इनमेंसे चेतन तो निवृत्ति के योग्य हो ही नहीं सकता और न चेतनको निवृत्त करना प्रकृति का लक्ष्य ही है, केवल जड़को ही शनैः-शनैः गलाकर निवृत्त कर देना प्रकृतिका मुख्य धेय है। मनुष्ययोनिमें पञ्चकोशोंके पूर्ण विकासके कारण यद्यपि उसमें सुख-दुःखके तारतम्यका ज्ञान, सुख-दुःखके साधनोंका ज्ञान, पुण्य-पापका ज्ञान, इहलोक-परलोकका ज्ञान, छल-कपट एव भले-बुरेका ज्ञान, व्यवहारकी चतुराईका ज्ञान, विद्युत्-भाप आदि पदार्थ विद्या और अनेक प्रकारकी विद्याका ज्ञान-विज्ञान उपार्जन करनेकी सामर्थ्य उत्पन्न हो आई है; तथापि जो जड़ता आरम्भसे ही दृढ़ होती चली आ रही है, उस जड़ताका इस मनुष्ययोनिमें भी किसी न किसी रूपमें स्थिर रहना आवश्यक है। इसी कारण देहा-भिमान तथा स्वार्थमूलक रूपसे इस योनिमें भी जड़ता अधिक घर किये बैठी है, जिससे मनुष्य बन्दरकी भाँति देह व कुटु-म्बादिके स्वार्थकी पकड़से मुट्ठी बाँध बैठा है। अब कर्मके द्वारा उस चढ़े-चढ़े देहाभिमान तथा स्वार्थरूप जड़ताको क्रमक्रम से पिघलाकर सर्वथा नष्ट कर देना ही प्रकृतिका निवृत्तिरूप लक्ष्य है। जैसा कि पामर व विषयी पुरुषोंके प्रसंगसे स्वार्थ की उन भिन्न-भिन्न कोटियोंका पीछे निरूपण किया जा चुका है और उसकी निवृत्तिका क्रम इस समयतक स्पष्ट किया जा रहा है।

शारीरिक चिकित्साकार इस विषयकी भली-भाँति साक्षी देंगे। शारीरिक-प्रकृतिका यह स्वाभाविक नियम है कि मल-मूत्रादि विकार तथा वात, पित्त व कफादि दोष जब शरीरमें प्रकृतिविरुद्ध चेष्टाओंद्वारा दूषित होजाते हैं, तब प्रकृति स्वभाव से ही उन बढ़े-चढ़े दोषोंको निकाल फैंकनेका प्रयत्न करती है। ज्वर, अतिसार आदि अनेक रोग इसी नियमके अनुसार प्रकट होते हैं। पित्तकी वृद्धि वर्षा-ऋतुमें होती है तब मलेरियाज्वर-द्वारा उस पित्तका प्रकोप बाहर निकाला जाता है। अजीर्णकी वृद्धि होनेपर जब मल दूषित हो जाता है, तब उसके वेगको अतिसारद्वारा बाहर निकालनेका मार्ग खोला जाता है। रक्त दूषित होता है तो फोड़े-फुन्सी आदि चर्मरोगद्वारा उसके वेग को बाहर फैंका जाता है। ठीक, यही अवस्था मानसिक-प्रकृति की है। पामर और विषयी पुरुषोंमें जब मनोविकारकी वृद्धि होती है तब प्रकृतिदेवी प्रथम तो अन्दरसे उस बढ़े-चढ़े विकार को क्रमशः निषिद्ध प्रवृत्ति व सकाम प्रवृत्तिद्वारा निकाल फैंकने का यत्न करती है, दूसरे बाहरसे उन निषिद्ध कर्मोंके फलस्व-रूप समस्त संसारको उनके विरुद्ध सशस्त्र खड़ा कर देती है और तीसरे 'हमको सुख मिले' यह तीव्र इच्छारूप वैताल उनके सिरपर चढ़कर उनकी गर्दन दबाता है। इस प्रकार अन्दर, बाहर और ऊपर सभी ओरसे प्रकृति उनके बढ़े-चढे मनोवि-कारोंको निवृत्त करनेके पीछे पड़ी हुई है। यही कर्मकी अन-र्गल प्रवृत्तिद्वारा भी प्रकृतिकी निवृत्तिमुखीनताका स्पष्ट प्रमाण है।

कषायपक्तिः कर्माणि ज्ञानं तु परमा गतिः ।
कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते ॥

(सूत्र भाष्य ३,४,२६)

अर्थः—कर्मका फल कषायों (राग-द्वेषके संस्कारों) का पकाना ही है, ज्ञान ही परम गति है, कर्मसे कषाय पकनेपर फिर ज्ञानका आविर्भाव होता है।

कर्मद्वारा प्रकृतिकी निवृत्तिमुखीनता सिद्ध की गई। उपर्युक्त

निष्काम-कर्मका रहस्य

नीतिके अनुसार यह जिज्ञासु निषिद्ध-सकाम व शुभ-सकामकी कक्षाओंसे उत्तीर्ण होकर अब निष्काम-कर्मकी - कक्षामें प्रविष्ट हुआ है। फलाशारूप इच्छा ही कर्ममें विष मिला हुआ था, जो अहंकार-रूपी दु:खकी वृद्धि कर रहा था। प्रकृतिकी सहायतासे अब इस विषको इसने अपने हृदयसे निकाल फैंका है। जैसा कि पीछे स्पष्ट किया जा चुका है, 'अहंकारसे इच्छाकी उत्पत्ति होती है और इच्छासे अहंकारकी पुष्टि होती है' यही दु:ख है। संसारसम्बन्धी इच्छाओंसे पल्ला छुडाकर जिस प्रकार बरफ हिमालयसे पिघलकर गंगारूपमें समुद्रकी ओर दौड़ती है, इसी प्रकार अब इसने अहंकारकी जड़ताको पिघलाकर इस अहंकारका प्रवाह ब्रह्मरूपी-समुद्रकी ओर चला दिया है। जैसे कोई ज्येष्ठ मासके मध्याह्नके धूपमें तपा हुआ सिरपर पोट का भार उठाये हुए पोटको नीचे फैंककर वृक्षकी छाया में विश्राम करके सुखी होता है, इसी प्रकार यह जिज्ञासु सांसारिक इच्छाके भारसे मुक्त होकर कर्म करता हुआ भी कर्मरूपी मध्याह्नके तापसे फलाशात्यागरूपी वृक्षकी छायामें विश्राम पा रहा है। आशय यह कि कर्म तो अपने स्वरूपसे आरम्भ व परिणाममें दु:खरूप है ही और अपने सम्बन्धसे तापका ही हेतु है। कर्मके साथ यदि कुछ विश्राम मिलता है तो फलाशा-त्यागद्वारा ही मिल सकता है, इसीलिये कर्मको मध्याह्नके ताप से उपमा देकर फलाशात्यागकी वृक्षकी छायासे तुलना की गई है। संसारसम्बन्धी स्वार्थ अब इसका कोई नहीं रह गया,

बल्कि परमार्थको ही इसने स्वार्थ रूपसे अपना लिया है। अर्थात् ईश्वरप्राप्तिरूप परमार्थ ही इसका केवल स्वार्थ है और अब इसकी सम्पूर्ण दौड़धूप इसी निमित्त है। वास्तवमें बात तो है यूँ कि फलकी इच्छा रजोगुणका परिणाम होनेके कारण कर्ताको फलसे विमुख ही करती है, क्योंकि रजोगुण चञ्चल रूप है इसलिये रजोगुणकी उपस्थितिमें फलकी प्राप्ति असम्भव है। फलकी प्राप्ति सदैव उसी अवस्थामें होती है, जब कि हमारा चित्त रजोगुणसे निकलकर सत्त्वगुणको धार रहा हो। जब-जब जिस किसीको किसी फलकी प्राप्ति हुई है, यदि ठीक उस समयकी अपने चित्तकी अवस्थापर किसी पक्षपात के बिना ध्यान दिया जाय तो प्रत्येक व्यक्ति स्वानुभवसे इस विषयकी साक्षी देगा कि जब-जब चित्त फलकी इच्छा करके चञ्चलतासे पूर्ण रहा है तब-तब खोया गया है और जब फलाशा से निराश होकर चञ्चलतासे छूटकर दैव-इच्छापर निर्भर हुआ है तब-तब ही सफलता हुई है। दृष्टान्तरूप से समझा जा सकता है कि यदि कोई तरल पदार्थ किसी सँकड़े मुँहके बरतन में डालना इष्ट है और पदार्थको उस बरतनमें उलटते समय यदि हमारे चित्तमें चञ्चलता व भय है तो अवश्य हाथ हिल जायगा और वह नीचे गिर जायगा। इसके विपरीत यदि हमारा चित्त चञ्चलतासे रहित और निर्भय है तो एक बूँद भी बाहर नहीं गिर सकती। इसी प्रकार रजोगुणकी विद्यमानतामें असफलता और सत्त्वगुणकी विद्यमानतामें सफलता प्राप्त होती है। इसमें रहस्य यह है कि फलाशाद्वारा रजोगुण व चञ्चलता करके मनुष्य हलका व दीन हो जाता है, इसलिये सफलता निकट आई हुई भी उसको पीठ दिखा जाती है, क्योंकि दीनताके कारण उसमें आकर्षण शक्ति लुप्त हो जाती है। फलाशा-त्यागद्वारा सत्त्वगुणकी उपस्थितिमें मनुष्य भारी भरकम रहता है और

उसमे आकर्षण शक्तिका प्रादुर्भाव होता है; इसलिये सफलता को उसकी ओर आकर्षित होना पड़ता है। जैसे राजा बेगरज होता है, इसलिये सब पदार्थ उसकी ओर अपने-आप आकर्षित होते है, परन्तु भिखारी गरजमन्द रहता है, इसीलिये उसको मॉगिसे भी कोई वस्तु प्राप्त नहीं होती।

फलकी इच्छा हमारी कार्यशक्तिको घटाती है और चिन्ता व भयको बढ़ाती है। चिन्ता से उत्साह नष्ट हो जाता है तथा कायरताकी वृद्धि होती है। चिन्तासे ईश्वरमें विश्वास निकल जाता है, बल्कि चिन्ता ईश्वरके अस्तित्व (मौजूदगी) को ही मिटा देती है। यदि हम ईश्वरके अस्तित्वको मानते होते तो चिन्ताका कोई अवसर नहीं हो सकता था। यदि हम यह यथार्थ रूपसे जानते होते कि जो अन्तर्यामीदेव गर्भवासमें भी, जब कि जीव गर्भरूपी कारागारमे सर्वथा दीन-हीन दशा को प्राप्त था और अपने पुरुषार्थसे एक इञ्च भी हिलने-चलनेमें समर्थ न था, यहॉतक कि खानपानके लिये द्वार भी न रखता था, उस कालमे गर्भस्थ शिशुकी नाभिद्वारा नालरूपी पिच-कारीके जरिये उस विचित्र सिविलसर्जन (Civil Surgeon) ने माता के पेटसे रस खींचकर उसका नियमित आहार वहॉ पहुँ-चाया है और गर्भसे बाहर निकलते ही माताके स्तनोंमें दूध इसी प्रकार हाजिर कर दिया है जैसे कोई बादशाह दौरेमें निकलता है तब उसके लिये हाजिरो, लांच (Launch), टिफन (Tiffin), डिनर (Dinner) आदि समय-समयपर उसकी मेजपर बिना मॉगे ही हाजिर कर दिये जाते हैं। तथा जिस अन्तर्यामीदेवने इसी जीवकी अनन्त योनियोंमे जल, थल, आकाश व पाषाणमे भी पालना की है और समय-समयपर इसकी पेटिया (रसद) हाजिर कर दिया है, वही देव अब भी सब प्रकार जुम्मेवारी धारे हुए है। तब ऐसे विचारोंकी

परिपक्वतामें चिन्ताके लिये कोई अवसर नहीं रहना चाहिये था, इसलिये चिन्ताग्रस्त मनुष्यको परम नास्तिक कहना चाहिये।

होय निचिंत करे मत चिंतहि, चोंच दई सोई चिन्त करेगो।
पाँव पसार परयो किं न सोवत, पेट दियो सोइ पेट भरेगो।
जीव जिते जलके थलके, पुनि पाहनमें पहुँचाय धरेगो।
भूख हि भूख पुकारत है नर, सुन्दर तू कहा भूख मरेगो॥१॥
काहे को दौरत है दशहूँ दिशि, तू नर देख कियो हरिजू को।
बैठ रहे दुरि कै मुख मूँदि, उघारत दाँत खवाइ है टूको।
गर्भ थके प्रतिपाल करी जिन, होइ रह्यो तब ही जड़ मूको।
सुन्दर क्यों बिललात फिरै अब, राख हृदै विश्वास प्रभुको॥२॥

वास्तवमें यह नियम है कि जब हम फलके लिये चिन्तातुर रहते हैं तब वह देव निश्चिन्त हो बैठता है और जब हम फलके लिये निश्चिन्त रहते हैं तब उसकी धुकधुकी धड़कती है। फिर वृथा ही चिन्ता करके उसको निश्चिन्त क्यों कर दिया जाय ? क्योंकि उसको निश्चिन्त करके हम निश्चिन्त नहीं रह सकते।

चिता चिन्ता समाप्युक्ता चिन्ता च विन्दुनाधिका।
चिता दहति निर्जीवं चिन्ता सा तु सजीविकाः॥

अर्थः— 'चिता' और 'चिन्ता' बराबर कही गई हैं किन्तु चिन्तापर एक विन्दु अधिक है, (उसका यह फल है कि) चिता निर्जीवको जलाती है और चिन्ता जीवोंको।

जब हम अपने हृदय-सिंहासनसे उस अन्तर्यामीदेवको नीचे गिरा देते हैं और 'मैं ही सब कुछ करता हूँ' इस रूपसे

अपने परिच्छिन्न-अहंकारको उस सिंहासनपर आरूढ कर देते हैं, तभी निर्विवाद रूपसे चारों ओरसे चिन्ताएँ हमारा स्वागत करती हैं और हमारा वातावरण दुःख व शोकमय बन जाता है। यदि उस देवको फिरसे उसकी अपनी गद्दी (हृदय सिंहासन) पर विराजमान कर दिया जाय और अपने परिच्छिन्न-अहंकारको नीचे उतारकर उस देवका आज्ञाकारी 'जी हुजूर' बना दिया जाय यथाः—

कुन्दन के हम डले हैं, जब चाहे तू गला ले।
बावर[1] न हो तो हमको, ले आज आज़मा[2] ले॥
जैसी तेरी ख़ुशी हो, सब नाच तू नचा ले।
सब छानबीन करले, हर तौर दिल जमा ले॥
राजी हैं हम उसीमें, जिसमें तेरी रज़ा[3] है।
यहाँ यूँ भी वाह वाह है, और वूँ भी वाह वाह है॥

तब ऐसी अवस्था में चिन्ताएँ एकदम कूँच कर जाती हैं और हमारा वातावरण शान्ति व आनन्दसे भर जाता है। ऐसी अवस्थामें ही इच्छित पदार्थ अपने-आप इसी प्रकार हमारे पास दौड़े आते हैं जैसे भूखे बालक माताके पास दौड़े जाते हैं।

'यथेह क्षुधिता बाला मातारं पर्युपासते'

जो पुरुष फलाशा धारण किये हुए हैं वे दरिद्री व दीन हैं, चाहे वे मायाद्वारा लक्षपति भी क्यों न हों। और जिस

---

1. निश्चय। 2. परीक्षा करले। 3. ख़ुशी।

पुरुषने विचारपूर्वक फलाशासे पल्ला छुड़ा लिया है वही वास्तवमें उदारात्मा और धनी है, चाहे उसे पेटभर रोटी भी न मिलती हो। फलाशा-त्यागसे शक्ति व उत्साह फूट निकलते हैं और हमारा कार्यक्षेत्र विशाल हो जाता है। इसमें तत्त्व यह है कि फलाशा बनाये रखकर अहंकारकी दृढ़ता करके हम अपनी शक्तिको घटाकर अपने शरीरतक ही परिच्छिन्न बना लेते हैं, परन्तु स्वार्थ व फलाशा-त्यागद्वारा अहंकारसे ऊँचे उठकर हम ब्रह्माण्ड-शक्तिपर भी अपना अधिकार जमा लेते हैं। ऐसी अवस्थामें ईश्वरीय-शक्ति ही हमारी अपनी शक्ति होती है और हमारा कार्य ईश्वरीय-कार्य होता है तब शक्तिका स्रोत इसी प्रकार हमारे अन्दरसे फूट निकलता है जैसे किसी चश्मे से पानी उभल-उभलकर महानदके रूपमें बह निकलता है। वास्तवमें जो शक्ति हमारे हृदयमें विराजमान है वह अनन्त व असीम है, परन्तु परिच्छिन्न-अहंकार व कर्मफलका ढक्कन दबाकर हम उस शक्तिको वह निकलनेसे रोक देते हैं। फल की इच्छा हमारे अन्दर थकान उत्पन्न कर देती है और फलाशा-त्यागद्वारा हमारी चेष्टाएँ अथक बन जाती हैं, प्रकृति का यही नियम है। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि चिउँटी व दीमक आदि योनियोंमे दिनरात, आठों प्रहर, चौसठ घड़ी अविराम चेष्टाएँ देखनेमें आती हैं वे अपनी चेष्टाओं से कभी नहीं थकतीं और न कभी विश्राम लेती हैं। इसका कारण क्या है? कारण यही है कि न उनमे कर्ताभाव जागृत है, न वे किसी फलकी इच्छा धारकर कर्म करती हैं, बल्कि किसी प्रकारकी इच्छा बिना कर्मके लिये ही कर्म कर रही हैं और भगवान्‌के इस वचनको यथार्थ रूपसे व्यवहारमे ला रही हैं:—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥
(गी. अ. २, ४७)

अर्थ.-तेरा अधिकार कर्म करनेमें ही है, फलमें कभी नहीं (किन्तु फलमें तो मेरा ही अधिकार है) और तू कर्मफलकी वासना (गन्धमात्र) रखनेवाला भी न हो। (इस विचारसे कि जब कर्मफलकी इच्छा ही न हो तो कर्म करनेसे भी क्या प्रयोजन?) तेरी कर्म न करनेमें भी प्रीति न हो (किन्तु तुझे कर्म तो करना ही चाहिये)।

इससे यह स्पष्ट हुआ कि कर्तृत्व-अहंकार और कर्म-फलकी इच्छा ही मनुष्यमें थकान पैदा करनेवाले हैं। इस प्रकार जब कर्मके लिये ही कर्म किया जाय, तब फल तो कहीं जा ही नहीं सकता। क्रियाकी प्रतिक्रिया तो ईश्वरराज्यमें नष्ट हो ही नहीं सकती। कर्ममें फल तो इसी प्रकार छिपा हुआ है, जैसे नन्हेसे वट-बीजमें महान् वट-वृक्ष घड़ी करके (तह करके) रखा हुआ है। नन्हें से वट-बीजको भूमिमें दबानेकी ही जरूरत है फिर डाली, पत्ते, फूल, फल तो अपने-अपने समयपर आप ही उससे निकल आयेंगे, इसके लिये तो चिन्ता की कोई जरूरत ही नहीं। इसी प्रकार कर्मरूपी बीज हृदय-क्षेत्र में जमानेकी देरी है, फिर उससे सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग अपने-आप दैवी-नियमके अनुसार निकल पड़ेंगे। इस प्रकार जब कर्मका फल निश्चित है, तब उसके लिये चिन्तारूपी वेदना क्यों सही जाय? इस चिन्तारूपी यम-यातनासे क्या प्रयोजन? उल्टा नन्हेंसे बीजपर चिन्तारूपी भारी पत्थर रखकर उसको फलने फूलनेसे क्यों रोक दिया जाय?

वास्तवमें कर्म अपने स्वरूपसे रजोगुणी नहीं, किन्तु

कर्म के साथ जो फलाशा वही रजोगुणकी मूर्ति है, जो कर्ताको अपनी जागीरमे अशान्ति प्रदान करती है और परमार्थसे भ्रष्ट करतो है। इस विषके निकाल फैंकनेसे ऐसे सज्जनोंके हृदय व मस्तकपर शान्तिरूपी पूर्णमासीके चन्द्रमाकी कान्ति विराजमान होती है और वे लोक परलोक दोनोंके अधिकारी होते हैं। सारांश, कर्मका प्रयोजन इहलौकिक सुख, शान्ति व मान तथा पारलौकिक ईश्वर-प्राप्ति ही है, निष्काम-कर्मसे ये चारों ही प्राप्त होते हैं और सकामतासे चारों ही नहीं।

कर्म-अकर्मका रहस्य

यद्यपि इस जिज्ञासुने संसारसम्बन्धी इच्छा व कामना-रूप फलाशासे तो छुटकारा पा लिया है, तथापि सर्वथा कामना व फलाशा से अभी इसका छुटकारा नहीं कहा जा सकता। इस फलाशा का सर्वथा त्याग तो उन तत्त्ववेत्ता साक्षात्कारवान् महापुरुष ज्ञानियोंके ही हिस्सेमें आया है, जिन्होंने संसारके तत्त्वको ज्योंका त्यों जाना है, ज्ञानाग्निसे कर्तृत्व अहंकारको सर्वथा भस्म कर दिया है और शरीर व इन्द्रियोंद्वारा सब कुछ करते हुए भी सब क्रियाओंसे दूर खड़े हैं। इस जिज्ञासु के सम्बन्धमें संसारसम्बन्धी फलाशा तो यद्यपि नहीं है, परन्तु कर्तृत्व-अहंकार व कर्तव्य-बुद्धि अभी खड़ी हुई है, जिसके फलस्वरूप अपने कर्मोंद्वारा एकमात्र ईश्वर-प्राप्तिरूप इच्छा विद्यमान है, जो सांसारिक इच्छाओंकी अपेक्षा धन्य कही जा सकती है। वास्तवमें सांसारिक इच्छाओंसे छुटकारा भी इस पवित्र इच्छाके प्रबल हुए बिना असम्भव है। बल्कि सांसारिक इच्छाओंके निकाल फैंकनेका एकमात्र उपाय यही है कि ईश्वर-प्राप्तिरूप इच्छा सर्वथा हृदयमे घर कर ले। जैसे किसी जलपूरित पात्रको जलसे खाली करनेका उत्तम साधन

यही है कि उसमें जलसे भारी तरल पदार्थ अर्थात् पारा भरते जाएँ। ज्यों-ज्यों पारा पात्रमें घर करता जायगा त्यों त्यों जल उसमेंसे निकलता जायगा, क्योंकि पात्र सर्वथा ख़ाली नहीं रह सकता और कुछ नहीं तो वायु ही उसमें भर जायगी। ठीक, इसी प्रकार हृदयरूपी पात्रको सांसारिक इच्छाओंसे ख़ाली करनेके लिये ईश्वर प्राप्तिरूप जिज्ञासा इसमें ठूँस-ठूँस कर भर देना जरूरी है। इस पवित्र जिज्ञासाकी बढ़ी चढ़ी अवस्था ही वैतालकी तृप्तिका एक मुख्य साधन है, जो ईश्वर-कृपा, गुरुकृपा और शास्त्रकृपा आदि अन्य साधनोंको इसी प्रकार खींच लाती है तथा अन्य साधन अपने-आप इसी तरह खिंचे चले आते हैं, जैसे दीपक जब अपने प्रकाशमे जलने लगता है तब चारों ओरसे पतङ्गें अपने आप उसके साथ जलनेके लिये खिंची चली आती हैं। इस प्रकार इस जिज्ञासु-द्वारा सभी कर्म फलाशारहित कर्तव्य-बुद्धिसे ईश्वरार्पण तो किये जाते हैं परन्तु जहाँ-जहाँ कर्तव्य-बुद्धि होती है वहाँ-वहाँ कर्ता-बुद्धि भी अवश्य बनी रहती है। 'मैं कर्मका कर्ता हूँ और अमुक कर्म करना मेरा फ़र्ज़ है' यही कर्ता-बुद्धि व कर्तव्य बुद्धिका लक्षण है। इस प्रकार कर्ता-बुद्धि बिना कर्तव्य-बुद्धि आ ही नहीं सकती, पहले 'कर्ता' बनेगा तभी 'कर्तव्य' गर्दनपर सवार होगा जो कि परिच्छिन्न-अहंकारके ही परिणाम हैं। इस लिये परिच्छिन्न-अहंकार द्वारा कर्तव्य-बुद्धिसे किये गिये कर्म चाहे फलकी इच्छारहित भी क्यों न हों परन्तु उनका फल होता अवश्य है। क्योंकि जैसा पीछे 'कर्म की व्याख्या' में (पृ. १३६ से १३८ पर) स्पष्ट किया जा चुका है, कर्तव्य-बुद्धिसे किये गये कर्मों में मन-बुद्धि की आकृत कर्ता-बुद्धि की विद्यमानताके कारण अवश्य रहती है, इसलिये वे कर्म भाव की उत्पत्ति अवश्य करते हैं, भावशून्य नहीं रह सकते।

'मैं अपने कर्मोंका फल ईश्वरार्पण करता हूँ' इस जिज्ञासु का अपने कर्मोंके साथ यह भाव अवश्य रहना चाहिये। इस भावके विद्यमान रहनेके कारण वे कर्म फिर फलशून्य भी नहीं रह सकते, क्योंकि फल कर्ममें नहीं, फल केवल भाव में ही है। यद्यपि उन कर्मोंका फल संसार तो नहीं है, क्योंकि उनके साथ सांसारिक वासनारूप भाव सर्वथा नष्ट हो चुका है, तथापि ईश्वर-प्राप्तिरूप वासनाके सद्‌भावसे अन्तःकरण की निर्मलता तथा भक्तिके प्रादुर्भावद्वारा पारमार्थिक जिज्ञासा की दृढ़ता इन कर्मोंका फल अवश्य रहना चाहिये।

परन्तु एक तत्त्ववेत्ता ज्ञानीके सम्बन्धमें ऐसा नहीं है, उसने तो अपने हृदयमें ज्ञानाग्नि प्रज्वलित करके भेद दृष्टिको स्वरूपसे ही दग्ध कर दिया है, परिच्छिन्न-अहंकार और उसके परिणाम कर्ताबुद्धि व कर्तव्यबुद्धिको भी भस्म कर दिया है तथा भाव और भावके उत्पादक मन व बुद्धि को भुने बीजके समान भर्जित कर दिया है एवं कर्म और कर्मके साधन निम्न लिखित छः कारकोंको ब्रह्मरूपसे निश्चय कर लिया है।

कर्ता[१] कर्म[२] च करणं[३] सम्प्रदानं[४] तथैव च।
अपादानम्[५]अधिकरणम्[६]इत्येतानि कारकाणि षट्॥

इसीसे उसके कर्मोंमें फल उपजानेकी शक्ति ही नष्ट हो गई है। चाहे स्थूल दृष्टिसे उसके द्वारा किये गये कर्मों में मन, बुद्धि और भावका सम्बन्ध देखनेमें आता भी हो,

---

१ कर्म करनेवाला। २. जिसपर कर्म किया जाय। ३. जिसके द्वारा कर्म किया जाय। ४. जिसके लिये कर्म किया जाय। ५. जहाँसे कर्म किया जाय। ६. जिसमें कर्म किया जाय। व्याकरण-शास्त्रमें कर्मके साधन-भूत ये छः कारक माने गये हैं।

परन्तु वास्तवमे वे सब एक भुने बीज और जली रस्सीके समान हैं, जिनका यद्यपि आकार तो है परन्तु उनमे फल उपजाने और बन्धन करनेकी सामर्थ्य नहीं। कर्तव्य-बुद्धि ही अज्ञानका लक्षण है और वही बन्धनका मूल है, जिससे उसने वस्तुत: छुटकारा पा लिया है, यथा:—

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः ।
नैवास्ति किञ्चित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित् ॥ (अष्टावक्र)

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥
(गी० अ ४ श्लोक १९)

अर्थः ज्ञानामृत करके तृप्त और कृतकृत्य योगीके लिये किञ्चित् भी कर्तव्य नहीं है, (क्योंकि वह अपने आत्मस्वरूपमें किसी भी प्रकारके कर्म अथवा जन्म-मृत्युका लेप नहीं देखता), यदि उसको कर्तव्य शेष है तो वह तत्त्वका जाननेवाला ही नहीं। जिसके सम्पूर्ण कर्म कामना व संकल्पसे रहित होते हैं और ज्ञानरूपी अग्निसे जिसने सम्पूर्ण कर्मोंको दग्ध कर दिया है, उसको ही बुद्धिमान् पुरुष तत्त्वको जाननेवाला पण्डित कहते हैं।

सारांश, इस जिज्ञासुमें कामना न दीखते हुए भी होती जरूर है और इस ज्ञानीमें कामनाकी झलक दिखाई देती हुई भी स्वरूपमें होती नहीं है। इसलिये इस ज्ञानीद्वारा किये गये कर्म भी अकर्म ही होकर रहते हैं; यही जिज्ञासु और ज्ञानीद्वारा किये गये कर्मोंमें 'कर्म' और 'अकर्म' का विलक्षण रहस्य है।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥
(गी अ. ४ श्लो १८)

अर्थः— जो पुरुष (अहङ्काररहित की गई) सम्पूर्ण चेष्टाओं में अकर्म (अर्थात् वास्तवमें अपने स्वरूपमें सब प्रकार कर्मसे असङ्गता) देखे और अहङ्कारसहित अज्ञानी पुरुषोंद्वारा सम्पूर्ण क्रियाओंके त्यागमें भी कर्मको देखे (अर्थात् अहङ्कारसहित कर्मत्यागमें भी कर्मफलको देखे, आशय यह कि चाहे कर्मका त्याग भी किया गया, परन्तु अज्ञानके कारण त्यागका कर्ता होने से वह त्यागका अहङ्कार कर्ताको फलके बन्धनमें लानेवाला होता है), ऐसा तत्त्वसे जाननेवाला पुरुष मनुष्योंमें बुद्धिमान् है और ऐसे तत्त्ववेत्ता योगीने सब कुछ कर लिया है।

निष्काम-कर्मका उपसंहार और त्यागकी पञ्चम भेट।

प्रसङ्गसे 'कर्मका महत्त्व' 'कर्मकी व्याख्या' 'कर्मकी अनिवार्यता' 'कर्मद्वारा प्रकृतिकी निवृत्तिमुखीनता' 'निष्काम-कर्मका रहस्य' तथा 'कर्म-अकर्मका रहस्य' स्पष्ट किया गया। भर्तृहरिजीके इस वचनके अनुसार—

'एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थान्परित्यज्य ये'

यही वह सत्पुरुष है जो अपने स्वार्थकी तिलाञ्जलि देकर दूसरोंके अर्थसाधनमें तत्पर है। यह निष्कामता ही वास्तवमें परमार्थरूपी वृक्षका सुदृढ़ मूल है, जिससे नित्यानन्दरूप फलकी आशा की जा सकती है। यही वह बुनियादी पत्थर है, जिसके सहारे ज्ञानकी सप्त भूमिकाओंका सात मञ्जिलवाला भव्य भवन निर्माण किया जा सकता है। अन्तःकरणमें तीन दोष रहते हैं जो कि अपने आत्मस्वरूपके साक्षात्कारमें प्रतिबन्धक होते हैं। (१) मल-दोष, अर्थात् दुष्ट वासनाका हृदयमें उत्पन्न होना, (२) विक्षेप-दोष, अर्थात् मनका चञ्चल रहना, (३) आवरण-दोष, अर्थात् आत्मस्वरूपका अज्ञान। उपर्युक्त तीनों दोषोंमेंसे पहिले मलदोषसे यह सर्वथा निर्दोष हो चुका है, परन्तु रजोगुणकी

विद्यमानताके कारण विक्षेप-दोष कर्मोंमें प्रवृत्त कर रहा है। यद्यपि वह रजोगुण फलाशारहित होनेके कारण सत्त्वगुण मिश्रित है, तथापि जैसा 'कर्मद्वारा प्रकृतिकी निवृत्तिमुखीनता' के प्रसङ्ग में कहा गया है, शनैः-शनैः वह रजोगुण भी हृदयसे निकलकर सत्त्वगुणको हृदयमें भरता जाता है।

भक्तिके मुख्य चार सोपान हैं:--

(१) 'तस्यैवाहम्' मैं उसीका हूँ-परमात्मासे दूरी, यहाँ पड़दा मोटा व दृढ़ है।

(२) 'तवैवाहम्' मैं तेरा ही हूँ-परमात्माके निकट, पड़दा पतला हुआ।

(३) 'त्वमेवाहम्' मैं तू ही हूँ-परमात्मासे अत्यन्त निकट, पड़दा झनझना।

(४) 'शिवोऽहम्' मैं शिव हूँ-परमात्मासे अभिन्नता।

यह निष्कामी सत्त्वगुणकी वृद्धि होते-होते कर्मके वेगसे इसी प्रकार छूटता जाता है, जैसे कुलालके चक्रका वेग दण्ड निकल जानेपर घटता जाता है। अब यह भक्तिके उपर्युक्त चारों सोपानों मेंसे प्रथम सोपान 'तस्यैवाहम्' में दृढतासे आरूढ होगया है। यही त्यागकी पञ्चम भेट है जो कि खुशी-खुशी वैतालके चरणोंमे रख दी गई।

(४) उपासक-जिज्ञासु

'उपासना' शब्दकी व्युत्पत्ति उप+आसन='उपासन' से है। 'उप' नाम समीप, 'आसन' नाम बैठाना, अर्थात् इष्टदेवके समीप मनको बैठाना उपासना शब्दका अर्थ है। ईश्वरसम्बन्धी पवित्र प्रेमका नाम भक्ति है। सम्बन्धभेदसे प्रेमके भिन्न-भिन्न नाम हैं, यथाहि-अपनेसे कनिष्ठ पुत्रादिकोंमें जो प्रेम है उसको 'स्नेह'

उपासना व भक्तिका अर्थ।

कहते हैं और 'वात्सल्यता' भी कहते हैं। अपने समवयसवालों से प्रेमको 'प्रेम' अथवा 'मित्रता' कहा जाता है। अपने पूज्यों में प्रेमको 'श्रद्धा' कहते हैं। स्वार्थ-बुद्धिसे सांसारिक पदार्थोंमें प्रेमको 'राग' कहते हैं और ईश्वरमें पवित्र-निष्कामभावसे प्रेमका नाम 'भक्ति' है।

प्रेमकी महिमा

वास्तवमें प्रेमके समान कोई रसीला पदार्थ संसारमें 'न भूतो न भविष्यति' अर्थात् न हुआ है और न होगा। सारा संसार ब्रह्मासे लेकर चिउँटीपर्यन्त प्रेमका ही मतवाला देखा जाता है। प्रत्येक व्यक्तिकी दौड़-धूप बेचैनीके साथ प्रेमको ही आलिङ्गन करनेके लिये हो रही है। कोई सुन्दर रूपोंपर मोहित हो रहा है तो कोई रसीले शब्दोंमें अटका हुआ है। कोई कोमल स्पर्शोंमें उलझा हुआ है तो कोई सुस्वादु रसोंपर लट्टू हो रहा है। कोई रसभीनी सुगन्धोंपर बलिहार जा रहा है तो कोई मान-बड़ाईपर न्यौछावर किया जा रहा है। कहाँतक वर्णन किया जाय ? मनस-हित छहों इन्द्रियोंने सारे संसारको नचा डाला और इस संसाररूपी नृत्यभुवनमें सम्पूर्ण भूतजातके नृत्यका जो विषय है, वह केवल प्रेम है। अरे अभागे प्रेम ! तू ऐसी क्या वस्तु है ? जिसने सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको अपने लिये 'फणि मणि बिनु जिमि जल बिनु मीना' की भाँति तड़फा दिया है ! सत्य बता तू ऐसा क्या जादू भरा हुआ है, जिसने सभी चित्तोंको भरमाया हुआ है।

'जादू वह जो सर पर चढ़के बोले'

पाँच वर्षके बालक-ध्रुवको तूने राजमहलसे निकाल निर्जन वनमें जा धकेला। प्रह्लादको तूने तप्त खम्भसे बाँधा, अग्नि में डाला और पत्थरोंकी वर्षा की। गोपियोंने तेरे लिये सब धर्मकी मर्यादाओंको नमस्कार किया और ब्रह्मादि देवता जिसके

भ्रुकुटि-विलाससे कम्पायमान होते हैं, उस कृष्णको भी तूने वन्दर की भाँति नाच नचाया।

'ताहि व्रजकी गोपनियाँ छछिया भर छाछ पै नाच नचावैं'*

राजा भर्तृहरि और गोपीचन्द्र आदिने तेरे लिये राज-सिंहासनको तिलाञ्जलि देकर तनपर भस्म रमाई। वेचारे मजनूँको तूने वन-वनमें भटकाया, फरहाद जैसे दीनने तेरे लिये पहाड़ोंको मैदान बना दिया और अन्ततः अपने हाथों अपने ऊपर कुल्हाड़ा मार अपने-आपकी ही तेरे ऊपर वलि चढ़ा दी। कोयल तेरे लिये कूक रही है, बुलबुल तेरे लिये रो रही है, फूल तेरे साथ मिलकर खिलखिला रहा है। हँसतेको रुलाना, रोते को हँसाना तेरा एक खेल है। ओ प्यारे! तू बडा रसीला है! तेरे रसरूपकी थोडी भी चटक जिस किसीसे मिली वही अमृत बन गया। तेरे संयोगसे कुजाति भीलनीके झूँठे बेर भी अमृतरूप सिद्ध हुए, दासीपुत्र विदुरके छिलकोंने सुध-बुध विसार दी, दरिद्री-सुदामाके सूखे तन्दुलोंने वह मजा दिया कि उसके पाद-प्रक्षालनके लिये कन्हैया ने—

'पानी परातको हाथ छुवो नहीं, नैननके जलसे पग धोये।'†

---

*शेष गणेश महेश दिनेश सुरेशहु जाहि निरन्तर गावैं,
जाहि अनादि अनन्त अखण्ड अच्छेद अभेद सुवेद बतावैं।
जाहि हिय लखि आनन्द ह्वै जड मूढ हिय रस खानि कहावैं,
ताहि व्रजकी गोपनियाँ छछिया भर छाछ पै नाच नचावैं॥

†ऐसे बिहाल बिवायन सूँ भये कण्टक जाल लगे पुनि जो ये।
हाय! महादुःख पाये सखा तुम आये इतै न कितै दिन खोये॥
देखि सुदामाकी दीन दशा करुणा करिके करुणानिधि रोये।
'पानि परातको हाथ छुओ नहिं नैननके जलसे पग धोये'॥

सच कहा है—'प्रेममें नियम नहीं'। सारांश, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मे ऐसा कौन प्राणी है, जिसको तूने बाजीगरके बन्दरकी भाँति न नचाया हो। मुर्दे भी तेरे नामपर फड़क उठते हैं, सचमुच तू एक ऐसा ही अद्भुत पदार्थ है, जिसपर तीनों लोक वारकर फैंक दिये जाएँ।

किस किस अदासे तूने, जल्वा[1] दिखाके मारा।
आज़ाद हो चले थे, बन्दा बनाके मारा ॥१॥
खुद बोल उठा अनल्हक़[2], खुद बनके शरह[3] तूने।
एक मर्दे हक़[4]को नाहक़, सूली चढ़ाके मारा ॥२॥
क्यों कोहकन[5] पे तूने, यह संगरेज़ियाँ[6] कीं।
ली उसकी जाने शीरीं[7], तेशा[8] उठाके मारा ॥३॥
गर्दनमें क़ुमरियों[9]के, उल्फ़त[10]का तौक़[11] डाला।
बुलबुलको प्यारे! तूने, गुल बनके ख़ुद ही मारा ॥४॥
आखोंमें तेरे ज़ालिम! छुरियाँ छुपी हुई हैं।
देखा जिधरको तूने, पलकें उठाके मारा ॥५॥
गुञ्चे[12]में आके महका, बुलबुलमें जाके चहका।
इसको हँसाके मारा उसको रुलाके मारा ॥६॥

---

१. चमत्कार। २. शिवोऽहं, मैं ब्रह्म हूँ। ३. धार्मिक क़ानून। ४. सच्चा। ५. फ़रहाद, नाम है ६. पाषाण-वृष्टि। ७. मीठी, फरहाद की प्रियाका नाम भी है। ८. कुल्हाड़ा। ९. पक्षी विशेष। १०. प्रेम। ११. बेड़ी। १२ पुष्पकली।

'मेरे स्वामी तेरी यह बाँकी अदा है' ! हाय ! तू बड़ा मतवाला है ! जहाँ तुझसे आँखें चार हुईं कि झट लोक-वेदकी बेड़ियाँ इसी प्रकार कट जाती हैं, जैसे कंसके कारागारमें वसुदेव-देवकी की । सब वेद व धर्मोंका फल तू ही है। तुझको तेरी शपथ है ! सत्य बता, तू क्या बला है ? तेरा स्वरूप क्या है ? तू कहाँ रहता है ? और तेरा क्या प्रयोजन है ? इसपर उसने जो उत्तर दिया वह बिजलीके समान कड़क गया और हृदय शीतल हो गया।

न मैं कहीं सातवें आकाशपर हूँ न सात समुद्रों पार, न मृग-नयनोंके नयनोंमें मेरा निवास है न शब्द-स्पर्शादि विषयोंमें ही मैं अटका हुआ हूँ। बल्कि मैं तो सर्व प्राणियोंके अपने-अपने हृदयोंमे ही घर किये बैठा हूँ, परन्तु कृपणचित्त मुझको वहाँ न पाकर बाह्य पदार्थोंमें मेरी खोज करते हुए भटकते फिरते हैं। जिस प्रकार मृग अपनी नाभिमें स्थित कस्तूरीकी गन्धको अपने अन्दर न देख उस गन्धकी तलाशमें मतवाला हुआ वन-वन भटकता फिरता है, ठीक इसी प्रकार वे पशु जीव भी मुझको अपने भीतर न देख बाहर मेरे लिये भटकते फिरते हैं। परन्तु अन्तःस्थित वस्तु तो बाह्य प्राप्त कैसे हो सकती है ? आखिर मुझसे वञ्चित रहकर दीनके दीन ही रहते हैं।

प्रेमका उत्तर

फिरो हो रूये ज़मीं[1] पे यारो ! तलाश मेरी में मारे मारे
अमल करो तुम दिलों में देखो, मैं नहने अकरब[2] सुना रहा हूँ

इस विषयमें उनकी अवस्था ठीक उस बुढ़ियाके समान है जिसने अन्धेरी रातमें अपनी एक सूई घरके भीतर गुमा दी थी और उसकी खोज बाहर सड़कपर लालटैनकी रोशनीमें

१. पृथ्वीतल । २ कण्ठसे भी अधिक समीप शब्द ।

करती फिरती थी। बुढ़ियाको सड़ककी खाक छानते देख एक राहगीरने पूछा कि बुढ़िया यह क्या करती है? उत्तर दिया "बेटा ! सूई खो गई उसको ढूँढती हूँ"। राहगीरने पूछा कहाँ खो गई? उत्तर मिला, "घरमें"। राहगीर हँसकर बोला अन्दर खोई वस्तुको बाहर ढूँढना कैसी मूर्खता है? बुढ़ियाने मुँह बनाके कहा "हाँ! बेटा सच कहते हो, परन्तु घरमें दीपक जलानेकी सामग्री नहीं है। मैंने सोचा कुछ तो करना ही चाहिये, इसलिये सड़ककी खाक ही क्यों न छानी जाय"। ठीक, यही दशा उन पुरुषोंकी है जो अपने हृदयोंमें दीपक जलाकर मुझको वहाँ पानेकी सामर्थ्य नहीं रखते और बाहर चमकीले-चटकीले पदार्थोंमें मेरी खोजके लिये खाक छानते और भटकते फिरते हैं। जिस प्रकार भाप दबाई नहीं जा सकती, इसी प्रकार मेरा वेग दब नहीं सकता, इसी लिये संसारमें कोई एक भी भूतप्राणी प्रेमशून्य नहीं पाया जाता, चाहे प्रेमका विषय अपना-अपना भिन्न-भिन्न क्यों न हो। प्रत्येक शरीरसे मेरा स्रोत किसी न किसी रूपमें इसी प्रकार फूट-फूटकर निकलता है, जैसे चश्मेसे पानी। वास्तवमें प्रेम तो स्वाभाविक रूपसे प्रत्येक जीवके अपने अन्दर ही दबा हुआ है, अन्दर हुए बिना तो वह बाहर आये ही कैसे? परन्तु वे मेरे पवित्र-प्रेमका सदुपयोग नहीं जानते, इसी लिये कोई धनके लिये जान देता है तो कोई पुत्रके लिये, कोई स्त्रीके लिये मर रहा है तो कोई मानके लिये। मेरे इस असदुपयोगके कारण ही वे मुझे न पाकर खेदको ही पाते हैं। वास्तवमें ये विषय अपने स्वरूपसे प्रेमरूप नहीं हो सकते, यद्यपि इनके द्वारा प्रेमका प्रकाश इसी प्रकार होता है जिस प्रकार दर्पणके द्वारा हमारे मुख का, परन्तु दर्पण प्यारा नहीं प्यारा मुख ही है। इसी प्रकार बाह्य पदार्थ प्रेमस्वरूप नहीं, किन्तु अपने वास्तविक

प्रेमस्वरूपका मुखड़ा दिखलानेके कारण ही ये प्रिय हैं अपने स्वरूपसे कदापि नहीं।

प्रेमियो! कैसा आश्चर्य है कि तुम आप ही अपने अन्तरीय वेगसे आतुर हुए अपनी प्रेमभरी दृष्टियोंसे बाह्य पदार्थोंको सुन्दरता प्रदान करते हो और आप ही उनके पीछे दौड पड़ते हो। वस्तुतः सुन्दरता पदार्थगत नहीं है, बल्कि तुम अपनी मनोहर दृष्टियोंसे ही वस्तुओंको मनोहर बनाते हो। उनको मनोहरता प्रदान करनेवाले तो तुम आप ही होते हो और फिर आप ही उनके लिये तड़प-तडपकर अपनेको व्याकुल कर लेते हो। यदि सुन्दरता पदार्थगत होती तो कोई एक पदार्थ सबके लिये सुन्दर ठहरना चाहिये था, अथवा जिस पदार्थको जिस व्यक्तिने सुन्दर जाना है वह उसके लिये सदैव सुन्दर बना रहना चाहिये था, परन्तु यहाँ तो इन दोनों नियमोंका ही व्यभिचार है।

एक बार एक राजाने लैला व मजनूँके प्रेमकी चर्चा सुन मजनूँको अपने दरबारमे बुलवाया और लैलाके प्रति उसका पूर्ण प्रेम पाकर उसे लैलाके देखनेकी इच्छा हुई। परन्तु जब उसने लैलाको बुलाकर देखा तो बिल्कुल श्याम वर्ण पाया। राजाने अपने महलकी सुन्दर रानियोंको मजनूँके सम्मुख खडा करके कहा, इनमेंसे किसी एकको पसन्द करलो। मजनूँने पुकारकर कहा "अरे नृपति! अपनी मूर्खता क्यों प्रकट करता है? तेरे वे आँखें कहाँ हैं जिनसे तू मेरी लैलाका देख सके? तू मेरी आँखों से मेरी लैलाको देख।"

ठीक, यही अवस्था सारे संसारकी है। सम्पूर्ण सौन्दर्योंका स्रोत प्राणियोंके अपने-अपने हृदयोंसे ही निकलता है और प्रत्येक प्राणी अपनी-अपनी स्वर्णमयी दृष्टिसे ही अपनी-अपनी वस्तुओंको सुन्दरता प्रदान करनेवाला होता है। जिस प्रकार सूर्यकी रश्मि पर्वत, पृथ्वी और वृक्षादि सम्पूर्ण जड़ पदार्थोंपर

पड़कर उन्हें प्रकाशवान् करती है, परन्तु वस्तुतः पर्वतादि स्व-स्वरूपसे प्रकाशवान् नहीं होते, स्वस्वरूपसे प्रकाशवान् तो सूर्य ही होता है। इसी प्रकार प्रत्येक प्राणी अपने अन्तःस्थ प्रेमस्वरूपकी रश्मियोंसे ही अपने प्रिय पदार्थोंको प्रेममय बनाते हैं, परन्तु वस्तुतः प्रेमस्वरूप तो उनका अपना आत्मा ही होता है। पुत्रके मित्रसे प्रेम उस मित्रके लिये नहीं किया जाता, बल्कि पुत्रके लिये ही किया जाता है, जब वह मित्र पुत्रके अनुकूल नहीं रहता तो उससे वह अपना प्रेम भी कूँच कर जाता है। अपने शरीर-सम्बन्धी स्त्री-पुत्रादिसे प्रेम स्त्री-पुत्रादिके लिये नहीं किया जाता, बल्कि अपने शरीरके लिये ही किया जाता है। जब वही स्त्री-पुत्रादि अपने शरीरके अनुकूल नहीं रहते तो उनका त्याग कर दिया जाता है। शरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्गसे भी प्रेम उन अङ्ग-प्रत्यङ्गोंके लिये नहीं किया जाता, बल्कि अपने जीवनके लिये ही किया जाता है। पाँव जब अपने जीवनके अनुकूल नहीं रहता तो उसको काट दिया जाता है, हाथ जब अपने जीवनके प्रति-कूल होता है तो उसको उड़ा दिया जाता है, आँख जब अपने लिये सुखरूप नहीं रहती तो निकाल फैंकी जाती है। साथ ही जो अङ्ग अपने जीवनके निकटतर होता है दूसरों की अपेक्षा उससे अधिक प्रेम किया जाता है। हाथके ऊपर पाँवको न्यौछावर किया जाता है और आँख व दिमागके ऊपर हाथकी बलि दे दी जाती है। इसी लिये जब कोई शत्रु सिरपर चोट लगाने आता है तो हाथ विना किसी प्रेरणाके चोट सहारनेके लिये झट सिरके आगे आ जाते हैं और ढालका काम दे जाते हैं। ऐसा क्यों? क्या हाथ, दिमाग व आँखके समान इसका अपना ही अङ्ग नहीं है? अङ्ग तो है, परन्तु दिमाग व आँख जीवनके निकटतर हैं, इसी लिये दिमाग व आँखके लिये उसकी बलि देनी पड़ती है। इसी तरह जीवनरूप प्राण भी जीवनके लिये प्यारे नहीं,

वल्कि अपने आत्माके लिये प्यारे हैं, जब वे जीवनरूप प्राण भी अपने आत्माके लिये सुखदाई नहीं रहते तो उनकी भी बलि चढ़ा दी जाती है। अनेक सती स्त्रियोंका जीवन इसका ज्वलन्त दृष्टान्त है। वर्तमानमे भी जलमें डूब मरना, अग्निमें जल जाना और अपने-आप फाँसी लगा लेना आदि अकाल मृत्युकी चेष्टाएँ इस बातके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि वर्तमानमे उनका जीवन उनके लिये सुखरूप नहीं रहा था। इससे स्पष्ट हुआ कि सम्पूर्ण प्रिय पदार्थ अपने आत्माके लिये ही प्यारे हैं, वे अपने लिये प्यारे नहीं। जो-जो वस्तु जितनी-जितनी आत्माके निकटतर है, उतना-उतना ही उसमें अधिक प्रेम है। पुत्रके मित्रकी अपेक्षा पुत्रमें अधिक प्रीति है, पुत्रादि की अपेक्षा अपने स्थूल शरीरमे अधिक प्रीति है और अपने स्थूल शरीरकी अपेक्षा प्राणोंमे अधिक प्रीति है। प्राणोंमे प्रीति सूक्ष्म शरीरके सम्बन्धसे है और सूक्ष्म शरीर मे आत्माका आभास होने करके प्रीति है, अर्थात् सूक्ष्म-शरीर अपने आत्माका मुँह दिखानेके लिये दर्पणस्थानीय हैं। इससे स्पष्ट है कि वास्तवमें प्रेमस्वरूप न कोई बाह्य पदार्थ है, न स्थूल शरीर है और न सूक्ष्म शरीर ही, किन्तु परमप्रेमका विषय केवल वास्तविक प्रेम, प्रेमस्वरूप अन्त:स्थित आत्मा मैं ही हूँ। बाह्य पदार्थ वास्तवमें प्रेमस्वरूप नहीं, वल्कि मेरे वास्तविक प्रेमस्वरूपकी छाया हैं। जिस-जिस पदार्थपर मेरे वास्तविक प्रेमस्वरूपकी छाया पड़ती है, वही प्रेमका विषय बन जाता है। अर्थात् बाह्य पदार्थ तुम्हारे लिये प्रेमस्वरूप तभीतक ठहरते हैं जबतक तुम उनको आत्मदृष्टिसे ग्रहण करते हो, जिस क्षण उन पदार्थोंमेसे तुम्हारी आत्मभावना खिसकी, कि प्रेम भी तत्काल पीठ दिखाता होता है।

प्रेमियो! तुम यथार्थ रूपसे इस रहस्यको न जान मेरे लिये कष्ट सहते हुए भी मुझको नहीं पाते, अन्तत मेरी भूख

से भूखे रहकर दरिद्री ही बने रहते हो और मेरे लिये सारा जीवन हारकर भी कुछ नहीं पाते । जैसे कोई अपने मुखके प्रतिबिम्बको दर्पणमें पकड़नेके लिये दौड़े तो दर्पणमें सिर टकरानेके सिवाय और कुछ हाथ नहीं आता, इसी प्रकार तुम्हारे प्रिय पदार्थ प्रेमस्वरूप तुम्हारी आत्माका मुँह दिखलानेवाले दर्पण ही थे, परन्तु वहाँ अपनी छायाको ही सत्य जानकर जब तुम उन्हें आलिङ्गन करनेके लिये दौड़ते हो तब तुमको सिर-मुँहकी खाना ही पड़ती है।

एक बुल्बुल एक पिञ्जरेके अन्दर बन्द थी जो नीचे-ऊपर चारों ओरसे भाँति-भाँतिके दर्पणोंसे जड़ा हुआ था। उस पिञ्जरेके ठीक मध्यमें एक सुन्दर फूल लटक रहा था,जिसका प्रतिबिम्ब उन भिन्न-भिन्न दर्पणोंमें पड़ रहा था। बुल्बुल जिधरको आँख उठाकर देखती उसी ओर उस फूलकी छवि उसके मनको हर लेती थी। उसने सामने निगाह की और दर्पणमें फूलको पकड़ने दौड़ी तो झट शीशेसे टक्कर लगी। पीछेको मुड़ी और उस फूलके लिये बेताब होकर चली परन्तु मुँहकी खाई, दाहिनेको झपटी तो सिरकी खाई। इसी प्रकार नीचे-ऊपर सब ओर सिर-मुँहकी खा-खाकर वहीं ढेर हो गई।

प्रेमियो! ठीक, यही अवस्था तुम्हारी है। जिस प्रकार उपर्युक्त बुल्बुल अव्यवहित पुष्पको न पाकर और उसके प्रतिबिम्बोंसे टकराकर अपना जीवन खो बैठी, इसी प्रकार तुम बहर भाँति-भाँतिके भोग्य-पदार्थरूपी दर्पणोंमें अपने अन्तरीय प्रेमस्वरूप आत्माके प्रतिबिम्बोंको सत्य जान पतङ्गकी भाँति उन्हें चिमड़ने दौड़ते हो और अपने-आपको भस्म कर डालते हो। हाँ! इनको प्रतिबिम्बरूप जान, यदि बिम्बकी ओर लौटकर उसका आलिङ्गन करते तो अवश्य छाती ठंडी होती, परन्तु

तुम तो उन काँचके टुकड़ोंपर ऐसे लट्टू हुए कि वास्तविक चिन्तामणिसे ही हाथ धो बैठे।

प्रेम सदैव अपने अनुकूल पदार्थोंमें ही होता है, प्रतिकूल पदार्थोंमें तो प्रेम ही कैसा ? और वह अनुकूलता आत्मरूप करके ही होती है, अर्थात् जो पदार्थ अपने प्रियरूप आत्माकी प्रेममयी रश्मियोंसे मढ़े जाते हैं वही अनुकूलताके विषय होते हैं। जबतक उनमें अनुकूल-बुद्धि रहती है तबतक मन उनको प्रेम करनेके लिये दौड़ता है और जिस क्षण उनमें आत्म प्रतिकूल-बुद्धि हुई कि मन तत्काल उनसे खिंच जाता है। यदि वे वस्तुएँ वस्तुतः प्रेमपात्र होतीं तो अब भी उनमें प्रेम विद्यमान रहना चाहिये था। परन्तु वास्तवमें वे प्रेमपात्र नहीं थीं, वे तो केवल अपने आन्तरिक प्रेम पानेका एक साधनमात्र थीं, अपना ही मुँह देखनेके लिये दर्पणरूप थीं। जबतक उनमें अपना मुँह दिखलाई पड़ा वे छातीसे चिपटाई रक्खी गईं और जब वे अपना मुँह दिखलानेसे विमुख हो गईं तब त्याग दी गईं। इस प्रकार प्रेमियो ! इन भोग्य पदार्थोंके द्वारा भी अपना हृदयस्थ प्रेमस्वरूप आत्मा ही वस्तुतः परम प्रेमका विषय है। जैसे दीवारसे फेंककर मारा हुआ गेंद फेंकनेवालेकी ओर ही लौट कर आता है, अथवा नेत्रद्वारा निकली हुई अपने अन्तःकरणकी वृत्ति दर्पणसे टकराकर अपने ही मुखको विषय करती है, दीवार तथा दर्पण उनको अपने ही ओर लौटानेके लिये साधनमात्र हैं, ठीक इसी प्रकार इन भोग्य-पदार्थोंमें रागरूप वृत्ति भी इनसे टकराकर अपने अन्तरात्माको ही स्पर्श करती है, परन्तु उनका वह प्रेम अविधिपूर्वक है।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ (गी. अ. ९ श्लो २३)

अर्थ:—हे अर्जुन ! श्रद्धासे युक्त जो सकामी भक्त (अज्ञानी पुरुष) दूसरे देवताओंको (भोग्य-पदार्थोंको) पूजते हैं, वे भी (वास्तवमें) मेरेको (अपने अन्तरात्माको) ही पूजते हैं। परन्तु उनका वह पूजन अविधिपूर्वक है, अर्थात् अज्ञानसहित है और विपरीत है।

मुझ हृदयस्थ परम-प्रेमको सीधा न भज इन भोग्य-पदार्थों को ही भजना यही अविधिपूर्वक मेरा भजना है, अर्थात् अपने नाकको सीधा न पकड़ उल्टा पकड़ना है। जिसका फल यह होता है कि मेरे लिये अपनी प्यास बुझानेकी इच्छासे मृगतृष्णाके जलके समान इन भोग्य-पदार्थोंके पीछे दौड़-दौड़कर आखिर अपनी कमर तोड़ बैठते हो और मुझसे वञ्चित ही रहते हो। न मैं ही हाथ आता हूँ न यह भोग्य पदार्थ ही, और जब मैं पकड़ा जाता हूँ तब यह भोग्य-पदार्थ तो आप ही बिना किसी यत्नके हाथ आ जाते हैं।

एक नादान बच्चा अपनी छायाको अपनेसे भिन्न अन्य बालक जान उसको प्यार करनेको दौड़ा। बच्चोंका अपने समान बच्चोंमें स्वाभाविक ही प्रेम होता है, यह आप जानते हैं। उसने उसके सिरको पकड़ना चाहा, परन्तु ज्यूँ ही आगे बढ़ा कि वह छाया भी आगे खिसकी। बालक उसके पीछे दौड़-दौड़कर थक गया परन्तु वह हाथ न आई। अन्तमें वह ठहर गया। बच्चा रुका तो वह छाया भी रुक गई। उस बालकको फिर अपनेसे निकट ही जान बच्चा फिर उसको पकड़नेको झपटा तो छाया फिर आगे टरकी। अन्ततः बालक हैरान होकर और उसको न पाकर विलाप करने लगा। माताको यह चरित्र देख दया आई और बालकका अपना सिर उसके अपने हाथोंमें पकड़ा दिया तब छायाका सिर भी अपने-आप ही पकड़ लिया गया।

ठीक, इसी प्रकार प्रेमियो ! तुम अपने अन्तःस्थ परमप्रेम

पर अधिकार पाकर संसारके यावत् पदार्थोंसे प्रेम पा सकते हो और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड तुम्हारे लिये प्रेमस्वरूप बन सकता है। इसके बिना कोई पदार्थ तुमको सन्तुष्ट नहीं कर सकता, बल्कि तुम्हारी भूखको अधिकाधिक बढाता ही जाता है।

अबतक इस प्रसङ्गमें जो यह कहा गया है कि 'बाह्य पदार्थ प्रेमस्वरूप नहीं, बल्कि अपना हृदयस्थ-आत्मा ही परमप्रेमका विषय है' इसका अर्थ यह न समझ लेना कि यह कथन तो कोरा स्वार्थमूलक है। 'अपनेसे ही प्रेम करो' यह तो सारा संसार ही चिउँटीसे लेकर ब्रह्मापर्यन्त प्रत्येक प्राणी अपनी प्रत्येक चेष्टामें अपने स्वार्थके गीत गा रहा है, फिर तुम्हारे इस कथनसे क्या सिद्ध हुआ ? इस प्रकार अर्थका अनर्थ न कर डालना, परमप्रेम का गला न घोट डालना। यह आत्मप्रेम स्वार्थमूलक नहीं। किन्तु स्वार्थत्यागकी अवधि है, केवल ठोस समताभरा प्रेम है। इस आत्मप्रेमका अर्थ मन, इन्द्रिय व शरीरादिसे अथवा शरीरके स्वार्थियोंसे प्रेम करना नहीं है, किन्तु मन, इन्द्रिय और शरीरादिका सार व आधारभूत परमज्योति, जो मन आदिके विकारोंसे सर्वथा निर्विकार है, वही परम प्रेमका विषय है। शरीरादि विकारी वस्तु तो प्रेमयोग्य हो ही नहीं सकती, जो वस्तु प्रत्येक क्षण बदल रही हो उससे तो प्रेम सुखसाधन हो ही नहीं सकता। उससे तो प्रेम धोखेकी टट्टी है जो कि उल्टा कलेजेको विदीर्ण किये बिना नहीं छोडता। प्रेमके योग्य तो वह नित्य-निर्विकार परम सत्य ही है जो नित्य एकरस रहकर सम्पूर्ण पदार्थोंमें इसी प्रकार परिपूर्ण हो रहा है जैसे कटक-कुण्डलादिमें स्वर्ण, घट-शरावादिमें मृतिका, अथवा पटमें सूत्र एवं तरङ्ग-फेन-बुद्बुदोंमें एक ही जल तरङ्गायमान रहता है। 'जो एक मेरे व्यष्टि शरीरमें व्याप्त है, वही परमज्योति समष्टि शरीरोंमें तृण, मृत्तिका, पाषाण, नदी, पर्वत, वृक्ष, पशु, पक्षी एवं चारों खानियों और चारों

वाणियोंमे पसर रहा है। जो मेरेमे है वह सबमें है। इन नाना रूपोंमे मेरा ही आत्मा अपनी भाँति-भाँतिकी झाँकियोंमें दर्शन दे रहा है।' इस प्रकार तरङ्गभाव दृष्टिसे गिर जाना, जलभाव दृष्टिमें समा जाना और इस दृष्टिसे सब भूतजातमें उस एक अन्तर्यामी देवको ही नमस्कार करना, इसी रूपसे प्रेम अमृत-रूप हो सकता है।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(गी. अ. ६ श्लो. २६)

अर्थः—मैं सब भूतोंमें समभावसे व्याप रहा हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय, परन्तु (इस समताभावसे रहता हुआ भी) मुझे जो प्रेमी भक्तिपूर्वक भजते हैं वे मेरेमे हैं और मैं उनमे हूँ।

प्रेमियो! आशय यह है कि मैं तो सदा ही सब भूतजातमें समान भावसे व्यापक हूँ, परन्तु तुमने अभिमान और स्वार्थका पड़दा अपने मुँहपर डाल रक्खा है, इसलिये तुम मेरी समता भरी व्यापकताको नहीं देख सकते। परन्तु जिसने उपर्युक्त प्रेम-भक्तिद्वारा उस स्वार्थ व अभिमानके पड़देको अपने मुँहसे उतार कर फाड दिया है, वही मेरी समताभरी व्यापकताका यथार्थ रूपसे इसी प्रकार साक्षात्कार करता है, जैसे समुद्र नाना तरङ्गोंमें समान रूपसे आनन्दकी मौजे मारता रहता है और सब तरङ्गोंमें अपना ही रूप देखता है। देखो, इसमे तो स्वार्थकी गन्ध भी नहीं, बल्कि स्वार्थके हेतु शरीरादिसे ही आत्म-भाव खो बैठना है। हाँ! इस अस्थि-माँस-चर्मादिरचित शरीर में ही आत्मबुद्धि धारकर जो बन्दरकी भाँति मुट्ठी भरके नाम-

रूपादिके पीछे भटकते फिरते हो, यह प्रेम वास्तवमें स्वार्थमूलक है। यह प्रेम प्रेमपद-वाच्य नहीं, किन्तु स्वार्थमूलक कोरा राग है और द्वेषसे ग्रसा हुआ है। यद्यपि यह देखनेमें मधुर है परन्तु विषसे मिला हुआ है। जैसे विषसे मिला हुआ दुग्ध यद्यपि पान करनेमें मधुर होता है, परन्तु पीनेवालेकी अँतड़ियोंको फाड़ डालता है। इस प्रकार यद्यपि रागमूलक पदार्थोंमें भी तुम अपना ही मुँह देखते हो, परन्तु वे पदार्थ द्वेषसे ग्रसे हुए होनेके कारण उनमें अपना मुँह देखना ऐसा ही है जैसे अपने मूत्रमें अपना मुँह देखना, जिसमें अपना प्रतिबिम्ब स्पष्ट भान नहीं होता, साथ ही उसमें देखा हुआ अपना मुँह भी अपवित्र हो जाता है और ग्लानिका पात्र होता है। इसके विपरीत उपर्युक्त निःस्वार्थ प्रेम ही निर्मल दर्पणके समान है, जिसमें देखा हुआ अपना मुँह ज्योंका त्यों स्पष्ट प्रतीत होता है और क्षण-क्षण उल्लासका कारण होता है।

प्रेमियो! इस प्रकार सब भेदभावनाको उड़ा अभेदरूप समताभरी एकता स्थापित करना, यही मेरा परम प्रयोजन है।

उपर्युक्त समतारूपी प्रेमका साधन।

उपर्युक्त समताभरी प्रेमकी अवस्थामें स्थिति पानेके लिये सबसे पहले यह आवश्यक है कि सांसारिक धन-पुत्र-स्त्री आदि दो-चार वस्तुओंने जो हृदयगत प्रेमको बन्धन लगाकर सीमाबद्ध कर रक्खा है और इसका स्वाभाविक प्रवाह रोककर इसको अपवित्र व गँदला कर रखा है, उन बन्धनोंको तोड़ा जाय। जिस प्रकार ताल-तलैइयाका पानी रुके हुए रहनेके कारण गन्दला हो जाता है और फिर सड़-सड़कर सूख जाता है किन्तु नदीका जल बहते रहनेके कारण नित्य निर्मल रहता है।

'बहता पानी निर्मला, खड़ा सो गन्दा होय'

इसी प्रकार हृदयगत प्रेम भी तुच्छ स्वार्थमयी सीमामें बद्ध रहनेके कारण स्वार्थमूलक रागके रूपमे खड़ा रहकर द्वेषरूपी सड़ाँद उपजाता हुआ सूख जाता है। इसलिये इस बन्धनका तोड़ना परम आवश्यक है जिससे इसका स्रोत चले और यह निर्मल हो। इसका मुख्य साधन यही हो सकता है कि निष्कामतासे इस प्रेमका नाता ईश्वरसे जोड़ा जाय जो सब प्रेमोंका उद्गम स्थान है। क्योंकि जबतक इस प्रेमका मेल ईश्वरसे न जुड़े तबतक इधरसे टूटना असम्भव है। यदि आप इधरसे तोड़नेकी ही चेष्टामे लगे हुए हैं और उधर जोड़नेका ध्यान नहीं रखते तो आपका परिश्रम व्यर्थ है। यह हो कैसे सकता है? इधरसे तोड़कर उधरको जोड़ना और उधरको जोड़कर इधरसे तोडना, दोनों क्रियाओंका साथ-साथ होना जरूरी है। मनका यह स्वभाव है कि वह प्रेमशून्य रह नहीं सकता, क्योंकि इसके भीतर वास्तवमें कोई वस्तु प्रेमस्वरूप विद्यमान है जो प्रेम विना रह नहीं सकती। अब चाहे आप इसका सदुपयोग करें चाहे दुरुपयोग, इसका स्रोत चाहे संसारकी ओर खोलें चाहे ईश्वरकी ओर, यह आपकी ख़ुशी है। ईश्वरकी ओर इसका स्रोत खोलकर आप अपने लिये मोक्षद्वार खुला पा सकते हैं और संसारकी ओर इसका स्रोत खोलकर नरकद्वार आपके लिये खुला पड़ा है। वह हृदयगत प्रेम ऐसा परिपूर्ण है कि ज्यूँ-ज्यूँ यथार्थ रूपसे उसके निकासका मार्ग खोला जायगा, वह कभी खाली नहीं होगा, वल्कि अधिकाधिक भरता जायगा। जिस प्रकार चश्मेका पानी ज्यूँ-ज्यूँ प्रवाहके रूपमे चलता है त्यूँ-त्यूँ वह अन्दरसे उमल-उमलकर निकलता है और एक नदके रूपमें इसका प्रवाह चलने लग पड़ता है। यदि आप इस प्रेमके स्रोत को संसारकी ओर बन्द करनेमें लगे हुए हैं और परमार्थकी ओर इसको वह निकलने का मार्ग नहीं देते तो यह बरबश संसारकी

ओर वह निकलेगा, क्योंकि यह रुका नहीं रह सकता। परन्तु यदि आप ईश्वरकी ओर इसका मार्ग खोल देते हैं तो यह ससारकी ओरसे अपने-आप बन्द होता चला जायगा। दृष्टान्त-स्थलपर समझ सकते हैं कि एक हौजमें, जिसका सम्बन्ध एक अटूट जलाशयसे है, निकासके लिये दो नालियाँ हैं, एक ऊपर है' एक नीचे। नीचेकी नालीको यदि हम बन्द करदें तो पानी ऊपरकी नालीसे चालु हो जायगा और यदि हम नीचेकी नाली खोल दें तो चाहे ऊपरकी नालीको बन्द न करें, जलका निकास अपने-आप ऊपरकी नालीसे बन्द होता जायगा और केवल नीचेकी नालीसे इसका प्रवाह चल पड़ेगा। इसी प्रकार हृदयगत प्रेम-रूपी हौजकी ईश्वरसम्बन्धी नीचेकी नालीको खोल दिया जाय तो संसारसम्बन्धी ऊपरकी नालीसे इसका प्रवाह स्वतः बन्द होता जायगा। वास्तवमें बात तो यूँ है कि इस स्रोतको जोरके साथ ईश्वरकी ओर खोलनेकी जरूरत है, संसारकी ओर बन्द करनेकी जरूरत है ही नहीं, क्योंकि सत्य सत्य ही है और झूठ झूठ ही। सत्यमे आकर्षण विद्यमान है उसके साथ थोड़ा सम्बन्ध जोड़नेकी जरूरत है, फिर वह अपने-आप चित्तको इसी प्रकार अपनी ओर खैंचता चला जायगा जैसे चुम्बक सुईको। वास्तवमे मिथ्या नामरूप संसारमें अपना कोई आकर्षण नहीं है, वल्कि उनमें जो आकर्षण प्रतीत होता है वह सत्यके नातेसे ही है, जैसे भ्रमरूप रजतमें जो आकर्षण प्रतीत होता है वह सत्यस्वरूप शुक्तिके नातेसे ही है। दृश्यमान पदार्थोंमें चित्त तभी खिंचता है जबकि उनको सत्यरूपसे ग्रहण किया जाता है। अर्थात् जो सत्यता केवल परमात्मामें है वह सत्यता जब हम अपनी भूलसे इन मिथ्या नामरूपोंमें आरोपित करते हैं तभी हम ठगे जाते हैं और जब कभी उनमे सत्यताकी भ्रान्ति निवृत्त हो जाती है तब चित्तका आकर्षण भी अपने-आप छूट जाता है।

मनमें जो रजोगुण, चञ्चलता अर्थात् विक्षेप-दोष है उसको निवृत्त करना, यही भक्तिका प्रयोजन है। इस रजोगुणकी निवृत्तिका उपाय यह नहीं है कि इसको दबा दिया जाय और उसको बाहर निकालनेका मार्ग न दिया जाय, यह तो उल्टा हानिकारक है। जिस प्रकार शरीरके अन्दर रक्तविकार करके उत्पन्न हुआ जो फोड़ा, उसको राजी करनेका उपाय यही है कि उसकी पीपको बाहर निकाल दिया जाय। पीप ज्यूँही बाहर निकली कि शान्ति तत्काल मिलती है। इसके विपरीत यदि इस पीपको निकालनेका मार्ग न दिया गया तो यह हड्डियोंको गलाकर अपने-आप निकासका कोई दूसरा मार्ग खोल लेगी। इसी प्राकृत नियमके अनुसार रजोगुणके वेग को दबा न रखकर उसको ईश्वरीय भक्तिके द्वारा निकाल देना जरूरी है। हाँ! कर्तव्य इतना ही है कि उस रजोगुणका प्रवाह बदल दिया जाय। जहाँ इसका प्रवाह संसारकी ओर चला हुआ था इसे उधरसे रोककर परमार्थकी ओर खोलना आवश्यक है। जहाँ 'घर मेरा बार मेरा, कुटुम्ब मेरा परिवार मेरा, शरीर मेरा प्राण मेरा' की कहानी पढ़ी जा रही थी; उसको 'घर तेरा बार तेरा, कुटुम्ब तेरा परिवार तेरा, शरीर तेरा प्राण तेरा' में बदल देना जरूरी है। यद्यपि भक्तिसम्बन्धी साधन-सामग्री भी रजोगुण सम्भूत ही है, तथापि जिस प्रकार लोहेसे लोहा काटा जाता है, परन्तु गरम लोहेसे गरम लोहा नहीं कट सकता किन्तु ठंडा लोहा ही गरम लोहेको काटनेमें समर्थ होता है, इसी प्रकार रजोगुणसे ही रजोगुण निवृत्त किया जा सकता है, परन्तु ठण्डे लोहेके समान भक्तिप्रधान सत्त्वगुणमिश्रित रजोगुण से ही रजोगुणकी निवृत्ति सम्भव है। इसकी आवश्यकता इस लिये है कि संसारकी ओर चलाया हुआ इस रजोगुणका प्रवाह रजोगुणको शान्त नहीं कर सकता, बल्कि अग्नि में घृतके

सगुण भक्तिकी आवश्यकता।

समान इसके वेगको अधिकाधिक उभारनेवाला ही होता है, क्योंकि संसार स्वयं रजोगुणका मूर्ति है। जैसे अग्निसे ताप दूर नहीं हो सकता किन्तु जलसे ही तापकी निवृत्ति सम्भव है, इसी प्रकार ईश्वरकी ओर चलाया हुआ इस रजोगुणका प्रवाह ही एकमात्र सांसारिक रजोगुणके शान्त करनेका उपाय है। ईश्वर क्योंकि ठोस सत्त्वगुणकी मूर्ति है, इसलिये जैसे जलके सम्बन्धसे अग्नि शान्त होती है इसी प्रकार उससे सम्बन्ध जोड़कर ही यह रजोगुण निवृत्त किया जा सकता है।

उपर्युक्त प्रयोजनको साधनेके लिये सबसे पहले तो सगुण भक्तिका प्रादुर्भाव आवश्यक है। क्योंकि मन नामरूपका पुतला है, नामरूपमें ही फँसा हुआ है, नामरूपका ही मतवाला है, इस लिये एकाएक यह बेनाम बेरूपमें जा नहीं सकता, बल्कि नाम-रूपके सहारेसे ही यह नामरूपसे छूट सकता है। उपर्युक्त सिद्धान्तके अनुसार और कोई उपाय इसके बिना नामरूपसे छुटकारा पानेका है ही नहीं। इसी आशयको स्पष्ट करनेके लिये शास्त्रकारोंका वचन है :—

'तामेव भूमिमालम्ब्य स्खलनं यत्र जायते'

आशय यह है कि मनुष्य जिस भूमिपर गिर पड़ा है उसी भूमिका सहारा लेकर उस भूमिसे उठ सकता है, उसीका सहारा लिये बिना उस भूमिसे उठना असम्भव है। इसी दृष्टान्त व सिद्धान्तके अनुसार मन नामरूपकी भूमिपर गिरा हुआ है, इस लिये ईश्वरसम्बन्धी नामरूपके सहारेसे ही यह सांसारिक नाम-रूपसे ऊँचा उठ सकता है। यदि विचारसे देखा जाय तो जहाँ उपास्य-उपासक भावरूप भेददृष्टि विद्यमान है, वहाँ वैखरी वाणी-द्वारा जो कुछ भी कहा जायगा वह सब सगुणताके अन्तर्भूत ही होकर रहेगा। क्योंकि मन-वाणीद्वारा जो कुछ भी चिन्तन

किया जायगा अथवा बोला जायगा वह किसी न किसी विशेषण का ही सूचक होगा, निर्विशेष पदमें मन-वाणीकी गम है ही नहीं। वाणी प्रतियोगी[1] व व्यवच्छेदककी[2] ही वाचक है और जहाँ विशेषण-विशेष्यरूप गुण-गुणीभाव विद्यमान है वहाँ निर्गुणता से क्या सम्बन्ध ? फिर चाहे हम सगुण भक्तिसे विद्वेप करके निर्गुण-भक्तिका आग्रह भले ही करें, किसी आकारसे घृणा पड़े किया करें, परन्तु वास्तवमें अपने आचरणोंसे तो हम सगुण व

---

१. परस्पर विरोधीका नाम 'प्रतियोगी' है, जैसे घट अपने घटाभावका प्रतियोगी है।

२. व्यवच्छेदक उस विशेषणको कहते हैं जो अन्य वस्तुओंसे अपने विशेष्यको भिन्न करके बोधन करा दे जैसे 'कुण्डली पुरुष'। यहाँ कुण्डलने अन्य पुरुषोंसे कुण्डलवालेको भिन्न करके जितला दिया। इस प्रकार शब्दका स्वभाव है कि वह किसी न किसी विशेषणको लेकर परिच्छिन्न-वस्तुको ही बोधन करेगा, अपरिच्छिन्न-वस्तुके बोधन करानेमें शब्द किसी प्रकार समर्थ नहीं है। आशय यह है कि निर्गुण परमात्मामें मन-वाणीकी गम नहीं है। यदि नित्य, अज, अविनाशी शब्दोंसे उसका कथन-चिन्तन किया जायगा तो यह नित्य, अज आदि उसके विशेषण ही होंगे, ये उसका स्वरूप नहीं हो सकते, और जब यह विशेषण हुए तब अनित्य, जन्म व नाशसे भिन्न ही उस परमात्माका बोध होगा। परन्तु वह परमात्मा अपनी व्यापकता करके किसी विशेषणका विशेष्य नहीं हो सकता, यदि किसी विशेषणवाला माना जाय तो उसकी व्यापकता भंग होती है और अनित्य, जन्म व नाशादि गुणक्रियाओंमें उसका अभाव सिद्ध होता है, परन्तु वस्तुतः किसी स्थलमें उसका अभाव नहीं है और मन-वाणी किसी न किसी विशेषण बिना कथन-चिन्तनमें समर्थ हो नहीं सकते, क्योंकि वे स्वयं देश, काल व वस्तु-परिच्छेदवाले हैं। इसलिये वाणी व मनद्वारा जो कुछ भी कथन-चिन्तन होगा वह सगुणताके अन्तर्गतही रहेगा।

साकार भक्तिको ही सिद्ध कर रहे होंगे और वह भी एक असद्रूप से। वास्तवमें जहाँ सगुणसे विद्वेष है वहाँ तो निर्गुण भक्तिसे सम्बन्ध ही क्या? निर्गुण-भक्ति तो तभी उत्पन्न हो सकती है जब समस्त रागद्वेषोंसे हृदय निर्मल हो गया हो, सम्पूर्ण संसार ही अपने आचरणोंसे देवमन्दिर हो गया हो और प्रत्येक चेष्टाएँही भगवान् की पूजास्वरूप बन गई हों।

जेता चलूँ तेती प्रदक्षणा, जो कुछ करूँ सो पूजा।
गृह उद्यान एक सम जान्यो, भाव मिटायो दूजा॥

इसके विपरीत किसी प्रकार द्वेष मनमें रखकर अथवा किसी मत-मतान्तरका आग्रह बनाये रखकर निर्गुण-भक्तिका हठ करना तो एक प्रकारसे उसका उपहास करना है। निर्गुण-भक्तिका प्रादुर्भाव तो तभी हो सकता है जब कि कोई चित्तचोर अपनी विचित्र-विचित्र छवियोंद्वारा चित्तको चुरा लेजाय और चित्तपरसे अपना अधिकार ही निकल जाय। चित्तपर अधिकार बनाये रखकर निर्गुण-भक्तिका आग्रह रखना तो कोरी भूल है। इसीलिये भगवानने कहा है :—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥

(गीता अ. १२ श्लो. ५)

अर्थः—उन अव्यक्तस्वरूपमे आसक्तचित्तवालोंको क्लेश अधिक होता है, क्योंकि अव्यक्तरूप गति देहधारीद्वारा दुःखसे प्राप्त होती है।

अर्थात् जिनका देहमें अहं-अभिमान है वे इस अव्यक्त गति (निर्गुण-भक्ति) के अधिकारी नहीं हो सकते। सगुण भक्तिके द्वारा ही यह अधिकारी अपने सुन्दर भावोंका उद्गार

निकाल सकता है और पवित्र भावोद्गारद्वारा ही सत्त्वगुण हृदयमें भरपूर होकर रजोगुणको बाहर निकाल फेंकता है, शान्तिकी लहरें हृदयमें उमड़ती हैं और आँखें भी उसका जवाब देती हैं। वास्तवमें मनकी जड़ताको पिघलानेका साधन सच पूछिये तो सगुणभक्ति ही है, इसीके द्वारा मन व शरीरसे अपना अधिकार तृणके समान टूट जाता है। इस अवस्थामें ही वह वंशीधर शरीर व मनरूपी बाँसुरीको अपने हाथमें ले लेता है और इस बाँसुरीसे मनोहर स्वर निकालता है। इसीलिये भगवान्‌ने श्रीमुखसे सगुणभक्तिकी महिमा गीतामें इस प्रकार कथन की है :—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

(अ. १२ श्लो. २)

अर्थः—(अर्जुनके प्रश्नपर कि सगुण व निर्गुण भक्तिमें श्रेष्ठ कौनसी है, भगवान् कहते हैं कि) मेरे सगुणरूपमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरेमें जुड़े हुए जो भक्त अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त हुए मुझे भजते हैं वे मुझे अति उत्तम योगी मान्य हैं।

श्रद्धाका महत्त्व

श्रद्धाका सामान्य अर्थ विश्वास है और गुरू व शास्त्रके वचनोंमें विश्वास श्रद्धा का मुख्य अर्थ है। मानसिक प्रकृतिका यह नियम है कि जैसा-जैसा इस जीवका विश्वास होगा वैसी-वैसीही इसकी भावना होगी, वैसी-वैसी ही इसकी गति व चेष्टा होगी और फिर वैसा ही इसका स्वरूप हो जायगा। पुनर्जन्मके मूलमें यही रहस्य है कि जैसी-जैसी इस जीवकी श्रद्धा होती हैं वैसी-वैसी इसकी भावना होती है, उस भावनाके अनुसार ही इसका कर्म होता है और फिर उन

कर्मोंके अनुसार ही इस जीवको वैसी-वैसी योनिकी प्राप्ति होती है। इससे स्पष्ट हुआ कि इहलौकिक व पारलौकिक सब प्रकारकी वृद्धि-स्थितिके मूलमें एकमात्र श्रद्धाका ही राज्य है। कहना पडेगा कि वर्तमानमें जिस-जिस जीवको जिस-जिस योनि और भोगोंकी प्राप्ति हो रही है वे उसकी किसी न किसी श्रद्धाके ही परिणाम हैं, अर्थात् श्रद्धारूपी मूलके ही वे फल हैं। इसी लिये भगवान्‌का वचन है :—

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ' (गी.अ १७-३)

सत, रज व तमभेदसे त्रिविध श्रद्धा निरूपण करके भगवान् कहते हैं कि 'जैसी जिसकी श्रद्धा होती है वैसा ही उसका स्वरूप होता है, क्योंकि यह पुरुष श्रद्धामय ही है।'

इस तत्त्वके अनुसार श्रद्धाद्वारा दानी पुरुषोंके श्रवण, कीर्तन व स्मरणसे कृपण भी उदार हो सकता है, वीर पुरुषोंके श्रद्धाद्वारा श्रवण-कीर्तनादिसे कायर भी वीर हो जाता है और दयालु पुरुषोंके श्रद्धाद्वारा श्रवणादिसे कठोर भी दयालु हो जाता है। विपरीत इसके कृपणोंमें श्रद्धा करके उदार भी कृपण, कायरों में श्रद्धा करके वीर भी कायर और कठोरमें श्रद्धा करके कोमल भी कठोर बन सकता है।। संसारमे जिस-किसी पुरुषको सांसारिक विद्या अथवा व्यवसायकी प्राप्ति हुई है, वह उसकी श्रद्धाका ही फल है। श्रद्धा विना जब कि तुच्छ सांसारिक कला-कौशलादि की प्राप्ति ही असम्भव है, तब उस अगम्य वस्तुकी प्राप्ति, जो कि मन-इन्द्रियोंसे अतीत है श्रद्धा विना कैसे सम्भव हो सकती है? इसी लिये भगवान्‌ने स्थल-स्थलपर गीतामें श्रद्धाकी महिमा वर्णन की है :—

'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।' (४–३९)

'अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।' (४–४०)

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ (९-३)

अर्थात् श्रद्धावान्, तत्पर और जितेन्द्रिय पुरुष ही ज्ञानको प्राप्त करता है। श्रद्धाहीन, अज्ञानी व संशयात्मा पुरुष नष्ट हो जाता है। हे परन्तप ! जो इस धर्ममें श्रद्धाशून्य हैं वे मुझे न पाकर जन्म-मरणरूप संसारमें ही पुनरावृत्तिको प्राप्त होते हैं।

उक्त वचनोंके अनुसार निष्काम-जिज्ञासु जिसका अन्तःकरण गुरु-शास्त्रके वचनोंमें शुद्ध सात्त्विकी श्रद्धासे पूर्ण है, भगवान्‌के अलौकिक अवतारोंकी अलौकिक लीलाओंके श्रवण-कीर्तनादि नवधा भक्तिके सहारेसे अन्तिम आत्म-निवेदन भक्तिको प्राप्त कर सकता है और उपासकभावसे ऊँचा उठकर उपास्यरूप बन कर ही उपास्यदेवकी उपासना कर सकता है तथा साधकसे सिद्ध बन जाता है :—

'कृष्ण-कृष्ण कहते कहते मैं ही कृष्ण होगई ।' (मीराँबाई)

यही वास्तवमें निर्गुण उपासना है जो कि इस सगुण उपासनाद्वारा ही प्राप्त की जा सकती है, जिसके द्वारा देहेन्द्रियादिपर से अनायास साधकका अधिकार छूट जाता है और तब वह वंशीधर इनको अपने हाथमें उठाकर इनसे मधुर-मधुर शब्द निकालने लगता है। इसके विपरीत इस सगुण उपासनाका परित्याग करके निर्गुण उपासनाका मिथ्या हठ करना तो प्रलापमात्र है।

सगुण उपासनाकी आवश्यकता स्पष्ट की गई, परन्तु कृपण-चित्त इस उपासनाका अधिकारी नहीं हो सकता। जिन्होंने सांसारिक तुच्छ पदार्थों पर ही अपना अधिकार जमाया हुआ है,

सगुण उपासनाका साधन, प्रथम श्रेणी।

'घर मेरा है,कुटुम्ब मेरा है'इत्यादि रूपसे तुच्छ पदार्थोंको पकड़से ही जिसका हृदय कठोर है उसका इस पथपर क्या काम ? क्योंकि यह नियम है कि जितनी-जितनी पदार्थोंकी पकड़ होगी उतनी-उतनी ही हृदयकी कठोरता होगी और कठोरताका भक्तिके साथ विद्वेष है। भक्तिके लिये तो कोमलताकी आवश्यकता है, हृदय कोमल हो तो उससे गङ्गाके प्रवाहकी नाईं प्रेमका प्रवाह चले। इस लिये पदार्थोंका ममत्व परित्याग करके जिसकी संसार में निष्कामभावसे (जिसका निरूपण 'निष्काम-कर्म' के प्रसङ्गमें पीछे किया गया है) प्रवृत्ति है, उदारता करके जिसकी द्वेषदृष्टि नष्ट होगई है, कोमलतासे हृदय पूर्ण हुआ है तथा खान-पान, पहरान व भाषासम्बन्धी व्यवहारमें सरलभाव जिसके अन्तर प्रवेश कर गया है वही उपासनाका अधिकारी है। प्रथम माता, पिता तथा आचार्यमें देवबुद्धिसे श्रद्धा करके ही इस उपासनाका श्रीगणेश होता है, इसी अभिप्रायसे शास्त्रने आज्ञा दी है :—

'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव'

अर्थात् माता, पिता तथा आचार्यको देवरूपसे ग्रहण करो। इस प्रकार जब इन शरीरोंमें भक्तिभाव उत्पन्न होता है और अपनेसे वयोवृद्ध, वर्णवृद्ध, आश्रमवृद्ध, विद्यावृद्ध तथा ज्ञानवृद्ध शरीरोंमें प्रणाम, वन्दना एवं उत्थानादिद्वारा श्रद्धाभाव प्रकट होने लगता है,तभी यह अधिकारी ईश्वरभक्तिका पात्र हो सकता है। चित्तकी कोमलताद्वारा सोपान क्रमसे अहंभावको गलित कर-करके सर्वत्र ईश्वरदर्शन करा देना ही उपासनाका मुख्य प्रयोजन है। परन्तु जब उन उपर्युक्त जीते-जागते पूज्य शरीरोंमें ही चित्त न झुके, बल्कि उनके प्रति स्तब्धता ही बनी रहे, तब एका-एक प्रतिमामें ईश्वरबुद्धि कैसे उत्पन्न हो सकती है ? इसी लिये प्रथम उपर्युक्त शरीरोंमें श्रद्धा-भक्तिभाव उत्पन्न होना परमावश्यक है, और यही उपासनाकी प्रथम श्रेणी है।

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि सम्प्रवर्द्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् ।

अर्थः—अभिवादन (अर्थात् प्रणाम-वन्दना) करनेके स्वभाव वाले और नित्य ही वृद्धोंकी सेवा करनेवाले पुरुषको चार बातोंकी वृद्धि होती है (१) आयु (२) विद्या (३) यश और (४) बल, अर्थात् मनोबल। यह नियम है कि वृद्धोंकी सेवा आदिके द्वारा हृदय कोमल होकर सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है । सत्त्वगुणकी वृद्धिसे आयुवृद्धि, विद्यावृद्धि, यशवृद्धि होती है और सत्त्वगुणसे ही बलकी वृद्धि होती है। रजोगुणी अभिमानरूप घमण्ड अथवा शारीरिक पुष्टिरूप बल,बल नहीं यह तो उल्टा विपरूप हैं। किन्तु सत्यता, आस्तिकता, दृढ़ निश्चय व सत्यप्रतिज्ञतारूप बुद्धिबल ही वास्तव बल है और उपर्युक्त बलवृद्धि ही उपासनाकी सहायक है।

उपासनाकी प्रथम श्रेणीकी उपर्युक्त सामग्री सम्पादन करते हुए भी जिस पुरुषका आहार-व्यवहार अनियमित है, तो वह भक्तिके मार्ग अग्रसर नहीं हो सकता,बल्कि यह उपासनामें विघ्न है । इस लिये आहार-व्यवहारका नियमित रखना तथा दिनचर्याका शुद्ध करना परम आवश्यक है । कोल्हू के बैलकी तरह गृहस्थ अथवा मान-बढ़ाईका जूवा जिसकी ग्रीवा को खाली नहीं छोड़ता, ऐसे पुरुष इस पवित्र मार्गके योग्य नहीं हो सकते। इसीलिये भगवान्ने आज्ञा दी है :—

द्वितीय श्रेणी, श्रवण-भक्ति।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥
(गी. अ ६ श्लो १७)

अर्थ.—जिसका आहार-विहार नियमित है, कर्मोंमें चेष्टा नियमित है तथा जिसका सोना-जागनारूप क्रिया नियमित है, उसीको यह दुःखनाशक योग प्राप्त होता है। (योग शब्दका अर्थ जुड़ना है, जिन चेष्टाओं द्वारा मन भगवान्‌से जुड़े वही 'योग' शब्दवाच्य हैं। कर्म-योग, भक्ति-योग, ज्ञान-योग भेदसे इसका भेद किया गया है)।

इस प्रकार आहार-विहार नियमित रखकर ऐसे सद्‌ग्रन्थों का अभ्यास करना जिनमे भगवद्‌गुणानुवाद अथवा भगवद्‌-भक्तोंके चरित्रोंका निरूपण किया गया हो तथा ऐसे सत्पुरुषों का सङ्ग करना जो सत्यप्रिय हों, किसी प्रकार मत-मतान्तर तथा पन्थ-पन्थाईका आग्रह न रखते हों, स्वयं जीवनकी उपर्युक्त श्रेणियोंमेंसे उल्लङ्घन किये हुए हों और स्वानुभवसे अधिकारीके अधिकारानुसार निरूपण कर सकते हों। यही उपासनाकी श्रवण-रूप द्वितीय श्रेणी है। जिस प्रकार शरीरकी पुष्टिके लिये प्रति-दिन अन्नादिका सेवन जरूरी है, इसी प्रकार भक्तिकी पुष्टिके लिये मनको नित्य ही शुद्ध भावोंका भोजन मिलना जरूरी है, जोकि भावुक पुरुषोंके सत्सङ्ग और शास्त्रश्रवणद्वारा ही प्राप्त हो सकता है।

भक्ति स्वतन्त्र सकल सुख खानी।
बिनु सत्सङ्ग न पावहिं प्राणी॥
पुण्य पुञ्ज बिनु मिलहिं न सन्ता।
सत्संगति संसृति करि अन्ता॥
जलचर थलचर नभचर नाना।
जे जड़ चेतन जीव जहाना॥

मति कीरति गति भूति भलाई ।
जे जेहि जतन जहाँ जब पाई ॥
सो जानहु सत्सङ्ग प्रभाऊ ।
लोकहु वेद न आन उपाऊ ॥

सच्छास्त्र व सत्सङ्गका फल यह है कि इनके सम्बन्धसे विरोधी संस्कार जो जन्मान्तरसे हृदयमें भरते चले आये हैं, बाहर निकलकर असम्भावना दोषकी निवृत्ति हो जाय, भगवत्-सम्बन्धी संस्कार हृदयमें ठस जाएँ और सांसारिक वस्तुओंमेंसे सुख-साधनता-बुद्धि निकलकर 'भगवान् ही एकमात्र सुखस्वरूप हैं' यह निश्चय दृढ़ हो जाय, क्योंकि संस्कार ही जीवके लिये एक मुख्य वस्तु हैं। जैसे-जैसे संस्कार होंगे वैसी-वैसी ही जीवकी चेष्टा, गति तथा दृष्टि होगी। जैसा अन्दर भरेंगे वैसा ही बाहर निकलेगा। सेनिमाके खेलमें जैसा-जैसा रूप अन्दर फिल्मपर सूक्ष्म रूपसे होता है वैसा ही बाहर पड़नेपर स्थूल रूपमें दिखलाई पड़ता है। इसी प्रकार जैसे संस्कार इसके अन्दर सूक्ष्म रूपसे होते हैं वैसा ही यह संसारको स्थूल रूपसे बाहर देखता है।

उपासनाकी तृतीय श्रेणी है 'कीर्तन भक्ति'। जो कुछ सत्सङ्ग व सच्छास्त्रसे श्रवण किया गया है, परस्पर मिलकर उसीका कथन व चर्चा करना तथा बारम्बार भगवत् व भगवद्भक्तोंका गुणानुवाद गायन करना 'कीर्तन-भक्ति' कहलाती है। जो संस्कार उपर्युक्त सत्सङ्ग व सच्छास्त्रद्वारा मृदुरूपसे हृदयमें प्रविष्ट किये गये हैं वे दृढमूल होकर फलने-फूलनेके योग्य हो जाएँ, यही कीर्तन-भक्तिका प्रयोजन है। यह कीर्तन-भक्ति उन संस्कारोंमें जलसिञ्चनरूप है। कीर्तनद्वारा चित्तपर बड़ा प्रभाव

तृतीय श्रेणी, कीर्तन-भक्ति।

पड़ता है। श्रद्धा व भावनायुक्त भक्तके चित्तको कीर्तन स्तब्ध कर देता है। भगवान्‌का वचन है :—

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥
(गी अ. ९, १४)

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥
(गी. अ. १०, ९)

अर्थः—दृढ़ निश्चयवाले भक्तजन निरन्तर मेरे नाम व गुणोंका कीर्तन करते हुए, मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करते हुए, मेरेको भक्तिपूर्वक प्रणाम करते हुए और मेरे ध्यानमें जुड़े हुए मुझे पूजते हैं। जिनके चित्त व प्राणोंकी चेष्टा मेरेमें है, ऐसे भक्तजन परस्पर एक दूसरेको बोधन करते हुए, मेरे ही गुण-प्रभावका कथन करते हुए नित्य सन्तुष्ट होते हैं और मेरेमें ही रमण करते हैं।

चतुर्थ श्रेणी, स्मरण-भक्ति व नाममहिमा।

उपासनाकी चतुर्थ श्रेणी 'स्मरण भक्ति' है। अर्थात् भगवान्‌के नामको बारम्बार व्यवधानरहित प्रेमपूर्वक उच्चारण करना, इसीको जप भी कहते हैं। भगवान्‌ने गीतामें जपको यज्ञरूपसे अपनी विभूतियोंमें अपना ही रूप वर्णन किया है और सब यज्ञोंमें जप-यज्ञको महत्त्व दिया है। यथा:—

'यज्ञानां जपयज्ञोस्मि' (अ. १० श्लो. २५)

सब शास्त्रों, मतों और पन्थोंने मुक्तकण्ठसे नामकी महिमा गायन की है। आधुनिक कालके भिन्न-भिन्न पन्थोंके सञ्चालक अवतारस्वरूप महापुरुष श्रीकबीरजी, श्रीगुरु नानकदेवजी,

श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी, श्रीदादूदयालजी, श्रीरामदासजी और श्रीरामचरणजी आदि ने अपने-अपने अनुभवके उद्गार नाम की महिमामें चित्ताकर्षक रूपसे प्रकट किये हैं और ग्रन्थके ग्रन्थ नामके गुणानुवादमें भर दिये हैं। संसारमें 'नाम' और 'रूप' अर्थात् 'शब्द' और 'अर्थ' दो ही पदार्थ हैं। 'नाम' तथा 'शब्द' पर्याय हैं और 'रूप' तथा 'अर्थ' एक ही वस्तुके द्योतक हैं। यावत् प्रपञ्चरूप संसार 'नाम' और 'रूप'के अन्दर ही समा जाता है। 'घट' यह दो अक्षरोंवाला शब्द 'नाम' है और 'घट' शब्दका अर्थ जो मृत्तिका-पात्रविशेष वह उसका 'रूप' है। इसी प्रकार सकल प्रपञ्च नाम-रूपके भीतर ही है,नाम-रूपके बाहर कुछ भी नहीं। विचारसे देखिये तो 'रूप'से 'नाम'की महिमा अधिक है:—

(१) घटरूपका सम्बन्ध एक घटव्यक्तिसे ही है और घटनामका सम्बन्ध समष्टि घटोंसे है, इस लिये 'रूप'से 'नाम' व्यापक है।

(२) 'रूप' स्थूल है 'नाम' सूक्ष्म है। अर्थात् 'रूप' विषय है व प्रकाश्य है, 'नाम' विषयी है व प्रकाशक है, इस लिये 'रूप' से 'नाम' सूक्ष्म है। यह नियम है कि स्थूलसे सूक्ष्ममें शक्ति अधिक होती है, जैसे वर्फसे जलमें और जलसे भापमें बल अधिक होता है। इसी लिये रूपजगत्से नामजगत् अधिक प्रभावशाली है।

(३) 'नाम'के विना 'रूप' की सिद्धि हो नहीं सकती, अर्थात् नामके विना हाथमें आई हुई वस्तुके रूपका भी बोध हो नहीं सकता।

रूप विशेष नाम बिनु जाने। करतलगत न परहिं पहिचाने॥

किसी व्यक्तिविशेषके मिलनेकी हमको अभिलाषा है और वह हमारे सम्मुख उपस्थित हो भी गया, परन्तु नाम

के विना उसका बोध हो नहीं सकता। जब उसके नामका परिचय मिलता है तब एकाएक प्रेमप्रवाह उमड़ आता है। यह 'नाम' की ही महिमा है।

(४) 'नाम'के विना संसारमें कोई क्रिया चेष्टा हो नहीं सकती। नाम न रहे तो सारा संसार जड़रूपसे स्थित हो जाय। अर्थात् शब्दप्रयोग विना न किसीपर अपना भाव प्रकट किया जा सकता है और न किसीसे कोई चेष्टा ही कराई जा सकती है, यहाँतक कि सिरहाने रक्खी वस्तु भी 'नाम'के विना हमारे हाथमें नहीं पहुँचाई जा सकती।

५) नामरूपी विद्युत इस संसाररूपी स्थूल विद्युतसे, जो वायुयान आदिमें काम कर रही है, अधिक प्रभावशाली है। नामके प्रभावसे कोमलको कठोर और कठोरको कोमल बनाया जा सकता है। प्रेमोद्गारपूर्ण नामद्वारा पत्थरको भी पिघलाकर पानीके रूपमें वहाया जा सकता है और क्रोधावेशपूर्ण नामद्वारा पानीमें भी आग उपजाई जा सकती है, जब कि स्थूलविद्युतसे यह कार्य नहीं हो सकता। उद्धव जब मथुरासे कृष्णसंदेश लेकर व्रजमें गोपियोंको योगका उपदेश देनेको आए तब गोपियोंके प्रेमविरहरूपी वचनोंने उद्धवपर वह प्रभाव डाला कि आपेकी सुद्ध न रही और सब ज्ञान-ध्यान चल वसा। गोपियाँ कहती हैं "हे उद्धव! प्यारेके विना प्यारेकी पातीको हम कहाँ रक्खें ? छातीसे लगाएँ तो जल जायगी, आखोंसे लगाएँ तो गल जायगी"। अब भी उस विरहका फोटो प्रेमियोंकी मण्डलीको कीर्तनद्वारा विह्वल कर देनेमें समर्थ है। पाठक! जरा ध्यानसे सुनिये। ज्ञानके अभिमानी उद्धवके सम्मुख गोपियाँ किन मधुर व्यङ्ग वचनोंमें कपटी-कृष्णकी तुलना मधुकरके साथ लगा रही हैं और जिन-जिन पदार्थोंमें श्यामवर्ण वस रहा है उन सबमें कपट व कृतघ्नताका आरोप करके

अन्ततः उस कृष्णवर्णका ही किन विचित्र रसिकभावोंमें तिरस्कार कर रही है !

यह सुनि कह्यो और इक ग्वाली । कहत कहा मधुकर सों आली ॥
उन्हींको[1] संगी यह जोऊ । चञ्चल चित्त श्याम तनु दोऊ ॥
वे मुरलि ध्वनि जगि जगमोहन । इनकी गुञ्ज[2] सुमनदल[3] जोहन ।
वे निशि बसत प्रात कहुँ आनै । ये बसि कमल अनत रुचि मानै ।
वे द्वै चरण सुभग भुज चारी ये षट पद दोउ विपिन[4] विहारी ॥
वे पट पीत मञ्जु[5] तनु काछे । इनके पीत पंख दोउ आछे ॥
वे माधव ये मधुप कहावत । काहु भाँति भेद नहीं आवत ॥
वे ठाकुर ये सेवक उनके । दोऊ मिले एक ही गुनके ॥
कहा प्रतीति कीजिये इनकी । परी प्रकृति ऐसी है जिनकी ॥
निरस जानि भाजत पल माहीं । दया धरम इनके कछु नाहीं ॥
मन दे सरवस प्रथम चुरावैं । बहुरौ ताके काम न आवैं ॥
इनकी प्रीति किये यों माई । ज्यों भुसपरकी भीति उठाई ।

दो०—कह्यो एक तिय सुन सखी, कारे सब इक सार ।
इनसों प्रीति न कीजिये, कपटिनकी चटसार[6] ॥

सो०—देखो करि अनुमान, कारे अहि कारे जलद ।
कविजन करत बखान, भ्रमर काग कोयल कपट ॥

---

१. श्रीकृष्ण । २. भँवरा । ३. फूल की पाँखड़ी । ४. वन । ५, कोमल । ६. पाठशाला ।

राखि पिटारे जो अहि[1] कारो । पय पियाय अति हित प्रतिपारो ।
कुल स्वभाव सों डसि भजि जाहीं। यद्यपि तिन्हें लाभ कछु नाहीं ॥
जलद[2] सलिल बरषत चहुँ पाहीं । भरत सकल सर सरिता माहीं ॥
निशि दिन ताहि पपाहा ध्यावै । भाँवरि दे दे प्रीति बढावैं ॥
एक बूँद को त्यहि तरसावै । भ्रमर मालती सों मन लावैं ॥
जब रस हीन होत वा माहीं । निरमोही तजि जाहि पराहीं ॥
सुनियत कथा काग[3] पिक केरी । अण्डन सेव करावत हेरी ॥
बड़े होत निज कुल उडि जाहीं । बैठत निज माता पितु पाहीं ॥
यह सब कारे हरि पर वारे । सबहिनमें अतिहि अनियारे[4] ॥
सबकी उपमा अरु गुण योगु । न्याय देत पटतर कवि लोगु ॥
अलिकुल अलक कोकिला बानी। भुज भुजंग तनु जलद बखानी ॥
समुझी बात आज यह सारी। खानि कपटको कुञ्जबिहारी ॥
मैं अब अपने मन यह ठानी । उनके पन्थ न पीऊँ पानी ॥
कबहुँ नयन न अञ्जन लाऊँ । मृगमद भूलि न अङ्ग चढ़ाऊँ ॥
हस्त बलै पट नील न धारौं । नयनन कारे घन न निहारौं ॥
सुनौं न श्रवणन अलि पिक बानी । नीले तनु परसौं नहीं पानी[5] ॥

कहिये ! जब और अब स्थूल विद्युतसे यह कार्य कैसे होता था ? यह नामका ही प्रभाव है कि सृष्टिके आदिसे अनन्त

---

१. सर्प । २. बादल । ३ काग के भय से कोयल अपने अण्डों को उसके अण्डों में रख देती है बड़े होने पर वे अपने कुल में चले जाते हैं । यही घटना कृष्ण ने कर दिखाई । ४ निराले । ५ हाथ ।

ऋषि-महर्षियोंके सुन्दर भाव व विचार नामके फोटोरूप पदोंद्वारा श्रुति-स्मृति आदिके रूपमे हमारेतक पहुँचाये जा रहे हैं और पहुँचते रहेंगे। भगवान्‌का सन्देश भगवती-गीता नामके द्वारा ही सम्पूर्ण वायुमण्डलको व्याप्त करके स्थित है और सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमे अपनी गूञ्ज गुञ्जा रही है। इस शब्दब्रह्मको मेरा हार्दिक नमस्कार है।

(६) नामी (रूप, अर्थ) के नष्ट होनेपर भी नाम शेष रहता है तथा नामी एक देशमें स्थित रहकर भी नाम देश-देशान्तरमें व्याप्त होकर रहता है। इस लिये नामीसे नाम अधिक देश तथा अधिक कालव्यापी है।

(७) जिस रूपके श्रवणजन्य अथवा नेत्रजन्य-संस्कार हृदयमें हो, नामका यह अद्‌भुत प्रभाव है कि अपने उच्चारणके समकाल ही वह उस रूप तथा उसके गुण, कर्म और स्वभावके संस्कार हृदयमे उद्‌बुद्ध करके उस रूप, गुण, कर्म और स्वभावका फोटो नेत्रोंके सम्मुख खड़ा कर देता है। इससे तुरन्त ही तत्सम्बन्धी विचित्र भावोंका सञ्चार होने लगता है। नामके उच्चारणसे संस्कारका उद्‌बोध होता है, संस्कारके उद्‌बोधसे पदार्थकी स्मृति होती है, स्मृतिसे रूप-गुणादिका दृश्य सम्मुख खड़ा होता है और दृश्यकी उपस्थिति से भावोंका उद्‌गार होता है। इन सबके मूलमे एकमात्र 'नाम' ही है। इस सिद्धान्तके अनुसार ईश्वर तथा उसके भिन्न-भिन्न अवतारोंके नामस्मरणसे उनके विचित्र रूप तथा उनके भिन्न-भिन्न गुण, कर्म, स्वभाव और लीलाओंका दृश्य सम्मुख खड़ा हो जाता है और प्रेमियोंके हृदयोंमे समुद्रके समान प्रेमकी हिलोरें उठने लगती हैं। 'कृष्ण' नामका उच्चारण कृष्णप्रेमी के हृदयमें कृष्णके रूप, गुण, कर्म और स्वभावका फोटो सम्मुख खड़ा कर ही देता है, जिसके प्रभावसे उसका हृदय

नृत्य करने लगता है। यह अभी सिद्धान्त किया जा चुका है कि यह जीव श्रद्धाका ही पुतला है, जैसी इसकी श्रद्धा होती है वैसा ही भृङ्गीकीटके समान इसका रूप हो जाता है। यह सब नाम का ही माहात्म्य है जोकि रूपसे कई गुणा अधिक है। ध्रुव, प्रह्लाद और नामदेवादि इसके प्रत्यक्ष दृष्टान्त हैं, जिन्होंने नाम के प्रभावसे रूपको पकड़ बुलाया और अपने सम्मुख हुजूरी बना लिया। इस स्थलपर कई पुरुष शङ्का कर बैठते हैं कि 'देखी हुई वस्तुमें ही प्रीति होती है, बिना देखी वस्तुमें किसीकी प्रीति होती नहीं। ईश्वरको किसीने देखा नहीं, इसलिये उसमें प्रीति भी नहीं हो सकती'। यह शङ्का आस्तिकताशून्य है, देखी हुई वस्तुमें ही प्रीति हो यह नियम नहीं, किन्तु सुनी हुई वस्तुमे भी प्रीति सम्भव है। सुने हुए पारलौकिक स्वर्गादिमें श्रद्धावान् पुरुषकी प्रीति होती है तथा इहलौकिक पैरिस आदि अन्य विलायतके भोगोंमें कामी पुरुषोंको प्रीति श्रवणद्वारा देखनेमें आती है। इसी प्रकार शुद्धान्तःकरण पुरुषोंकी प्रीति श्रवणद्वारा ईश्वरमें होना निश्चित है। नामकी महिमामें भक्तशिरोमणि गोस्वामी तुलसी-दासजीने क्या ही सुन्दर कथन किया है:—

समुझत सरिस नाम अरु नामी।
प्रीति परस्पर प्रभु अनुगामी॥
नाम रूप दोउ ईश उपाधी।
अकथ अनादि सुसामुझि साधी॥१॥

नाम और नामी समझनेमें एक जैसे हैं, किन्तु दोनोंमें प्रीति परस्पर स्वामी-सेवक जैसी है। अर्थात् जिस प्रकार सेवक स्वामीके पीछे-पीछे चलता है इसी प्रकार 'रूप' 'नाम'के अधीन रहता है और नामी नामके पीछे-पीछे चलता है। जहाँ नाम-

कीर्तन होता है वहाँ नामी भी आ जाता है। 'नाम' व 'रूप' दोनों उस ईश्वरकी उपाधि हैं जोकि अनिर्वचनीय व अनादि है। अर्थात् ईश्वरके स्वरूपको जोकि बेनाम व बेरूप है, बोधन करके 'नाम' व 'रूप' उससे भिन्न रहते हैं, इसीसे ये ईश्वरकी उपाधि हैं। इस प्रकार अनिवचनीय ईश्वर नाम व रूपके द्वारा ही सुन्दर बुद्धिसे जाननेमे आता है ॥१॥

को बड़ छोट कहत अपराधू ।
सुनि गुणभेद समुझहहिं साधू ॥
देखिये रूप नाम आधीना ।
रूप ज्ञान नहीं नाम विहीना ॥२॥

'नाम' और 'रूप' इन दोनोंमे बड़ा और छोटा कौन है? ऐसा कहना अपराध है। गुणोंके भेदको सुनकर साधुजन आप ही इनकी बड़ाई-छुटाईको समझ लेंगे। रूप नामके अधान देखनेमें आता है, क्योंकि नाम बिना रूपका ज्ञान नहीं हो सकता ॥२॥

रूप विशेष नाम बिनु जाने ।
करतलगत न परहिं पहिचाने ॥
सुमिरिये नाम रूप बिनु देखे ।
आवत हृदय सनेह विशेषे ॥३॥

नाम जाने बिना विशेषरूप हथेलीमे भी आ जाय तो भी पहिचाना नहीं जाता और रूप देखे बिना ही यदि नामका स्मरण किया जाय तो हृदयमे विशेष प्रेम उत्पन्न होता है ॥३॥

नाम रूप अति अकथ कहानी।
समुझत सुखद न परत बखानी ॥
अगुण सगुण विच नाम सुसाखी।
उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी ॥४॥

वस्तुतः 'नाम' व 'रूप' एक अति ही अकथ कहानी है, जो कहनेमें नहीं आती। जिनको समझ लेनेसे तो बड़ा सुख मिलता है, परन्तु कथन नहीं किया जा सकता। निर्गुण व सगुण भगवान्के बीचमें नाम ही एक सुन्दर साक्षी है। जो आप अलग रहकर दोनोंके स्वरूपका बोध करा देता है, इसलिये नाम एक चतुर दुभाषिया[1] है अर्थात् अपनी सैनसे अपने साक्ष्योंके स्वरूपको बतला देता है ॥४॥

राम नाम मणि दीप धरु, जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहिरै, जो चाहत उजियार ॥५॥

यदि तुम भीतर-बाहर उजाला चाहते हो तो राम-नामका मणिमय दीपक (जो मणिके समान नित्य प्रकाशरूप है) अपनी जिह्वारूपी देहलीके द्वारपर रखो। देहलीपर धरा हुआ दीपक घरके भीतर व बाहर प्रकाश कर देता है, इसी प्रकार नामरूपी दीपक जिह्वारूपी देहलीपर रखनेसे शरीरके भीतर व बाहर प्रकाश ही प्रकाश कर देता है ॥५॥

---

१. जहाँ दो पुरुष परस्पर एक दूसरेकी भाषा न जानते हों, वहाँ तीसरा पुरुष जो दोनोंकी भाषा जाननेवाला हो और आपसमें उन-उनकी भाषामें एक दूसरेके आशयको समझादे, 'दुभाषिया' कहलाता है।

नाम जीह जपि जागहिं योगी ।
निरति विरञ्चि प्रपञ्च वियोगी ॥
ब्रह्म सुखहिं अनुभवहिं अनूपा ।
अकथ अनामय नाम न रूपा ॥६॥

नामको ही जीभसे जपकर वे योगी, जो ब्रह्माके रचे हुए प्रपञ्चसे वैराग्यवान् हैं, अपने आत्मस्वरूपमें जागते हैं और उस अनुपम ब्रह्मसुखका अनुभव करते हैं, जो अकथनीय निर्विकार और नामरूपसे रहित है ॥६॥

जाना चहहिं गूढ गति जेऊ ।
नाम जीह जपि जानहिं तेऊ ॥
साधक नाम जपहिं लव लाये ।
होहिं सिद्ध अणिमादिक पाये ॥७॥

जो इस गूढ गतिको जानना चाहें वे जीभसे नाम जप कर जान सकते हैं। जो साधकपुरुष लव लगाकर नामजाप करते हैं, वे अणिमादि सिद्धियोंको पाकर सिद्ध हो जाते हैं ॥७॥

जपहिं नाम जन आरत भारी ।
मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी ॥
राम भक्त जग चारि प्रकारा ।
सुकृति चारिउ अनघ उदारा ॥ ८ ॥

जो आर्तभक्त नामका जाप करते हैं वे भारी संकटसे छूट कर सुखी हो जाते हैं। इस प्रकार रामके भक्त संसारमें चार

प्रकारके हैं और चारों ही पुण्यात्मा, निष्पाप और उदार हैं। ॥८॥ वे ये हैं:—(१) आर्त, (२) अर्थार्थी (३) जिज्ञासु और (४) ज्ञानी। (गीता अ. ७ श्लो. १६)

चहुँ चतुरनको नाम अधारा ।
ज्ञानी प्रभुहिं विशेष पियारा ॥
चहुँ युग चहुँ श्रुति नाम प्रभाऊ ।
कलि विशेष नहीं आन उपाऊ ॥ ९ ॥

चारों ही चतुर भक्तोंको एक नाम ही आधार है, फिर भी ज्ञानी तो प्रभुको बहुत ही प्यारा है। चारों युगोंमें चारों वेदोंमें नामका प्रभाव प्रकट है और कलियुगमें तो नामके सिवाय कोई और उपाय है ही नहीं ॥९॥

सकल कामना हीन जे, रामभक्ति रसलीन ।
नाम सुप्रेम पियूष हृद, तिनहुँ किये मन मीन ॥

जो ज्ञानी पुरुष सकल कामनाओंसे मुक्त हैं और रामभक्तिरूपी रसमें लीन हो रहे हैं, उन्होंने तो नामरूपी सुन्दर प्रेमामृतके कुण्डमें अपने मनको मछली ही बना दिया है।

अगुण सगुण दोउ ब्रह्म स्वरूपा ।
अकथ अनादि अगाधि अनूपा ॥
मोरे मन बड़ नाम दुहूँ ते ।
किये जे युग निज वश निज बूते ॥ १० ॥

निर्गुण और सगुण दोनों ही उस ब्रह्मके स्वरूप हैं जो अकथनीय, अनादि, अगाध और उपमारहित है। मेरे मनमें तो

निर्गुण और सगुण दोनों रूपोंसे 'नाम' बड़ा है, जिसने दोनोंको अपने बलसे अपने वश कर रक्खा है ॥१०॥

प्रौढ़ि सुजन जनि जानहिं जनकी ।
कहहुँ प्रतीति प्रीति रुचि मनकी ॥
पावक युग सम ब्रह्म विवेकू ।
एक दारु गत देखिये एकू ॥ ११ ॥

सज्जन पुरुष मेरी यह अतिशयोक्ति न समझें। मैं अपने मनकी प्रीति, रुचि और विश्वास कथन करता हूँ। ब्रह्मविवेक उन दोनों प्रकारकी अग्निके समान है जिनमें एक लकड़ीके भीतर है पर दिखती नहीं और दूसरी बाहर दीखती है ॥११॥

उभय अगम युग सुगम नामते ।
कहहुँ नाम बड़ ब्रह्म रामते ॥
व्यापक एक ब्रह्म अविनाशी ।
सत चेतन घन आनन्द राशी ॥ १२ ॥

इस प्रकार यद्यपि निर्गुण व सगुण दोनों ही अगम हैं, तथापि नामसे दोनों सुगम हो जाते हैं। अतः निर्गुण व सगुण दोनों रूपोंसे मैं तो 'नाम'को ही बड़ा कहता हूँ। ब्रह्म एक है और व्यापक, अविनाशी है तथा सत्, चेतनघन और आनन्दकी राशी ही है॥१२॥

अस प्रभु हृदय अछत अविकारी ।
सकल जीव जग दीन दुखारी ॥
नाम निरूपण नाम यतन ते ।
सो प्रगटत जिमि मोल रतन ते ॥१३॥

यद्यपि ऐसा प्रभु सबके हृदयमें ही निर्विकार रूपमें स्थित है, तथापि सकल संसारी जीव दीन व दुखारी ही रहते हैं। परन्तु 'तत्त्वमस्यादि' नामके कथन व अभ्याससे वह प्रभु इसी प्रकार नकद प्राप्त हो जाता है, जैसे रत्नसे रत्नका मूल्य नकद मिल जाता है ॥१३॥

निर्गुण ते इहि भाँति बड, नाम प्रभाव अपार ।

कहउँ नाम बड़ राम ते, निज विचार अनुसार ॥

इस प्रकार निर्गुणब्रह्मसे तो 'नाम'का प्रभाव बड़ा और अपार है ही, अब सगुणरामसे भी 'नाम'को अपने विचारके अनुसार बड़ा कहता हूँ।

राम भक्त हित नर तनु धारी ।

सहि संकट किये साधु सुखारी ॥

नाम सप्रेम जपत अनयासा ।

भक्त होहिं मुद मंगल रासा ॥१४॥

रामने भक्तोंके लिये नरशरीर धारण किया और संकट सह-सहकर साधुओंको सुखी किया। परन्तु प्रेमसहित 'नाम' जपनेसे अनायास ही भक्त आनन्द व मङ्गलके घर हो जाते हैं ॥१४॥

राम एक तापस तिय तारी ।

नाम कोटि खल कुमति सुधारी ॥

ऋषि हित राम सुकेतु सुताकी ।

सहित सैन सुत कीन बेवाकी ॥१५॥

रामने तो एक तपस्वीकी स्त्री (अहिल्या) का ही उद्धार किया परन्तु 'नाम'ने करोड़ों दुष्टोंकी कुबुद्धियोंका सुधार कर डाला। रामने ऋषि (विश्वामित्र)के लिये ताड़काकी सेनासहित और उसके पुत्र सुबाहुसहित समाप्ति की ॥१५॥

सहित दोष दुःख दास दुराशा ।
दलई नाम जिमि रवि निशि नाशा ॥
भञ्जेउ राम आप शिव चापू ।
भव भय भञ्जन नाम प्रतापू ॥१६॥

परन्तुः—'नाम' तो भक्तोंके दोष, दुःख, दासभाव अर्थात् दीनता और दुराशाओंको सहज ऐसे ही नष्ट कर देता है जैसे सूर्य रात्रिको। रामने स्वयं एक शिवधनुषको ही तोड़ा, परन्तु 'नाम'का प्रभाव ऐसा है कि संसारके जन्ममरणरूपी भयको ही काट डालता है ॥१६॥

दण्डक वन प्रभु कीन सुहावन ।
जन मन अमित नाम किये पावन ॥
निशिचर निकर दले रघुनन्दन ।
नाम सकल कलि कलुष निकन्दन ॥१७॥

प्रभुने स्वयं वास करके एक दण्डक वनको ही सुहावना किया, परन्तु 'नाम'ने तो भक्तोंके अनन्त मनरूपी दण्डकोंको पवित्र कर दिया । श्रीरघुनाथजीने कुछ राक्षसोंकी सेनाको ही चूर्ण किया, परन्तु नाम तो कलियुगके सब पापरूपी राक्षसोंको जड़से ही उखाड़ डालनेवाला है ॥१७॥

शवरी गीध सुसेवकन सुगति दीन रघुनाथ ।
नाम उधारे अमित खल वेद विदित गुण गाथ ॥

रघुनाथजीने शवरी व गीध नीच जातिके भक्तोंको ही सुन्दर गति दी, परन्तु 'नाम'ने तो अनन्त दुष्टोंका उद्धार कर दिया, जैसा वेदोंमे गुणगाथा प्रकट है ।

राम सुकण्ठ विभीषण दोऊ ।
राखे शरण जान सब कोऊ ॥
नाम अनेक गरीब निवाजे ।
लोक वेद वर विरद विराजे ॥१८॥

रामने केवल सुग्रीव व विभीषण दोको ही शरणमें रक्खा ऐसा सब कोई जानते हैं, परन्तु 'नाम'ने तो अनेक दीनों की पालना की । 'नाम'का यह सुन्दर विरद लोकवेदमें विख्यात है ॥१८॥

राम भालु कपि कटक बटोरा ।
सेतु हेतु श्रम कीन न थोरा ॥
नाम लेत भव सिन्धु सुखाहीं ।
करहु विचार सुजन मन माहीं ॥१९॥

रामने रीछ व बन्दरोंकी सेना इकट्ठी की और सेतुके लिये कुछ कम परिश्रम नहीं किया । परन्तु 'नाम'के लेतेही संसारसमुद्र सूख जाता है, सज्जन पुरुष मनमे इसका स्वयं विचार करें ॥१९॥

राम सकुल रण रावण मारा ।
सीय सहित निज पुर पगु धारा ॥

राजा राम अवध रजधानी ।
गावत गुण सुर मुनि वर बानी ।२०॥

रामने रावणको उसके कुलसहित नष्ट किया और सीतासहित अपने पुरमें पधारे, राम राजा और अयोध्या उनकी राजधानी हुई, जिनके गुणोंको देव और मुनि सुन्दर वाणीसे गाते हैं, ॥२०॥

सेवक सुमिरत नाम सप्रीति ।
बिनु श्रम प्रबल मोह दल जीति ॥
फिरत सनेह मगन सुख अपने ।
नाम प्रसाद शोच नहीं सपने ॥२१॥

परन्तु:—भक्त प्रेमसहित नामस्मरण करनेसे ही विना श्रमके मोहरूपी बलवान् रावणकी सेना (काम, क्रोध, लोभ, मोह व अहंकार) को जीत कर, प्रेममें मगन हुए अपने निजघर आत्मस्वरूपमें प्रवेश करते हैं और 'नाम'के प्रसादसे उनको स्वप्न में भी दुःख नहीं होता ॥२१॥

ब्रह्म राम ते नाम बड़, वरदायक वरदानि ।
राम चरित शत कोटिमें, लिये महेश जिय जानि ॥

इसप्रकार निगुण व सगुण दोनों रूपोंसे 'नाम' बड़ा है और वरके देनेवालोंको भी वरदायक है। इसी लिये सौ करोड़ रामायणोंमेंसे शिवजीने 'रामनाम' को चुनकर निकाल लिया। जप तीन प्रकारका है:—

(प्रथम) वह जो उच्चवाणीसे किया जाय, जो दूसरे को भी सुनाई दे।

(द्वितीय) वह जो अन्य व्यक्तिको सुनाई न दे और ओष्ठ व जिह्वा हिलते रहें।

(तृतीय) वह जिसमें ओष्ठ व जिह्वाका हिलना भी बन्द हो जाय और केवल कण्ठसे ही होता रहे।

प्रथम प्रकारका जप कनिष्ठ, दूसरे प्रकारका मध्यम और तीसरे प्रकारका उत्तम है। कनिष्ठ प्रकारके जपके अभ्याससे मध्यमकी सिद्धि होती है और मध्यमके अभ्याससे उत्तमकी। जपका सम्बन्ध हृदयसे है, अन्तमें अभ्यासकी प्रौढ़तासे कण्ठ भी रुक जाता है और हृदयसे ही जप होता रहता है। कनिष्ठ जपसे शक्ति बाहर निकल जाती है हृदयपर प्रभाव नहीं पड़ता, मन जपके साथ नहीं जुड़ता। इसके दृढ़ अभ्यासद्वारा मध्यम जपसे हृदयपर सापेक्ष अधिक प्रभाव पडता है, मन कुछ-कुछ जुडने लगता है और उत्तमसे हृदयपर और अधिक प्रभाव पड़ता है। जपका उद्देश्य यह है कि कीर्तनद्वारा श्रवणजन्य संस्कारोंमें जो जलसिञ्चन हुआ था, जपके द्वारा वे हृदयमें दृढमूल हो जाएँ और उपास्यदेवके प्रति भक्तिका स्रोत उमड़ आए।

पञ्चमश्रेणी' प्रतिमा-पूजन, अर्थात् पाद सेवन अर्चन व वन्दन-भक्ति।

उपासनाकी पञ्चम श्रेणी प्रतिमापूजन है, अर्थात् दासभाव से इष्टदेवकी मूर्तिको इष्टदेव रूपसे पूजन करना। 'प्रतिमा' शब्दका अर्थ वह साधन है जिसके द्वारा प्रमाण किया जाय, मापा जाय, तोला जाय। जैसे एक सेर लोहे का वट्टा जिसके द्वारा सेरभर वस्तु तोली जाय, अथवा दो हाथ लम्बा एक गज जिसके द्वारा गजभर वस्त्र मापा जाय, प्रतिमा कहे जा सकते हैं। इसी प्रकार इष्टदेवकी मूर्ति जिसके द्वारा इष्टदेवका प्रमाण किया जासके, प्रतिमा कही जा सकती है। परन्तु जिस प्रकार लोहे का वट्टा अपने बराबर भारी वस्तुको

तोल देता है, अथवा गज अपने समान लम्बे वस्त्रको माप देता है, इसी प्रकार मूर्तिके समान भारी और मूर्ति जैसा लम्बा-चौड़ा यदि इष्टदेवका प्रमाण किया जाय तो भारी भूल होगी। इस प्रमाणकी विधि उपर्युक्त माप-तोलसे विलक्षण है। इसके प्रमाणकी रीति यह है कि शास्त्रकी विधि, गुरुके वचन और अपने हृदयके आस्तिकतापूर्ण श्रद्धायुक्त भावद्वारा मूर्तिमें ईश्वरका अस्तित्व निश्चय किया जाय। ध्यानमें विधि, विश्वास और इच्छा तीनों ही मुख्य हैं और प्रतिमापूजन ध्यानरूप ही है। गुरु-शास्त्रके आज्ञारूप व कर्तव्यतासूचक वचनोंको 'विधि' कहते हैं, अपने आस्तिकता व श्रद्धापूर्ण भावका नाम 'विश्वास' है और अन्तःकरणकी कामनारूप रजोगुणी-वृत्तीको 'इच्छा' कहा जाता है। अर्थात् गुरु-शास्त्रका विधिरूप वचन भी हो, उन वचनोंमें अपना आस्तिकतापूर्ण विश्वास भी हो और अन्तःकरणमें यह कामना भी हो कि हमारा चित्त ध्यानमें जुड़े। इस प्रकार ध्यानके लिये इन तीनोंका होना आवश्यक है। यदि विधि व विश्वास है परन्तु इच्छा नहीं, तब भी ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती, विश्वास व इच्छा है परन्तु विधि नहीं तथा विधि व इच्छा है परन्तु विश्वास नहीं, तब भी कार्यसिद्धि नहीं हो सकती। इन तीनोंमेंसे एक भी न हो तो ध्यानकी सिद्धि नहीं होती, ध्यानके लिये तीनों ही चाहिये। इस प्रकार अभ्यासके बलसे जबकि मूर्तिदेशमें ईश्वर का अस्तित्व निश्चय किया गया तो इस प्रमाणसे 'जो इसमें है वह सबमें है' सर्वत्र ही ईश्वरदर्शन किया जाय और पञ्चतत्त्व-रचित सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ही भिन्न-भिन्न रूपोंमे ईश्वरकी झाँकी करा सके, यही इस प्रमाणकी विधि और लक्ष्य है। न यह कि सर्वत्र ईश्वरका अभाव करके केवल प्रतिमादेशमें ही उसे सङ्कुचित कर दिया जाय। नन्हेसे गोलमटोल शालिग्राममें

ईश्वरबुद्धि, ईश्वरको तुच्छ बनानेके लिये नहीं थी, बल्कि इसी लिये थी कि जब नन्हेंसे शालिग्राममें ही ईश्वरका रूप पाया तो इस प्रमाणसे पर्वत, वृक्ष, नदी, पशु, पक्षी सभी ईश्वरका स्वरूप हुए चाहियें और सब देश, सब काल, सब वस्तुमें उसीकी सत्ताका दर्शन करना चाहिये। परन्तु इसके विपरीत जो लोग इस सङ्कीर्ण दृष्टिसे प्रतिमापूजनपरायण होते हैं कि 'यहीं ईश्वर है और कहीं भी नहीं' और इस प्रकार केवल प्रतिमामें ही ईश्वरको बाँध देते हैं, वे तो अपने हृदयोंको कोमल करनेके स्थानपर पाषाण ही बना लेते हैं, वे तो हुए पत्थरके कीड़े! जिस प्रकार बच्चा जब पाठशालामें जाता है तो गुरु उसको प्रारम्भमें पाटीपर अक्षर लिखना सिखाता है, जब पाटीपर उसका हाथ जम गया और वह पदोंको लिखना सीख गया तो फिर कापी भी लिख लेता है रजिस्टर, बही आदि सभी कुछ लिख लेता है, परन्तु पाटीपर हाथ जमाकर ही वह ऐसा कर सकता है, इसके बिना नहीं। ठीक, इसी प्रकार प्रतिमा-पूजन भी पाटीपर हाथ जमानेके समान है। जब प्रतिमामें दृष्टि जम गई तो सर्वत्र ही ईश्वरदर्शनका आनन्द लूटने लगे, परन्तु प्रतिमापूजनद्वारा ही ऐसा हो सकता है, अन्यथा नहीं। प्रतिमा मनको टिकानेका एक आलम्बन है कि सब ओरसे मनोवृत्तियोंको खींचकर उन्हें इष्टदेवके रूपमें जोड़ा जाय। इसकी तीन अवस्थाएँ निरूपण की गई हैं।

(प्रथम) जैसे पत्थरकी शिलाका गङ्गामें शीतल हो जाना।

(दूसरी) कपड़ेकी गुड़ियाका अन्दर-बाहर पानीमें निचुड़ने लगना।

(तीसरी) मिश्रीकी डलीका पानीमें गल जाना।

अर्थात् (१) मनका परमात्माके स्वरूपचिन्तनसे शीतल

हो जाना, (२) मनके अन्दर भी भक्तिरूपी रस भर जाना और ३) मनका परमात्माके स्वरूपमें गलित हो जाना।

उपर्युक्त रीतिसे प्रतिमाका वास्तविक रहस्य कथन किया गया। शेषमें प्रतिमापूजन ध्यानरूप है और ध्यान सगुण व निर्गुण भेदसे दो प्रकारका है। पञ्चदेव[1] मूर्तियोंमें निर्गुणभाव क्या है? यह तो आगे चलकर स्पष्ट करेंगे, उसपर मनन करने से निर्गुणध्यानका स्वरूप विदित होगा। परन्तु जो पुरुष अभी सगुणके ही अधिकारी हैं, जिनकी सगुणमें ही प्रीति है और जिन सगुण-भगवान्के श्रवण, कीर्तन व स्मरणद्वारा पहले जिस रूपमें मनका प्रेम हुआ है तथा मन अपने टिकावके लिये उसी रूपका आलम्बन चाहता है, उन पुरुषोंके निमित्त सगुणध्यानके लिये उस इष्टदेवकी मूर्ति ही इष्टदेवरूप है। इसका फल यह है कि स्मरणद्वारा जो रूप हृदयमें धारण किया गया था, वह यहाँतक अर्चन, पूजन व ध्यानद्वारा हृदयमें दृढ हो जाय और नेत्रोंमें बस जाय कि प्रत्येक पदार्थमें वही रूप दृष्टि आने लगे। क्योंकि दृष्टिमय ही संसार है, जैसी जिसकी दृष्टि परिपक्व होती है वैसा ही दृश्य उसे सम्मुख भान होने लगता है। जिस प्रकार शरदपूर्णिमाको रासलीलाके समय जब भगवान् गोपियोंकी आँखोंसे ओझल हो गये, तब वही रूप आँखोंमें बस जानेके कारण गोपियाँ प्रत्येक पदार्थको कृष्णरूपसे ग्रहण करने लगीं। यही सगुण रूपसे प्रतिमापूजनका मुख्य उद्देश्य है, जिसके द्वारा तन-मनसे अपना अधिकार दूर हो जाता है और रजोगुणके गलित हो जानेके कारण निर्गुण-ध्यानका वास्तविक अधिकार प्राप्त होता है।

१, पञ्चदेव नाम:—विष्णु, शिव, गणेश, शक्ति और सूर्य।

प्रकृतिके राज्यमे ईश्वरसृष्टिमें प्रतिमापूजन अनिवार्य है। मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, समाजी भले ही प्रतिमापूजनका खण्डन किया करें बुत-परस्त आदि शब्दोंसे भले ही अपमान किया करे, परन्तु ईश्वरसृष्टिमें इसका लोप हो नहीं सकता, क्योंकि यह मानसिक-प्रकृतिके अनुकूल है। मनका स्वभाव है कि यह प्रेम चाहता है, प्रेमशून्य रह नहीं सकता। यह बात दूसरी है कि प्रेमका विषय चाहे भिन्न-भिन्न हो। किसीका ईसामें प्रेम है तो किसीका मूसामें। किसीका गुरुनानकदेवमें प्रेम है तो किसीका स्वामी दयानन्दजीमें। किसीका मन धनुपधारीका शिकार हुआ तो किसी का छैलछवीलेकी बाँकी छविमे उलझ पड़ा! जिस-जिसको जिस-जिसके चरित्र मन भाये उसीमें उसका मन अटक गया। 'रुचीनां वैचित्र्यात्।' प्रकृतिके अनुसार रुचिका भिन्न-भिन्न होना स्वभाविक है। मन चूँकि परिच्छिन्न और विषमदृष्टिवाला है, इसी लिये किसीमें उत्कृष्ट रूपसे पूज्यबुद्धि और किसीमें अपकृष्ट रूपसे अपूज्यबुद्धिका होना जरूरी है। अस्तु, जिसका मन जिसमे अटके प्रयोजन अटकानेसे है। देवबुद्धिसे जिस-तिस रूपमे मनको अटकानेका प्रयोजन यही है कि वह सांसारिक अटकसे निकल जाय और यह तो पुण्यरूप ही कार्य है। सभीके मूलमे अन्ततः वस्तु एक ही है और ये सभी मूलमें किसी एक ही वस्तुके 'उपलक्षण' रूप हैं। जैसे किसीने पूछा, "देवदत्तका घर कौनसा है"? तो बतलानेवालेने अङ्गुलीके इशारेसे बतला दिया कि "जिस घरपर काक बैठा है वह देवदत्तका घर है"। अब चाहे काक घरपर बैठा रहे या उड़जाय, घरका पता काकने दे दिया। जिस प्रकार काक घरके किसी एक देशमें है अन्य देशमे नहीं और किसी एक कालमें है अन्य कालमे नहीं, परन्तु अन्य घरोंसे देवदत्तके घरको भिन्न जना देता है। जिस रूपसे काक देवदत्तके

प्रतिमा-पूजनकी अनिवार्यता

घरका उपलक्षण है, ठीक उसी प्रकार उपर्युक्त विभूतियाँ ईसा, मूसा, राम, कृष्णादि भी किसी एक ही वस्तुके उपलक्षण हैं और 'घर'का पता देनेवाले हैं तथा जिज्ञासुका प्रयोजन भी घरका पता निकाल लेनेसे ही है। परन्तु मन्दबुद्धियोंद्वारा दूधमें खटाई डाल दी जाती है तो होता यह है कि उपलक्षणोंपर ही मन खट्टे कर लिये जाते हैं और लक्ष्य वस्तुको छोड़ ही दिया जाता है। देवदत्तके घरका पता किसीने काकको इशारा करके बतलाया, किसीने बिल्लीको संकेत करके और किसीने कुत्तेको, परन्तु कुत्ते-बिल्लीके ऊपर झगड़नेसे क्या मतलब? हमारा प्रयोजन तो घरका पता लगानेसे ही है। परन्तु शोक कि मुख्य आशयको छोड़ इसके विपरीत शैव वैष्णवके साथ लड़ता है तो शिया सुन्नीसे, सनातनी समाजियोंसे झगड़ रहे हैं तो ईसाई मुसाइयोंसे, कहीं रोमनकैथोलिक और प्रोटेस्टेण्टका झगड़ा चल रहा है तो कहीं जैन और बौद्धोंका। वास्तवमें सब धर्मोंके मूलमें एक 'प्रेम' ही है और द्वेष किसीका भी मूल नहीं, परन्तु अपनी नासमझीके कारण God[1] को Dog में बदल दिया जाता है। महर्षि याज्ञवल्क्यने हाथ ऊँचा उठाकर क्या ही सुन्दर ललकार दिया है!

धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुधर्म तत्।
अविरोधी तु यो धर्मः स धर्मो मुनिपुङ्गवः॥

अर्थः—जो धर्म किसी दूसरे धर्मको बाधा देता है वह

---

१. अङ्ग्रेजी भाषामें God (गौड) शब्दका अर्थ परमात्मा है और Dog (डौग) शब्दका अर्थ कुत्ता है। दोनों शब्दोंमें अक्षर एक ही हैं, परन्तु अक्षरोंको उलट-पलट करनेसे अर्थका इतना भारी अन्तर हो जाता है।

धर्म नहीं किन्तु अधर्म है। हे मुनिश्रेष्ठ ! धर्म वही है जो सबके प्रति अवरोधी हो।

जिस प्रकार दर्पण सब प्रकारके प्रतिबिम्बोंको धारण करता हुआ भी आप किसीसे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार जो न किसीको बाधा देता है और न किसीकी बाधाको ग्रहण करता है, वही धर्म कहा जा सकता है। भला बाधा देना भी कभी कोई धर्म हुआ है ? परन्तु शोक ! कि धर्मके नामपर ख़ूनकी नदियाँ बहाई जाती हैं और धर्मको अधर्ममें बदल दिया जाता है। हमको क्या अधिकार है कि किसी दूसरेकी प्रकृतिपर आक्रमण करें ? अकबरने अपने दरबारियोंकी परीक्षाके निमित्त अपने दरबारमें एक सीधी रेखा खींचकर उनसे कहा, "इसको छोटा कर दो"। दरबारियोंमेंसे किसीने उसको दाहिनेसे किसीने बाएँसे काटना आरम्भ किया। अकबरने कहा, "यूँ नहीं, यूँ नहीं; बिना काटे छोटा कर दो।" बीरबलने एक दूसरी रेखा उसके नीचे उससे लम्बी खींचकर कहा, "यह लो ! आपकी रेखा छोटी हो गई।" ठीक, इसी प्रकार प्यारे मतावलम्बियो ! दूसरोंकी रेखाओंके काटने-पीटनेका व्यवहार प्रशस्त नहीं, दूसरोंकी रेखाओंको काटे बिना तुम अपनी रेखाको लम्बी कर दो, प्रेमकी घुड़दौड़में तुम अपनेको आगे बढ़ा ले जाओ, दूसरे आप पीछे रह जायँगे। 'ढाई अक्षर प्रेमके पढ़े सो पण्डित होय'। 'प्रेम' शब्दके अन्दर ढाई अक्षर हैं जिसने इनको यथार्थ रूपसे पढ़ा अर्थात् ठीक-ठीक व्यवहारमें लाया वही पण्डित हुआ।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥

(गी. अ ५ श्लो. १८)

अर्थ:—विद्या व विनयसे युक्त ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी पण्डितजन समभावसे देखनेवाले होते हैं।

प्रेमशून्य विषमदृष्टि रखकर दूसरोंको धकेलनेसे क्या प्रयोजन ? इस धक्कापेलीमें तो तुम्हारा मैदान रुक गया। तुम आप पिछुड़ गये। यह लो ! तुम तो धक्कापेलीमें ही रहे और प्याला (Cup) दूसरोंने ही जीत लिया। वास्तवमें बात तो है यूँ कि यह मतमतान्तर तो एक प्यालेके रूपमें हैं, जिनके द्वारा प्रेम-भक्तिरूपी अमृत पीना ही लक्ष्य था। 'प्रेमामृत' न सही, 'प्रेमसुरा' हो सही; प्रेमप्याला होटोंसे लगा कि मस्ती आ गई और प्याला हाथोंसे छूट गया। अब प्याला चाहे सोनेका हो चाहे मिट्टीका, रहे या फूटे। परन्तु शोक ! तुम तो असली मधुको ही भुला बैठे और प्यालोंपर ही झगड़ने लगे। तुमको क्या जरूरत कि तुम धर्मके नामपर दूसरोंसे मन खट्टे करते रहो ! तुम्हारा सम्बन्ध तुम्हारी अपनी प्रकृतिके साथमें है, दूसरोंका उनकी अपनी प्रकृतिके साथ। यदि दूसरा कोई गलत मार्गसे जाता है तो ईश्वरीय नीति आप डंडेकी चोटसे उसे सीधे मार्गपर ले आयेगी, उसकी आँखोंमें कोई नमक नहीं डाल सकता। प्रकृति का काम अपने हाथमें लेकर तुम अपने-आपको पथभ्रष्ट क्यों करते हो ? तुम अपने सत्य पर डटे रहो, फिर दूसरे अपने-आप तुम्हारे पीछे दौड़ेंगे। दीपक अपने प्रकाशमें जलने लगेगा तो पतङ्ग अपने-आप उसपर न्यौछावर होनेके लिये दौड़े आएँगे। विचारसे देखा जाय तो अपना सुधार न करके दूसरोंके सुधारने की चेष्टा ही इसका मूल है। वास्तवमें सुधार हमेशा आपेका ही होता है। जब हम अपना सुधार कर लेते हैं तब दूसरोंका सुधार बिना ही किसी चेष्टाके हो जाता है। परन्तु जब हम पहले ही दूसरोंका सुधार करने दौड़ते हैं तो न अपना ही सुधार होता है न दूसरोंका, बल्कि सुधारके स्थानपर दोनोंका बिगाड़ कर बैठते

हैं और लोक-परलोक दोनों ही खो बैठते हैं। यह नियम है कि किसी स्थानकी वायु सूर्यतापसे हलकी होकर जब ऊपर उठ जाती है तब चारों ओरसे वायु उस खाली स्थानका घेरनेके लिये दौडती है। इसी प्रकार तुम्हारा कर्तव्य है कि तुम आप ऊँचे उठो, अपना स्थान खाली करो, आप दृष्टान्तरूप बनो, फिर दूसरे अपने-आप तुम्हारी खाली जगह घेरनेके लिये दौड़ेंगे, अपने-आप तुम्हारा अनुसरण करेंगे। परन्तु शोक! कि तुम स्थान तो घेरे बैठे हो और अपना स्थान खाली करनेसे पहले ही दूसरोंको उठाना चाहते हो, दूसरे उठें तो कैसे?

खैर जी! हमको तो जाना था कहीं और चले गये कहीं और, पाठक क्षमा करें। आशय यह था कि जिसके मनको जिसके चरित्र भाये उसी रूपमें उसका मन अटक गया, वही छवि हृदयमें घर कर गई। अब उस प्यारेकी स्मारक रूपसे कोई वस्तु सम्मुख आई कि मन फूट पड़ा, हृदय बह निकला। प्यारेका पत्र आया, प्यारेकी झाँकी आँखोंमे समा गई, आँखें टिमटिमाने लगीं, अब पत्र कौन पढ़े! वे धार्मिकग्रन्थ, जिनमें इष्टदेवके गुणानुवादोंका वर्णन होता है, उसके पत्र ही हैं, जिनके द्वारा उसका प्रेमसन्देश मिलता है।

जाना आख़िर न यह कि फोड़े की तरह फूट बहे।
हम भरे बैठे थे क्यों आपने छेड़ा हमको ॥

किसी प्रेमीका फोटो, जिसने हमारा चित्त चुरा रक्खा हो और जो सदाके लिये हमसे मुँह छुपा बैठा हो, हमारी आँखोंके सामने आ गया, झट हृदय उसके रूप, गुण व स्वभाव से भरपूर हो गया। यह लो! प्रेमका दरिया किनारे तोड़कर बहने लगा, अब चाहे कोई इसको बुतपरस्ती कहे, चाहे काग़ज़-परस्ती। इस परस्तीको कोई लाख दबानेका यत्न करे, यह दब

कैसे सकती है ? इस प्राकृतिक नियमपर किसका इजारा है ? वास्तवमें जब ऐसा है तब प्रतिमापूजन सर्वथा अनिवार्य है, क्योंकि यह अपने इष्टदेवके रूप, गुण, स्वभाव व लीलाओंका फोटो सम्मुख खड़ा कर देनेवाला है।

वास्तवमें सत्य ही हमारा धर्म है और सत्य ही ईमान, जो कुछ कहा जायगा सत्य ही कहा जायगा, चाहे कोई भला माने चाहे बुरा ! जो लोग इस बुतपरस्तीका खण्डन करते हैं वे भी किसी न किसी रूपमें मनको मारकर चोरीसे ही इस परस्ती में लगे हुए हैं। ईसाई महाशय गिरजाके द्वारपर ही पहुँचे थे कि ऊपर सूलीका निशान दीख पड़ा, झट ईसाकी सूली याद आई और टोप सिरसे उतर पड़ा। मुस्लिमभाई मसजिदमें गया काबे का चिह्न देखा, बिना कहे अपने-आप मन सिजदा कर बैठा। सिक्खलोग दरबारसाहिबमें गये, ग्रन्थसाहिबको तत्काल मत्था टेक दिया, चाहे ग्रन्थसाहिबके प्राणरूप जो वचन हैं उनके आगे सिर न झुका हो, परन्तु स्थूल-शरीररूप ग्रन्थसाहिबको तो अवश्य ही मत्था टेका जायगा। अपनी काश्मीरकी यात्रामें लेखक एक ग्राममें सिक्खोंकी धर्मशालामें ठहरा। चौकीपर जहाँ ग्रन्थी बैठकर पाठ किया करता है, लेखक बैठा हुआ था। ग्रन्थसाहिब सन्तोपकर अलमारीमें विराजमान कर दिये गये थे। एक सिक्ख प्रेमी आया चौकाके आगे मत्था टेका और लेखकसे कहा, "आपको ग्रन्थसाहिबकी चौकीपर बैठने का कोई अधिकार नहीं, आप नीचे बैठो।" लेखक तत्काल नीचे बैठ गया और कहा, "प्यारे ! शरीररूप ग्रन्थसाहिबका आपने अवश्य आदर किया, परन्तु उनके प्राणरूप वचनोंका जिनकी प्रत्येक पंक्तिमें संतोंकी महिमा गाई गई है, अवश्य अपमान किया है।" समाजीमहाशय भी इसी प्रकार चाहे प्रतिमापूजन न करते हों, परन्तु जब उन महर्षिका फोटो उनके

दृष्टिपात होगा, अवश्य मन झुक जायगा, चाहे शरीर झुके या न झुके। यदि मन भी न झुके तो वह उनका प्रेमपात्र ही नहीं और फिर उनके वचनोंका अधिकारी भी नहीं। यदि मन झुका है, परन्तु शरीर न झुके तो यह एक प्रकारकी कठोरता कही जा सकती है या मनकी चोरी, जोकि उसके उद्धारमे वडा प्रतिबन्धक है। सारांश, कोई चौकी या पुस्तकको मत्था टेकता है तो कोई सूलीको, कोई पत्थरके कावेको चुम्बन करता है तो कोई कागजके ॐ को, आखिर यह बुतपरस्ती जा नहीं सकती। और सब बातें जाने दीजिये, गरमीका मौसम है ठण्डे पहाड़ों में सैर करने निकले। किसी पर्वतीय सुन्दर दृश्यपर आँख पड़ी, तत्काल फोटो उतार लिया। घर आए जब कभी उस दृश्य का फोटो आँखोंके सामने आया हृदय उसकी स्मृतिसे ठण्डा हो गया। लो जी! जब जड़ पहाड़ोंके फोटोमें हृदयको ठण्डा कर देनेका सामर्थ्य है, तब उन चैतन्य जगदाधार विभूतियोंके फोटो ही इतने निस्सार हैं कि भावुकोंके हृदयोंको वहा न देंगे और उन जड़ पहाड़ों जितना भी काम न देंगे? यह तो हृदय की जड़ताका ही चिह्न कहा जायगा। चाहे कोई लाख यत्न करे यह प्रतिमापूजन तो जा नहीं सकता। और जाय भी कैसे? स्वभाव सिद्ध वस्तुका लोप कैसे हो सकता है? प्रकृतिका गला कैसे घोटा जा सकता है? जैसे अन्नके आलम्बन विना शरीरकी स्थिति रह नहीं सकती, इसी प्रकार मन भी किसी न किसी भाव मयी मूर्तियोंके आलम्बन विना रह नहीं सकता। और जबकि यह इतना स्वाभाविक है तो क्यों न इसको (Directly) साक्षात् रूपसे सेवन किया जाय और दिल खोलकर अपने भावोद्गार निकालनेका अवसर दिया जाय? किसी मन्दिरमें ही जाकर ऐसा करना आवश्यक नहीं, अपने घरोंको ही मन्दिर क्यों न बना लिया जाय? खाली घरोंको ही मन्दिर नहीं, बल्कि अपने

हृदयोंको ही मन्दिररूपसे क्यों न जीर्णोद्धार कर लिया जाय ?

सीतापति की कोठरी चन्दन जड़े किवाड़ ।

तालो लागे प्रेम की खोलें कृष्ण मुरार ॥

अर्थः—मायापति भगवान् इस हृदयरूपी कोठरीमें ही विराजमान हैं । दैवी-सम्पद्रूप शुभ गुण ही इस कोठरीके चन्दनजड़ित किवाड़ हैं । अनन्य प्रेम अर्थात् अपने-आपको भगवान्के चरणोंमें खो बैठना, यही इसकी ताली है। और जब अपने-आपेको हार बैठे तब स्वयं कृष्ण-मुरारि ही इसके खोलनेवाले होते हैं ।

पूर्वपक्ष—मूर्त्ति भगवान्का फोटो है, यह तो हम भी मान लेंगे, परन्तु सर्वव्यापी भगवान्को मूर्त्तिरूप ही मानकर उसकी पूजा करना तो पाषाणपूजा ही होगी ।

समाधान—यदि आपका फोटो सामने रखकर आपका प्रेमी आपके गुणानुवाद गायन करे और आपको फोटोके पीछे छुपा दिया जाय तो क्या अपने प्रेमीके सुन्दर भावोंसे द्रवीभूत हो आप प्रकट न हो आएँगे और उसको आलिङ्गन न करेंगे ? इसी प्रकार जब भगवान्को आप सर्वव्यापी मानते हैं, तब क्या मूर्तिदेशमें उसका अभाव हो सकता है ? यदि मूर्त्तिमें उसका अभाव है तो उसकी सर्वव्यापकता भङ्ग होगी। यदि वह वहाँ है तो जब भगवद्भक्त अपने श्रद्धापूर्ण आस्तिक भावसे उस सर्वव्यापीको लक्ष्य करके निम्न भावोद्गारद्वारा परमेश्वरकी आराधना करता है.—

(१) नमोस्त्वनन्ताय सहस्रमूर्तये सहस्रपादाक्षिशिरोरुबाहवे ।

सहस्रनाम्ने पुरुषाय शाश्वते सहस्रकोटियुगधारिणे नमः ॥

(२) यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः ।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सोऽयं नो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः ॥

अर्थः—(१) उस अनन्तके लिये हमारा नमस्कार हो, जिसकी सहस्रों मूर्त्तियाँ, सहस्रों पाद, नेत्र, शिर, उरु और भुजाएँ हैं तथा उस सहस्रों कोटि युगको धारण करनेवाले शाश्वत-पुरुष के लिये हमारा नमस्कार हो, जिसके सहस्रों ही नाम हैं।

(२) शैव जिस देवकी 'शिव' रूपसे उपासना करते है, वेदान्ती लोग जिसको 'ब्रह्म' रूपसे, बुद्धमतावलम्बी 'बुद्ध' रूपसे, प्रमाणकुशल नैयायिक संसारके 'कर्ता' रूपसे, जैनमतके शासन में रत हुए पुरुष 'अर्हत' (ऋषभदेव) रूपसे और मीमांसक जिसे 'कर्म' रूपसे पूजते हैं। वही ये त्रैलोक्याधिपति श्रीहरि हमको वाञ्छित मोक्षफल प्रदान करें।

तब क्या उपासकका हृदय द्रवीभूत न होगा ? उसके भाव सर्वव्यापी भगवान्को जोकि मूर्त्तिमें और हृदयमें दोनों ही जगह विद्यमान् है, द्रवीभूत न करेंगे ? और उसे सम्मुख खड़ा न कर लेंगे ? इस रीतिसे मूर्त्तिको भगवान्का फोटो मानकर भी तुम्हारी शङ्का निर्मूल ही रहती है। नामदेवादि बालक जिन्होंने अपने सरल भावोंसे मूर्त्तिदेशमें भगवान्को प्रत्यक्ष कर लिया था, इसके ज्वलन्त दृष्टान्त हैं।

उपास्यदेव

उपासना किस देवकी की जाय ? इसके समाधानमें शास्त्रकारोंने प्रकृतिके तत्त्वपर भली-भाँति ध्यान देकर प्रकृतिजन्य पञ्च तत्त्व आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वीके सञ्चालक पञ्चदेव विष्णु, शक्ति,

सूर्य, गणेश और शिवरूप पञ्च अधिदैव शक्तियोंकी उपासना को ही मुख्य रूपसे वर्णन किया है। इन पञ्चदेवोंमें भी कौन देव उपास्य है ? इसका निर्णय इस प्रकार किया गया है कि उपासकका चित्त स्वाभाविक जिस देवमें अटकता हो, उसके लिये वही उपास्यदेव है। शास्त्रकारोंका आशय इन पञ्च देवोंमें किसी एकको बड़ा और दूसरोंको छोटा बनानेमें नहीं है। यद्यपि महर्षि वेदव्यासद्वारा रचित अष्टादश पुराणोंके अन्तर्गत विष्णुपुराण, पद्मपुराण, देवीपुराण, शिवपुराण, सौरपुराण व गणेशपुराण हैं और इन प्रत्येक पुराणोंमें अपने-अपने देवको कारणरूप तथा दूसरे देवोंको कार्यरूपसे वर्णन किया गया है। तथापि महर्षि व्यासका तात्पर्य दूसरे देवों की निन्दामें नहीं है, किन्तु भावुककी प्रवृत्तिके अर्थ अपने-अपने पुराणप्रतिपादित देवकी महिमामें ही महर्षिका तात्पर्य है। यदि दूसरे देवोंकी निन्दामें ही तात्पर्य लिया जाय तो उपर्युक्त पञ्चदेवोंमें कोई भी महिमायोग्य उपास्यदेव न रहे और सभी निन्दित सिद्ध हो जाएँ। यथा पद्मपुराणप्रतिपादित विष्णुदेवके सिवाय अन्य सभी देव निन्दित हो गये और अन्य पुराणोंद्वारा विष्णु निन्दित हो गया। तथा शिवपुराणद्वारा शिवसे भिन्न अन्य देव निन्दित हो गये और अन्य पुराणोंद्वारा शिव निन्दित हो गया इत्यादि, जब कि इन सब पुराणों का रचयिता एक ही है। परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है, किसी भी देवकी निन्दामें महर्षिव्यासका तात्पर्य नहीं हो सकता। ऋषि व शास्त्र उदार हैं और वे सब प्रकारके अधिकारियोंके लिये श्रेयपथप्रदर्शक हैं। प्रकृतिके राज्यमें रुचि व अधिकारकी विलक्षणता तो स्वाभाविक ही है। इसी लिये जिस-जिस अधिकारी की जिस-जिस देवमें स्वाभाविक रुचि हो, उसके कल्याणके लिये उस-उसदेवकी महिमामें भिन्न-भिन्न पुराणोंकी रचना उसके द्वारा

सुन्दर भावपूर्ण भाषामें रची गई है। 'जिसका ब्याह उसीके गीत' वाला हिसाब है। आशय यही है कि जिसकी जिस देवमें रुचि व प्रीति हो वह उसी देवको कारणब्रह्म, अर्थात् सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति व लयकर्तारूपसे चिन्तन करे और अन्य देवोंको कार्यब्रह्मरूपसे उसका अंश जानकर चिन्तन करे। एकमात्र कारणब्रह्मकी महिमा और कारणब्रह्मको ध्येय निश्चित करानेमें ही महर्षिका तात्पर्य है। वास्तवमें तो इन पाँचोंको लक्ष्य करके तत्तत् अनुगत एक सर्वाधिष्ठान,सर्वाधार,सर्वसाक्षी निरञ्जनदेव ही उपास्य है। वही देव भावुकोंकी रुचिके अनुसार भिन्न-भिन्न रूपोंमे उनको दर्शन देता हैं, स्वरूपसे इन पाँचोंके भेदमें कोई तात्पर्य नहीं। जैसा स्वय गीताने इस विषयकी साक्षी इस प्रकार दी है:—

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यम् ॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधान मीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥
(अ.७. श्लो २१.२२)

अर्थ'—जो-जो भक्त जिस-जिम देवताके स्वरूपको श्रद्धासे पूजना चाहता है, मैं ही उस भक्तकी उस देवके प्रति अचल श्रद्धाको स्थिर करता हूँ। वह पुरुष (मेरी दी हुई) उस श्रद्धासे युक्त हुआ उस देवताके पूजनकी चेष्टा करता है और (उन देवताके रूपमे) मेरे द्वारा ही विधान किये हुए उन इच्छित भोगोंको निस्सन्देह प्राप्त करता है।

इससे स्पष्ट है कि इन सर्व देवोंके मूलमें वस्तुतः एक ही चेतनदेव विराजमान है और यह भिन्न-भिन्न रूप तो जैसा पीछे निरूपण किया गया, उम एक ही परमदेवके उपलक्षण-

स्वरूप हैं। परन्तु मन्दबुद्धि लोग वास्तविक रहस्यको न जान 'श्याल-सारमेय' न्यायसे परस्पर वैमनस्य उपजाकर अपने दुरुपयोगसे धर्मको अधर्ममें व अमृतको विषमें पलट लेते हैं और चन्दनसे भी अग्नि उत्पन्न कर लेते हैं।

श्याल सारमेय न्याय

स्त्रीके भाईको 'श्याल' कहते हैं, 'सारमेय' नाम कुत्तेका है और 'न्याय' शब्दका अर्थ दृष्टान्त है। किसीके घरमें कुत्तेका नाम धावक था और उसके पड़ोसीके कुत्तेका नाम उत्फालक। उसी मनुष्यके श्याले (साले)का नाम उत्फालक और उस स्यालेके शत्रुका नाम धावक था। जब इसके घरका कुत्ता धावक (जो कि श्यालेके शत्रुका नाम भी था) और पड़ोसीका कुत्ता उत्फालक (स्यालेका नाम भी यही था) परस्पर लड़ें, तब इसके घरवाले अपने धावककी प्रशंसा करें और पड़ोसीके उत्फालकको गालियाँ दें। इस मनुष्यकी स्त्री जब विवाहकर घरमें आई तब वास्तविक रहस्यको न जान अपने भाईकी निन्दा और भाईके शत्रुकी प्रशंसा सुनकर अपने पतिसे झगड़ा करे। इसीका नाम 'श्याल-सारमेय न्याय' है।

इसी प्रकार वास्तव तत्त्वको न जानकर मन्दबुद्धि अपने-अपने उपास्यदेवकी महिमा और अन्य देवोंकी निन्दापरायण हो जाते हैं। परन्तु वास्तवमें महर्षिव्यासका तात्पर्य इन पञ्च देवोंमें किसी एकको उत्कृष्ट और दूसरोंको अपकृष्ट बनानेमें कदापि नहीं है, किन्तु कारणब्रह्मको ध्येय ठहरानेमें ही महर्षिका मुख्य प्रयोजन है। अर्थात् जिसकी जिस देवमें रुचि हो उसको वह कारणब्रह्म (सृष्टि-उत्पादक, जगन्नियन्ता तथा संहारकर्ता) रूपसे ध्यान करे और दूसरे देवोंको उसकी विभूति रूपसे चिन्तन करे। विचारसागरके सप्तम तरङ्गमें इसी विषयको विस्तारसे स्पष्ट किया गया है।

यदि विचारशक्तिको थोड़ा आगे बढ़ावे तो स्पष्ट होगा कि वास्तवमें इन पाँचों देवोंकी मूर्त्तियाँ सुन्दर भावपूर्ण हैं और प्रत्येक मूर्त्तिके मूलमें गम्भीर भाव भरे हुए हैं, जिनके द्वारा प्रत्येक मूर्त्ति उस एक ही परमदेव कारणब्रह्मके स्वरूपकी द्योतक है, जिसका संक्षेपसे नीचे निरूपण किया जाता है:—

विष्णु-मूर्त्तिमें कारण ब्रह्मरूप निर्गुणभाव।

विष्णुदेव अनन्तनागकी शैय्यापर क्षीर-समुद्रमे सोये हुए हैं। नील वर्ण हैं और चतुर्भुज शङ्ख, चक्र, गदा व पद्मको धारण किए हुए हैं। उनके नाभिकमलसे रक्तवर्ण चतुर्मुख ब्रह्माकी उत्पत्ति हुई है। लक्ष्मी उनके चरण चाप रही है इत्यादि। ऐसा विष्णुका रूप वर्णन किया गया है। अब इसका रहस्य निरूपण किया जाता है। राम व कृष्णादि तो विष्णुके ही अवतार हैं इस लिये इसी रूपसे ध्येय हैं। विष्णुनाम व्यापकका है जोकि उस एक ही चेतन-स्वरूपको सिद्ध करता है। अनन्तनागका भाव अनन्त-आकाश है। अनन्त-आकाशसे भी अधिक सूक्ष्म तथा अधिक व्यापक होनेके कारण उस अनन्तनागरूप आकाशको भगवान्‌की शय्यारूप से निरूपण किया गया अर्थात् उसमें उनकी व्यापकता जितलाई गई, जिसके ऊपर उनका शयन हो रहा है। जिसप्रकार जड़ शय्या पर चेतनपुरुषका शयन योग ही है, इसी प्रकार जड़ आकाश पर चेतनस्वरूप भगवान्‌का शयन युक्तियुक्त ही है, क्योंकि चेतनके विना जड़की स्थिति असम्भव है। और जबकि वे आकाशके अन्दर तथा आकाशके ऊपर भी विराजमान हैं तो आकाशका कार्य वायु, अग्नि, जल व पृथ्वी और इन पञ्चतत्त्व-रचित स्थूल ब्रह्माण्ड सबमें ही वे विराजमान हैं, इसमें तो सन्देह ही क्या है? जीव अनादि है और प्रत्येक जीवके प्रत्येक जन्मके कर्मसंस्कार अनन्त हैं और उसके जन्म भी अनन्त ही हैं। इस लिये उसके अनन्त जन्मोंके कर्मसंस्कारोंका तो अन्त ही

क्या हो सकता है? जब प्रत्येक जीवके कर्मसंस्कार इतने अनन्त हैं तो अनन्त जीवोंके अनन्त जन्मोंके अनन्त संस्कारोंका समुद्र के समान अपारावार होना आश्चर्यरूप ही क्या है? जिस प्रकार क्षीरसे मक्खनरूप फलकी उत्पत्ति होती है और क्षीरके प्रत्येक अंशमें वह छुपा हुआ है,इसी प्रकार प्रत्येक संस्कार सुख-दुःखरूप फलका हेतु है, इस लिये उन समष्टि संस्कारोंको 'क्षीरसमुद्र' रूपसे वर्णन किया गया। उन समष्टि कर्मसंस्काररूप क्षीरसमुद्र में भी वह देव विराजमान है, जिससे उसकी सर्वव्यापकता व परात्परता सिद्ध की गई। उस क्षीरसमुद्रमें वह देव सोये हुए हैं, सोनेका क्या आशय? सोनेका भाव यह है कि उन कर्म-संस्कारोंको भगवान् उदासीनरूपसे अपनी सत्ता-स्फूर्तिमात्र से फलोन्मुख कर रहे हैं, अपनी ओरसे किसीको सुख-दुःख भोगानेवाले नहीं हैं, बल्कि जैसे-जैसे जीवोंके कर्म होते हैं उनके अनुसार ही भगवान्‌की सत्ता-स्फूर्तिद्वारा उनको सुख-दुःखका भोग मिलता है। जिस प्रकार एक ही भूमिमे डाले हुए गेहूँ, जौ, बाजरा, मक्का आदि अनेक बीजोंको भूमि अपने-अपने समयपर अपनी सत्ता-स्फूर्तिसे फलोन्मुख कर देती है और फल भी बीजके अनुसार ही निकलता है। यही कर्म-संस्काररूप क्षीरसमुद्रमें भगवान्‌के शयन करनेका भाव है। नीलवर्ण का भाव निरूपसे है। जिस प्रकार आकाश नीलवर्ण दीखता हुआ भी निरूप है, उसी प्रकार भगवान्‌का भी कोई रूप नहीं हैं। अथवा नीलवर्णसे सत्त्वगुणकी पराकाष्टा सिद्ध होती है कि भगवान् सत्त्वगुणकी मूर्ति ही हैं। चतुर्भुजसे भाव अनन्त शक्ति का है। शरीरके सब अङ्गोंमें बलका आधारभूत भुजा ही मानी गई है, इस लिये बाहुबल ही प्रसिद्ध है। इस प्रकार चतुर्भुज उस परमात्माकी अनन्तशक्तिको ही सूचित करते हैं। उसकी चार भुजाओंमें शङ्ख, चक्र, गदा व पद्म हैं। इनमेंसे शङ्ख व पद्म

तृतीय नेत्रका स्थान मस्तकमें इन दोनों नेत्रोंके ऊपर है। ऊपर होनेका तात्पर्य यह कि इन दोनों नेत्रोंमें जो प्रकाश है वह इनका अपना नहीं, किन्तु इनके ऊपर जो तीसरा ज्ञाननेत्र है उसीकी ज्योतिसे ये धन्य हुए हैं। इस शिवस्वरूपने अपने इसी ज्ञाननेत्र से कामदेवको भस्म किया है।

आत्मा ब्रह्मेति निश्चित्य भावाभावौ च कल्पितौ।
निष्कामः किं विजानाति किं ब्रूते च करोति किम्॥

(अष्टावक्र)

अर्थ. आत्माको ब्रह्मरूप और सम्पूर्ण भाव-अभाव पदार्थों को कल्पितरूप निश्चय करके ऐसा जो निष्काम-ज्ञानी है, वह क्या कुछ जाने, क्या कहे और क्या करे?

अर्थात् जिसने सबको अपना-आपा करके जाना, उसके लिये न कुछ जानना ही शेष रहता है, न कुछ कहना और न करना ही। जब किसी वस्तुको अपनेसे भिन्न करके जानते हैं तभी कामना उत्पन्न होती है, परन्तु इस शिवस्वरूपने तो अपने ज्ञान-प्रकाशद्वारा सबको ही अपना आत्मा निश्चय करके सम्पूर्ण कामनाओंको भस्म कर दिया है। इस शिवस्वरूपके मस्तकपर शान्तिरूपा द्वितीयाका चन्द्रमा शोभायमान है जिसकी कलाएँ नित्य वृद्धिको प्राप्त होती हैं। दुःखरूप गरलको यह पान कर गया है। समुद्रमथनके समय और सब रत्नोंके तो ग्राहक खड़े हो गये, परन्तु इस गरलका कोई भी ग्राहक नहीं हुआ। यही यह ज्ञानमूर्ति था जो सम्पूर्ण दुःखरूपी गरलको हड़प कर गया। जब इसके लिये अपनेसे भिन्न कोई पदार्थ ही शेष नहीं रहता तो दुःखमें इसको क्या कायरता? यह तो इसका अपना आत्मा ही था।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

(ईशावास्य)

अर्थात् एकत्व देखनेवालेके लिये क्या मोह और कैसा शोक? दुःख सदैव किसी न किसी इच्छा करके ही होता है और इच्छा तब होती है जब इच्छित वस्तुको अपनेसे भिन्न जाना जाय। परन्तु इस शिवस्वरूपने तो एकत्व-दृष्टि (अभेद-दृष्टि) से सबको अपना आत्मा ही जाना है, इसलिये इसको कोई इच्छा नहीं और जब कुछ इच्छा ही नहीं तब दुःख किस बातका? यह शिवस्वरूप दिगम्बर है, सब दिशाएँ ही इसके वस्त्र हैं। अर्थात् यह किसी दिशाकी हदमें नहीं आ सकता, सब दिशाओंसे परे हैं, इसलिये यह सर्वव्यापी देशपरिच्छेदसे रहित है। इस देव का वैराग्य ही भूषण है, जिसने नागेन्द्रका हार गले में पहना हुआ है। नागेन्द्र साक्षात् मृत्युस्वरूप है जिसको इसने अपने कण्ठसे लगाया हुआ है, अर्थात इसने काल को अपने अधीन कर लिया है और कालसे इसको कोई भय नहीं है। यह कालातीत है, इस लिये कालपरिच्छेदसे भी रहित है। इसने शवभस्मका विलेपन किया है, रुण्डोंकी माला धारण किये हुऐ हैं और श्मसाननिवासी है। यह सब तीव्र वैराग्यके सूचक हैं। आशय यह कि जिसने संसारसम्बन्धी रागको तीव्रतर वैराग्य-द्वारा भस्म किया है और उस भस्मको अपने शरीरके साथ लेपन किया है अर्थात् उसे अपनाया है, वही इस शिवस्वरूपके दर्शनका अधिकारी हो सकता है। इसके चार हाथ हैं, जो उसकी अनन्त शक्तिके सूचक हैं। पार्वती इसके वामाङ्गमें विराजमान हैं, अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति व लयकारणी महामाया उसके वामाङ्गमें विराज रही हैं। वामाङ्गमें विराजनेका भाव यह है कि उसके कटाक्षमात्रसे ही माया सब चेष्टा कर रही है अर्थात् यह सब उसके बाएँ हाथका खेल है। इसके हाथोंमे त्रिशूल,

डमरु आदिक हैं जो वही वर व शापके परिचायक हैं। अर्थात् यह शिवस्वरूप अपनेसे विमुखी जीवोंको अध्यात्म, अधिदैव व अधिभूत त्रितापरूपी त्रिशूलसे छेदन किये बिना नहीं छोड़ता, उनपर इसका वार अचूक है। इसीलिये त्रिशूल इसके दाहिने हाथमें है। तथा अपने अनुसारी जीवोंके लिये लोक-परलोक न्यौछावर कर देना इसके लिये विलम्बमात्र है, अर्थात् बाँयें हाथका खेल है। इसी लिये मङ्गलरूप डमरु वाम हस्तमें विराजता है। इसका गोरवर्ण होना इसकी शान्त मूर्तिका चिह्न है। इस देवका वाहन धर्मरूपी नाँदिया है, धर्म विना ज्ञान असम्भव है, अर्थात् जब हमारी सब चेष्टाएँ धर्ममूलक होंगी तब वे धर्ममूलक चेष्टाएँ ही वैराग्यको उत्पन्न करके ज्ञान की प्राप्ति करा सकेंगी। इसी लिये यह ज्ञानमूर्ति धर्मरूपी नाँदिये पर आरुढ है। इस प्रकार उस धर्मरूप वाहनको सन्तुष्ट करके ही इस शिवस्वरूपकी प्राप्ति सम्भव हो सकती है। उस धर्मरूप नाँदियेके सींगपर पृथ्वी टिकी हुई है, अर्थात् धर्मके आधार ही संसारकी स्थिति है और जब धर्मका ह्रास होता है तभी पृथ्वी (अर्थात् समष्टी जीव) शोकातुर होती है। ज्ञानरूपी गङ्गा इस शिवस्वरूपकी जटाओंमेंसे निकली है, जिसकी तीन धाराएँ तीनों लोकोंको व्याप्त करके स्थित हैं, अर्थात् जो सर्व देश और सर्व कालमें सुलभ है। जिस प्रकार गङ्गास्नानका फल तीर्थ-पुरोहितों को सङ्कल्प देकर सन्तुष्ट किये बिना नहीं मिलता, इसी प्रकार ज्ञानवान् अनुभवी महापुरुष इस ज्ञान-गङ्गाके तीर्थ-पुरोहित हैं। संसारसम्बन्धी अहंता-ममताके सङ्कल्पद्वारा इन पुरोहितोंको सन्तुष्ट करके ही इस ज्ञान-गङ्गाके स्नानका यथार्थ फल पाया जा सकता है। इस प्रकार जिन्होंने जात-पाँतके विचार बिना उपर्युक्त विधिसे इस गङ्गामें मज्जन किया है, उनको नकद फल तत्काल मिल जाता है और त्रितापसे मुक्त हो इसी प्रकार उनका हृदय

शीतल हो जाता है जैसे सोया हुआ स्वप्नसे जागकर और स्वप्न की व्यथाओंसे छूटकर शान्तिको प्राप्त हो जाता है।

मज्जन फल देखिये तत्काला। काक होहिं पिक[1] बकहु[2] मराला[3]॥

यही शिव-मूर्तिमें कारण-ब्रह्मरूप अध्यात्मभाव निहित है।

सूर्य-मूर्तिमें कारण-ब्रह्मरूप निर्गुणभाव।

सूर्य प्रत्यक्ष प्रकाशमान् तेजस्वरूप देव है और संसारके यावत् अधिभौतिक तेजोंका उद्गम-स्थान है। स्थूल दृष्टिसे यह सम्पूर्ण स्थूल पदार्थोंका कारण है। दिन-रात और घड़ी-प्रहरादि कालकी सम्पूर्ण व्यवस्था सूर्यद्वारा ही सिद्ध होती है तथा ग्रीष्म, वर्षा, शरद, शिशिर, हेमन्त और वसन्त इन षट् ऋतुओंका परिवर्तन भी सूर्यके अधीन ही सिद्ध होता है। सारांश जायते[4], अस्ति[5], वर्द्धते[6], विपरिणमते[7], अपक्षीयते[8], विनश्यति[9] इन छः विकारोंवाला ही सम्पूर्ण प्रपञ्च है और यह सब उत्पत्ति स्थिति व लय कालके अधीन है, जिसका कारण सूर्य ही है। गमन-आगमन, आकुञ्चन-प्रसारण, उत्क्षेपण-अपक्षेपण आदि ब्रह्माण्डवर्ती सम्पूर्ण क्रिया व चेष्टाएँ भी सूर्यद्वारा ही सिद्ध होती हैं। यदि सूर्य न रहे तो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ठिठुरकर जड़ होजाय और सम्पूर्ण क्रियाओंका सङ्कोच हो जाय। इतना ही नहीं, बल्कि यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गन्ध इन पाँच विषयों और गुणोंवाला ही है और इन पाँचोंकी सिद्धिमें सूर्य

---

१. कोयल २. बगुला ३. राजहंस।

४. उत्पन्न होता है। ५. विद्यमान है। ६. बढ़ता है। ७ विकारी होता है। ८. क्षय होता है। ९. नाश होता है।

की ही सहायता है, सूर्य बिना किसी एककी भी सिद्धि असम्भव है। सूर्य न हो तो वायु जड़ता करके निश्चेष्ट हो जाय और शब्द एक स्थानसे दूसरे स्थानतक वायुके द्वारा ही पहुँचता है, अतः वायुके निश्चेष्ट होनेपर शब्द-क्रिया ही बन्द हो जाय। वायुकी क्रियासे ही स्पर्शगुणकी सिद्धि होती है, अतः इसके निश्चेष्ट होने पर स्पर्श-गुणकी सिद्धी तो बने ही कैसे ? सम्पूर्ण रूप तो स्वयं सूर्यका ही गुण है। जलका रसगुण भी सूर्यके बिना जड़ता आ जानेसे सिद्ध नहीं हो सकता और गन्धगुणकी सिद्धी तो जल करके ही होती है। संसारमें पाँचों गुणोंमें रूपगुण ही प्रधान है और यावत् संसारके रूपोंका उद्गमस्थान सूर्य ही है। जितने भी संसारमे रूप हैं वे सात रङ्गोंके ओतप्रोतसे ही सिद्ध होते है और वे सातों सूर्यसे ही निकलते हैं। जितने भी पदार्थोंमे रूपरङ्ग दृष्टिगोचर होते हैं वे सब रूपरङ्ग पदार्थगत अपने नहीं, किन्तु सब सूर्यके ही हैं। सब पदार्थ स्वगत रङ्गोंको सूर्य से ही प्राप्त करते हैं, वर्तमान साइन्स (विज्ञान) ने अनुभव-प्रमाणसे इसको भली-भाँति सिद्ध कर दिया है। सारांश, गुण क्रिया व द्रव्यमय ही यह ससार है और सम्पूर्ण गुण-क्रिया-द्रव्योंके प्रति सूर्यको कारणता प्रसिद्ध है, इसीसे यह कारण-ब्रह्म-रूपसे उपास्य है। सूर्य-भगवानका वाहन शास्त्रोंमे सप्त अश्व-जड़ित रथ वर्णन किया गया है। यह स्थूल गोलाकार जड सूर्य ही, जो उपर्युक्त सात रङ्गोंवाला है, सप्त अश्वजड़ित रथ है और यह चेतन साक्षी जिसकी सत्तासे यह सब प्रकाश, रूपरङ्ग व क्रिया प्रकाशित हो रहे हैं, वही इस रथका रथी है।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥
(गीता अ० १५, १२)

अर्थ --जो तेज सूर्यमें स्थित हुआ अखिल ब्रह्माण्डको प्रकाशित कर रहा है और चन्द्रमा तथा अग्निमें जो तेज है, वह तेज तू मेरा ही जान ।

यही सूर्यमूर्त्तिमें कारण-ब्रह्मरूप सामग्री है ।

गणानां ईशः=गणेशः । गणानां पति=गणपति । अर्थात् गणोंका ईश्वर, गणोंका स्वामी, 'गणेश' 'गणपति' शब्दका अर्थ है । गण नाम समूहका है । यहाँ शिवगण ही केवल गणरूपसे ग्रहण करनेयोग्य नहीं, किन्तु समष्टि मन-इन्द्रियादि अध्यात्मगण, उन मन-इन्द्रियोंके सञ्चालक देवतारूप अधिदैव-गण और आकाशादि पञ्चतत्त्वरूप अधिभूतगण भी 'गण' शब्द का अर्थ ग्रहण करनेयोग्य है । इन समष्टि अध्यात्म, अधिदैव व अधिभूत गणोंका स्वामी ही 'गणेश' शब्दका भावार्थ है । ऐसा सब गणोंका स्वामी 'एकमेवाद्वितीयम्' सत्त्वगुणकी मूर्त्ति और केवल ठोस सत्त्वगुण ही गणेशरूपसे उपास्य है । गणेश-मूर्त्तिमें सब अङ्ग सत्त्वगुणके ही परिचायक हैं । यह अटल सिद्धान्त है कि जहाँ रजोगुण उत्पन्न होता है वहीं सब विघ्न आन उपस्थित होते हैं । जब-जब अहंकर्तृत्व-अभिमान आता है तब-तब ही चञ्चलता, मत्सरता, दर्प, राग, द्वेष और निष्फल-तादि सब विघ्नसामग्री अपने-अपने स्थानपर आ विराजती हैं और जब उनका नाशक सत्त्वगुणरूप गणेश आ जाता है तब सब विघ्नोंका अभाव हो जाता है । अर्थात् जब ये भाव हृदयमें समा जाते हैं कि 'सब कर्ता-धर्ता वह अन्तर्यामीदेव ही है, बुद्धिमें बैठकर वही निश्चय कर रहा है, मनमें विराजकर वही सङ्कल्प कर रहा है, फिर ज्ञान-इन्द्रियोंके साथ मिलकर कर्मेन्द्रियोंको गति वही दे रहा है, यहाँतक कि प्रत्येक नाड़ीको वही चला रहा है, हमारा अपना कर्तृत्व तो आटेमें नमकके समान भी नहीं ।

गणेशमूर्त्तिमें कारण-ब्रह्मरूप निर्गुणभाव ।

दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि यदि अग्निमें उष्णता और जलमें क्लेद (गलाना) धर्म न रहे तो हमारा चाहे कितना भी पुरुषार्थ क्यों न हो, हमारे अपने पुरुषार्थसे ही हमको रोटी नसीब नहीं हो सकती। साधारण रूपसे किसी पदार्थके नेत्रद्वारा देखनेमें अनेक नाडियोंमें क्रिया उत्पन्न होती है, तब आँख किसी पदार्थको देखनेमें समर्थ होती है। यदि नेत्रकी उन नाड़ियोंमें क्रिया न रहे तो वे स्वय किसी पदार्थको देखनेमें समर्थ न हों। सारांश, समग्र स्थूल-सूक्ष्म शरीर जिसको हम कर्ता मान रहे हैं, वह केवल एक कठपूतलीके समान ही है और वह सूत्रधारी ही इसको हिला-चला रहा है। वस्तुत. सब कर्तृत्व उसीका है रत्तक-मात्र भी हमारा नहीं'। इस प्रकार जब सत्त्वगुण हृदयमें भरपूर होता है, तब कर्तृत्व-अभिमानका अभाव हो जाता है और शान्ति, सन्तोष, सरलता, कोमलता, प्रेम, सफलता आदि गणेशजीके अनुचर आ विराजते हैं और उपर्युक्त सभी विघ्नोंको मार भगाते हैं।

अहंकर्तेत्यहंमानो महाकृष्णाहिर्दंशितः।
नाहंकर्तेति विश्वासामृतं पीत्वा सुखी भव॥
(अष्टावक्र)

अर्थ—हे जनक! 'मैं कर्ता हूँ' इस अहङ्काररूपी काले सर्पसे डसा हुआ तू 'मैं कुछ नहीं कर्ता' इस विश्वासरूपी अमृतको पीकर सुखी हो।

इसी लिये सब कर्मोंके आरम्भमें इस 'विघ्नहरण मङ्गलकरण' की स्तुति की जाती है। परन्तु केवल वाणीसे कथनमात्र ही लाभ-दायक न होगा, किन्तु इसको हृदयमें विराजमान करके हृदयसे कथन करना आवश्यक है। केवल रोली-मोली चढ़ानेसे इसकी तृप्ति न होगी, किन्तु मन-बुद्धिकी भेटसे ही इसको सन्तोष मिलेगा!

गणानान्त्वा गणपति ँ हवामहे प्रियाणान्त्वा प्रियपति ँ हवामहे निधीनान्त्वा निधिपति ँ हवामहे वसो मम आहमजानि गर्भधमात्वमजासि गर्भधम् ॥

भावार्थ:—गणोंमें गणपति अर्थात् गणोंका आत्मा आप ही हैं, हम आपका आह्वान करते हैं। प्रियाओंमें प्रियपति अर्थात् प्रियाओंकी जान आप ही हैं, हम आपका आह्वान करते हैं। सब निधियोंमें निधिपति आप ही हैं, हम आपका आह्वान करते हैं। हे मेरे सर्वस्व गणपति ! आप सर्वाधारको हम सब ओरसे प्राप्त करें, आप सबके बीजरूपको हम सब ओरसे ग्रहण करें।

जहाँ सत्त्वगुण है वहीं सब मङ्गल आ विराजते हैं और जहाँ रजोगुण है वहीं सब क्लेश, विघ्न। इसी लिये यह सर्व-विघ्नविनाशकारी मङ्गलदाता सब देव-मनुष्यादिद्वारा वन्दन करनेयोग्य है। गाथा है कि एक समय देवताओंने दैत्योंपर चढ़ाई की, परन्तु अपने रजोगुणी अभिमानके कारण इस गणेश की पूजा करना भूल गये,इसलिये उनको सफलता न मिली। फिर लौटकर जब उन्होंने इस मूर्त्तिमान् सत्त्वगुणरूप गणेशकी पूजा की, इसको अपने हृदयसिंहासनपर विराजमान किया तब उनकी जय हुई। इस मूर्त्तिमान् सत्त्वगुणरूप गणेशकी कृपासे ही ज्ञान, कर्म, व्यवहार तथा परमार्थकी सब सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, इसी लिये इसकी शक्तिका नाम 'सिद्धि' है, जिसको इसने अपने वामाङ्गमें विराजमान किया हुआ है।

'सत्त्वात्संजायते ज्ञान' (गीता १४-१७)

अर्थात् सत्त्वगुणसे ही सब ज्ञान उत्पन्न होते हैं। तथा रजोगुणरूप मूषकको दबाकर ये गणेश उसपर आरूढ हो रहे हैं, यथा:—

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत (गीता १४-१०)

अर्थात् रजोगुण व तमोगुणको दबाकर सत्त्वगुण वृद्धिको प्राप्त होता है।

इस गणेशके एक हस्तमें अङ्कुश, एकमें मोदक, एकमें कमण्डलु और एकमें माला है। अङ्कुश विघ्ननाशक चिह्न है, अथवा अपनेसे विरोधियोंके लिये दुःखरूप शापकी सूचना देता है। मोदक अपने अनुसारियोंके लिये मङ्गलरूप वरकी सूचना देता है। कमण्डलु और माला इसके स्वरूपप्राप्तिके लिये साधन के सूचक हैं। कमण्डलु त्यागको दर्शाता है और माला ईश्वर-परायणता को। आशय यह है कि इस सत्त्वगुणरूप गणेशकी प्राप्तिके लिये त्याग ही एकमात्र साधन है। पदार्थोंकी पकड़से उसकी प्राप्ति असम्भव है, बल्कि पदार्थोंकी पकड़से तो रजोगुण ही मिलता है, एकमात्र पदार्थोंकी छोड़से ही उसको पाया जा सकता है। परन्तु यदि त्याग हुआ और ईश्वरपरायणता न हुई तब भी उसकी प्राप्ति सम्भव नहीं, इस लिये त्यागके साथ-साथ ईश्वरपरायणता भी आवश्यक है।

इस गणेशके गण्डस्थलसे शान्तिरूपी मधु स्रवित हो रहा है, जिसकी गंधपर शुद्धान्तःकरण भावुकरूपी भँवरे लोभायमान होकर गुञ्जार कर रहे हैं।

'अस्यन्दन् मधुगंधलुब्धमधुप व्यालोल गण्डस्थलम्'

अर्थात् सत्त्वगुणसे ही शान्ति उपजती है, इसलिये सत्त्व-गुणी है अन्तःकरण जिन्होंका और तज्जन्य शान्ति-सुखको अनुभव किया है जिन्होंने, वे ही भँवरेके समान इस गणेशके गण्डस्थलसे स्रवित मधुगन्धपर लोभायमान होकर गुञ्जार कर रहे हैं और निवारण करनेसे भी निवृत्त नहीं होते।

यही गणेशमूर्त्तिमें कारण-ब्रह्मरूप अध्यात्म-भाव है।

जिसकी विद्यमानतासे पदार्थका अस्तित्व रहे और जिसकी अविद्यमानतासे उसका अस्तित्व लुप्त हो जाय, वही उस पदार्थकी शक्ति है। जैसे जलमें रस, अग्निमें तेज, पृथ्वीमें गन्ध।

शक्तिमूर्त्तिमें कारण-ब्रह्मरूप निर्गुणभाव।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥

(गी. अ. ७ श्लो ८)

अर्थः—हे कौन्तेय! जलमें रस, सूर्य-चन्द्रमामें प्रभा, सब वेदोंमें ॐकार, आकाशमें शब्द और पुरुषोंमे बलरूपसे मैं ही हूँ।

आशय यह है कि सब पदार्थोंमे शक्तिरूपसे वह परमात्मदेव ही विराजमान है, उपाधिभेदसे उसी शक्तिके भिन्न-भिन्न नाम हो गये हैं। जिस प्रकार एक ही जल भिन्न-भिन्न पात्रोंकी उपाधि करके पात्रके अनुरूप भिन्न-भिन्न रूपोंको धारण कर लेता है, परन्तु उपाधिको छोड़कर केवल जलदृष्टिसे उन रूपोंमे कोई भेद नहीं रहता, इसी प्रकार एक ही अचिन्त्य-चिन्मात्र-शक्ति, जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें नाना नामरूपात्मक प्रपञ्चमें व्याप्त होकर स्थित है, भिन्न-भिन्न नामरूपकी उपाधि करके यद्यपि भिन्न-भिन्न प्रतीत होती है, परन्तु उन सम्पूर्ण नाम व सम्पूर्ण रूपोंके नीचे अपने वास्तव स्वरूपसे वह एक ही है। दुर्गा सप्तशती अ. ५ श्लोक १४ से ७४में उस देवीका रूप इसी प्रकार वर्णन किया गया है, यथा :—

या देवी सर्वभूतेषु विष्णुमायेति शब्दिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः॥
या देवी सर्वभूतेषु चेतनेत्यभिधीयते।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः॥

या देवी सर्वभूतेषु बुद्धिरूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः ॥

या देवी सर्वभूतेषु निद्रारूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः ॥

या देवी सर्वभूतेषु क्षुधारूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः ॥

या देवी सर्वभूतेषु छायारूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः ॥

या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः ॥

या देवी सर्वभूतेषु तृष्णारूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः ॥

या देवी सर्वभूतेषु क्षान्तिरूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः ॥

या देवी सर्वभूतेषु जातिरूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः ॥

या देवी सर्वभूतेषु लज्जारूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः ॥

या देवी सर्वभूतेषु शान्तिरूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः ॥

या देवी सर्वभूतेषु श्रद्धारूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः ॥

या देवी सर्वभूतेषु कान्तिरूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः ॥

या देवी सर्वभूतेषु लक्ष्मीरूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः ॥

या देवी सर्वभूतेषु वृत्तिरूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः ॥

या देवी सर्वभूतेषु स्मृतिरूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः ॥

या देवी सर्वभूतेषु दयारूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः ॥

या देवी सर्वभूतेषु भ्रान्तिरूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः ॥

या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः ॥

अर्थः-जो देवी सब भूतोंमे, माया, चेतना, बुद्धि, निद्रा, क्षुधा, छाया, तृष्णा, लज्जा, शान्ति आदि रुपसे स्थित है उसे वारंवार नमस्कारहै ।

अर्थात् सबमें सब रूपसे वह एक ही शक्ति अपना खेल खेल रही है। वही शक्ति सबके द्वारा उपास्य है। विष्णुकी उपाधि करके उसी शक्तिका नाम 'वैष्णवी' (लक्ष्मी), शिवकी उपाधि करके उसी शक्तिका नाम 'शिवा' (भवानी), गणेशकी उपाधि करके उसीका नाम 'गाणेशी' (सिद्धि) और सूर्यकी उपाधि करके उसीका नाम 'सौरी' है। उपाधिभेदसे उसके नामोंका भेद है परन्तु रूपका भेद नहीं। विष्णवादि देवताओंकी मूर्त्तियोंमें उनकी शक्तिको उनके वामाङ्गपर विराजमान किया गया है और उनकी शक्तिकी सब चेष्टाएँ उन देवोंकी कृपाकटाक्षके अधीन वर्णन की गई हैं। परन्तु इसके विपरीत शक्तिकी मूर्त्तिमें वे सब देव उस देवीके अधीन और उसकी उपासना करते हुए दर्शाये गये हैं। मन्दबुद्धि इसके आशयको न जान भ्रममें पड़ जाते हैं, परन्तु वास्तवमें इसके मूलमें किसी प्रकार विरोधकी आशङ्का नहीं है। इसका रहस्य नीचे स्पष्ट किया जाता है।

संसारमें शक्ति व शक्तिमान् दो ही पदार्थ हैं और दोनों को परस्पर एक-दूसरेकी अपेक्षा है। शक्तिसे भिन्न शक्तिमान्‌का कोई स्वरूप नहीं रहता, जैसे रसके विना जलका कोई स्वरूप नहीं रहता। तथा किसी शक्तिमान्‌रूप आधारके विना केवल शक्ति कोई कार्य नहीं कर सकती, जैसे बिजुली या भाप आधारके विना कोई कार्य नहीं कर सकते और आधारभेदसे इनके द्वारा भिन्न-भिन्न कार्य होते हैं। आधारभेदसे वही बिजुली ग्लोबमें रोशनीका काम देती है, पङ्खेमें पङ्खाकुलीका और टेली फोनद्वारा सन्देश पहुँचाकर कासिदका काम देती है इत्यादि। यद्यपि विचारदृष्टिसे तो जैसे अग्नि व उष्णता परस्पर अभिन्न हैं वैसे ही शक्ति व शक्तिमान् दोनोंका कोई भेद नहीं है, तथापि जिनके मनमें इनका भेद है और उस भेदको सम्मुख रखते हुए जिनके मनमें शक्तिमान्‌की मुख्यता है, उनके लिये विष्णु, शिव,

गणेश और सूर्यको यथारुचि कारणब्रह्मरूपसे निरूपण किया गया और उनकी भिन्न-भिन्न शक्तियोंको उनकी कृपाकटाक्षके अधीन दर्शाया गया। परन्तु जिनके मनमें शक्तिकी मुख्यता (विशेषता) है, उनके लिये देवीको कारण-ब्रह्मरूपसे निरूपण किया गया और विष्णु-शिवादिकोंको उस शक्तिदेवीके अधीन उसकी उपासना करते हुए और उससे शक्ति प्राप्त करते हुए दर्शाया गया। जिसकी जिसमें रुचि हो वह उसको कारण-ब्रह्म, अर्थात् उत्पत्ति-स्थिति-लयकर्ता रूपसे और अन्य देवोंको उसके अंशरूप कार्यब्रह्म पसे चिन्तन करे, मूलमें कोई भेद नहीं। सबके मूलमें एक ही अचिन्त्य-चिन्मात्र-शक्ति है और ये सब रूप उसी की भिन्न-भिन्न झाँकियाँ हैं, जिसका मन जिस झाँकी पर रीझ गया वह उसीपर लट्टू होगया। हाँ ! यह तो ठीक, मनको रिझाना तो उद्देश्य है ही, परन्तु अन्य झाँकियोंसे ग्लानि करना यह तो बड़ा पाप है। वास्तवमें इन सब झाँकियोंके नीचे एक ही विहारीजी अपना विहार कर रहे हैं, इसलिये उनकी किसी एक झाँकीसे प्रेम करके अन्यसे द्वेष करना तो उन विहारीजीसे ही द्वेष करना है। जैसे एक ही महाराजाधिराज कालभेदसे और कार्यभेदसे, अर्थात् दरबार, शिकार, सैर, जीनसवारी तथा रथ-सवारीके भेदसे समय-समयपर भिन्न-भिन्न पौशाके धारण करता है। यदि उसके सेवक उसकी किसी एक रूपकी पौशाकसे प्रेम करके अन्य पौशाकोंसे द्वेष करने लगे तो वह द्वेष उस महाराजा-धिराजको ही स्पर्श करता है। ठीक, इसी प्रकार अपनी अन्य झाँकियोंके प्रति द्वेष देखकर विहारीजी अपने इन मन्दबुद्धि प्रेमियोंपर हँसते हैं और क्रोध भी करते हैं, कि मेरी झाँकियों पर ही लड़-झगड़कर इन मूर्खोंने मुझ वास्तव झाँकीवालेको तो भुला ही दिया।

सत्त्व, रज और तमभेदसे उस शक्तिके तीन भेद हो सकते

हैं। विश्वसंहारकारिणी तमोगुणी शक्ति है जो कि 'काली' रूपसे वर्णन की गई है और उसके सब रूप भयङ्कर हैं। विश्वोत्पादक रजोगुणी शक्ति है जो कि 'लक्ष्मी' आदि रूपसे निरूपण की गई है और स्थितिकारिणी सत्त्वगुणी शक्ति है जो 'गौरा' 'पार्वती' आदि रूपमें सौम्यरूपसे निरूपण की गई है। चतुर्भुज और कहीं-कहीं अष्टभुज रूप जो दर्शाये गये हैं वे उसकी अनन्त शक्तिताके सूचक हैं। सिंहवाहन भी इसी आशयकी सूचना देता है, चररूप प्राणियोंमें सिंह अद्वितीय शक्तिधारी है, वह शक्ति उस सिंहकी अपनी नहीं, किन्तु उसपर अधिकार उस देवीका ही है। सरस्वती, गायत्री आदिको हंसवाहन रूपसे दिखाया गया है, यह उसकी ज्ञानमूर्त्तिकी सूचना है। अर्थात् जिस प्रकार हंस क्षीर-नीर मिले हुएमेंसे सार वस्तु दूधको पान कर जाता है, वैसे ही उस ज्ञानमूर्त्तिने जड़-चेतनरूप संसारके मिश्रणमेंसे तत्त्व वस्तुको निकाल लिया है।

सारांश, इन भावमयी मूर्त्तियोंमें कोई अङ्ग उस परमदेवकी विचित्र शक्तिकी सूचना देते हैं, कोई उसके विचित्र नीतियुक्त कार्यको, कोई उसकी प्राप्तिके साधनोंको और कोई उसके वास्तव स्वरूपको दर्शाते हैं। पञ्चदेवोंकी मूर्त्तियोंमें जो गम्भीर भाव है उसका दिग्दर्शनमात्र कराया गया, शेषमें तो भावराज्य के विस्तारका कोई अन्त ही नहीं है। भावुक अपनी बुद्धिके अनुसार सार ग्रहण कर सकते हैं। 'नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे'

उपर्युक्त पञ्चदेवोंको मुख्यरूपसे उपास्यदेव निरूपण किया गया। वास्तवमें तो अखिल ब्रह्माण्ड ही भगवान्‌का मन्दिर और सम्पूर्ण चराचर भूतजात उस एक ही परमात्माकी भिन्न-भिन्न विभूतिरूपसे चिन्तन करनेयोग्य हैं। इसी आशयसे नागपूजा, पीपलपूजा, गोपूजा आदिका शास्त्रकारोंने विधान भी किया है और सकामी लोग

पूजाका रहस्य।

अपनी अपनी रुचिके अनुसार लेखनी, तलवार, कुदाल, रासभ आदिकी पूजा भी करते हैं। परन्तु कामनाओं करके उनके चित्त हरे हुए रहनेके कारण वे इसके रहस्यको नहीं जानते और वास्तविक फलसे वञ्चित रह जाते हैं। वस्तुतः उपर्युक्त सब पदार्थ उस एक ही साक्षी-चेतनकी भिन्न-भिन्न उपाधि हैं। उन भिन्न-भिन्न उपाधियोंके मूलमें भेदसे रहित वह एक ही साक्षी-चेतन विद्यमान है और उन सकामियोंके भिन्न-भिन्न भावोंके अनुसार फल भी उस एक निरूपाधि साक्षी चेतनसे ही प्राप्त होता है, परन्तु उस तत्त्व-वस्तुको न जान वे उन जड़ उपाधियोंसे ही फलकी सिद्धि मानते हैं। आशय यह है कि यथार्थमें उन भिन्न भिन्न उपाधियोंको पूजकर भी वास्तवमें वे तद्गत्-चेतनको ही पूजते हैं और उनकी मनोरथसिद्धि भी वास्तवमें उन उपाधियों से न होकर तद्गत-चेतनसे ही होती है। परन्तु वे जड़मति अपनी जड़ताके कारण उन जड़ उपाधियोंसे ही मनोरथसिद्धि जानते हैं और अपनेको उन उपाधियोंकी ही पूजा करनेवाला मान लेते हैं। इस प्रकार बुद्धिकी जड़ताके कारण वे वास्तव फल से वञ्चित ही रह जाते हैं। यथार्थमें तो निष्काम भावुक-भक्तोंके लिये उपर्युक्त पूजाएँ निकटसे निकट और दूरसे दूर भिन्न-भिन्न विभूतियोंमें भगवान्का रूप निहार-निहार प्रेममें मग्न होनेके लिये ही थीं।

सियाराममय सब जग जानी, करूँ प्रणाम जोरि युग पानी।

गीता अध्याय १०में अर्जुनके प्रश्नपर, कि 'केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया' अर्थात् 'हे भगवन्! आप किन-किन भावोंमें मेरे द्वारा चिन्तन करनेयोग्य हैं ?' उत्तरमें भगवान्ने श्लोक २० से ३८ तक सम्पूर्ण चराचरमें अपनी विभूतियोंका संक्षेपसे निरूपण किया है। जैसे

'मेरुः शिखरिणामहम्' 'स्थावराणां हिमालयः' 'स्रोतसामस्मि जाह्नवी' 'अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्' 'वैनतेयश्च पक्षिणाम्' 'अनन्तश्चास्मि नागानाम्' 'सर्पाणामस्मि वासुकिः' 'मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहम्' 'धेनूनामस्मि कामधुक्' 'ऐरावतं गजेन्द्राणाम्' 'इन्द्रियाणां मनश्चास्मि' 'भूतानामस्मि चेतना' 'वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि' 'पाण्डवानां धनञ्जय' इत्यादि और अन्तमें स्पष्ट कर दिया है :

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥
नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥
यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥

(गी अ. १० श्लो, ३९.४०-४१)

अर्थ :—हे अर्जुन ! जो कुछ भी सब भूतजात हैं उनका बीज मैं ही हूँ, चराचर भूतोंमें ऐसा कोई नहीं जो मेरे बिना सिद्ध हो। हे परन्तप ! मेरी दिव्य विभूतियोंका कोई अन्त नहीं है, यह अपनी विभूतिका विस्तार मैंने सङ्केतमात्र कथन किया है। (सारांश यह है कि) जो-जो विभूतियुक्त, कान्तियुक्त अथवा शक्तियुक्त वस्तु है, वह-वह सब मेरे तेजके अंशसे ही उपजी जान।

भावराज्यका यह विलक्षण महत्त्व है कि इस प्रकार शुद्ध भावके अनुसार मूर्त्तिपूजा मूर्त्तिको स्पर्श न करके मूर्त्तिमान्को

और विभूतिपूजा विभूतिको स्पर्श न करके विभूतिमान्‌को ही स्पर्श करती है। जो लोग इसको जड़पूजा कहते हैं उनकी बुद्धि जड़ है और वे प्रकृतिके रहस्यको नहीं जानते।

'न काष्ठे विद्यते देवो न पाषाणे न मृण्मये।
भावे हि विद्यते देवस्तस्माद्भावो हि कारणम्॥

अर्थ यह कि देव न काष्ठमें ही है, न पाषाणमें और न मृत्तिकामें ही स्थित है, किन्तु देव तो केवल अपने शुद्ध भावमें ही विराजमान है। अन्य भिन्न-भिन्न प्रतिमाएँ तो अपने भावोद्‌गारके लिये आधारभूत हैं, इसलिये देवार्चनमें केवल अपना भाव ही मुख्य कारण है। अर्थात् यह सम्पूर्ण संसार देवमय हुआ भी अपने भावके अभावसे पाषाण-मृत्तिकादि रूप प्रतीत हो रहा है और अपने शुद्धभावके प्रभावसे चर्मचक्षुके विषय पाषाण-मृत्तिकादि भी देवमयरूपसे ग्रहण हो सकते हैं।

प्रतिमापूजनका उद्देश्य यह है कि वारम्वार ध्यान, पूजन, अर्चन व वन्दनद्वारा भगवान्‌का स्वरूप हृदयमें ठहर जाय।

उपासनाकी छठी श्रेणी मानसिक पूजा।

उपासनाकी छठी श्रेणी मानसिक-पूजा है। अर्थात् जिस देवका प्रतिमापूजनके आलम्बनसे ध्यानादिक किया गया है, जब उसका स्वरूप हृदयमें स्थिर हो जाय, तब प्रतिमाके आलम्बन बिना मनसे ही मानसिक-सामग्रीद्वारा हृदयमें उसका पूजन किया जाय। इसकी विधि यह है कि प्रथम इष्टदेवका कुछ स्तुति-पाठ किया जाय, तदनन्तर नेत्र बन्दकरके किसी पवित्र तीर्थ-स्थानपर जो स्वाभाविक अपने चित्तको रुचिकर हो, मनको स्थित किया जाय। अर्थात् उस पवित्र स्थानकी मनमें कल्पना करके अपने-आपको उस स्थानपर ही स्थित देखा जाय और इष्टदेवका शुद्धभावसे अपने हृदयमें ही आह्वान किया जाय। फिर

ऐसी भावना की जाय कि हमारा इष्टदेव हमारे आह्वान करने पर अपने वाहनपर आरूढ होकर हमारे हृदयमें पधार रहे हैं। ऐसा जान मनसे ही उनके स्वागतके लिये उत्थान किया जाय और प्रेमपूर्वक मनसे ही उनको वाहनसहित प्रदक्षिणा की जाय। अपने हृदयको ही, जो कि खिले हुए अष्ट-कमलदलके समान है, इष्टदेवके लिये उचित आसन जान मनसे ही उसपर विराजनेके लिये उनसे प्रार्थना की जाय। इसके उपरान्त मनसे ही उत्तम-उत्तम तीर्थजलकी भावना करके उनके पादप्रक्षालन किये जायें और इस चरणामृतका मनसे ही प्रेमपूर्वक पान किया जाय। मनसे ही उत्तम-उत्तम सामग्री कल्पना करके पवित्र केशर-कस्तूरीमिश्रित गङ्गोदकसे उनको स्नान, धूप, दीप, चन्दन, वस्त्र और अलङ्कार आदिसे तुष्टकर नैवेद्य, मेवा आदि उत्तम-उत्तम पदार्थ जो अपने चित्तको रुचिकर हों, उनसे उनको भोग लगाया जाय। तदनन्तर विधिपूर्वक मनसे ही आरती की जाय। फिर बारम्बार नमस्कार प्रदक्षिणा करके गद्गद् हो मनको उनके चरणोंमें गिरा दिया जाय और निष्काम भावसे उनमें तन्मय होनेके लिये प्रार्थना की जाय।

बाह्य स्थूल सामग्रीसे बाह्य देवपूजाकी अपेक्षा आन्तर मानसिक सामग्रीद्वारा आन्तर देवपूजा, सूक्ष्म होनेके कारण तथा मननरूप होनेसे अधिक प्रभावशाली है। जुगाली करनेवाले पशु जिसप्रकार प्रथम खाद्यको अपने पेटमें बिना चबाये डाल लेते हैं और जब उदर पूर्ण हो जाता है, तब उस खाद्यको थोड़ा-थोड़ा उगलकर और भली-भाँति चबा-चबाकर पचा लेते हैं, तभी वह खाद्य पचकर उनके शरीरका भाग बनता है। इसी प्रकार उपासक भी प्रथम बाह्य मूर्त्तिपूजनद्वारा जब पवित्र भावोंसे अपने मनको पूर्ण कर लेता है, तब जुगालीके रूपमें इस मानसिक पूजाद्वारा उन भावोंको भली प्रकार चबा-चबाकर उनको पचानेके योग्य

बना लेता है और तभी वह मनको पुष्ट कर सकता है। वास्तवमें मनोमय व दृष्टिमय ही यह संसार है, वाह्य पदार्थ मन व दृष्टिके ही परिणाम हैं। जो कुछ अन्दर भरा हुआ होता है वही बाहर निकलता है। इस प्रकार जब मन व दृष्टि, उस वास्तव इष्टदेवके रूपसे भरपूर हुई तो बाहर पात-पातमें वही रूप दीख पड़ने लगा। यही उपासनाका फल है और वही अवधि। इस रीतिसे भावकी परिपक्वता करके चराचर भूतजातमें भगवान्की विचित्र-विचित्र छवियोंका दर्शन करना, यही विषमतानाशक समताभरा प्रेम है। यद्यपि पूर्ण और वास्तविक समताकी नक़द उपलब्धि तो ज्ञानद्वारा जीव व ब्रह्मके अभेदसाक्षात्कारपर ही निर्भर है, तथापि भावोंद्वारा यह उस सच्ची समताकी ओर अग्रसर हो रहा है और शीघ्र ही उसको प्राप्त करेगा।

इस प्रकार हमारा उपासक-जिज्ञासु उपर्युक्त भक्तिकी छः श्रेणियोंसे उत्तीर्ण होकर 'तस्यैवाहम्' (मैं उसका ही हूँ) भावसे ऊँचा उठकर 'तवैवाहम्' (मैं तेरा ही हूँ) में स्थित होगया और रजोगुणसे निकलकर सत्त्व रजमें जा टिका। यही परामार्थ-रूपी वृक्षकी लहलहाती हुई हरी-भरी टहनियाँ व पत्ते हैं, जो देखनेवालोंके चित्तोको अपनी ओर आकर्षण करते हैं। संसार सम्बन्धी पदार्थोंने अपने प्रेमके लिय जो अवकाश हृदयमें धारण किया हुआ था और जो विषमताके हेतु बने हुए थे, भक्तिके उपर्युक्त पवित्र भावोंने अब वह स्थान उनसे छीन लिया और सुखसाधनताबुद्धि अब उन पदार्थोंमेंसे कूँच कर गई। यही त्याग की छटी भेट है जो वैतालके चरणोंमें समर्पण की गई और वह वैतालकी प्रसन्नता व तृप्तिकी हेतु बन रही है। यद्यपि उन पदार्थोंकी सत्ता अभी विद्यमान है और दग्ध नहीं हुई, तथापि अब वह दग्ध होनेके सम्मुख हो रही है।

(५) वैराग्यवान् (अर्थात् तत्त्व-जिज्ञासु)

'वैराग्य' शब्दका अर्थ है विगत + राग = वैराग्य। अर्थात् संसारसम्बन्धी भोग्यपदार्थोंमें सत्यबुधि रखकर चित जो चहुँट रहा था, आसक्त हो रहा था, रागवान् हो रहा था उससे इस रागका अभाव हो जाना ही 'वैराग्य' है। अपने शरीरमें आसक्ति करके वाह्य विषयोंमें जो स्वार्थमूलक प्रेम लेता है वह 'राग' कहा जाता है। जीवकी दौड़-धूप सुखके निमित्त किसी क्षणके लिये भी नहीं रुकती, यह प्रकृतिका अटल नियम है। वाह रे सुखस्वरूप! तू धन्य है, तेरे ऊपर बलिहार जाऊँ! बारम्बार तेरी बलैयाँ लूँ! तीन लोक चौदह भवन तेरे ऊपर न्यौछावर कर दूँ! न जाने तू कैसा रसभरा होगा, जिसने ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त अनन्त ब्रह्माण्डवर्ति अनन्त जीवोंको अपने लिये व्याकुल कर रक्खा है। सौ मेंसे सौ (cent per cent) हो तेरे लिये सन्तप्त हैं, कोई एक भी तो ऐसा दृष्टि नहीं आता जिसके सिरपर तेरा हाथ न रक्खा गया हो।

वैराग्यका हेतु व स्वरूप

उपर्युक्त नियमके अनुसार सुखकी प्यास बुझानेके लिये जब जीव संसाररूपी भूल-भुलैयाँके पदार्थोंके पीछे भटक-भटककर थकित हो जाता है और किसी भी रूपसे प्यास बुझनेकी आशा नहीं रहती तो बरवश उसको अपने मनरूपी घोड़ेकी बागडोर मोड़नी पड़ती है, जिसकी चर्चा विषयी पुरुषोंके प्रसङ्गमें की जा चुकी है। उधरसे मुँह मोड़ जब त्यागकी सड़कक इसन पकड़ा और शुभसकाम निष्कामकी मञ्जिलोंको लाँघकर जब उपर्युक्त भक्तिकी चढ़ी-बढ़ी अवस्थामें विश्राम पाया तो वैद्यालने संतोष प्रकट किया। इधर सुखशान्तिकी चटनी जो रस देने लगी और तमोगुण व रजोगुणके निकलनेपर सत्त्वगुणने जो सारासार-

विवेकको सम्मुख आन खड़ा किया तो चुप-चाप भीतर ही भीतर सारासार-निर्णय,हृदयमें घर कर गया। 'सांसारिक भोग्य-विषय हमारे सुखके साधन नहीं हैं' इस सम्बन्धमें जो विचारोंका परि-वर्तन विषयी पुरुषोंके प्रसङ्गमे पीछे पृष्ठ ११०से १२१ तक इससे हुआ था, उस समय तो ये विचार इसके कण्ठतक ही रहे; परन्तु अब इस सारासार-विवेकने बुद्धिरूपी कुठालीमे उन विचारों को भली-भाँति पकाकर और उनकी सत्यताका प्रवाह रक्तके साथ मिलाकर इसकी नाड़ी-नाड़ीमे प्रवेश कर दिया और इन्द्रियोंके विषयभूत चमकीले-चटकीले पदार्थोंसे सर्वथा मन हरा गया। इस प्रकार भक्तिकी उपर्युक्त अवस्थासे वैराग्य इसी प्रकार प्रसवित हो आया, जिस प्रकार हरी-भरी सजल टहनी-पत्तियोंसे अपने समयपर फूल निकल पड़ता है। रज्जुके ज्ञानसे जिस प्रकार सर्पकी सत्ताका अभाव हो जाता है, उसी प्रकार यद्यपि इन भोग्य पदार्थोंकी सत्ताका अभाव तो अभी नहीं हुआ, तथापि अब इनमें सुखसाधनता-बुद्धि नहीं रही। अब ये भोग्य-विषय इस वैराग्यवान्‌के लिये इधर तो इन्द्रियप्रतीतिके विषय बने हुए हैं और उधर दुःखके हेतु, इस लिये सर्पके समान भयदायक हो रहे हैं। क्योंकि वस्तुत विषयोंके लिये तो विषयोंकी पकड़ नहीं थी, किन्तु सुखके लिये ही इनमे प्रवृत्ति होती थी। परन्तु जब इनसे थोड़ा किनारा कर भक्तिके प्रभावसे निर्विषयक सुखकी चटनी मिलने लगी और इनके उपार्जन, रक्षा व नाशजन्य क्लेशोंका फोटो आँखोंके सामने आने लगा,तब स्वाभाविक ही मन इनसे इसी प्रकार हरा गया, जैसे बाल्यावस्थामे सर्पके कोमल स्पर्शकी आ-सक्ति रहनेपर भी यौवन अवस्थामे उसके स्पर्शसे मृत्युजन्य क्लेशका प्रत्यक्ष अनुभव होनेके कारण उससे स्वाभाविक ही मन हरा जाता है। यही वास्तवमें सात्त्विक त्याग है कि विषय प्रवृत्ति अपने-आप पकती-पकती इसी प्रकार निवृत्त हो जाय, जैसे

आम्रफल पककर अपने-आप डालीसे छूट जाता है और मिठास दे जाता है। यद्यपि विषयप्रवृत्ति तो विषयी पुरुषोंकी भी कालप्रभाव से भोग-सामर्थ्य न रहने के कारण स्वाभाविक ही निवृत्त हो जाती है, परन्तु उनका विषयोंसे राग निवृत्त नहीं होता, किन्तु:—

'भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः।'

'भोगोंका भोग पूरा नहीं हुआ बल्कि हमारा ही भोग हो गया, तृष्णा जीर्ण नहीं हुई परन्तु हम ही जीर्ण होगए'का हिसाब बना रहता है। इसके विपरीत इस वैराग्यवान् महात्माका तो राग भी निवृत्त होकर विषयोंके प्रति दोषदृष्टि उपस्थित हो गई है और इस दोषदृष्टिके सद्भावसे इसकी बाहरके शत्रु-मित्रकी भावना दूर होकर इसने अपने भीतर अपनेको ही अपना शत्रु-मित्र जाना है और इन वचनोंको भली-भाँति सार्थक किया है:—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥ (गी.६।५,६)

अर्थः—मनुष्यको चाहिये कि अपने-आपे करके आपेका उद्धार करे और अपने-आपेको गिरने न दे, क्योंकि अपना-आपा (मन)ही अपना मित्र है और आपा (मन)ही अपना शत्रु। उसका आपा तो अपना बन्धु है जिसने आपे करके आपा जीत लिया, (अर्थात् अपने मन-इन्द्रियोंको अपने अधीन कर लिया) और (जिसने इनको मूर्खताके कारण नहीं जीता) उसका वह आपा ही शत्रुके सदृश शत्रुतामें वर्तता है।

बाह्य विषयोंमें रागबुद्धिके कारण ही बाह्य शत्रु-मित्रकी भावना होनी स्वाभाविक है, यथा:—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।

सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥(गी.२,६२)

अर्थात् रागबुद्धिद्वारा विषयोंका चिन्तन करनेसे ही उनमें आसक्ति होती है, विषयासक्तिसे कामना उपजती है और कामनामें भङ्ग पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है। तब कामनाभङ्गमें निमित्तरूप जो बाह्य व्यक्ति हैं,उनके प्रति शत्रुबुद्धि और कामना-साधनमें सहायक व्यक्तियोंके प्रति मित्रबुद्धि स्वाभाविक ही उत्पन्न होती है। इन सब झंझटोंके मूलमें रागबुद्धि ही हेतु थी, परन्तु एक रागबुद्धिरूप कण्टकके निकल जानेके कारण सारी वेदनाएँ निवृत्त हो जाती हैं।

इस प्रकार यद्यपि विषयोंमें रागबुद्धिका अभाव तो हुआ और बाह्य शत्रु-मित्रकी भावना भी निवृत्त हुई, तथापि विषयोंकी सत्ता विद्यमान रहनेके कारण मन-इन्द्रियोंकी विषयोंके प्रति रसबुद्धि अभी शेष रहती ही है। जिस प्रकार रोगीकी खट्टे-मीठे पदार्थोंमें कुपथ्यरूप निश्चय करके रागबुद्धि तो नहीं रहती, परन्तु पदार्थोंकी सत्ता भास होते रहनेसे रसबुद्धि शेष रहती है। अर्थात् रोगीको जब यह यथार्थ निश्चय हो जाता है कि यह खट्टे-मीठे पदार्थ मेरे रोगकी वृद्धि करनेवाले हैं और इनके सेवन करने से मैं मर जाऊँगा, तब उन पदार्थोंमें उसका राग तो नहीं रहता बल्कि उनको देखकर भय होता है, तथापि पूर्वानुभूत रसकी स्मृति करके उसकी उनमें रसबुद्धि अवश्य बनी रहती है कि इनमें ऐसा रस है और मैं रोगमुक्त हो जाऊँ तो इनका सेवन करूँ। यथा :—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।

रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥(गी.२.५९)

अर्थात् विषयोंका भोग न करनेवाले जीवके भी विषय तो निवृत्त हो जाते हैं परन्तु (विषयोंकी सत्ता विद्यमान रहनेके कारण) उनसे रसबुद्धि बनी रहती है। वह रसबुद्धि भी अधिष्ठानरूप परमात्माके साक्षात्कारद्वारा रसवर्जित अर्थात् रसरहित हो जाती है।

रसबुद्धि तो विषयोंके आश्रय ही रहती है, परन्तु ज्ञानीकी दृष्टिमें तो तत्त्व-साक्षात्कारद्वारा जब विषयकी सत्ता ही लुप्त होगई तो रसबुद्धि स्वतः ही लोप हो जाती है, जैसे शुक्तिके ज्ञानसे रजत व रजतजन्य लोभादि दोनों ही निवृत्त हो जाते हैं; परन्तु विषयसत्ताके अभाव बिना रसबुद्धिका अभाव असम्भव है। इस प्रकार विषयसत्ताकी विद्यमानताके कारण विषयोंके प्रति आकर्षण शेष रहनेसे अब यह शम-दमादिद्वारा मन-इन्द्रियोंको दमन करनेमें तत्पर है जोकि इस आकर्षणके अधिकरण हैं, इन्हींको इसने अपना शत्रु चीन्हा है और अपने आत्मधनको चुरानेवाले इन चोरोंको अपने भीतर ही पकड़ा है।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥ (गी.२ ६०)

अर्थात् यह इन्द्रियाँ ऐसी प्रमथन स्वभाववाली हैं कि यत्न करते हुए विवेकीपुरुषके भी मनको बलात्कारसे हर लेती हैं।

इस प्रकार इच्छा न रहते हुए भी अब यह मन-इन्द्रियोंकी विषयप्रवृत्तिसे सन्तप्त हुआ है और जन्म-मरणरूप संसारके क्षयीरोगसे पीड़ित हुआ है। अतः अपने मनमें ही अपने अन्तर्यामीदेवके प्रति ऐसी कूक कर रहा है :—

वैराग्यवान्के चित्तकी अवस्था

मैं परदेशी[1] दुःखभरिया, दुःखसागर[2] देखत डरिया।
तुझ बाझ[3] न साथी कोई, सब निज मतलब दे होई ॥ १ ॥
मैं जिस दर जाय खलोवाँ[4], सब दीन दुःखी ही जोवाँ।
मेरे घर विच चोर उचक्के, केई दुश्मन लागे पक्के ॥ २ ॥
घर चोर[5] न फड़िया जाई, मेरी तेरे पास दुहाई।
नित नैन रूप वल धावें, उठ कान ध्वनि घिर जावें ॥ ३ ॥

प्राण गंधमें धस रह्यो, चित चेते परनार।
मन दलाल होय सबनको, अह निशि करे विकार ॥

रसना रस गीधी मोरी, त्वचा नीच स्पर्श घसोरी।
मोहे काम क्रोध दुःख दीना, मेरा सर्वस्व हर लीना ॥ १ ॥
मैं मोह की फाँसी फाथा[6], मेरे निकसत पैर न हाथा।
मोहिं मोह लिया दिल मेरा, अहं अहङ्कार भया अंधेरा ॥ २ ॥
लोभने कियो बखेरो, तृष्णाने पायो घेरो।
मैं दीन दुःखी तव टेका, तुझ बाझ न सहुरा[7] पेका[8]। ३ ॥

---

१. मेरा निजालय जो आत्म-स्वरूप है उससे बिछुड़कर मैं इस संसारमें परदेशी हूँ। २. संसार। ३. बिना। ४. खड़ा होता हूँ। (५) इन्द्रियाँ, काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार इत्यादि। (६) फँसा हुआ। ७ सुसराल। ८. पीहर। भावार्थ यह है कि जैसे चोरोंकी पार्टी धनीके हाथ-पाँव बाँधकर, अंधेरा करके और चारों ओरसे घेरकर उसके धनको हरलेती है, इसी प्रकार मोहने मुझे बाँध दिया है, अहंकारने अंधेरा कर दिया है जिससे मुझे कुछ दीख नहीं पड़ता, लोभने खलबली मचा दी है जिससे मैं किसीको सहायताके लिये बुला नहीं सकता और तृष्णाने चारों

यद्यपि रोगी तो पहले भी था, तथापि रोग इस बढ़ी-चढ़ी अवस्थाको प्राप्त हो रहा था कि रोगी रहते हुए भी अपनेको रोगी न समझता था और इस अवधिरूप रोगमे ही उसकी स्वास्थ्य-बुद्धि हो रही थी। जैसे किसी मशीनका पहिया गतिके वेगसे स्थिर प्रतीत होता है, अथवा जैसे कोई मद्यप्रेमी मद्यके आवेशसे इतना प्रभावित हो जाय कि उसको अपना मद्यपान ही विस्मृत हो जाय और वह नशीली अवस्था उसकी स्वभावसिद्ध बन जाय। परन्तु धर्मरूप पिताकी शरणमें आकर सोपान-क्रमसे जीवनकी उपर्युक्त कोटियोंसे उत्तीर्ण हो जब यह इस वैराग्यकी समतल भूमिमें पहुँचा और आँखे खुलीं, तब अपनेको ठगा हुआ पाया और अपने आत्मधनको गुमाकर इसी प्रकार सन्तप्त होने लगा, जिस प्रकार सुमन्त भगवान् रामचन्द्रको सुरसरी-तीरपर छोड़ कर अयोध्याको लौटता हुआ दारुण दुःखसे दुःखी हो रहा था'—

मींजि हाथ सिर धुनि पछिताई। मनहु कृपण धन राशि गँवाई॥
लेइ उसाँस शोच इहि भाँति। सुरपुर ते जनु खसेउ ययाति॥
विप्र विवेकी वेदवित्, संमत साधु सुजाति।
जिमि धोखे मदपान करि, सचिव शोच इहि भाँति॥

उस आत्मधनकी जिज्ञासाने संसारसम्बन्धी अखिल रागको भस्मकर अब यह भाव हृदयमें ठूँस-ठूँसकर भर दिया है।

पुत्र कलत्र सुमित्र चरित्र, धरा धन धाम हैं बन्धन जी को,
बारहिं बार विषय फल खात, अघात न जात सुधारस फीको।

ओर से घेर लिया है जिससे मैं भाग नहीं सकता। इस प्रकार इन्होंने मेरे आत्मधनको चुरा लिया है इस लिये मैं तेरे बिना और कोई सहारा नहीं देखता।

आन औसान तजो[1] अभिमान, सुनो धर कान भजो सिय पी को,
पायं परंपद हाथ सुँ जात, गई सो गई अब राख .रही को ॥

एक श्वास खाली नहीं खोइये खलक बीच,
कीच रूप कलङ्क अङ्क धोयले तो धोयले ।
उर अंधियार पाप पूर से भरयो है,
ता में ज्ञान को चिराग चित्त जोयले तो जोयले ।
मानस जन्म बार बार ना मिलेगो मूढ़,
परम प्रभुसे प्यारो होयले तो होयले ।
क्षणभङ्गुर देह तामें जन्म सुधारिबो है,
बिजली के झमके मोती पोयले तो पोयले ॥

अबके बाज़ी चौपड़का, पौमें अटकी आय ।
जो अबके पौ ना पड़े, तो फिर चौरासी जाय ॥

भावार्थः—चौपड़के खेलमें ८४ खाने होते हैं । जब सब नरद ८४ खानोंमेंसे होकर अन्दर चली जाती हैं और एक ही नरद अन्तके ८४वें खानेमें अटक जाती है, तब यदि पौ पड़ जाय तो बाजी समाप्त हो गई और जीती गई । परन्तु यदि पौ न पड़े तो वह नरद फिर पीटी जाती है और उसको मरकर फिर ८४ खानों की परिक्रमा करनी पड़ती है । यही हाल इस संसाररूपी चौपड़ का है, जिसमें ८४ लाख योनिरूप खाने हैं । जीवरूपी नरद इन खानोंमें भ्रमण करके अन्तके ८४वे खाने (मनुष्य-योनि) मे अटक

---

[1] 'तजो' शब्दका इस सवैयेमें देहली-दीपक न्यायसे 'औसान' और 'अभिमान' दोनोंसे सम्बन्ध है, अर्थात् अन्य औसान छोड़ो और अभिमानका त्याग करो ।

गई है और ज्ञानरूपी पौके लिये रुकी हुई है। यदि यह पौ पड़ गई तो बाजी समाप्त हुई और जीती गई, नहीं तो सूकर-कूकर आदि ८४ लाख योनियोंका भ्रमण फिर कहीं गया ही नहीं। इसी प्रकार अब यह मनुष्यजन्मके महत्त्वको भली-भाँति समझ ज्ञानरूपी पौ के लिये व्याकुल हो रहा है और एकमात्र ईश्वरप्राप्तिरूप जिज्ञासा ही इसके हृदयमें भरपूर हो गई है। यथा :-

या तन को दिवला करूँ बाती मेलूँ जीव ।
रक्त जो सींचूँ तेल ज्यूँ तब मुख देखूँ पीव ॥

और उस सत्यप्रेमके विरहमें अब उसमें यह अवस्था बरतने लगी है :-

विरहिनि देइ सँदेशरा, सुनो हमारे पीव ।
जल[1] बिनु मच्छी क्यों जिये, पानी में का जीव ॥१॥
विरह तेज तन में तपे, अङ्ग सबै अकुलाय ।
घट[2] सूना जिव पीव में, मौत ढूँढि फिर जाय ॥२॥

अँखियन तो झाँई परी, पंथ निहार निहार ।
जिभ्या तो छाला परा, नाम पुकार पुकार ॥३॥
नैनन तो झरि लाइयाँ, रहट बहै निसु वास ।
पपिहा ज्यों पिउ पिउ रटै, पिया मिलन की आस ॥४॥

---

१. जिस प्रकार मछली जलबिना जीवित नहीं रह सकती, इसी प्रकार मैं भी आप सागरकी मीन हूँ, आपके बिना कैसे जीऊँ ?

२. शरीररूपी घट जीवके बिना शून्य हो रहा है, जीव शरीरमें न रहकर अपने पीव परमात्मामें बस रहा है। इस लिये मौत भी शून्य घटको देखकर लौट जाती है, क्योंकि जीवके बिना शून्य व मृत शरीरको मृत्यु क्या मारे ?

विरह बड़ो[1] बैरी भयो, हिरदा धरे न धीर ।
सुरत सनेही ना मिले, तब लगि मिटे न पीर ॥५॥
विरहनि ऊभी पंथ सिर, पंथिनि पूछे धाय ।
एक शब्द कहु पीवका, कब रे मिलेंगे आय ॥६॥
विरह भुजङ्गम तन डस्यो, मंत्र न लागे कोय ।
नाम वियोगी ना जिये, जिये तो बाउर होय ॥७॥
विरह भुजङ्गम पैठ के किया कलेजे घाव ।
विरहनि अङ्ग न मोड़िहै, ज्यों भावे त्यों खाव ॥८॥
के विरहनि को मीच[2] दे, के आपा दिखलाय ।
आठ पहर का दाझना[3], मोपे सहा न जाय ॥९॥
विरह कमण्डल कर लियो, वैरागी दो नैन ।
माँगें दरश मधूकरी, छके रहें दिन रैन ॥१०॥
कबीर हँसना दूर कर, रोने से करु चीत ।
बिन रोये क्यों पाइये, प्रेम पियारा मीत ॥११॥
हँसूँ तो दुःख ना बीसरे, रोऊँ बल घट जाय ।
मन ही माँहि बिसूरना, ज्यूँ घुन काठहिं खाय ॥१२॥
कीड़े काठ जो खाइया, खात किनहुँ नहीं दीठ ।
छाल उपारि जो देखिया, भीतर जमिया चीठ ॥१३॥
हँस हँस कंत न पाइया, जिन पाया तिन रोय ।
हँस खेले पिया मिले, तो कौन दुहागिन होय ॥१४॥

---

१. खड़ी । २. मौत । ३. जलना ।

सुखिया सब संसार है, खावे और सोवे ।
दुखिया दास कबीर है, जागे और रोवे ॥१५॥

नाम वियोगी विकल तन, ताहि न चीन्हे कोय ।
तम्बोली का पान ज्यूँ, दिन दिन पीला होय ॥१६॥

माँस गया पिञ्जर रहा, ताकन लागे काग ।
साहिब अजहुँ न आइया, मन्द हमारे भाग ॥१७॥

विरहा सेती मत लड़े, रे मन मोर सुजान ।
हाड मास सब खात है, जीवत करे मसान ॥

विरह जलन्ती मैं फिरूँ, मो विरहनि को दुःख ।
छाँह न बैठूँ डरपती, मति जलि उठै रूख[1] ॥१९॥

चूड़ी पटकूँ पलंग से, चोली लाऊँ आग ।
जा कारन यह तन धरा, ना सूती गल लागि ॥२०॥

अम्बर कुञ्जा[2] कर लिया, गरजि भरे सब ताल ।
जिनते प्रीतम बीछुरा, तिनका कौन हवाल ॥२१॥

रक्त माँस सब भखि गया, नेक न कीन्हो कान ।
अब विरहा कूकर भया, लागा हाड चबान ॥२२॥

यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं ।
शीश उतारे भुइँ धरे, तब पैठे घर माहिं ॥२३॥

शीश उतारे भुइँ धरे ता पर राखे पाँव ।
दास कबीरा यों कहे, ऐसा होय तो आव ॥२४॥

---

१ वृक्ष । २ मृत्तिका पात्र विशेष, सकोरा ।

प्रेम न बाड़ी ऊपजे, प्रेम न हाट बिकाय ।
राजा परजा जेहि रुचे, शीश देइ ले जाय ॥२५॥
प्रेम पियाला जो पिये, शीश दक्षिणा देय ।
लोभी शीश न दे सके, नाम प्रेम का लेय ॥२६॥

वैराग्यको शुभागमन और चतुर्विध वैराग्य निरूपण ।

हे वैराग्यमूर्त्ति, कल्याणस्वरूप, शिव-शम्भो ! बारम्बार तुझको मेरा हार्दिक नमस्कार है। तेरा दर्शन अनेक जन्मोंके पुण्योंका फल है और हमारे कल्याणके लिये है। तू हृदयमें उतरा कि जन्म-मरणके सब बन्धन ढीले पड़े। जन्म-जन्मान्तरके सम्पूर्ण यज्ञ, दान, जप, तप, व्रत और तीर्थादिकोंका फल तू ही है। जब सम्पूर्ण यज्ञादि अपना पुण्यफल देनेके लिये इकट्ठे हो जाते है और पुण्यफलके भारसे झुककर वृक्षकी नाई पृथ्वीसे लग जाते हैं,तब तेरा दर्शन होता है। तू आया कि सम्पूर्ण यज्ञादि अपने फलसे मुक्त हुए। यावत् संसारी भोगकामनाऍं जो डाकिनी के समान हमारे हृदयोंको नोच-नोचकर खा रही थीं, उनको भक्षण करनेके लिये तू पिशाच है। राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ और मोहादि विकाररूपी गृद्ध जो अपनी पञ्चायत हृदयमें लगाये बैठे थे, बाजके समान तेरे दर्शनमात्रसे सभी भाग गये। तृष्णा-रूपी मण्डूकको ग्रास करनेके लिये तू सर्प है, मोहरूपी सर्पको भक्षण करनेके लिये तू गरुड़ है, क्रोधरूपी सिंहको जीतनेके लिये तू शरभ है। दुराशा दीनतारूपी शृगालोंको मार भगाने के लिये तू सिंह है। तेरा दर्शन हुआ कि ये सब पीठ दिखाते हुए। दम्भरूपी लोमड़ीके लिये तू भेड़िया है, लोभरूपी कूकर को विजय करनेके लिये तू चीता है, मानरूपी भेड़ियेको दमन करने के लिये तू केसरी-सिंह है। तेरी जय हो ! तेरी जय हो !! सभी मनोविकार जो जन्म-जन्मान्तरसे अग्निके समान हृदयको तपा

रहे थे और काँटेके समान वेदना कर रहे थे, हे निर्मल-स्वरूप! तेरे आगमनसे ये सभी शान्त हो गये। हम हृदयसे तेरा स्वागत करते हैं, खुले दिलसे तुझको शुभागमन देते हैं और सभी द्वार तुझ प्रिय अतिथिके लिये खोलते हैं। हमारे हृदयोंमें तेरा स्वराज्य हो, आँखोंमें तेरा प्रकाश हो, हाथ-पाँव पर तेरा शासन हो और रक्तमें तेरा सञ्चार हो। उदारता, निर्भयता, शम और सन्तोष का तू भण्डार है, शान्तिकी तू मधुर बेलि है, जिससे मैत्री[1], करुणा[2], मुदिता[3] व उपेक्षा[4] आदि शुभगुण फलते-फूलते हैं।

वैराग्य चार प्रकार का है:—

(१) यतमानसंज्ञा वैराग्य

राग-द्वेषादि मल जो चित्तमें रहते हैं उन्हींसे इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति विषयोंमें होती है। अर्थात् इन्द्रियोंको विषयोंमे प्रवृत्त करनेवाले वे चित्तस्थ राग-द्वेषादि विकार ही हेतु हैं। 'वे राग-द्वेषादि मेरी इन्द्रियोंको विषयोंमे प्रवृत्त न करें' ऐसा विचार उन राग-द्वेषादि मलको धोनेके लिये आरम्भ करना 'यतमानसंज्ञा' वैराग्य कहा जाता है।

(२) व्यतिरेकसंज्ञा वैराग्य

'राग-द्वेषादि मल धोनेका प्रयत्न करने पर मेरे कितने मल पक गये हैं और कितने शेष रहते हैं' ऐसा विवेक 'व्यतिरेक-संज्ञा' वैराग्य कहलाता है।

(३) एकेन्द्रीयसंज्ञा वैराग्य

'अब राग-द्वेष मेरी इन्द्रियोंको विषयोंमें प्रवृत्त नहीं करते,' ऐसे उत्सुकतामात्रसे अर्थात् ऐसे चावसे मनमें किञ्चित् राग-द्वेष

---

१. सुखीको देखकर चित्त प्रसन्न होना। २. दुखीको देख हृदय द्रवीभूत होना। ३. पुण्यात्माको देख मनमें प्रफुल्लित होना। ४ तथा पापात्माके प्रति दरगुजर करना। उत्तम जिज्ञासुके ये स्वाभाविक लक्षण होते हैं।

स्थित रखना 'एकेन्द्रियसंज्ञा' वैराग्य कहलाता है।

(४) वशीकारसंज्ञा वैराग्य

उत्साहमात्रका भी अभाव, अर्थात् दिव्यादिव्य विषयोंकी प्राप्ति होनेपर भी उपेक्षाबुद्धि और मनका चलायमान न होना, अर्थात् चित्तमे क्षोभ न होना 'वशीकारसंज्ञा' वैराग्य कहलाता है।

इस प्रकार इस महापुरुषका अन्तःकरण राग-द्वेषादि मलसे निर्मल होनेके कारण श्वेत-चिट्टे वस्त्रके समान शोभायमान हुआ है, जोकि ज्ञानरूपी केशरका रंग धारणेके योग्य है। अव दैवी-सम्पत्ति अपने-आप इसके हृदयमें पूर्ण रूपसे विराजमान हो गई है और दासीकी भाँति सेवामें उपस्थित है। पुत्रैषणा, वित्तैषणा व लोकैषणा इन त्रिविध एषणाओंकी बेड़ियाँ जो सम्पूर्ण जन्म-मरणादि दुःखोंकी मूल और ज्ञानमे भारी प्रतिवन्धक होती हैं तथा जिनकी विद्यमानतामें ज्ञान असम्भव है, इस अवस्था पर पहुँचकर इस महापुरुषकी कट चुकी हैं और अव वह खरा-खरा ज्ञानका अधिकारी हुआ है। इस प्रकार यह शुभ-गुणरूपी रत्नोंका भण्डार हो गया है, जिनका लक्षण गीता अ० १३ मे इस भाँति किया गया है।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥७॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥८॥
असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥९॥

---

१. पुत्रकी इच्छाको 'पुत्रैषणा', धनकी इच्छाको 'वित्तैषणा' और 'संसार मुझे भला कहे' इस इच्छाको 'लोकैषणा' कहते हैं। यह तीनों ही परमार्थमें भारी प्रतिबंधक है।

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥

अर्थः—अपनी श्रेष्ठताके अभिमानका अभाव, दम्भाचरण का अभाव, प्राणिमात्रको किसी प्रकार भी शरीर-मन-वाणीसे न सताना, क्षमा (अर्थात् किसीके अवगुणोंको देखकर उसके प्रति दोषदृष्टि न करना तथा अपने प्रति किसीने अपराध किया हो तो उसको अपने चित्तमें धारण न करना और चित्तसे तत्काल इसी प्रकार बहा देना जिस प्रकार गङ्गा तृणोंको बहा ले जानेमें विलम्ब नहीं करती), मन-वाणी व खान-पानादिमें पूरी सरलता, श्रद्धा-भक्तिसहित गुरुकी सेवा, आन्तर-बाह्य शौच, अन्तःकरणकी स्थिरता, मन-इन्द्रियादिका दमन, इन्द्रियोंके सम्पूर्ण भोगोंमें, चाहे वे इस लोकके हों वा परलोकके, आसक्तिका अभाव, 'मैंपन' का त्याग, जन्म-मृत्यु और बुढ़ापारूपी रोगोंमें दुःख व दोषोंका वारम्वार विचार करना और इनके रोगसे रोगी होना; धन, पुत्र, स्त्री व घर आदिमें आसक्ति और ममताका न होना, प्रिय-अप्रियकी प्राप्तिमें सदा ही समचित्त अर्थात् क्षोभरहित रहना, मुझ परमेश्वरमें अनन्ययोगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति, एकान्त व शुद्ध देशमें रहनेका स्वभाव, जनसमुदायमें टिकनेसे अरुचि होना, अध्यात्म-ज्ञान अर्थात वेदान्त-शास्त्रमे नित्य स्थिति और तत्त्वज्ञानके अर्थरूप परमात्माको सर्वत्र देखना, यह सब तो ज्ञानका साधन होनेसे ज्ञानरूप है और जो इससे विपरीत है वह अज्ञान है, ऐसा कहा गया है।

ऐसा रंगादिल, त्रिविध एषणाओंसे छूटा हुआ, शमदमादि-सम्पन्न, वैराग्यवान् तत्त्वजिज्ञासु ही वेदान्तश्रवणका अधिकारी

हैं, चाहे उसने वस्त्र न रङ्गे हों। इस साधनसामग्रीके बिना चाहे वस्त्र भी रङ्ग लिये गये हों, तथापि वेदान्तश्रवण अपना रङ्ग नहीं जमाता और न यथार्थ फलका हेतु ही होता है। मोक्षके चार द्वारपाल शम, सन्तोष, विचार और सत्सङ्गसे इसने गाढ़ मित्रता की है। इस अवस्थापर पहुँचकर ही वास्तवमें वेदान्तश्रवण अपना रङ्ग दिखलाता है और सच्ची शान्तिका ज़ुम्मेवार बनता है। जिस प्रकार सुवर्णकी डलीसे कोई भूषण बनाना इष्ट है तो आवश्यक है कि पहले उसको अग्निमें तपाकर पानीके समान पतला कर लिया जाय, केवल तभी उसको मनमाने रूपमें बदल सकते हैं, इसके बिना नहीं। इसी प्रकार इस जीवको शिवरूपमें बदलना इष्ट है तो इस बातकी अत्यन्त आवश्यकता है कि अन्तःकरणको वैराग्यकी उपर्युक्त अग्निमें गला कर बिल्कुल पतला बना लें, तभी हम सच्ची शान्तिके भागी हो सकेंगे। वैताल, जोकि पूर्व अवस्थाओंमें सिरमें डण्डे मार-मारकर त्यागकी भेटें ले रहा था, इस अवस्थापर पहुँचकर इस सच्चे आशिकके चरणोंमें नतमस्तक होता है। "हे प्रिय जिज्ञासु! हे वीरपुरुष! तेरी जय हो, मैं हृदयसे तेरे चरणोंमें नमस्कार करता हूँ, तू ही इस संसाररूप संग्रामका सच्चा विजेता है।"

वैराग्यशून्य पुरुषकी वेदान्तप्रवृत्तिमें दोष।

जिस प्रकार सिंहनीका दूध धारण करनेके लिये सुवर्णका ही पात्र चाहिये, यदि अन्य किसी पात्रमें दूध रखा गया तो वह पात्रको फाड़ देगा, इसी प्रकार इस वेदांतश्रवणरूपी दूधको धारण करनेके लिये केवल हमारे इस मतवाले जिज्ञासुका हृदय ही पात्र हो सकता है। जो लोग नीचेकी किसी अवस्थामें ही रहकर इस दूधको पान करनेमें प्रवृत्त हुए हैं, वे कदापि इस दूधसे बल प्राप्त न कर सकेंगे। यदि पान करनेवाला (श्रोता) नीची कोटिका है तो इस दूध

को सहार ही न सकेगा, बल्कि पात्रके फटजानेके कारण विरोचनके समान देहात्मवादी बनकर निकलेगा और अपने आचरणोंसे संसारको श्मसान बना देगा। यदि श्रोता कुछ ऊँची कोटिका है तो पात्र फटनेकी तो यद्यपि सम्भावना नहीं है, तथापि वह इस दूधको ठीक-ठीक पचा न सकेगा और उसे मानसिक अजीर्ण (Mental Dyspepsia)का रोग निकल पड़ेगा। इस प्रकार वह अपने मार्गका निरोध कर बैठेगा, न भोगका ही अधिकारी होगा और न मोक्षका ही। ऐसे पात्र में दी हुई इस ब्रह्मविद्याकी वही गति होगी जो षोडशवर्षकी यौवनवती कन्याकी एक नपुसकके हाथमें होती है, जिसको न भोगे ही बनता है न छोडे ही सरता है। इसी प्रकार वह न आगे ही बढ़ सकेगा और न पीछे ही हट सकेगा। आगे तो बढ़े कैसे? आगे तो तभी बढ़ सकता था जब कि हमारे इस मतवाले वीर पुरुषके समान हथेलीपर सिर रखकर मैदान में उतर पड़ता।

यह तो घर है प्रेमका, खालाका घर नाहिं।
शीश उतारे भुइँ धरे, तब पैठे घर माहिं॥
शीश उतारे भुइँ धरे, ता पर राखे पाँव।
दास कबीरा यों कहे, ऐसा होय तो आव॥

और पीछे भी हटे कैसे? भला उपासना आदिमें प्रवृत्त कैसे हो? वेदान्तके श्रवणमात्रसे ईश्वरको ही कल्पित सिद्ध कर बैठे। अजी! साकार-निराकारका तो झगड़ा ही नहीं रहा, साकार-निराकारका झगड़ा तो तब होता जब कि ईश्वरकी हस्ती मानी होती। यहाँ तो ईश्वरपर ही हाथ साफ किये बैठे हैं। यह तो साँप-छछूँदरवाली गति हो गई, न खाये ही बनता है न छोड़े ही सरता है। अरे बाबा! आखिर कोई रास्ता तो खुलना

चाहिये। एक स्थानपर बैठे ही सरेगा कैसे? हाँ, ठीक एक स्थानपर बैठने कौन देगा? यह तो प्रकृतिका अटल कानून है और हम 'पुण्य - पापकी व्याख्या'में प्र० खं० पृ० ४०-४३ पर विस्तारसे इसका सिद्धान्त कर आये हैं कि ईश्वरकी नीति नहीं चाहती कि अपने अन्तिम साध्यको प्राप्त किये बिना ही हम किसी एक स्थलको रोके बैठे रहें, यदि हम आगे बढ़नेसे इन्कार करते हैं तब हमको अवश्य धक्का खाकर पीछे हटना पड़ेगा। जैसे एक घोड़ा अपने वेगसे दौड़ा जा रहा है, यदि हम उसको एकदम रोकें तो उसको अपने वेगको सहारने के लिये अवश्य पीछे हटना पड़ेगा वह उसी स्थलपर खड़ा नहीं रह सकता। इसी सिद्धान्त के अनुसार इन महाशयोंको भी धक्का खाकर पीछे हटना पड़ता है, जिसका फल यह होता है कि दोष-दृष्टि उनमें घर कर बैठती है। चाहिये तो था अपने दोष देखने, परन्तु अपने दोष तो तभी देखे जा सकते थे जब वैराग्यकी अग्नि अपने भीतर प्रज्वलित होती और अन्तर दृष्टि खुलती। इसके विपरीत बाह्य दृष्टि होनेके कारण उन महापुरुषोंके जिनके साथ सत्संग होता है, दोष-दर्शन किये जाते हैं। इस प्रकार ज्ञानीको अज्ञानी व अज्ञानीको ज्ञानी बनाया जाता है और शरीरके लक्षणों करके ही उस अलक्ष्यके लक्षण किये जाते हैं। गये तो थे अपना भवन बुहारनेके लिये, परन्तु उल्टा दूसरोंका कचरा अपने अन्दर भरने लगे। हे परमात्मा! यह कैसा रोग लगा? वैरीको भी नसीब न हो। कच्चे फोड़े में चीरा देनेसे भरिया-फूटीके समान यह तो उल्टा रोग बढ़ गया। 'गये थे नुमाज बख्शवानेको, उल्टे रोज़े गले पड़े'। जिस प्रकार चिड़िया बाजके भयसे अपने घोंसलेमें दौड़ती है, परन्तु विक्षेपके कारण उसको वहाँ अन्धकार ही प्रतीत होता है, ठहर नहीं सकती, तत्काल बाहर निकल आती है और बाज

के द्वारा ग्रसी जाती है। यही अवस्था इन महाशयोंकी होती है कि संसाररूपी बाजके भयसे अन्तर्मुख होनेके लिये जाते हैं, परन्तु वैराग्यके अभाव और विक्षेपके सद्भावसे उनको भीतर अन्धकार ही प्रतीत होता है, ठहर नहीं सकते और तत्काल बाहर निकल कर संसाररूपी बाजद्वारा फिर ग्रास कर लिये जाते हैं। मन का स्वभाव है कि निरालम्ब तो यह रह नहीं सकता, अब विक्षेप और आवरण हृदयमें भरपूर रहने के कारण इसका अन्तर्मुखी होना तो असम्भव है, उधर तो इसका आकर्षण हो नहीं सकता, लाचार कुटुम्बकी आसक्ति व घरेलु-प्रवृत्ति जिससे थोड़ा बहुत छुटकारा मिला था, वह फिर दृढ़ हो जाती है। अब इससे निवृत्त होना दुर्लभ है, क्योंकि आगे बढ़नेका मार्ग बन्द हो चुका है और हृदयरूपी लोहा ठण्डा पड़ चुका है, इसलिये शब्दरूपी चोटोंको भी नहीं सहार सकता। सारांश, अनधिकार चर्चामें दुःख ही दुःख है। 'इतो नष्टस्ततो भ्रष्ट' का लेखा पूरा होकर ही रहता है।

पूर्वपक्षीकी शङ्का और उसका समाधान

पूर्वपक्षी:—वाहजी वाह! यह तो तुमने विचित्र जाल फैलाया है इसका तो कहीं अन्त ही नहीं आता। प्रथम तो कलियुगमें जीवन ही अल्प है, दैवयोगसे पूरा जीवन भी मिल जाय तो भी सारे जीवनमें तुम्हारे बैतालकी ये सब भेटें तो पूरी होना असम्भव ही हैं। किसीको भी यह आशा नहीं हो सकती कि वह अपना यह सब काम इसी जीवनमें पूरा कर जायगा और जब यह आशा ही नहीं तब इस मार्गमें कदम उठाना ही कठिन होगा। 'न नौ मन तेल होगा न राधा नाचेगी'। मायाका राज्य विलक्षण है, जीवके कर्म-संस्कार अनन्त जन्मोंके अनन्त हैं। फिर यह भी कोई विश्वास नहीं किया जा सकता कि भावी-जन्ममें मनुष्ययोनिकी ही प्राप्ति होगी और जितना कुछ अब

कर चुके हैं इससे आगे ही बढ़ना होगा। ऐसी अवस्थामें वर्तमान मनुष्य-जन्म तो अकारथ ही गया। 'न दीनके रहे न दुनियाके।' इस प्रकार तुम्हारे वचनोंके अनुसार तो दुनियाके दुख-दर्द मिटनेसे रहे फिर तो मोक्ष खपुष्पके समान कथन-मात्र ही रह जायगा। दूसरे, तुम्हारे यह वचन ज्यों-के-त्यों अनुभवमें भी नहीं आते, क्योंकि बहुत-से महापुरुष नानक, कबीर आदि और वर्तमानमें भी बहुतसे सन्त-महात्मा तुम्हारी इन झंझटोंमें पड़नेके बिना ही एकदम छलांगें मारकर संसार के पार जाते दीख पड़ते हैं; फिर तुम्हारी इस दन्तकथा में फँसने का कौन बुद्धिमान् साहस करेगा?

समाधानः—सुनो प्यारे आपत्तिकारक! दिलके कान खोल कर सुन लो। कहावत है कि 'रोग हाथीके मुँहसे आता है और चिउँटीके मुँहसे जाता है'। अर्थात् रोगकी उत्पत्ति तो अकस्मात एकदम हो जाती है परन्तु निवृत्ति तो क्रमसे शनैः-शनैः ही होगी। जब शारीरिक रोगोंकी यह अवस्था है तब यह तो जन्म-मरणका विशूचिकारूप भारी रोग है, जो यावत् शारीरिक व मानसिक रोगोंका मूल है और असंख्य जन्मोंसे दृढ़ होता चला आया है। इसकी निवृत्ति यों ही बातोंमें पूरी-पूरी भेट दिये बिना कैसे कर जाओगे? देखें, एकदम इस रोगसे निकल भागो तो सही; सन्निपातके रोगीके समान उल्टा न भड़क जाओ तो कहना। 'मक्खीका मधुमें फँसना तो सहज है, परन्तु उसी तरह सहज ही एकदम निकल भागना चाहे तो छूटनेके स्थानपर उल्टा अधिक लिसड़ जायगी। हाँ, शनैः-शनैः क्रम-क्रमसे अपने हाथ-पैरोंको धीरजसे निकालनेका प्रयत्न करेगी तो अवश्य मधुसे छुटकारा पा जायगी। जब सामान्य रोग सहज ही काटे नहीं कटते तब यह संसाररूपी वृक्ष सहज ही कैसे काट सकोगे कि जिसकी अहंकाररूपी सुदृढ़ मूल है,

मनुष्ययोनिमें कर्मोंके अनुसार बाँधनेवाली जिसकी वासनारूप जड़ें पातालपर्यन्त चली गई हैं और तीनों गुणरूप जलसे पुष्ट हुई जिसकी शाखाएँ विषयभोग रूपसे तीनों लोकमें सर्वत्र फैल गई हैं, जैसा गीता अध्याय १५ श्लोक २ मे कहा गया है—

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।

अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबंधीनि मनुष्यलोके॥

हाँ, यह तो हम भी मानते हैं कि जीवन अल्प है, परन्तु अपने आचरणोंसे तो तुम यह सिद्ध नहीं कर रहे, बल्कि इसके विपरीत यही सिद्ध कर रहे हो कि कभी मरना होगा ही नहीं और सदा अमर रहेंगे। व्यवहारमे भी निर्भय होकर ऐसे उच्छृङ्खल रूपसे वर्त रहे हो, मानो तुम सर्वथा स्वतन्त्र ही हो, तुमको कोई कहने-सुननेवाला है ही नहीं और तुम्हारे ऊपर किसीका भी दण्ड नहीं। हाँ यह बात तो हम सिर-आँखोंसे स्वीकार करते , चाहे जहाँ हमसे कसमे दिलाकर कहला लो कि वास्तवमें तो तुम अमर ही हो और पूर्ण स्वतन्त्र। तुम्हारे ऊपर कोई विधि नहीं, बल्कि तुम तो सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके शासक हो। भला, तुम्हारे ऊपर किसका दण्ड? परन्तु अपने-आपको शुद्ध स्वरूप ठाने भी रहो। मन, इन्द्रिय और देहमे बँधे रहकर इनका अभिमान करना और बनके दिखाना निर्द्वंद्व! 'चुपड़ी और दो दो' यह कैसे निभेगी? रहना तो रोगी और आचरण करने निरोगीके। यही तो रोगको बढ़ा लेना है। बँधा हुआ मुक्त के आचरण करने लगे तो उल्टा अधिक बँध जाता है। जीवन अल्प जाना होता तो सुखकी नींद न सोते। जैसे किसीको विदेश जाना होता है तो रात्रिको सुखसे नहीं सोता ज्यों-त्यों अपने सब काम करके गाड़ीसे १ घंटे पहले स्टेशनपर पहुँचनेका ध्यान रखता है और कोई काम अधूरा छोड़ना नहीं

चाहता। परन्तु तुम तो ऐसे सुखसे सोते हो मानो कुछ करना है ही नहीं। यदि तुम्हारी उपर्युक्त सब भेटें इसी जन्ममें पूरी नहीं हो सकतीं तो भी तुम्हारा पुरुषार्थ निष्फल नहीं, क्योंकि उसके मूलमें सत्यस्वरूप-साक्षी विद्यमान है। फिर वह निष्फल कैसे हो सकता है ? दूसरे, अधिकारानुसार चेष्टामें एक प्रकार से शान्ति रहती है जो हमारे क़दम को आगे उठाती रहती है। स्वयं भगवान्‌का वचन है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥(गी॰७॰१६)

अर्थः—बहुत जन्मोंके पुरुपार्थसे अन्तके जन्ममें तत्त्व-ज्ञानको प्राप्त हुआ ज्ञानी 'सर्व वासुदेवरूप ही है' इस प्रकार मुझको प्राप्त कर जाता है, ऐसा महात्मा दुर्लभ है।

अनेक जन्मोंका रोग एक जन्ममें ही कैसे निवृत्त हो सकता है ? परन्तु हाँ, यह हम छाती ठोंककर हाथपर हाथ रखकर तुमसे वचन करते हैं कि यदि तुम उपर्युक्त रीतिसे ठीक-ठीक रोगकी ओषधि करने लग पड़ो तो शनैः-शनैः तुम्हारे रोगकी निवृत्ति होनी निश्चित है। इसकी ज़ुम्मेवारी हम अपने सिर पर लेते हैं यदि इस जन्ममें ही तुमने ठीक-ठीक पुरुषार्थ किया तो अधोगतिका मार्ग तो तुम्हारे लिये अभी बन्द हो जायगा और भावी जन्ममें तुमको बरबश आगे ही बढ़ना होगा। दृष्टान्त रूपसे समझ सकते हैं कि दिल्लीसे काशी जानेवाला कोई मुसाफ़िर दिनभर चलकर रात्रिको यदि कानपुरमें सो रहे तो प्रभात जागकर उसको कानपुरसे ही तो चलना होगा। ऐसा तो नहीं हो सकता कि जागनेपर उसको फिर दिल्लीसे ही अपना सफ़र आरम्भ करना पड़े। इसी प्रकार मोक्षरूप उद्दिष्ट-स्थानके लिये भी मञ्जिलें हैं जो तुमको बतलाई गईं।

यदि तुम कमर कसकर इस मार्गपर चल पड़ो तो जितना कुछ मार्ग तुम इस जन्ममें पूरा कर लोगे, शपथ लेकर कहते हैं कि भावी जन्ममें तुमको उससे आगे ही बढ़ना होगा, इसमें सन्देह ही न जानो। यदि तुमको हमारे वचनोंपर विश्वास न हो तो यह लो, हम स्वयं भगवान्‌को ही आपके सामने साक्षीमें खड़ा कर देते हैं। इससे अधिक साक्षी तो हम लाएँ कहाँसे? अर्जुन को भी इसी प्रकार भारी सन्देह हुआ था। अर्जुन कहता है:—

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥
एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥(गी.६।३७-३९)

अर्थः—हे कृष्ण! जिसका मन योग (ईश्वर-प्राप्तिरूप मार्ग) में चलायमान हो गया है, ऐसा शिथिल यत्नवाला परन्तु श्रद्धा-युक्त पुरुष योगसिद्धि (भगवत्-साक्षात्कार) को न पाकर किस गतिको प्राप्त होता है? हे महाबाहो! वह भगवत्प्राप्तिके मार्गमें मोहित हुआ आश्रयरहित पुरुष छिन्न-भिन्न बादलोंकी भाँति दोनों ओरसे (अर्थात् भगवत्-प्राप्ति और सांसारिक भोगोंसे) भ्रष्ट हुआ क्या नष्ट तो नहीं हो जाता है? हे कृष्ण! मेरे इस संशयको अशेष (पूर्णता) से छेदन करनेके लिये आप ही योग्य हैं, क्योंकि आपके सिवाय इस संशयका छेदन करनेवाला मिलना सम्भव नहीं है। (अर्जुनने इस संशयको पूर्ण महत्त्व दिया है और यह ठीक भी है, आरम्भमें जिज्ञासु को यह मार्ग क्षुरस्य धारावत् तीक्ष्ण प्रतीत होता है, इसलिये

इस विषयमें जबतक उसको आश्वासन न मिल जाय कि जो कुछ मैं करूँगा निष्फल नहीं होगा, उसका कदम उठना कठिन होता है। इसलिये वह भगवान्से ही इस विषयमें आश्वासन चाहता है और कहता है कि आपके सिवाय इस संशयका छेदन करनेवाला मैं नहीं पाता)। इसके समाधानमें भगवान् आज्ञा करते हैं:—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति॥
प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥
प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥

(६. ४०-४५)

अर्थः—हे पार्थ ! ऐसे पुरुषका न तो इस लोकमें और न परलोकमें ही नाश होता है, क्योंकि प्यारे ! भगवदर्थ शुभ-कर्म करनेवाला कोई भी पुरुष दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता है। किन्तु वह योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यवानोंके लोकोंको प्राप्त होकर और चिरकालतक उनमें वास करके फिर पवित्र श्रीमानोंके

घरमे जन्म लेता है। अथवा यदि वैराग्यवान् है तो) ज्ञान-वान् योगियोंके कुलमे जन्म लेता है, अवश्यही संसारमे ऐसा जन्म अति दुर्लभ है। वह पुरुष इस प्रकार जन्म लेकर पूर्व जन्ममे साधन किये हुए बुद्धिसंयोगको प्राप्त करता है। (जैसे कोई लिखता-लिखता सो गया तो जागकर उससे आगे लिखने लग जाता है। हे कुरुनंदन ! तदनन्तर वह भगवत्-प्राप्तिके लिये फिर यत्न करता है। वह उस पूर्वाभ्यासके वलसे ही बरवश भगवत्की ओर खेंचा जाता है (जैसे पक्षी पेटीसे बँधा हुआ खिंचता है ।तथा योगका जिज्ञासु भी वेदके विधि-निषेधरूप वन्धनसे उल्लङ्घित वर्तता है। इस प्रकार अनेक जन्मसे शुद्धान्तःकरण योगी प्रयत्नसे अभ्यास करता हुआ सम्पूर्ण पापोंसे निर्मल होकर, परम गतिको प्राप्त हो जाता है।

अव रही तुम्हारी यह शङ्का कि बहुत-से महापुरुष इसी जन्ममे पार जाते दीख पड़ते हैं, यह किसी प्रकार अनुभवानुसारी नहीं। इससे यह नहीं सिद्ध होता कि उनका सब कुछ कृत्य इसी जन्मका है। आम्रवृक्ष यदि इस फसलमें फल रहा है तो यह तो नहीं कह सकते कि इसी फसलमें वह बीजसे फलको प्राप्त हो गया। नहीं, बल्कि अनेक फसलोंमें सींचा जाकर और शीतोष्ण सहकर वह इस योग्य हुआ है, ऐसा मानना पड़ेगा।

पूर्वपक्षी:—लोकमान्य भगवान् तिलक कह गये हैं कि गृहस्थ में ही रहो और कर्म करो, कर्मसे ही मोक्ष हो जायगा, त्याग आवश्यक नहीं। फिर तुम्हारी इन झगड़ोंमें कौन फँसे ? हमको तो यही अच्छा लगता है, जिससे भोग और मोक्ष दोनों ही मिल जाएँ।

(नोट:— उक्त पूर्वपक्षका समाधान द्वितीय खण्डमें देखिये)।

आत्म-विलास

(द्वितीय खण्ड)

प्रवृत्तिपक्षमें तिलकमत-निराकरण

तिलकमत-निरूपण

तिलक महोदयने अपने ग्रन्थ गीता-रहस्यके संन्यास-कर्मयोग नामक एकादश प्रकरणमें प्रवृत्ति-मार्गको मुख्य रखकर निवृत्ति-मार्गका खण्डन किया है। इस स्थल पर उस मतका कुछ विचार कर्तव्य है। उस मतका सार संक्षेपमें नीचे अङ्कवार दिखाया जाता है। फिर प्रत्येक अङ्कपर सारग्राही दृष्टिसे सूक्ष्म विचार किया जायगा। इस प्रसंगमें तिलकमतके अनुसार निष्काम-बुद्धिसे कर्म करनेको 'योग' और स्वरूपसे कर्मत्यागको 'सांख्य' (संन्यास) शब्दोंसे प्रयोग किया गया है। उनका मत यह है:—

(१) मोक्ष 'सांख्य' (ज्ञान) से ही नहीं होता, किन्तु 'योग' (निष्काम-कर्म) से भी होता है। अर्थात् मोक्षप्राप्तिमें 'ज्ञान' तथा 'कर्म' दोनों विकल्पसे स्वतन्त्र साधन हैं, एकको दूसरेकी अपेक्षा नहीं है। (गीता-रहस्य पृ. ३०५, ३०६)। आशय यह कि 'ज्ञान' व 'कर्म' का सम-समुच्चय* है, क्रम-समुच्चय× नहीं।

---

* ज्ञान व कर्म दोनों मोक्षप्राप्तिमें स्वतन्त्र साधन हैं, इस मतको सम-समुच्चय कहते हैं।

× पहले कर्म पीछे ज्ञान, दोनों क्रमसे मोक्षमें उपयोगी हैं, इसको क्रम-समुच्चय कहा जाता है।

(२) ज्ञानीके लिये ज्ञानोत्तर मृत्युपर्यन्त लोकसंग्रहके निमित्त निष्काम-बुद्धिसे कर्म करते रहना कर्तव्य है, क्योंकि ज्ञानोत्तर निष्काम-कर्म बन्धक नहीं रहता। जो मोक्ष 'संन्यास' (सांख्य) से मिलता है वही 'कर्म' (योग) से भी प्राप्त होता है। इतना ही नहीं कि ज्ञानोत्तर दोनो मार्ग स्वतन्त्र हैं चाहे जिसको अङ्गीकार करें, किंतु भगवान्‌के मतसे 'संन्यास' (सांख्य) की अपेक्षा 'कर्म' (योग) श्रेष्ठ है। (गी. र. पृ. ३०७, ३०८, ३०६) ×

(३) यद्यपि प्रवृत्ति व निवृत्ति दोनों मार्ग प्राचीन समयसे प्रचलित चले आये हैं तथापि प्रवृत्ति-मार्ग अर्थात् 'कर्म' ही आदिसे है और स्थिर रहनेके लिये है। निवृत्ति-मार्ग (स्मार्त-संन्यास) पीछेसे धीरे-धीरे उसमें प्रवेश होने लगा। (गी. र. पृ. ३४६)

(४) फुटकल संन्यास-मार्गियोंकी इस उक्तिको उद्देश्य करके कि 'गीतामें अर्जुनको चित्तशुद्धिके लिये कर्मका उपदेश किया गया है क्योंकि उसका अधिकार कर्मका ही था, परन्तु सिद्धावस्थामें कर्म त्याग ही भगवानका मत है' तिलक महोदयका कथन है कि "इसका भाव यह दीख पडता है कि यदि भगवान् कह देते- अर्जुन! तू अज्ञानी है-तो वह नचिकेता* के समान पूर्ण ज्ञानका आग्रह करता, युद्ध न करता और उनका उपदेश विफल जाता। अर्थात् अपने प्रिय भक्तको धोका देनेके लिये गीताका उपदेश किया गया।" (गी. र. पृ ३११)

(५) 'योग' के विषयमें गीतामें कहा है कि जब संसारमें रहना है तो कर्म छूटेंगे कैसे? जबकि क्षणभर जीवित रहना भी

× देखो गीतारहस्य पूनाकी छपी हुई सन् १६१७ द्वितीयावृत्ति।

* नचिकेता एक ऋषिकुमारका नाम है, जिसने अपनी बाल्यावस्था में ही यमलोकमें जाकर यमराजसे ब्रह्मज्ञान पाया। (कठोपनिषत्)

कर्म है। देहस्थितिपर्यन्त जैसे भूख-प्यास विकार नहीं छूटते और उनके लिये भिक्षा माँगने जैसे लज्जितकर्म करनेके लिये भी 'संन्यास' में जब स्वतन्त्रता है, तब अनासक्त व्यवहारिक शास्त्रोक्त कर्म करनेमें कौन प्रत्यवाय है? (गी. र. पृ. ३१८)

(६) ज्ञानीका अहंकार छूटनेसे 'मैं-मेरा' भाषा नहीं रहती, इसलिये ज्ञानी निर्मम होता है। उसके बदले 'जगत् व जगत्का' अथवा भक्ति-पक्षमें 'ईश्वर व ईश्वरका' ऐसे शब्द ज्ञानीद्वारा प्रयुक्त होते हैं। वासना छूटनेसे ज्ञानीका यह भाव रहता है कि 'संसारके सब व्यवहार ईश्वरके हैं और ईश्वरने उनको करनेके लिये ही हमें उत्पन्न किया है।' (गी. र. पृ. ३२४)

(७) 'लोकसंग्रहका अर्थ कोई ढकोसला नहीं, बल्कि लोकों को खोटी प्रवृत्तिसे बचा कर शुभ प्रवृत्तिमें लगाना है' तथा 'ज्ञानियोंके गृहस्थमें रहनेसे लोकसंग्रह अधिक सम्पादन होता है, इसलिये ज्ञानियोंको गृहस्थमें ही रहना चाहिये।' (गी. र. पृ० ३२६ से ३३१)

(८) जब 'योग' ही मुख्य है तब प्रश्न होता है कि स्मृति-ग्रन्थोंमें वर्णित संन्यास-आश्रमकी क्या दशा होगी? जब कि मनु आदि सभी स्मृतिकार यज्ञ-यागादिका परित्याग करके धीरे-धीरे संन्यास-आश्रम धारण कर मोक्षप्राप्तिकी ताकीद करते हैं। इसका समाधान तिलकमतमें यह है कि मनुके ध्यानमें अच्छी तरह यह बात आगई थी कि संन्यासकी ओर लोगोंकी फिजूल प्रवृत्ति होनेसे संसारका कर्तव्य नष्ट हो जायगा और समाज पंगु होजायगा। इसीलिये मनुने तीनों ऋणों (देव, ऋषि व पितर) की मर्यादा बाँध दी है कि इन ऋणोंसे उऋण होकर फिर संन्यास ले। इससे यह सिद्ध होता है कि आश्रम-धर्मका मूल

यह था कि यथाशास्त्र गृहस्थ चलानेयोग्य लड़कोंके सियाने हो जानेपर बुढ़ापेकी निरर्थक आशाओंसे लड़कोंकी उमङ्गोंके आड़े न आ, निरा मोक्षपरायण हो मनुष्य स्वयं आनन्दपूर्वक संसारसे निवृत्त हो जाय। (गी. र. पृ. ३३६, ३३७, ३३८)

(६) गीताके प्रत्येक अध्यायकी समाप्तिमें 'श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे' ऐसा सकल्प है। इसका अर्थ यह है कि 'संन्यास और योग' दो मार्गोंमें 'योग' श्रेष्ठ है और यही गीताका प्रतिपाद्य विषय है। (गी. र. पृ. ३५१)

उक्त मतका निराकरण

अब संक्षेपसे उपर्युक्त मत पर अलग-अलग विचार किया जाता है। बुद्धिमान् पाठक स्वयं सार-असार का विचार कर लेंगे। किसी कविका कथन है कि सचाई एक ऐसी सुन्दरी है कि उसको आलिंगन करनेके लिये उसे जान लेना ही काफी है।

तिलकमतके प्रथम अङ्कका निराकरण

शास्त्रोंका आशय जाननेके लिये युक्ति व प्रमाण दोनोंकी संगतिका होना जरूरी है। अर्थात् शास्त्रप्रमाण व युक्ति दोनोंकी संगतिसे जो आशय निर्धारित हो, वही शास्त्रोका निर्दोष आशय जानना चाहिये। परन्तु जो आशय केवल प्रमाणके आधार पर निर्धारित किया गया है और युक्तिको नहीं सहार सकता, वह आशय यथार्थ नहीं किन्तु भ्रममूलक है। योगवाशिष्ठके मुमुक्षु प्रकरणमें भगवान् वसिष्ठ भगवान रामचन्द्रके प्रति कहते हैं, "हे राम! युक्तिसहित वचन चाहे बालकका भी हो उसे अंगीकार करना चाहिये और युक्तिविरुद्ध वचन चाहे ब्रह्माका भी हो उसे अंगीकार न करके सूखे तृणके समान परित्याग कर

देना चाहिये" (योग. वा. मुमुक्षुप्रकरण सर्ग १८)। तिलक महोदयने अपने इस निश्चयमे कि 'ज्ञान' तथा 'कर्म' मोक्षप्राप्तिमे दोनो विकल्पसे स्वतन्त्र साधन है, चाहे ज्ञानसे मोक्ष प्राप्त कर ले चाहे कर्मसे, कोई प्रबल युक्ति नही दी, किन्तु गीताके कुछ श्लोकोके आधार पर उनका यथार्थ मर्म न जान, अपने मतकी पुष्टि की है। इसके विपरीत वेद-वेदान्तके अन्य अनेकों प्रबल प्रमाण, जो उनके मतके विरोधी हैं और ऊँची भुजा उठाकर पुकार रहे है— 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः', 'ज्ञानादेवतु कैवल्यम्' इत्यादि, उन प्रमाणोके विरोधका परिहार उन्होंने अपनी किसी युक्तिसे नही किया। इसके साथ ही यह किसी प्रकार भी नही कहा जा सकता और न तिलक महोदय जैसे आस्तिक पुरुपको ही स्वीकार हो सकता है कि गीता प्रकृतिविरुद्ध अथवा वेदविरुद्ध उपदेश देनेके लिये प्रवृत्त हुई है। वेदान्तके अनेक नैष्कर्म्यसिद्धि आदि संस्कृत ग्रन्थ तथा विचारसागरादि भाषा ग्रन्थोंमें अनेक प्रबल युक्तियोंसे यह विषय प्रतिपादन किया गया है कि मोक्ष केवल ज्ञानसे ही सम्भव है, कर्मसे नही; जिनके सम्मुख तिलक महोदय की कोमल युक्तियाँ क्षणभरके लिये भी स्थिर नही रह सकती। इस स्थल पर उनका पूर्ण रूपसे उल्लेख न कर केवल दिग्दर्शनमात्र कराया जाता है।

यह वार्ता तो एक बालककी बुद्धिमे भी आरूढ हो सकती है कि मोक्षप्राप्तिरूप साध्य तो एक, और उसके साधन दो, वे भी परस्पर विरोधी, दोनो समकालीन, स्वतन्त्र और विकल्पसे! अर्थात् एक ही अवस्थामे चाहे ज्ञानसे मोक्ष प्राप्त करले चाहे कर्मसे, यह बात साधककी रुचि पर छोड़ दी गई है कि वह इन दोनों मे से कोई एक मार्ग पसन्द करले और स्वतन्त्र वही मार्ग उसे मोक्ष प्राप्त करानेमें समर्थ होगा। यह हो कैसे सकता है? कर्म

का स्वरूप प्रवृत्ति और ज्ञानका स्वरूप कर्मत्यागरूप निवृत्ति, दोनोंका परस्पर विरोध है। तिलक महोदयका यह वचन ठीक उस वैद्यके समान है, जो सन्निपात-रोगपीडित अपने रोगीको यह नुसखा देता है कि रोगनिवृत्तिके लिये चाहे यह एक रेचक ओषधि लो, चाहे वह दूसरी पाचक। रोगी हैरान है कि वैद्यका दिमाग फिर गया है! हाँ, यह बात तो सम्भव हो सकती थी कि प्रथम रेचक ओषधिसे पेट साफ करके अन्य कालमें पाचक ओषधि तजवीज की जाती, अथवा प्रथम पाचक ओषधिसे दोषों को पका कर फिर पेट साफ करनेके लिये रेचक दी जाती। परन्तु दोनों ओषधि परस्पर विरोधि! दोनों विकल्पसे और समकालीन!! इस प्रकार वह वैद्य किसी प्रकार भी रोगीका विश्वासपात्र नहीं हो सकता! ठीक, यही अवस्था तिलकमतकी है। हाँ, पहले ज्ञान पीछे कर्म, अथवा पहले कर्म पीछे ज्ञान, अवस्थाभेदसे और कालभेदसे तजवीज किये जाते तो अवश्य नुसखा श्रद्धायोग्य हो सकता था, परन्तु यहाँ तो आव देखा न ताव तत्काल दोनों बातें विकल्पसे लिख डाली गईं।

मोक्षप्राप्तिका विषय जो ब्रह्म है, यदि वह स्वर्गलोक और वैकुण्ठ-लोकादिकोंके समान देशकालपरिच्छेदवर्ती माना जाता, तो अवश्य उसकी प्राप्तिके निमित्त कर्मको साधनता बन सकती थी। परन्तु ऐसा देशकालवर्ती ब्रह्मका स्वरूप तिलक महोदय ने किसी स्थल पर स्वीकार नहीं किया और श्रुतिभगवती तो मुक्तकण्ठसे उस परब्रह्मका स्वरूप निरूपण करते हुए स्पष्ट कथन करती है'—

'य एषः हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' 'यो मनसि तिष्ठन् मनसोऽन्तरो यस्य मनः शरीरं यं मनो न वेद यो मनसोऽन्तरो

यमयति एष त आत्मा अन्तर्याम्यमृतः।' (बृहदारण्यकोपनिषत् अ. ३. ब्रा. ७)

अर्थः—यह जो हृदयके अन्दर ही ज्योतिरूप पुरुष विद्यमान है, यही तेरा आत्मा है। जो मनमें बैठा हुआ भी (अपनी व्यापकता करके) मनसे बाह्य देशमें भी है, मन जिस परमात्मा का शरीर है, जिस परमात्माको मन नहीं जान सकता, जो मन के अन्दर स्थित हुआ प्रेरणा कर रहा है, वही अन्तर्यामी अमृतरूप तेरा आत्मा है।

इस प्रकार श्रुति उस ब्रह्मको अपरोक्षरूपसे सबका अपना-आप कह कर आत्मरूपसे बोध करती है। ऐसा जो सबका अपना-आप और सबके हृदयमें ही विराजमान अन्तर्यामीदेव है, नहीं कहा जा सकता कि उसको कर्मद्वारा कैसे प्राप्त किया जाय? बल्कि सच पूछिये तो कर्मके द्वारा तो उल्टा उसको रुला देना है, खो देना है। एक छोटेसे दृष्टान्तसे इसको स्पष्ट किया जाता है:—

दस मनुष्य, जो परस्परमें मित्र थे, मिलकर देशाटनको निकले। मार्गमें उनको एक भारी नदी आई जिसको उन्हें तैर कर पार जाना पड़ा। नदीपार होकर उन्होंने विचार किया कि अपने दसों मित्रोंको संभाल लें हममेंसे कोई नदीमें डूब न गया हो। निदान वे गिनती करने लगे। उनमेंसे एकने अपनी मित्र-मण्डलीकी गिनती की। वह अपनेको गिनना भूलकर शेष नौ को गिन गया और हैरान हो कहने लगा, "एक मित्र डूब गया!" इस पर दूसरे मित्रने कहा, "ठहरो, घबराओ नहीं, मैं गिनती करता हूँ।" उसने गिनती आरंभ की और वह भी पूर्ववत् अपनेको गिनना छोड़ शेष नौ को गिन गया। इससे एक मित्र को डूबा जान उनकी

हैरानी और भी बढी। सारांश, इसी प्रकार दसोंमेंसे प्रत्येकने गिनती की, प्रत्येक ही अपनेको न गिन शेष नौ की गिनती करता गया और उनकी हैरानी अधिकाधिक बढती गई। जब दसों गिनती कर चुके, तब सचमुच एक मित्रको डूबा जान सबके सब उच्च स्वरसे विलाप करने लगे। एक महापुरुषको, जो एकान्त बैठा हुआ यह सब कौतुक देख रहा था, इस विचित्र कथासे बडा आनन्द मिला। अन्ततः उसको दया आई, वह उठ कर उनके पास आया और उनसे उनके रुदनका कारण पूछा। उन्होंने अपना सब वृत्तान्त ज्यूँका त्यूँ उस महापुरुषको कह सुनाया और रुदन करने लगे। सब कथा सुनकर महापुरुषने उनको फिर गिनती करने को कहा। इस पर उनमेंसे एकने फिर गिनती की और पूर्ववत् नौ की गिनती करके मूर्तिवत् अचल खडा होगया। इस पर महापुरुष ने कहा "घबराओ मत, दसवाँ है।" महापुरुषके इस वचनसे उन्हें कुछ शान्ति मिली और गिनती करनेवालेने बेचैनीसे फिर पूछा, "दसवाँ कहाँ है?" महापुरुषने तत्काल गिनती करनेवालेका हाथ पकड कर कहा "दसवाँ तू है।" महापुरुषके इस वचन पर सबको बडा हर्ष हुआ और सब दुःख-शोक दूर हो गये।

इस वार्ताको सुनकर पाठकगण हँसेंगे! परन्तु हँसिये नहीं, यही वेदान्तका सिद्धान्त है! यही पूर्ण सत्य है! जिस प्रकार 'दसवाँ' जो उनका अपना-आप ही था, उसकी प्राप्तिके लिये केवल ज्ञान ही एकमात्र साधन हो सकता था, अन्य कोई उपाय नहीं! अन्य कुछ नहीं!! ज्ञानका साधन छोड़ 'दशम' की प्राप्ति के लिये यदि वे स्वयं सबके सब नदी में खूब गोता लगाते तथा देश-देशान्तरसे अच्छे-अच्छे चतुर तैराकोंका आह्वान करते तो 'दशम' की प्राप्ति कठिनसे कठिनतर होती जाती और अन्ततः

क्लेशकी वृद्धि ही उसका फल हो सकता था। ठीक, इसी प्रकार श्रुति भगवती कहती है कि आत्मरूप ब्रह्म जो निकटसे निकट है, मन इन्द्रिय आदिसे भी जो निकटतर है, जो मनका भी मन, आँखकी भी आँख और श्रोत्रका भी श्रोत्र है, अर्थात् जिसके बिना न मनका मननभाव रहता है, न आँख देख सकती है, न श्रोत्र श्रवण कर सकता है और जो मन-आँख-श्रोत्र सबमें विद्यमान और सबका साक्षी है, उसको किस क्रिया और किस कर्मसे जाना जाय या प्राप्त किया जाय ? यथाः—

'येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद् विज्ञातारमरे केन विजानीयात् ?' (बृह. उप. २-४-१४)

अर्थः—जिसके द्वारा यह सब कुछ जाना जाता है, वह आप किसके द्वारा जाना जाय ? अरे ! सबके जाननेवालेको किस शक्तिसे जान सकते हैं ?

इसी लिये श्रुति भगवती सर्वाधिष्ठान उस सूक्ष्म वस्तुकी प्राप्तिके लिये किसी कर्मको साधन न बता 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' केवल ज्ञानको ही साधन निरूपण करती है। मलिन दर्पणमें अपना मुँह देखनेके लिये मार्जनद्वारा मलनिवृत्तिमें तो यद्यपि कर्मकी अपेक्षा है, परन्तु मलनिवृत्त हो जाने पर मुँह देखनेके लिये तो फिर कोई कर्म अपेक्षित नहीं। इसी प्रकार स्वार्थ, आसक्ति, कामना एवं वासनादि मल हृदयरूपी दर्पणसे दूर करनेके लिये तो यद्यपि कर्म अपेक्षित है, परन्तु इन दोषोंके निवृत्त होजाने पर हृदयदेशमें ही स्थित वस्तुके प्राप्त करनेके लिये तो केवल ज्ञान ही अपेक्षित है। इसी लिये कहा गया हैः—

मोक्षस्य न हि वासोऽस्ति ग्रामान्तरमेव वा ।
अज्ञानहृदयग्रन्थिच्छेदो मोक्ष इति स्मृतः ॥

अर्थः—मोक्ष किसी स्थानविशेषमें नहीं बसता है, न किसी अन्य ग्राममें ही उसका निवास है, केवल हृदयकी अज्ञानरूप ग्रन्थिका छेदन हो जाना ही मोक्ष कहा गया है ।

जिस प्रकार रज्जुमें रज्जुके अज्ञान करके जो सर्पकी प्रतीति, वह न तो यज्ञादिको अथवा मन्त्रादिकोंसे ही निवृत्त हो सकती है और न लट्ठका-प्रहारादिकोंसे । उस सर्पको निवृत्त करनेके लिये तो केवल दीपक ही चाहिये । दीपकका प्रयोजन भी इतना ही है कि वह रज्जुके आश्रय जो अज्ञान, अज्ञान का कार्य जो सर्प और तत्प्रतीतिजन्य जो भय-कम्पनादि, इन सब अज्ञान-सामग्रीको दूर कर देता है । रज्जुकी प्राप्ति दीपक का प्रयोजन नहीं, वह तो पहले भी प्राप्त ही थी, केवल अज्ञान-रूप भ्रम करके अप्राप्तके समान भान होती थी । ठीक, इसी प्रकार आत्मामें आत्माके अज्ञानसे जो प्रतीत हुआ जगत्, तज्जन्य जन्म-मरण तथा भय-शोकादि त्रिविध-ताप, उनकी निवृत्ति में यज्ञ-दान-तपादिकी अपेक्षा नहीं, केवल दीपकरूप ज्ञान ही अपेक्षित है । ज्ञानका प्रयोजन भी आत्माकी प्राप्ति नहीं, क्योंकि वह तो नित्य ही प्राप्त है । ज्ञानका प्रयोजन भी इतना ही है कि वह दीपकके समान आत्माके आश्रय जो अज्ञान, उस अज्ञानका कार्य जगत् और तत्सम्बन्धी भय-शोकादि, उनको दूर कर दे ।

भ्रान्त्या प्रतीतः संसारो विवेकान्नतु कर्मभिः ।
न हि रज्जूरगारोपो घण्टाघोषान्निवर्तते ॥

अर्थ.—अज्ञानरूप भ्रान्ति करके प्रतीयमान संसार ज्ञानसे ही निवृत्त हो सकता है, कर्मसे कदापि नहीं। जैसे रज्जुमें भ्रान्तिजन्य सर्प घण्टा-घोषसे निवृत्त होना असम्भव है।

ऐसा जो सूक्ष्म पदार्थ, जहाँ ज्ञानके भी पर जलते हैं, उसको स्थूल कर्मद्वारा प्राप्त करनेकी चेष्टा करना तो कोरा प्रमाद ही है। विषय गहन है इस लिये रीतिमात्र जनाई गई है। अनेक वेदान्त-ग्रन्थ इस सिद्धान्तकी सत्यतामें प्रमाण हैं, परन्तु तिलक महोदयने अपने ग्रन्थमे योगवाशिष्ठके अनेक स्थलोंमें प्रमाण दिये हैं। इसलिये योगवाशिष्ठ उत्पत्ति-प्रकरण प्रथम सर्ग ही देखिये, जहाँ अपने उपदेशका आरम्भ करते ही भगवान् वसिष्ठ प्रथम इसी विषयको स्पष्ट करते हैं कि मोक्ष केवल ज्ञान से ही प्राप्त हो सकता है, कर्मसे कदापि नहीं। यही बात श्रीमद्भागवत एकादश-स्कन्धमें श्रीकृष्ण-उद्धव सम्वादके प्रसंग में अध्याय ७,८,९,१०,११,१२,१३ में कही गई है। यह वार्ता तो तिलक महोदयको भी स्वीकृत ही होगी कि गीताके कृष्ण और भागवतके कृष्ण दो नहीं, एक ही हैं। स्वयं गीतामें भगवान् अर्जुनके प्रति ज्ञानकी महिमा मुक्तकण्ठसे यूँ वर्णन करते हैं:—'सब यज्ञोंसे ज्ञान-यज्ञ श्रेष्ठ है', 'ज्ञानमें अखिल कर्म समाप्त हो जाते हैं' (गीता. अ. ४ श्लो. ३३)। 'यदि तू महापापी भी है तो भी ज्ञानरूप नौकाद्वारा उन सब पापोंसे भली प्रकार तर जायगा' (गी. अ. ४ श्लो. ३६)। 'सब कर्मोंको ज्ञानाग्नि इसी प्रकार भस्म कर देती है जैसे स्थूल अग्नि ईंधनको जलाकर भस्मीभूत कर देती है' (गी. ४. ३७)। 'ज्ञानके समान कोई वस्तु संसारमें पवित्र नहीं है' (गी. ४. ३८)। यदि भगवानके मतसे कर्म मोक्षप्राप्तिमें स्वतंत्र साधन होता तो भगवान्को इस स्थल पर स्पष्ट कहना चाहिये था, 'कर्मके समान कोई वस्तु पवित्र

नहीं है' 'कर्मरूपी नौकाद्वारा तू सब पापोंसे भली प्रकार तर जायगा चाहे तू पापीसे पापी भी क्यों न हो', 'कर्मरूप अग्नि सब कर्मोंको जलाकर भस्म कर देती है,' 'सब यज्ञोंसे कर्म-यज्ञ श्रेष्ठ है' इत्यादि। परन्तु कर्मके साथ ऐसा कहीं भी प्रयोग गीतामें नहीं किया गया, इससे स्पष्ट है कि भगवान्‌को कर्मकी अपेक्षा ज्ञान ही महत्त्वरूप मन्तव्य है।

तिलक-मतमें कर्म और ज्ञानको मोक्षप्राप्तिमें वैकल्पिक स्वतंत्र साधन माना है। इस मतके अनुसार कर्मद्वारा मोक्षप्राप्तिमें जो प्रवृत्त हुए हैं, उनके लिये ज्ञान सर्वथा निरर्थक व निरुपयोगी सिद्ध होता है। उनकी दृष्टिसे तो मानो एक नपुंसकके समान संसारमें ज्ञानका जन्म निष्फल ही है। परन्तु वेदान्त मोक्षके लिये कर्मको निरुपयोगी नहीं मानता, किंतु वह तो सभी साधनों का अधिकारानुसार सदुपयोग करता है और कर्मको भी मोक्षप्राप्ति की साधन-सामग्रीमें उपयोगी ठहराता है। जिस प्रकार क्षुधार्त्तकी क्षुधा-निवृत्तिमें यद्यपि रोटी ही साक्षात् उपयोगी है, तथापि आटा, जल, अग्नि आदिक भी परम्परा करके क्षुधानिवृत्तिमें सहायक हैं ही। आटा, अग्नि, जलादिका उपयोग रोटीकी तैयारीमें, और रोटीका उपयोग क्षुधानिवृत्तिमें है। ठीक, इसी प्रकार फलाशा व स्वार्थरहित कर्मप्रवृत्ति, जो ईश्वरार्पण-बुद्धिसे कर्तव्य जान लोकसेवादिके उद्देश्यसे की जाय, जिसकी चर्चा पीछे निष्काम-जिज्ञासुके प्रसगमें की जा चुकी है, उसका फल अन्तःकरणकी निर्मलता है और निर्मल अन्तःकरणमें ही ज्ञानरूप बीज आरोपण करके मोक्षरूप फल पकाया जा सकता है। जिस प्रकार मलिन वस्त्रमें दिया हुआ केशरका रंग, अथवा ऊपर भूमिमें डाला हुआ बीज फलका हेतु नहीं होता, उसी प्रकार स्वार्थपरायण सांसारिक राग-द्वेषों में फँसा हुआ अन्तःकरण

ज्ञानरूपी रंग अथवा बीजको सार्थक नहीं कर सकता। परन्तु वस्त्र निर्मल होने पर भी यदि उसमें साबुन दिये ही जाएँ, अथवा भूमिमें खाद डाले ही चले जाएँ और बस न करें, तो ऐसी अवस्था में यह सब चेष्टा किसी फलका हेतु न होकर उल्टा हानिकारक ही सिद्ध होगी, प्रकृतिके राज्यमें ऐसा ही नियम है। प्रत्येक फल-उपार्जनके लिये अधिकार तथा योग्य मात्राका विचार अत्यन्त आवश्यक है। वैद्य लोग भी अपने रोगियोंके लिये अधिकार व मात्राका पूर्ण ध्यान रखते हैं। सारांश, अमृत भी यदि अधिक मात्रामें सेवन किया जाय तो विषरूप सिद्ध हो सकता है! इसी प्रकार वेदान्तका कथन है कि मोक्षप्राप्तिमें कर्मकी सहायता है जरूर, परन्तु अन्तःकरणकी निर्मलता सम्पादन हो चुकने पर मोक्षप्राप्तिके लिये तब कर्मका त्याग भी उतना ही जरूरी है। रजोगुणसे कर्म और सत्त्वगुणसे ज्ञानकी उत्पत्ति होती है (गी. अ. १४ श्लो. १७)। जब चित्त रजोगुणसे पूर्ण है तब सत्त्वगुणीज्ञानको कैसे धार सकता है? परन्तु निष्काम-कर्मद्वारा जब हृदय रजोगुणसे निर्मल हो चुका और सत्त्वगुण फूट निकला, फिर तो केवल ज्ञानरूपी बीज ही हृदय-क्षेत्रमें आरोपण करनेकी जरूरत है। यदि फिर भी बाह्य कर्मको ही हमने अपना उद्देश्य बनाए रखा और अन्तःकरण निर्मल होने पर भी उसका चक्कर चालू रखा गया, तो उद्‌बुद्ध हुआ सत्त्वगुण अवश्य दब जायगा और यह हमारे लिये एक प्रकारसे अधःपतन होगा, क्योंकि ज्ञान व कर्म परस्पर विरोधी हैं, एक कालमें दोनों नहीं रह सकते। निष्काम-कर्म और उपासनाका फल इतना ही है कि वे ईश्वर-प्रीतिके उद्देश्यके सहारेसे सांसारिक राग-द्वेष और स्वार्थादि दोषोंको निवृत्त कर अन्तःकरणको निर्मल कर दें। तब उस निर्मल अन्तःकरणमें ही सारासार-विवेक उत्पन्न

हो सकता है और सार क्या है, असार क्या है ? इस विवेकसे ही संसारके प्रति राग-बुद्धिका अभाव होकर वैराग्य उपज सकता है तथा उस वैराग्यवान हृदयमें ही 'मैं कौन हूँ ?' 'संसार क्या है ?' 'यह कैसे उत्पन्न हुआ है ?' 'इसकी निवृत्ति कैसे हो सकती है ?' 'परमात्माका क्या स्वरूप है और वह कहाँ है ?' इत्यादि तत्त्व-विचार उत्पन्न हो सकते हैं। तत्पश्चात् केवल इन तत्त्व-विचारोंसे ही ब्रह्म-ज्ञानद्वारा मोक्षप्राप्ति सम्भव है, क्योंकि यह सब प्रपञ्च केवल अज्ञानजन्य है, किसी आरम्भ-परिणाम करके नहीं बना। 'नान्यः पन्था विमुक्तये' (श्रुति) अर्थात् मोक्षके लिये अन्य कोई मार्ग है ही नहीं। परन्तु तिलक-मतमें तो कर्मका कदाचित् पर्यवसान है ही नहीं। जिस प्रकार उदर-विकारके रोगीको वैद्य जुलाब दिये ही जाय और उसको कभी बन्द न करे तब उसकी क्या दशा हो सकती है ? यही अवस्था तिलक-मतकी है। हाँ यदि इस मतमें बन्धरूप संसार सत्य हो तब उसकी निवृत्तिमें ज्ञानकी सार्थकता नहीं, किन्तु कर्म ही चाहिये। परन्तु रज्जु-सर्पके समान मिथ्या वस्तुकी निवृत्तिमें कर्मकी अपेक्षा नहीं, किन्तु ज्ञानरूप दीपक ही केवल उपयोगी है। कर्म-द्वारा मोक्षप्राप्तिकी पुष्टिमें गीताके जिन श्लोकोंको तिलक महोदयने प्रमाणमें दिया है, उन पर विचार अगले अङ्कोंमें किया जायगा।

द्वितीय अङ्क-निराकरण

'ज्ञानीके लिये ज्ञानोत्तर मृत्युपर्यन्त लोकसंग्रहके निमित्त निष्काम-बुद्धिसे कर्म करते रहना कर्तव्य है' इस तिलक-मत पर आगे चलनेसे पहले हमको 'कर्तव्य' शब्द पर विचार कर लेना चाहिये। शास्त्र अथवा राजनीतिकी किसी प्रकारकी विधिरूप अथवा निषेध-रूप आज्ञा (यह कर्म करो और यह न करो) के पालनके निमित्त

किसी मनुष्यको बन्धन करना 'कर्तव्य' कहलाता है। साथ ही शास्त्र व राजनीति उस आज्ञाभङ्गके परिणाममें किसी प्रकारके प्रत्यवाय, प्रायश्चित तथा दण्ड आदिका भी उस आज्ञाके साथ-साथ विधान करते है जिससे वह व्यवहारमें आती रहे। परन्तु जिस आज्ञाके साथ किसी प्रकारके प्रत्यवाय आदिका विधान नहीं उसके व्यवहारमे आनेकी सम्भावना भी नही और तब वह 'कर्तव्य' भी नहीं कही जा सकती। तिलक महोदयने ज्ञानी के लिये मृत्युपर्यन्त लोकसंग्रहके निमित्त कर्मकी कर्तव्यता तो बनाई है, किन्तु उसके साथ ही कर्तव्यच्युतिके प्रतिकारमे किसी प्रमाणसे प्रत्यवाय व प्रायश्चितका विधान नहीं किया। ऐसे विधानके बिना न वह कार्यकारी ही हो सकती है और न 'कर्तव्य' ही रहती है, क्योंकि वह अपने पालनके लिये कर्ताको किसी प्रकार बन्धन नही करती। तिलक-महोदयने अपने ग्रन्थ में मोक्षका कोई स्पष्ट स्वरूप वर्णन नहीं किया और न ज्ञानी का कोई स्पष्ट लक्षण ही किया है, जिससे यह स्पष्ट होता कि ज्ञानी मोक्षमार्गमे ज्ञान प्राप्त करके किस सोपान पर है और इस कर्तव्यद्वारा उसको किस त्रुटिको पूरा करना है, क्योंकि बिना ही किसी उद्देश्यके तो आँखें बन्द किये अन्धेवाली लकड़ी हाँके जाना कोई बुद्धिमत्ता नहीं हो सकती। यह बात तो निर्विवाद है कि कर्ता बिना कर्तव्य नहीं हो सकता, अर्थात् 'मैं कर्मका कर्ता हूँ' प्रथम यह भाव जब कर्ताकी बुद्धिमें दृढ़ हो तब उसके उपरान्त ही 'यह मुझ पर कर्तव्य है और यह कर्तव्य नहीं' इस रूपसे विधि व निषेध दोनो उसकी गर्दन पर सवार होते हैं। दूसरे, लोकसेवा कर्तव्य तभी हो सकती है, जबकि संसारके प्रति सत्यत्व व स्थिरत्वबुद्धि दृढ़ हो। रज्जु-भुजङ्गके समान संसारके प्रति कल्पित-बुद्धि धार कर तो कर्तव्य-बुद्धि

बन ही कैसे सकती है ? और जब कर्ता-बुद्धि सत्य है, कर्तव्य सत्य है, विधि-निषेध सत्य है, संसार सत्य है, तब फिर इस 'मोक्ष' को 'बन्ध' और इस 'ज्ञानी' को 'अज्ञानी' क्यों न कहा जाय ? मोक्ष किससे पाना है ? संसार से अथवा परमात्मा से ? परमात्मासे तो मुक्ति किसीको भी स्वीकार नहीं, छूटना संसार से ही है। यदि यह कहा जाय कि जन्म-मरणसे मुक्त होना है तो जन्म-मरण संसारके सम्बन्धसे ही है, संसारको सत्यरूपसे ग्रहण करके जब इसके साथ अहन्ता-ममता इस जीवात्माने बाँधी, तब कर्तृत्व-भोक्तृत्वद्वारा ही यह जन्म-मरणके प्रवाहमें बहने लगा। ऐसी अवस्थामें जब कि संसारके साथ इस ज्ञानी की इस प्रकार कर्तव्य-बुद्धि बनी हुई है, तब इसके लिये अभी मोक्ष कैसा ? इससे हमारा यह प्रयोजन नहीं कि इस प्रकार का निष्काम-कर्तव्य मनुष्यके लिये पाप है। नहीं! नहीं !! यह तो परम पवित्र है और इसके द्वारा तुच्छ स्वार्थसे छूटकर ज्ञानका अधिकार प्राप्त होता है, परन्तु यहाँ प्रसंग ज्ञानीका है। कर्ता-बुद्धि व कर्तव्य-बुद्धिका परस्पर सम्बन्ध है, अर्थात् 'कर्ता' बिना 'कर्तव्य' नहीं रह सकता और 'कर्तव्य' से मुक्त होने पर 'कर्ता' भी लय हो जाता है। कर्ता-बुद्धिसे किये गये कर्म चाहे फलाशारहित ही क्यों न हों, परन्तु फल अवश्य रखते हैं और अपना फल भुगानेके लिये कर्ताको जन्म-मरणके बन्धनमें डालते हैं। चाहे उनका फल उत्तम है, परन्तु है अवश्य। यह विषय इसी लेख में 'कर्म-अकर्मका रहस्य' शीर्षकसे पीछे स्पष्ट किया जा चुका है।

पाठक इससे यह न समझ ले कि लोकसेवा हमारे मतसे निन्दित है। नहीं! लोकसेवा एक पवित्र साधन है और सेवा-धर्म तो अपने स्वरूपसे ही सर्वोत्तम है तथा अपने व्यक्तिगत

स्वार्थसे आगे बढ़कर कुटुम्ब-सेवा, जातीय-सेवा, देश-सेवा आदिके रूपमें आत्मविकासके विस्तारका उत्तम मार्ग है, जिसकी चर्चा 'पुण्य-पापकी व्याख्या' में विस्तारसे की जा चुकी है। यह तो रजोगुणको शुभ प्रवृत्तिद्वारा निकालकर निवृत्ति में आनेका आवश्यक साधन है। परन्तु 'यही फल है, इससे आगे और कुछ है ही नहीं' यह वेदान्तको स्वीकार नहीं। वेदान्त कहता है, इसमेंसे होकर गुजरना तो पवित्र है परन्तु यहीं डेरे न डाल दो। साधनको ही फल न मान लो, मञ्जिल इससे आगे है; इस लिये आगे बढ़नेका भी ध्यान रखो। और न यही हमारा आशय है कि ज्ञानी लोककार्यमें प्रवृत्त होता ही नहीं, बल्कि ऐसे महापुरुषोंद्वारा तो, जैसा नीतिमें रचा गया है, अनायास व स्वाभाविक बहुत कुछ लोककार्य हो सकता है। जिस प्रकार बच्चा पालनेमें पड़ा हुआ स्वाभाविक अपने अङ्गोंको हिलाता है, अथवा वृद्ध पुरुष स्वाभाविक अपने होठोंको चबाता है, परन्तु किसी निमित्तसे नहीं, इसी प्रकार ऐसे पुरुषोंद्वारा बहुत कुछ कार्य सम्पादन हो जाता है, परन्तु किसी कर्तव्यरूप निमित्तसे नहीं। यहाँ पर प्रश्न ज्ञानीके साथ कर्तव्यका है।

तिलक महोदयने गीता-रहस्यके इसी प्रकरणमें कहा है कि स्वामी शङ्कराचार्यका यह सिद्धान्त है कि ज्ञानोत्तर संन्यास लिये बिना मोक्ष नहीं मिलता। तिलक महोदयके यह वचन सर्वथा प्रमाणशून्य हैं। शङ्कर-मतमें ज्ञानोत्तर साक्षात्कारवान् ज्ञानी पर किसी प्रकार ग्रहण-त्याग, योग-सांख्य, विधि-निषेध, प्रवृत्ति-निवृत्ति कर्तव्य नहीं हैं, वह तो सब प्रकार द्वन्द्वातीत होता है। बल्कि वेदान्त तो यह कहता है:—

> कृष्णो भोगी शुकस्त्यागी नृपौ जनकराघवौ।
> वसिष्ठः कर्मकर्ता च पञ्चैते ज्ञानिनः समाः॥

अर्थात श्रीकृष्ण भोगी और शुकदेवजी त्यागी हुए, जनक और रामने राज्य किया तथा वसिष्ठजी कर्ममें प्रवृत रहे। इस प्रकार यद्यपि इन ज्ञानियोंका व्यवहार विलक्षण रहा तथापि ज्ञान-दृष्टिसे ये सब समान ही हुए हैं। अर्थात् ये सभी ग्रहण-त्याग विधि-निषेध और प्रवृत्ति-निवृत्तिसे रहित कर्तव्यमुक्त ही हुए हैं।

अजी! कर्तव्यरूप विधि तो अज्ञानदशामें संसाररोगकी विद्यमानतामें ही थी, रोग निवृत्त होनेपर औषधिका क्या प्रयोजन? नदीपार होनेपर नौकासे क्या प्रयोजन? 'उत्तीर्णे तु परे पारे नौकायाः किं प्रयोजनम्।' सांख्य व योग आदि तो सीढ़ियाँ थी, छतपर पहुँच गये फिर सीढ़ियोसे क्या प्रयोजन? ज्ञानियों के लिये प्रवृत्ति-निवृत्ति मार्गका विधान करके प्रवृत्ति-मार्गी ज्ञानियोंमें जिस जनकको तिलक महोदयने शिरोमणि रखा है, जरा पाठक उनका अनुभव भी सुन लें:—

मय्यनन्तमहाम्भोधौ जगद्वीचिः स्वभावतः।
उदेतु वास्तमायातु न मे वृद्धिर्न वा क्षतिः॥
अहो जनसमूहेऽपि न द्वैतं पश्यतो मम।
अरण्यमिव संवृत्तं क्व रतिं करवाण्यहम्॥ (अष्टावक्र-गीता)

अर्थ:—मेरे अनन्त समुद्रस्वरूपमें संसाररूपी तरङ्गें उत्पन्न हों चाहे अस्त हो, परन्तु मेरे ब्रह्मस्वरूपमें न कुछ बढ़ना है न घटना। आश्चर्य है कि जनसमुदायमें भी (तरङ्गोंमें जल-दृष्टिकी परिपक्वता करके) मुझे द्वैत कुछ भान नहीं होता, (बल्कि सारा संसार) मेरी दृष्टिमें वनके समान शून्य हो गया है। ऐसी अवस्थामें मैं कहाँ रति धारूँ।

थोड़ा ध्यान दीजिये, जनककी दृष्टिमें तो सारा संसार ही वन हो गया है। जब संसार ही नहीं रहा और न जनक कर्ता ही

रहा, फिर बीचमें ही कर्तव्य कहाँसे निकल पड़ा ? जनक तो अपने निश्चयमें संसाररूपी तरङ्गोंमें अपना विलास कर रहा है और अपने स्वरूपमे कुछ होता नहीं देखता, दूसरे अपनी मंददृष्टि से उसमें 'कर्ता' व 'कर्तव्य' की भावना पड़े किया करें।

तिलक महोयने गीता-रहस्य पृ० ३२४-३२५ पर ज्ञानीके लक्षणोंमें मुँह खोला है तो यह—"अहङ्कार छूटनेसे मैं-मेरा भाषा नहीं रहती इसलिये निर्मम ज्ञानी होता है, उसके बदलेमें 'जगत् व जगत्‌का' अथवा भक्ति-पक्षमे 'ईश्वर व ईश्वरका' यह शब्द आते हैं। वासना छूटनेसे ज्ञानीका यह भाव रहता है कि संसारके सब व्यवहार ईश्वरके हैं और ईश्वरने उनके करनेके लिये ही हमें रचा है।"

पाठक जरा ध्यान दें! उपर्युक्त जनकके अनुभव तथा इस तिलक-अनुभवमें कैसा आकाश-पाताल जैसा अन्तर है? अजी! जब अज्ञानजन्य अहङ्काररूप 'अहं' ही ज्ञानद्वारा समूल लुप्त हो गया, तब 'मम' कहाँ रह जायगा? अहं-त्वंरूप संसार तो अहङ्कारका ही परिणाम है, जब अज्ञानरूप मूल ही न रही तो वृक्ष कहाँ? यह ज्ञान खाली ढकोसला तो नहीं, कोरी कल्पना तो नहीं, जैसे शतरञ्जके खेलमें वजीर-बादशाहकी कल्पना कर ली जाती है। नहीं, नहीं, यह आत्म-ज्ञान तो नक़द है उधार नहीं, सचमुच ज्ञानीकी दृष्टिमें संसार इसी प्रकार शून्य हो जाता है जैसा जनकने ऊपर वर्णन किया। बल्कि स्वयं भगवान् भी गीतामें ऐसा ही वर्णन करते हैं:—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥(अ० २-६९)

अर्थ.—जो आत्मतत्त्व सब भूतोंके लिये रात्रिके समान अन्धकारमय है अर्थात् अज्ञात है, उसमें संयमी ज्ञानीपुरुष

जागता है अर्थात् उसका प्रत्यक्ष अनुभव करता है। और जिस संसारमें भूत-प्राणी जाग रहे हैं अर्थात् उसे सत्यरूपसे ग्रहण कर रहे हैं, वह संसार इस तत्त्वमें जागे हुए मुनिके लिये रात्रिके समान शून्य होगया है।

ज्ञानी और उसके साथ 'जगत् व जगत्‌का,' 'ईश्वर व ईश्वर का' और 'ईश्वरने हमको जगत्‌के लिये उत्पन्न किया है' इत्यादि व्यवहार! आश्चर्य! महान आश्चर्य! महोदयजी! ज्ञानी स्वयं ईश्वर है। उसके आँख खोलनेसे संसारकी उत्पत्ति और आँखें बन्द करनेसे संसारका लय स्वाभाविक होता है। वह कभी उत्पन्न नहीं हुआ वह तो नित्यस्वरूप है। स्वयं गीतामें ज्ञानीके अनुभव के सम्बन्ध में कहा गया है:—

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन् ॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ (अ.५. श्लो ८.९)

अर्थः—मैं साक्षीस्वरूप कुछ नहीं करता, इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंमें वर्त रही हैं, ऐसा तत्त्वसे जानकर ज्ञानी इन्द्रियोंके सब व्यवहार खाना-पीना, चलना-सोना, रोना-धोना इत्यादि करता हुआ भी अकर्ता है। और अनेक श्लोक गीतामें इसी आशयको व्यक्त करनेवाले मिलते हैं यथा—अ० १८ श्लोक १७, अ० ३ श्लोक २८।

ज्ञानी न शरीर है न इन्द्रियाँ, न मन है और न बुद्धि। वह तो सबका साक्षी और सबका आत्मा है। जैसे इसी अध्याय ५. श्लो. ७ मे कहा गया है।

सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ।

अर्थात्:—'सर्वेषां भूतानां आत्मा भूतात्मा यस्यासौ. स सर्वभूतात्मभूतात्मा' अर्थ यह कि सब भूतोंकी आत्मा ही जिसकी अपनी आत्मा हो गई है, ऐसा पुरुष करके भी कर्मोंसे लेपायमान नहीं होता। उसकी दृष्टिमें तो सभी कुछ बनके समान हो जाता है, चाहे अज्ञानियोंकी दृष्टिमें वह सब कुछ करता दिखलाई भी दे। ऐसी अवस्थामें उस अपरिच्छिन्नपर परिच्छिन्नरूप कर्तव्य कैसा ?

धन्य है ! इस ज्ञानकी विचित्र महिमाको वारम्बार कोटिशः धन्य है !! जिसके प्रभावसे इतना विशाल ब्रह्माण्ड भी दग्ध-रज्जुके समान रह जाता है। जैसे जली हुई रस्सी आकारमात्र दिखलाई तो पड़ती है परन्तु बन्धनके योग्य नहीं रहती, इसी प्रकार यह संसार जिसकी ज्ञान-दृष्टिमें छुईमुईके समान रह गया है; जहाँ दृष्टि पड़ी वहीं इन्द्रियग्राह्य आकार दृष्टिसे गिर जाते हैं और एकमात्र साक्षी-चेतन ही दृष्टिमें समा जाता है । फिर भला बतलाइये,उसकी दृष्टिमें जब संसार इस प्रकार आकार-हीन और तुच्छ रह गया, तब ऐसी अवस्थामें उसके अनुभवमें 'जगत् व जगत्का' 'ईश्वर व ईश्वरका' और 'ईश्वरने हमको संसार के लिये रचा है' इत्यादि शब्द व अर्थ कहाँसे आएँगे ? हाँ यह भाव निष्काम-जिज्ञासुके तो हो सकते हैं, न कि ज्ञानीके।

गीतामें कहीं एक पद भी ऐसा नहीं मिलता जिसमें 'ज्ञानी' शब्दके साथ 'कर्तव्य' का प्रयोग किया गया हो, बल्कि ज्ञानीकी कर्तव्यमुक्तिमें तो यह स्पष्ट प्रमाण हैं:—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ (अ. ३. श्लो १७, १८)

अर्थ.—जिस मनुष्यकी अपने आत्मामें ही प्रीति है, जो आत्मामें ही तृप्त है तथा आत्मामें ही सन्तुष्ट है, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं रहता । इस संसारमें इस पुरुषके लिये कुछ किये जानेसे प्रयोजन नहीं और न किये जानेसे भी कोई प्रयोजन नहीं रहता, क्योंकि उसका सम्पूर्ण भूतोंमें किसी प्रकारका लगाव नहीं रहा, वह अपने साक्षीस्वरूपसे सर्वथा असङ्ग है ।

आशय यह कि उसके लिये स्वरूप-जागृति आजानेसे न तो 'कुछ करना' ही कर्तव्य रहता है और न 'कुछ न करना,' क्योंकि उसकी दृष्टिमें तो सब ससार स्वप्नवत् ही रह गया है, ऐसी अवस्थामें कर्तव्य कहाँ ? कर्तव्य तो उस समयतक ही था जबतक संसारको सत्-बुद्धिसे ग्रहण किया जा रहा था । तिलक महोदय ने ऐसे स्पष्ट शब्दोंकी भी खैंचा-तानी करके ज्ञानीके साथ कर्तव्य ही जोड़ा है । भगवान्जी ! सब कर्तव्य तो कर्तव्योंसे छुटकारा पानेके लिये ही थे, न कि कर्तव्यमें बाँधे रखनेके लिये ही । सब बीज फल खानेके लिये ही थे नकि बोते रहने के लिये ही ।

तिलक-मतमें ऐसा वर्णन किया गया है कि ज्ञानीको निष्काम कर्म करते-करते मृत्युके पश्चात् मोक्ष मिल जाता है । इस मतके अनुसार:—

प्रथम तो ज्ञानीको अपने कर्तव्य-कर्मोंके साथ मोक्षरूपी स्वार्थ लगा हुआ है कि इसप्रकार कर्म करनेसे हमारी मोक्ष होगी । जब मोक्षरूपी स्वार्थ है तब वह निरस्वार्थ नहीं और जब उसका अपने कर्तव्य-कर्मोंके साथ स्वार्थ है तब वह निष्कामी

ी नहीं, चाहे उसकी कामना परमार्थसम्बन्धी है परन्तु
कामना ही।

द्वितीय इस मतके अनुसार मोक्ष नकद नहीं, बल्कि मृत्युके पश्चात् उधार है, और प्रत्यक्ष नही किन्तु अनुमानजन्य है। जब जीते-जी मोक्ष न मिला और कर्तव्यके बन्धनमें घिसटते फिरे तो मरकर मोक्ष मिलेगा इसका क्या निश्चय किया जाय? क्योंकि अनुमानजन्य विषयोंमें भ्रमका होना बहुत कुछ सम्भव है। जैसे दूर देशमें धूलि-पटलरूप हेतुसे अग्निरूप साध्यका अनुमान किया जाय, तो पक्षमें साध्य-अग्निकी प्राप्तिका असम्भव ही रहता है। (अर्थात् दूरदेशमें धूलके बादलोंमें धूवोंका भ्रम करके हम अग्निका अनुमान करें तो हमारा वह अनुमान भ्रममूलक ही होता है।)

इसके विपरीत वेदान्त-सिद्धान्तमे तो ज्ञानी सब कामनाओं ने मुक्त हैं। जिसकी मोक्षकामना भी परमानन्दकी प्राप्तिद्वारा छूट जाय वही ज्ञानी है। साथ ही मोक्ष उधार नहीं, बल्कि नकद है। जिस प्रकार 'दशम' के ज्ञानसे दशम-पुरुष अपने-आपको तत्काल नकद पा जाता है, (इस विषयमे पीछे पृ. ७, ८ पर गाथा कह आये हैं) उसी प्रकार ज्ञानी ब्रह्म-ज्ञानसे अपने ब्रह्म-स्वरूपको साक्षात् नकद प्राप्त कर लेता है। गीता भी इसकी साक्षी देती है:—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥ (अ.५ १९)

अर्थात् जिनका मन ब्रह्मरूप समत्वभावमें स्थित है, उनके द्वारा जीवित अवस्थामें ही संसार जीत लिया गया (अर्थात् वे

जीतेजी ही मुक्त हैं), क्योंकि ब्रह्म निर्दोष व सम है और उनकी उस ब्रह्ममें ही अभिन्न स्थिति है।

वास्तवमें बात तो है यह कि वेदान्तमतमें 'परमात्माकी प्राप्ति और अज्ञानरूप कारणसहित संसारकी निवृत्ति' मोक्षका स्वरूप है। ब्रह्मज्ञानका फल परमात्माकी प्राप्ति नहीं, क्योंकि वह तो हमारा आत्मा होनेसे (जैसा पीछे 'दशम' के दृष्टान्तसे स्पष्ट किया गया है) नित्य ही प्राप्त है। तथा संसारकी निवृत्ति भी ज्ञानका फल नहीं, क्योंकि रज्जुमें सर्पके समान ब्रह्ममें संसार कदाचित् हुआ ही नहीं, नित्य ही निवृत्त है। ऐसी अवस्थामें ब्रह्म-ज्ञानका फल है तो केवल यह कि अज्ञान करके जीवको ब्रह्म-प्राप्तिरूप जो कर्तव्य बना हुआ था, ज्ञान उस अज्ञानको दूर करके कर्तव्यजन्य क्लेशसे छुटकारा दिला दे, यही ज्ञानका साक्षात् फल हो सकता है, अन्य कुछ नहीं। जैसे किसी मनुष्य की कलाईमें कङ्कण हो, वह कलाईसे ऊपर चढ़ जाय और इससे उस मनुष्यको यह भ्रम हो जाय कि 'मेरा कङ्कण खोया गया! मेरा कङ्कण खोया गया!!' तब इस अज्ञानके साथ ही कङ्कणकी प्राप्तिरूप कर्तव्य व कर्तव्यजन्य क्लेश उसके हृदयमें भर जाता है। परन्तु जब उसको किसी पुरुषके बोध करानेसे यह ज्ञान हो जाय कि कङ्कण मेरे हाथमें ही है, तब उसके कङ्कणका अज्ञान और कङ्कणप्राप्तिरूप कर्तव्य दोनों ही निवृत्त हो जाते हैं। कङ्कण-ज्ञानका फल कङ्कणकी प्राप्ति नहीं, वह तो पहले भी प्राप्त था, किन्तु कङ्कणप्राप्तिरूप कर्तव्यसे मुक्त कर देना, यही कङ्कण-ज्ञानका साक्षात् फल है। इसी प्रकार 'नित्यप्राप्त ब्रह्मकी प्राप्ति' ब्रह्मज्ञान का फल नहीं, किन्तु अज्ञानजन्य ब्रह्मप्राप्तिरूप कर्तव्यकी निवृत्ति ही ब्रह्मज्ञानका साक्षात् फल है। इसी लिये कहा गया है:—

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः ।
नैवाऽस्ति किंचित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित्॥ (अष्टावक्र-गीता)

अर्थात् ज्ञानरूपी अमृत करके तृप्त व कृतकृत्य योगीके लिये किञ्चित भी कर्तव्य नहीं रहता । यदि कर्तव्य शेष है तो वह ज्ञानी नहीं ।

इससे सिद्ध हुआ कि अज्ञानके विना कर्तव्य-बुद्धि नहीं होती । अतः जबतक कर्तव्य-बुद्धि है तबतक अज्ञान है ।

सारांश, तिलक महोदयका यह मत कि:—

(१) ज्ञानीके लिये मृत्युपर्यन्त निष्काम-बुद्धिसे लोककार्य कर्तव्य है ।

(२) ज्ञानोत्तर 'सांख्य' व 'योग' दो भिन्न-भिन्न मार्ग हैं ।

(३) 'सांख्य' से 'योग' श्रेष्ठ है ।

(४) अथवा मृत्युके पश्चात् ज्ञानीको मोक्ष मिलता है ।

सर्वथा असङ्गत है । ऐसा न युक्तिसे ही सिद्ध होता है और न प्रमाणसे । ज्ञानी नित्य-मुक्त है, जीता हुआ ही जीवन्मुक्त है, फिर उसके लिये एक अथवा दो मार्ग कहाँ ? और कर्तव्य कहाँ ?

तिलक-मतके तृतीय अङ्कका निराकरण ।

अब तिलक-मतके तीसरे अङ्कपर कि 'यद्यपि प्रवृत्ति व निवृत्ति दोनों मार्ग प्राचीन हैं, तथापि प्रवृत्तिरूप कर्मकाण्ड ही आदिसे है और स्थिर रहनेके लिये है, निवृत्ति-मार्ग पीछेसे उसमें धीरे-धीरे प्रवेश होने लगा'—विचार किया जाता है ।

'प्रवृत्ति-मार्ग आदिसे है' इसपर विचार करनेके लिये हमें मूलको ही पकड़ना चाहिये । सबकी मूल तथा सबका आदि

'ब्रह्म' है, उसके स्वरूपमें तो किसी प्रकार प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति का प्रवेश है नहीं, किन्तु वह तो प्रवृत्ति व निवृत्तिका साक्षी, नित्य-निर्विकार, कूटस्थ व अचल है। किसी भी शास्त्रने उसके स्वरूपमें कोई विकार अङ्गीकार नहीं किया है, बल्कि गीता स्वयं उसके स्वरूपको 'अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते' ऐसा वर्णन करती है। अर्थात् यह आत्मा न इन्द्रियोंसे देखा जाता है, न मन करके चिन्तन किया जा सकता है, ऐसा यह विकार-रहित कहा गया है। तथा गीता, २ श्लोक २० से २४ में भी ऐसा ही वर्णन किया गया है। हाँ, प्रवृत्ति व निवृत्तिका प्रवेश प्रकृति के राज्यमें है, सो प्रकृतिका वास्तविक स्वरूप भी तीनों गुणोंकी साम्यावस्थारूप निवृत्ति ही है। प्रकृतिके वास्तविक स्वरूपमें भी प्रवृत्तिका अङ्गीकार नहीं बन पडता, बल्कि वह तो शान्त और निवृत्तिरूप ही है। हाँ, जब जीवोंके कर्मसंस्कार फलोन्मुख होते हैं तब अवश्य प्रकृतिकी साम्यावस्थामें क्षोभ होकर तीनों गुणोंकी विषमतारूप विकृतिमें प्रवृत्ति उत्पन्न होती है जोकि नित्य नहीं नैमित्तिक है, अर्थात् जीवोंके कर्मफलभोगके निमित्तसे ही है। इस विकृतिका भी स्वाभाविक स्रोत कर्मफलभोगरूप निमित्तको निवृत्त कर उस क्षोभनिवृत्तिद्वारा प्रकृतिकी वही साम्यावस्था-रूप निवृत्तिमें निवृत्त होनेके लिये ही है। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि जीवके स्थूल, सूक्ष्म व कारण तीन शरीर माने गये हैं। सुषुप्तिअवस्था कारणशरीर है, स्वप्नअवस्था सूक्ष्मशरीर है, और जाग्रत्अवस्था स्थूलशरीरसे सम्बन्धित है। अब इनमेंसे कारणशरीर जो सुषुप्तिअवस्था है, उसमें तो किसी प्रकार किसी प्रवृत्तिका असम्भव ही है, बल्कि वह तो निवृत्तिरूप शान्त अवस्था ही है। नित्य ही यह प्रत्येक प्राणीके अनुभवगम्य है, इस लिये इसमें किसी प्रमाणकी अपेक्षा नहीं है। प्रत्येक प्राणी

स्वानुभवसे इस विषयकी साक्षी देता है कि वहाँ सुषुप्तिअवस्था में कुछ भी नहीं था, केवल आनन्द ही आनन्द था, वहाँ न सूर्य था, न पृथ्वी आदि पञ्चभूत और न उनका कार्यरूप ब्रह्माण्ड। वहाँ न राजा राजा रहता है, न चाण्डाल चाण्डाल ही रहता है इत्यादि। यथा श्रुतिः—

'अत्र पिताऽपिता भवति माताऽमाता लोका अलोका देवा अदेवा वेदा अवेदा अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवति भ्रूणहाऽभ्रूणहा चाण्डालोऽचाण्डालः पौल्कसोऽपौल्कसः श्रमणोऽश्रमणः तापसोऽतापसः।' (बृहदारण्यकोपनिषत् ४. ३. २२)

आशय यह कि इस सुषुप्तिअवस्थामें सब भेदोंका अभाव होकर केवल सबका अभेद ही शेष रहता है। इस अवस्थामें न माता माता रहती है और न पिता पितारूपसे शेष रहता है। यहाँ राजा राजा नहीं रहता और न देवता देवता ही रहते हैं। चाण्डाल चाण्डाल नहीं रहता और न हत्यारा हत्यारा ही रहता है। बल्कि इस अवस्थामें तो सबका ही अभेद रहता है। हाँ, जीवके कर्मसंस्कार जब फलोन्मुख होते हैं, तब उस निमित्त से यह प्राज्ञरूपी जीव सुषुप्तिअवस्थासे निकल कर स्वप्न व जाग्रतमें आता है और फलभोगरूप निमित्तके निवृत्त होनेपर फिर उस सुषुप्तिअवस्थामें ही विश्राम करता है; यथा श्रुतिः—

'स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वा अन्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयते, एवमेव खलु सौम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते, प्राणबन्धनं हि सौम्य मन इति।' (छां. उप. अ. ६ खं. ८.)

अर्थ'-जिस प्रकार पक्षी सूत्ररूप पेटीसे बँधा हुआ दिशा-दिशा मे भ्रमण कर अन्यत्र सहारा न पाकर अपने बन्धनके ही आश्रय स्थित होता है, इसी प्रकार हे सौम्य ! वह मनोपाधिक आत्मा (जीव) जाग्रत-स्वप्न दिशाओंमे भ्रमण करता हुआ अन्यत्र विश्राम न पाकर सुषुप्ति उपाधिवाले प्राण (प्राज्ञ) के ही आश्रय स्थित होता है। क्योंकि हे सौम्य ! जीव प्राण (ब्रह्म) आश्रय-वाला ही है। अर्थात सुषुप्ति-अवस्थामें प्राण (ब्रह्म) में देह, इन्द्रिय, मन व बुद्धि सबका ही लय हो जाता है। उस समय मन सम्पूर्ण संस्काररूपी सामग्रीको लेकर उसीमे लीन रहता है।

जीवकी इन अवस्थात्रयके अनुभव-प्रमाणसे अन्य किसी प्रमाणकी अपेक्षा बिना, उपर्युक्त प्रकृति व विकृतिका स्वरूप भली-भाँति प्रमाणित हो जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि प्रवृत्ति का न ब्रह्माण्ड-प्रकृतिके वास्तव स्वरूपमें ही प्रवेश है और न जीव-प्रकृति सुषुप्ति-अवस्थामें, केवल प्रकृतिकी विकृति-अवस्था और जीवकी जाग्रत्-स्वप्न-अवस्थामें ही भोगरूप निमित्त करके प्रवृत्तिका क्षोभ उत्पन्न होता है और भोगरूप निमित्तको भुगा-कर फिर त्रिगुणोंकी साम्यावस्थारूप प्रकृति अर्थात् सुषुप्ति अवस्थामें निवृत्त हो जाना ही उस प्रवृत्तिका उद्देश्य है। यदि प्रवृत्ति आदिसे होती तो ब्रह्माण्ड-प्रकृति और जीव-प्रकृतिके वास्तव स्वरूपमें भी उसका पता मिलना चाहिये था, परन्तु ऐसा तो नहीं देखा जाता। इस लिये यह सिद्ध हुआ कि प्रवृत्ति नित्य नहीं बल्कि नैमित्तिक है।

जिस प्रवृत्तिको आदिसे नित्य बतलाया जा रहा है, अब देखना यह है कि वह प्रकृतिके किस गुणका परिणाम है। इस विषयकी जिज्ञासा होने पर गीता स्वयं हमको रजोगुणके लक्षण वर्णन करते हुए यूँ बतलाती है:—

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥(अ. १४. १२.)

अर्थः—हे अर्जुन! रजोगुणके बढ़नेपर लोभ, प्रवृत्तिका आरम्भ और कर्मोंमे शमन न होनेवाली स्पृहा उत्पन्न होती है।

सत्त्वगुणकी वृद्धिमें प्रकाश तथा ज्ञानकी उत्पत्ति होती है, (गी. अ. १४ श्लो. ११) और तमोगुणकी वृद्धिमें अप्रकाश, प्रवृत्ति का अभाव, प्रमाद और मोह उत्पन्न होते हैं (गी. अ. १४, १३)। इससे सिद्ध हुआ कि प्रवृत्तिका प्रवेश न सत्त्वगुणमे ही है और न तमोगुणमे, किन्तु तमोगुण व सत्त्वगुणके मध्यवर्ती रजोगुण में ही इसका प्रवेश है। अर्थात् रजोगुणकी उत्पत्तिसे पूर्व भी प्रवृत्तिका अभाव है और रजोगुण-शमनके पश्चात् भी उसका अभाव है, केवल रजोगुणकी विद्यमानता मध्यवर्ती-कालमे ही प्रवृत्ति है। जो वस्तु न आदिमे पाई जाय और न अन्तमे, उसको आदिसे होना कैसे कहा जा सकता है?

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ (गी.अ. २,२८)

अर्थ—हे भारत! सर्व भूत-प्राणी अपनी उत्पत्तिसे पूर्व अव्यक्तरूप (अर्थात् इन्द्रियादिके अविषय निवृत्तरूप) है और अपने नाशके पश्चात् अव्यक्तरूप (निवृत्तरूप) ही रहते है, केवल मध्यकालमें ही व्यक्तरूप (प्रवृत्तरूप) भान होते है, फिर इस विषय मे रुदन कैसा? आशय यह कि जो वस्तु केवल मध्यकालवर्ती ही हो वह तो रज्जु-सर्पके समान भ्रमरूप ही है। इसी प्रकार यह प्रवृत्ति भी आदि व अन्तके बिना केवल मध्यकालवर्ती होने से यथार्थ नहीं, मिथ्या ही है।

इस सिद्धान्तके अनुसार प्रत्येक प्रवृत्तिका फल केवल निवृत्ति ही है। स्थूलादि तीनों शरीर और जाग्रदादि तीनों अवस्थाएँ भी निवृत्त होनेके लिए ही हैं। बाल, युवा व वृद्धावस्था निवृत्त होनेके लिये हैं। क्षुधा-पिपासा, राग-द्वेष और सुख-दुःखादि द्वन्द्व निवृत्त होनेके लिये हैं। ममता के विषय धन-पुत्रादि सभी पदार्थ निवृत्त होनेके लिये हैं। दिन, रात, पक्ष, मास, ऋतु, सम्वत व युगादि काल निवृत्त होनेके लिये हैं। ब्रह्मा व इन्द्रादि देवता और सप्तऋषि इत्यादि सभी निवृत्त होनेके लिये हैं। सारांश, सम्पूर्ण देश, काल व वस्तु निवृत्त होनेके लिये ही हैं। जायते, अस्ति, वर्द्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति इन षट् विकारोंसे युक्त यह संसार निवृत्त होनेके लिये ही है। कहाँतक कहा जाय, अन्ततः षट् विकार भी निवृत्त होनेके लिये ही हैं तथा जन्म-मरण व प्रवृत्ति-निवृत्ति भी निवृत्त होनेके लिये ही हैं। सारा संसार ही जब निवृत्तिके लिये सिद्ध हुआ और प्रवृत्ति-निवृत्ति भी निवृत्तिके लिये सिद्ध हुई तो फिर कर्मप्रवृत्ति को अनादि सिद्ध करना कितना आश्चर्यजनक हो सकता है? पाठक स्वयं ही इसपर ध्यान देंगे! बाबा! आम्रफल वृक्षमें प्रवृत्त होकर और पककर निवृत्त होनेके लिये है। इसी प्रकार प्रत्येक प्रवृत्तिका स्वभाविक स्रोत निवृत्तिकी ओर ही दौड़ रहा है। प्रकृतिके राज्यमें कोई भी ऐसा दृष्टान्त नहीं मिलता जो स्थिर-प्रवृत्तिके लिये ही सिद्ध होता हो, फिर ऐसा कथन करनेका साहस क्यों किया गया, यह समझमें नहीं आता। 'कर्मद्वारा प्रकृति की निवृत्तिमुखीनता' शीर्षकसे यह विषय इसी ग्रन्थमें स्पष्ट किया जा चुका है। ब्रह्मलीन श्रीस्वामी रामतीर्थजी के वचनानुसार कि 'समष्टि ब्रह्माण्ड जिस नियमके अधीन चल रहा है, एक प्रेमीकी आँखसे एक आँसुकी बूँद गिरनेमें भी उसी-नियमका राज्य है।' इसी निवृत्तिमुख दैवीनियमके अनुसार

अर्जुनके हृदयमें जिसके निमित्तसे गीता अवतीर्ण हुई, अट्ठारह अक्षौहिणी सेनाके बीचमें वही त्यागकी विद्युत् कड़क गई, जिसके प्रभावसे न जातीय-अभिमान रहा, न गाण्डीव-धनुषका गौरव और न भगवान्के ये वचन ही कुछ काम कर सके कि "हे अर्जुन! महारथी लोग तुझको वैराग्य करके नहीं, किन्तु भय करके ही रणसे उपराम हुआ जानेंगे, जिनके मध्य बहुमान्य होकर भी तू लघुताको प्राप्त होगा और तेरी अविनाशी अपकीर्तिके गीत गाये जायेंगे। माननीय पुरुषोंके लिये तो अपकीर्ति मरणसे भी अधिक है।" (अ. २, श्लो. ३४, ३५)। वही अर्जुन 'श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके' (अर्थात् इस हत्यारे राज्यकी अपेक्षा तो इस लोकमें भिक्षावृत्ति भोगना ही उत्तम है) के लिये तैयार होगया। इसी नियमके आवेशमें आकर उस वीर पुरुषको विषाद कारके आँसुओंकी नदी बहानी पड़ी। (गी. अ, १ श्लो. ४५. ४६. व अ. २ श्लो. १)। अरे अभागे दैवीनियम! विचारे अर्जुनपर बुरी ठौर कुसमयमें निशाना मारा!! जरा तो देश, काल व पात्रका विचार किया कर, इतनी आज़ादी तो तेरे लिये भली नहीं!!! आखिर और कोई चारा न देख उस वीर अर्जुनको सखाभावकी तिलाञ्जली दे गुरुभावसे भगवान्की शरण लेनी पड़ी, 'कृपणता करके मेरा क्षत्रियस्वभाव नष्ट हो गया है, इसलिये मेरे लिये जो कल्याणकारी हो वह निश्चयसे कहिये। मैं आपका शिष्य हूँ मुझे उपदेश कीजिये।' (अ. २ श्लो. ७)। इस अवसरपर कठोर नियमने अर्जुनके चित्तको ऐसा तपाया कि भूमिका निष्कण्टक राज्य तो क्या, देवलोकका स्वामित्व भी उसके इन्द्रियदाहक शोक को दूर न कर सके (अ २ श्लो. ८)! लोहा गरम हुए बिना चोटें सार्थक हो कैसे सकती हैं? इस प्रकार '**न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः**' अर्थात अमृतत्वकी प्राप्ति

न कर्मसे हो सकती है, न सन्तानसे और न धनसे, एकमात्र त्यागसे ही वह भोगा जा सकता है। जब सोलह आने अर्जुन पर यह कानून प्रभावित होचुका तब ही वह भगवान्‌के उपदेशका पात्र हुआ। परन्तु अन्दर रजोगुण दबा हुआ रहनेके कारण उस गीताज्ञानप्राप्त अर्जुनको युद्धमें ही जुडना पड़ा और जब युद्ध-द्वारा दबा हुआ रजोगुण निवृत्त हो गया तब वह ज्ञानी-अर्जुन ही हिमालयकी ओर ऐसा झपटा कि यह गया! वह गया!! वह गया!!! ज्ञानी-अर्जुन तब न तिलक महोदयके इस अनुभवकी साक्षी ही दे पाया कि प्रवृत्ति ही आदिसे है और स्थिर रहनेके लिये है और न समूचे तिलकमतको ही सार्थक कर पाया कि 'ज्ञानीको मरणपर्यन्त लोककार्य कर्तव्य है।' जिसके लिये गीता अवतीर्ण हुई, वही स्वय जब तिलकमतका विरोध करे तो हम किसी औरको क्या कहे? अजी ज्ञानी-अर्जुनके लिये जब कि निष्कण्टक-राज्य प्राप्त होगया था और कोई विरोधी रहने पाया ही नहीं था, तब लोककार्य करनेका सुअवसर तो अब प्राप्त हुआ था। इससे पहिले तो न वह ज्ञानी ही था और न घरेलु झंझटोंने ही उसे दम लेने दिया था। परन्तु क्या करे? जब स्टीम ही खलास हो गई तब एञ्जिन कैसे चले? रजोगुण ही न रहा तब प्रवृत्ति कैसे हो? अजी! यह दैवी-विधान बड़ा कठोर है, निर्दयी है। इसको किसीपर दया नहीं आती। चाहे कोई लाख कहे, कठोर कहे, निर्दयी कहे, परन्तु यह सत्यकी स्टीम तो दबाये दबती ही नहीं।

नहीं छुपती छुपाये तू छुपाओ लाख पर्दों में।
मजा पडता है जिस गुल पैरहनको बेहिजाबी का॥

त्याग (अर्थात् परमात्मा) ही सत्य है! त्याग ही सत्य है!! इसको कोई दबाना चाहे यह कब दब सकता है? इसके विपरीत जो

प्रह्ण (अर्थात् संसार) की सत्यताके गीत गा रहे हैं, वे मर मिटेंगे, कुचले जायेंगे और अन्ततः मरकर भी, 'राम-राम सत्य है ! राम-राम सत्य है !!' पुकारना ही पड़ेगा। परन्तु मरे हुए मुरदेकी पायुको घृतलेपनसे क्या लाभ ? जीते-जी ही पुकारो, जिससे मरना ही न पड़े।

सरांश, तिलक-मतका तीसरा अङ्क कि 'प्रवृत्ति आदिसे है और स्थिर रहनेके लिये है' किसी प्रकार अनुभवानुसारी नहीं।

अब हम तिलक-मतके चतुर्थ अङ्कपर आते हैं। फुटकल

तिलक-मतके चतुर्थ अङ्कका निराकरण

संन्यास-मार्गियोंकी इस उक्तिको उद्देश्य करके कि 'गीतामें अर्जुनको चित्त-शुद्धिके लिये कर्मका उपदेश दिया गया है, क्योंकि उसका अधिकार कर्मका ही था, परन्तु सिद्धावस्थामे तो कर्मत्याग ही भगवान्का मत है'—भगवान् तिलक क्षुब्ध हो गये हैं और कहते हैं—"हां, इसका भावार्थ यह देख पड़ता है कि यदि भगवान् कह देते, 'अर्जुन ! तू अज्ञानी है' तो वह नचिकेताके समान पूर्ण ज्ञानका आग्रह करता, युद्ध न करता और इससे भगवान्का उद्देश्य विफल जाता। मानो अपने प्रिय भक्तको धोका देनेके लिये गीताका उपदेश किया गया। इस प्रकार अपने मतका समर्थन करनेके लिये जो भगवान्को भी धोखा देनेका दोष लगाते हैं, उनसे तो कुछ वाद न करना ही अच्छा है।"

'अपने प्रिय भक्तको धोखा देनेके लिये गीताका उपदेश किया गया' 'भगवान् ऐसा न करते तो अर्जुन युद्ध न करता और उनका उद्देश्य विफल जाता।' ऐसा भावार्थ उन संन्यास-मार्गियोंका तो नहीं हो सकता, और न ही कोई विचारवान्

आस्तिक पुरुष उनके कथनका ऐसा भावार्थ निकालनेका साहस कर सकता है, तिलक महोदयके भावोद्गारका फल ऐसा भले ही हुआ करे। उन सन्यास-मार्गियोंके कथनका तात्पर्य तो यह हो सकता है कि "यह संसार मायामय है, एकरस कोई पदार्थ नहीं रह सकता। इस संसारमें असंख्य जीव हैं जिनकी कोई गिनती नहीं कर सकता, परन्तु सारे समाजमें ढूँढ देखिये, ऐसे कोई दो जीव नहीं मिलेंगे जो आकृति व प्रकृतिमे एक जैसे हों। एक कारीगर किसी वस्तुका दस्तकार है और नित्य ही वह अपनी दस्तकारीका काम करता है। एक साधारण चटाई बनानेवालेको ही ले लीजिये, परन्तु अपने जीवनभरमें वह ऐसी दो चटाई कभी नहीं निर्माण कर सकता जिनकी सर्वांगमें समता हो सके। मायाके राज्यमे तो भेद स्वाभाविक ही है, इसी नियमके अनुसार जीव-जीवकी आकृति भिन्न-भिन्न है, प्रकृति भिन्न-भिन्न है, रुचि भिन्न-भिन्न है, अधिकार भिन्न-भिन्न है, रोग भिन्न-भिन्न है और औषधि भिन्न-भिन्न है। सारे संसारमें सत्त्व, रज व तम गुण तो तीन ही हैं, पर इन तीनोका परिवर्तन, मात्रा और परिमाण प्रत्येक प्राणीमें भिन्न-भिन्न है। इसीलिये प्रत्येक रोगीके लिये औषधिका भेद, मात्राभेद, अनुपानभेद और पथ्य-भेद होना जरूरी है। जो वैद्य सभी रोगियोंपर एक ही जमाल-घोटा और वह भी एक ही मात्रामें वर्तता रहे, वह कभी सफल नहीं हो सकता और उसका अपने रोगियोंके लिये भयङ्कर होना आवश्यक है।" उपर्युक्त संन्यास-मार्गियोंकी दृष्टिसे भगवान् एक ऐसे भयङ्कर वैद्य नहीं थे। उन्होंने अर्जुनके संस्कारोंका भली-भाँति निरीक्षण किया और जाना कि यद्यपि यह मीठी-मीठी बातें वैराग्यकी कर रहा है 'श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके' के गीत गा रहा है, परन्तु रजोगुण अभी इसके हृदयमें भरपूर है, वह

इसको टिकने न देगा। इस लिये उसको कर्ममें ही प्रवृत्त किया गया और गीताके अन्तमें स्पष्ट कह दिया:—

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥ (अ. १८, ५९)

अर्थात् अहंकारके वशीभूत हुआ जो तू ऐसा मानता है कि 'मैं युद्ध न करूँगा' यह तेरा मिथ्या निश्चय है, क्योंकि तेरी प्रकृति तुझे बरबश युद्धमें जोड़ देगी।

परन्तु उद्धवको, जिसके अन्दर रजोगुण था ही नहीं, कर्ममें प्रवृत्त कैसे किया जाता? उसके लिये तो शुरूसे ही त्याग की महारनी पढ़ी गई। (देखो श्रीमद्भागवत् एकादश स्कन्ध कृष्ण-उद्धव सम्वाद अ. ६ से २९) और अन्तमें कहा गया कि इस ज्ञानको अपरोक्ष करनेके लिये तुम बद्रिकाश्रममें जाओ, वल्कल-वस्त्र धारण करो और कन्द-मूल आहार करके तप करो इत्यादि। गीताके कृष्ण और भागवतके कृष्ण दो तो थे ही नहीं, यह वार्ता तो तिलक महोदयको भी स्वीकार ही होगी। यदि सारे संसारमें सब जीवोंके लिये कर्मयोग ही एकमात्र भेषज है तो उद्धवको छूटते ही त्यागका उपदेश क्यों किया गया? तिलक-मतके अनुसार यदि कर्मयोग ही एक ओषधि थी तो अपने महाप्रयाणके समय श्रीकृष्ण अवश्य अपने अत्यन्त प्रिय भक्त उद्धवको धोखा दे गये और अपनी चालाकीसे नहीं चूके। परन्तु नहीं जी! धोखे-चोखेकी बातें जाने दो। वास्तवमें अपनी विपरीत भावना करके अपना-आप ही अपनेको धोखा देता है, जब कि हम संसारके किसी पदार्थको अथवा मत-मतान्तर व पन्थ-पन्थाईको सत्य मान बैठते हैं और दूसरोंमें द्वेष करके विष उगलने लगते हैं, दूसरा तो कोई धोखा देनेवाला है ही नहीं।

वेदान्तका किसीसे द्वेष नहीं, वेदान्त अपनेमें सबको अवकाश देता है और सबका सदुपयोग करता है। वैद्यका तो काम यही है कि रोगीके अधिकारका भली-भाँति निर्णय करके उसको मार्ग पर डाल दे, फिर प्रकृति आप अपना काम करेगी और आप ही प्रवृत्तिसे निवृत्तिमें उठा ले जायगी। अजी! गुरुका काम तो इतना ही है कि शिष्यके चित्तको भली-भाँति टटोलकर जिधरसे पानीके निकासका मार्ग दीख पड़े, उधर पानीको निकलनेका मार्ग खोल दे फिर पानी आप ही अपनी गतिमें निचानकी ओर चलता हुआ समुद्रमें मिलकर अपने नाम-रूपको मिटा देगा।

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥
(मुण्ड. उप ३, २, ८,)

अर्थात् जिस प्रकार नदियाँ बहती हुई समुद्रमें लय होकर अपने नाम-रूपको मिटा देती हैं, इसी प्रकार विद्वान् नामरूप से छूटा हुआ परात्पर दिव्यपुरुष परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

हाँ सिद्धान्त यह अवश्य है कि ज्ञानोपदेशसे पूर्व अधिकारीका हृदय तीव्रतर वैराग्यकी अग्निमें खूब तपा हुआ होना चाहिये। यदि संसारके प्रति थोड़ा-सा भी राग है तो उपदेश सफल होनेकी आशा नहीं की जा सकती। जिस प्रकार लोहा यदि ठंडा है तो उसपर छोड़ा हुआ जल उसके अन्दर प्रवेश नहीं कर सकता, इधर-उधरको ढुलक जायगा और यदि वह तप कर लाल होगया है तो फिर क्या मजाल जो पानीकी एक बूँद भी इधर-उधर चली जाय, पानीका लोहेसे स्पर्श हुआ कि झट गायब। इसी प्रकार अधिकारीका चित्त भी तपा हुआ हो तो गुरुके वचनोको ऐसा शोषण कर जायगा, जैसे हंस दूधको पानीमेंसे। यह सिद्धान्त

सबपर लागू है चाहे कर्मकाण्डी-अर्जुन हो चाहे जनक। एक बार तो इसको धर्म-कर्म सभीकी बलि लेनी ही है। इस सिद्धान्त की सत्यतामें अर्जुनके लिये तो स्वयं गीता प्रमाण है ही। (देखो गीता अ. २ श्लो. १ व श्लो ४ से ८)। इसी प्रकार जनकको भी यह बलि देनी पड़ी कि अनायास सिद्धोंकी गीता श्रवण कर उसका निर्मल अन्तःकरण तप गया। (देखो योगवासिष्ठ, उपशम प्रकरण, सिद्ध-गीता और जनक-विषाद सर्ग ८ व ६)। यह बात दूसरी है कि अर्जुन और जनकको बहुत काल इस वैराग्यकी अग्निमें तपना न पड़ा, क्योंकि वे पूर्व जन्मके योगभ्रष्ट थे और इस मञ्जिलमेंसे वे पहले लॅघे हुए थे। तथापि ज्ञानसे पूर्व इस मञ्जिलमेंसे होकर निकलना उनको भी आवश्यक था, चाहे इसमें उनको रुकना न पड़ा। स्वामी रामतीर्थजीने अमेरिकाकी एक प्रदर्शनीमें देखा कि स्त्रीके उदरमें गर्भ प्रवेश होकर नौ मासके अन्दर वह बड़ी शीघ्रतासे लाखों रूपोंमें बदलता है कभी चूहा, कभी बिल्ली, कभी कुत्ता, इत्यादि। कहा गया है कि लगभग ८४ लाख रूपोंमेंसे उस गर्भको निकलकर फिर मनुष्यकी आकृति प्राप्त होती है। गर्भकी उन भिन्न-भिन्न योनियोंकी आकृति उस प्रदर्शिनीमें दिखलाई गई थी। ठीक, इसी प्रकार योग-भ्रष्टको भी धर्मकी इन भिन्न-भिन्न कोटियोंमेंसे लँघना जरूरी है, चाहे इनमें रुकना न पड़े।

इसी सिद्धान्तके अनुसार जब भगवान्‌ने अर्जुनको तपा हुआ देखा तो अपने वचनामृतकी वर्षा उसपर करना जरूरी समझा। अपनी विचित्रयुक्तियोंसे जब उन्होंने अर्जुनको अपने वास्तविक स्वरूपका बोध करा दिया और जब उसका अपने व्यक्तिगत शरीरपरसे कब्जा उठ गया, तब उसकी अपनी दृष्टिमें न कर्म रहा न अकर्म, न योग रहा न सांख्य, न वह

कर्ता रहा न भोक्ता और न भोग्य-संसार ही उसकी दृष्टिमें शेष रहा। दूसरे भले ही अर्जुनमें यह सब उपाधियाँ आरोपण किया करें, परन्तु अर्जुन तो फिर इन सब उपाधियोंका साक्षी और इन सबसे दूर खड़ा था। जैसे इन्द्र-धनुषमें देखनेवाले भले ही विचित्र-विचित्र रंगोंको देखा करें, परन्तु वह तो अपनी दृष्टिमें सब रंगोंसे रहित होता है। इसी प्रकार अर्जुन तो तब शरीरद्वारा सब कुछ करता हुआ भी अपने साक्षी-स्वरूपसे कुछ भी न करता था, बल्कि सर्वथा अकर्ता और असंग था तथा शरीरद्वारा कुछ न करता हुआ भी अपनी सत्ता-स्फूर्तिद्वारा सब कर्ता-धर्ता वही था (गी. अ. ४-१८)। वास्तवमें गीताका प्रतिपाद्य विषय है तो बस इतना ही। इससे भिन्न प्रवृत्तिरूप निष्काम-कर्मयोग न गीताका विषय है और न निवृत्तिरूप सांख्य। ये दोनों प्रवृत्ति (योग) व निवृत्ति (सांख्य) तो मार्ग है न कि उद्दिष्ट-स्थान।

तिलक-मतके पञ्चम अङ्कका निराकरण

अब हम तिलक-मतके पाँचवें अङ्कपर आते हैं। इस अङ्कमें हमारे लिये जो विचार कर्तव्य हैं, वे ये हैं।

(अ) 'योग' शब्दका क्या अर्थ है? और 'योग' शब्द गीतामें निष्काम-कर्मके अर्थमें ही प्रयुक्त हुआ है अथवा अन्य अर्थमें भी? तथा मुख्य अर्थ 'योग' शब्दका क्या है?

(आ) कर्म किसको कहते हैं?

(इ) भिक्षावृत्ति, जिसको तिलक महोदयने निर्लज्जतामूलक कर्म वर्णन किया है, क्या यह उनका विचार धर्मव मर्यादाको स्थिर रखनेवाला है? और क्या वह वस्तुत निर्लज्जतामूलक कर्म है?

(उ) अनासक्त-व्यवहारिक-कर्म सब अधिकारियोंके लिये एक ही प्रकारका होना चाहिये अथवा अधिकारानुसार उनका भेद हो सकता है ? और किसी अधिकारपर जहाँ उन कर्मोंका त्याग प्रत्यवायरूप हो सकता है, वहाँ अन्य अधिकारको प्राप्त करके उन कर्मोंका आचरण भी प्रत्य-वायरूप हो सकता है वा नहीं ?

अब इन चारों विकल्पोपर भिन्न-भिन्न विचार किया जाता है:—

(अ) 'योग' शब्दका सामान्य अर्थ 'जुड़ना' 'मिलाप पाना' है। धर्मसम्बन्धमें जब 'योग' शब्दका प्रयोग होता है, तब वह चेष्टा जिसके द्वारा परमात्मामें चित्तका लगाव हो, 'योग' शब्दसे निरूपण की जाती है। इस प्रकार अधिकारभेद व साधन-भेदसे योग अनेक प्रकारका वर्णन किया गया है। जैसे कर्म-योग, ध्यान-योग, भक्ति-योग, जप-योग, तप-योग, दान-योग, ज्ञान-योग, हठ-योग इत्यादि। अपने अधिकारानुसार जो अधि-कारी जिस साधनद्वारा परमात्माके सम्मुख हुआ है, वह उसी 'योग' का योगी है। सांसारिक कामना न रख जो चेष्टाएँ केवल ईश्वरप्राप्तिरूप निमित्तसे आचरणमें लाई जाएँ वे सब 'योग' शब्दके अन्तर्गत आ जाती हैं, परन्तु गीतामें मुख्यतया 'योग' के 'ज्ञान-योग' और 'कर्म-योग' भेदसे दो ही भेद किये गये हैं। यथा:—

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ (अ. ३. ३.)

अर्थात् इस लोकमें हे निष्पाप अर्जुन ! मेरे द्वारा पहले दो प्रकारकी निष्ठा कही गई हैं, एक सांख्योंकी ज्ञान-योगसे और दूसरी योगियों की कर्म-योगसे।

ज्ञान-योगसे भिन्न और जितने प्रकारके योग कहे गये हैं, वे सब कर्म-योगमें गणना करने योग्य हैं, क्योंकि वे सब या तो शारीरिक-क्रियारूप हैं या मानसिक-क्रियारूप। इसलिये क्रियारूप होनेसे सब ही कर्म-योगके अन्तर्गत हैं। चित्तके निश्चयका नाम 'निष्ठा' है। जैसा जिसके चित्तका निश्चय है और जैसा जिसके चित्तका प्रवाह है, वैसी ही उसकी निष्ठा है। लोक में भी ऐसा ही प्रसिद्ध है, जैसा जिसके चित्तका प्रवाह होता है वैसी ही उसकी निष्ठा कही जाती है। जैसे कहा जाता है कि अमुक पुरुषकी निष्ठा संसारमें है, अमुककी धर्ममें, अमुककी कर्ममें, अमुककी ध्यान व ज्ञानमें इत्यादि, निष्ठा चित्तका धर्म है।

'योग' शब्द गीतामें केवल निष्काम-कर्मके अर्थमें ही प्रयुक्त नहीं हुआ और न निष्काम-कर्म गीता-दृष्टिसे 'योग' शब्दका मुख्य अर्थ है। 'योग' शब्दका मुख्य अर्थ गीतामें वह सिद्धावस्था है, जहाँ तत्त्वसाक्षात्कारद्वारा अपने आत्माका परमात्मासे मेल हो जाय, अभेद हो जाय। जहाँ देहाभिमान गलित होकर कर्तृत्व-अहंकारसे छुट्टी मिल जाय और 'सर्व मैं ही हूँ' की अभेद-भावना करके भेद-भावना भाग जाय। यही अवस्था 'योग' शब्दका मुख्य अर्थ है, गीताने स्वयं इस विषयको यूँ स्पष्ट किया है:—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥ अ ६ श्लो २१-२३

अर्थ:—जो आत्यन्तिक सुख इन्द्रियोंसे अतीत केवल (सूक्ष्म) बुद्धिद्वारा ही ग्रहण करने योग्य है, जिस अवस्थामें उसको अनुभव करता है और जिसमें स्थित हुआ भगवत्स्वरूपसे चलायमान नहीं होता, जिसको पाकर उससे अधिक कोई दूसरा लाभ पाने-योग्य नहीं मानता और जिसमें स्थित हुआ महान दुःखसे भी चलायमान नहीं होता, दुःखसंयोगसे रहित उस स्थितिकी 'योग' संज्ञा जाननी चाहिये। तत्पर हुए चित्तसे वह 'योग' निश्चय-पूर्वक उपार्जन करने योग्य है।

इसी अध्यायमें आगे चलकर इसी तत्त्वज्ञानीकी 'योग' रूपसे प्रशंसा की गई है और श्लोक २९, ३०, ३१, ३२ में कहा गया है कि 'योगसे जिसका आत्मा युक्त है, ऐसा सर्वत्र समदर्शी पुरुष सर्वभूतोंमें स्थित अपने आत्माको और सर्व भूतोंको अपने आत्मामें समान रूपसे देखता है'। (गी. अ. ६ श्लो. २९)।

'जो मुझको सर्वत्र देखता है और सर्वको मेरेमें देखता है, उसके लिये न मैं अदृश्य होता हूँ और न वह मेरे लिये अदृश्य होता है।' (गी. अ. ६. ३०)।

'जो सर्वभूतों में एकीभावसे स्थित मुझ परमात्माको (समता-दृष्टिसे) भजता है, वह योगी सर्व प्रकार वर्तता हुआ भी मुझमें ही रम रहा है।' (गी. अ. ६ श्लो ३१)।

'हे अर्जुन! अपनी उपमा करके (अर्थात् जैसी अपने शरीरमें आत्मदृष्टि है, वैसी ही सर्वभूतोंमें आत्मदृष्टि रखनेवाला) जो सर्वत्र समान रूपसे देखता है, चाहे सुख हो चाहे दुःख हो सर्व सुख-दुःखोंको जो आत्मरूपसे आलिङ्गन करता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।' (गी. अ. ६ श्लो. ३२)।

इससे अगले ३३ वें श्लोकमें ही अर्जुन इस ज्ञानरूप योगकी महिमासे चकित हो भगवान्से पूछता है कि हे मधुसूदन! यह

जो योग समताभावसे आपके द्वारा कहा गया, मनकी चञ्चलता के कारण इसकी स्थिति तो बड़ी दुर्लभ है। अर्जुनकी इस शङ्का का समाधन करते हुए इसी अध्याय ६ के अन्तमे भगवान् इस 'योग' की मुक्तकण्ठसे सर्व श्रेष्ठता यूँ वर्णन करते हैं:—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥
(गी. अ. ६, श्लो. ४६)

अर्थ– (अपने आत्मस्वरूपसे योग पाया हुआ) योगी तपस्वियोसे श्रेष्ठ है, शास्त्रश्रवणद्वारा जिन्हे परोक्ष-ज्ञान हुआ है उनसे भी श्रेष्ठ माना गया है और कर्मकर्ताओंसे भी वह योगी श्रेष्ठ है। इस लिये हे अर्जुन! तू योगी बन, अर्थात् उपर्युक्त रूपसे अपने परमात्मस्वरूपमें अभेद प्राप्त कर।

सातवें अध्यायके आरम्भमें ही इसी योगस्थितिके उपायके सम्बन्धमें भगवान् कहते हैं:—

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥ (अ. ७, १.)

अर्थात्:—मेरे में आसक्त हुए मनवाला और मत्परायण हुआ जिस प्रकार इस योगको उपार्जन करता हुआ तू निश्चय-पूर्वक समग्ररूप मुझको जान जायगा, वह ज्ञान मुझसे श्रवण कर। फिर सातवें अध्यायके दूसरे श्लोकमे ही इस ज्ञानकी प्रशंसा इस प्रकार करते हैं.—

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वानेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥ (अ. ७, २.)

अर्थः—मैं तेरे लिये रहस्यके सहित उस तत्त्वज्ञानको अशेषता से कहूँगा कि जिसको जानकर फिर तुझे और कुछ जानना शेष न रहेगा।

इससे स्पष्ट विदित होता है कि उपर्युक्त दोनों श्लोकोंमें 'ज्ञान' व 'योग' पर्यायसे है, स्वरूपसे इनका भेद नहीं। अर्थात् 'योग-युञ्जन करता हुआ तू समग्ररूप मुझको जान जायगा' (७. १.) तथा 'जिसको जानकर फिर तुझे और कुछ जानना शेष न रहेगा' (७. २) दोनों एक ही अर्थके द्योतक हैं, इससे 'ज्ञान' व 'योग' का अभेद सिद्ध है। तदनन्तर इसी अध्यायमें श्लोक १२ तक अपनी सर्वरूपता सम्पूर्ण भूतोंमें वर्णन की है, इससे सिद्ध है कि सर्वात्म-दृष्टिका नाम ही 'योग' है।

उपर्युक्त व्याख्यासे स्पष्ट है कि 'योग' शब्द गीतामें केवल निष्काम-कर्मके अर्थमें ही प्रयुक्त नहीं हुआ, किन्तु इसका मुख्य अर्थ भगवत्स्वरूपस्थितिरूप सिद्धावस्था ही है। 'फलाशाका परि-त्याग करके कर्तव्य-बुद्धिसे कर्मोंमे प्रवृत्त होना' ऐसा तिलक-मतमें

निष्काम-कर्म-योगीका लक्षण किया गया है। परन्तु प्राकृतिक नियमके अनुसार कर्तव्य-बुद्धिके साथ कर्ता-बुद्धि बलात्कार से लागू होती है, कर्ता-बुद्धिके बिना कर्तव्य-बुद्धि हो नहीं सकती, जैसा इस विषयको पीछे कई स्थानो पर स्पष्ट किया जा चुका है। और जब कर्ता-बुद्धि व कर्तव्य-बुद्धि विद्यमान है, तब कर्मोंका लक्ष्य ईश्वरप्राप्ति रहना स्वभाविक है और जरूरी है, किसी न किसी लक्ष्यके बिना कर्तव्य-बुद्धि हो नही सकती। ऐसी अवस्था में कर्ता व कर्तव्य-बुद्धिके रहते हुए वह समता-बुद्धि जिसको पाकर और कुछ पाना न रहे (गी. अ. ६, श्लो. २२) और वह अभेद-दृष्टि, जिसको जानकर और जानना शेष न रहे (गी. अ. ७,

श्लो. २) कहाँसे आ सकती है ? क्योंकि भेद-दृष्टिके कारण अभी उसको प्राप्तव्य व ज्ञातव्य शेष रहता है।

सारांश, यह सिद्ध हुआ कि निष्काम-कर्म-योगी सर्वथा समदृष्टि व अभेददृष्टिवाला नहीं होता। यद्यपि वह उस मार्ग पर चल रहा है, परन्तु अभी *मञ्जिलपर* नहीं पहुँचा. मञ्जिल अभी दूर है। तथा गीता दृष्टिसे 'योग' शब्दका मुख्य अर्थ वह पूर्ण अवस्था है, जहाँ जिज्ञासु अपने लक्ष्यको पाकर और सफलमनोरथ होकर कृतकृत्य हो जाय और अपने सम्पूर्ण पुरुषार्थों से छुटकारा पाकर सब कर्तव्योंसे मुक्त हो जाय। जहाँ पहुँचकर जिज्ञासु न जिज्ञासु ही रहे और न जिज्ञासा, न कुछ करना ही रहे न पाना।

(आ) 'कर्मकी व्याख्या' निष्काम-कर्मके प्रसंगमें पीछे प्रथम खण्डमें की जा चुकी हैं इसलिये पुनरुक्ति निष्प्रयोजन है। ('कर्मकी व्याख्या'को इसके साथ मिलाकर पढ़ना चाहिये)। यहाँ प्रसंगसे इतना ही कह देना काफी होगा कि शारीरिक अथवा मानसिक वह चेष्टारूप व्यापार जिसके साथ मन-बुद्धिका सम्बन्ध हो और जो मन-बुद्धिकी जानकारीमें हो तथा भावोत्पादक हो, उस चेष्टारूप व्यपारकी 'कर्म' रूपसे संज्ञा की जाती है। परन्तु जिन शारीरिक चेष्टाओंके साथ मन-बुद्धिका सम्बन्ध नहीं होता और जो भावको उत्पन्न करनेवाली नहीं होतीं वे 'कर्म' की गणनामें नहीं आतीं। स्वयं गीताने 'कर्म' की व्याख्या इसी रूपसे की है। यथाः—

भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः। (अ. ८. श्लो ३.)

अर्थः—भूतोंमें भावको उत्पन्न करनेवाली जो चेष्टाएँ है, उनकी 'कर्म' रूपसे संज्ञा की गई है।

तिलक महोदयने कर्मकी जो व्यापक व्याख्या की है और भूख, प्यास, श्वासोच्छ्वास व क्षणभर जीवित रहना भी 'कर्म' में सम्मिलित किया है वह व्यापक दृष्टिसे तो हमें हृदयसे स्वीकार है। यद्यपि श्वासोच्छ्वास हमारे मतमें 'कर्म' की व्याख्यामें नहीं आता, क्योंकि श्वासोच्छ्वास किसी भावको उत्पन्न नहीं करता। तथापि व्यापक दृष्टिको लेकर हम तो इससे आगे बढ़कर यह कहनेके लिये उद्यत हैं कि केवल प्रवृत्तिरूप व्यापार ही 'कर्म' नहीं, किन्तु सम्पूर्ण निवृत्तिरूप व्यापार भी 'कर्म' है और कर्म का त्याग भी 'कर्म' है, क्योंकि यह सम्पूर्ण चेष्टाएँ मन-बुद्धिके साक्षात् परिणाम हैं और भावको उद्भव करनेवाले हैं। कर्मकी जिस व्यापक दृष्टिपर वे जा रहे हैं और श्वासोच्छ्वासपर्यन्त चेष्टाको 'कर्म' मानते हैं, उसे लेते हुए क्या तिलक महोदय यह कहनेका साहस करेंगे कि निवृत्तिरूप चेष्टा 'कर्म' नहीं ? चाहे वह निवृत्तिरूप चेष्टाएँ उनकी दृष्टिसे भली हों या बुरी, यह बात दूसरी है, परन्तु हैं वे 'कर्म'। और जब यह बात निश्चित हो चुकी तब तिलक महोदयका 'निवृत्ति' को कर्महीन मानना और श्वासोच्छ्वासकी भी बराबरी न देना, या तो हठ है या उनके विचारोंकी संकीर्णता। हाँ, यह बात अवश्य है कि 'कर्म' का अधिकारीके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, एक अधिकारीके लिये जो 'कर्म' हो सकता है वही अन्य अधिकारीके लिये 'विकर्म'। गृहस्थके लिये जो 'कर्म' हो सकता है संन्यासीके लिये वह 'विकर्म' और संन्यासीके लिये जो 'कर्म' है वह गृहस्थके लिये 'विकर्म' होगा, इसमें सन्देह ही क्या है ? इसी प्रकार लोकसेवा किसी अधिकारीके लिये कर्मरूप हो सकती है तो इससे भिन्न अधिकारीके लिये वह विकर्म होगी। यदि विचारसे देखा जाय तो प्रत्येक चेष्टा जो स्वधर्मानुकूल हो, चाहे निवृत्तिरूप हो अथवा प्रवृत्तिरूप, वह लोकसेवा व लोकसंग्रहरूप स्वतः सिद्ध होती है।

यद्यपि वाणी करके अथवा शरीर करके बड़े-बड़े उपदेश न दिये जाएँ और कोई संगठन न किया जाय, तथापि उन अधिकारानुसार चेष्टाओंका यथार्थ आचरण ही सच्ची व सुदृढ़ लोकसेवा व लोकसंग्रहको सिद्ध कर देता है। परन्तु तिलक महोदयने तो अपनी एकदेशीय दृष्टिसे अधिकारको मिटाकर केवल एक रेखा निकाल दी है कि 'बस, इससे आगे और कुछ है ही नहीं।' परन्तु भगवान् एक ऐसे भयङ्कर उपदेष्टा नहीं थे सम्पूर्ण गीतामें कहीं भी ऐसा एक भी शब्द उनके मुखारविन्दसे नहीं निकला जिसमें उन्होंने निवृत्तिपक्षको निन्दित ठहराया हो, जैसा तिलक भगवान् मुक्तकण्ठसे निवृत्तिमार्गको निन्दित कर रहे हैं। यदि वास्तवमें निवृत्तिपक्ष निन्दनीय था तो क्या वे (भगवान्) स्पष्ट रूपसे उसको त्याज्य नहीं कह सकते थे, जैसा उन्होंने सकाम-कर्मकी खुले शब्दोंमें निन्दा की है यहाँतक कि स्वर्गपर्यन्त विषयसुखोंको भी उन्होंने घृणादृष्टिसे निरूपण किया है और अपने मार्गमें उनको प्रतिबन्धक बतलाया है। देखो गी. अ. २ श्लो. ४२, ४३, ४४ और अन्तमें स्पष्ट कह दिया है:—

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः। (अ. २, ४९)

अर्थ बुद्धि-योगसे सकाम-कर्म अत्यन्त तुच्छ है, इसलिये हे धनञ्जय! तुम बुद्धि-योगका आश्रय ग्रहण करो। जो फलकी वासनावाले हैं वे अत्यन्त दीन हैं।

यदि स्वयं भगवान्‌के विचारसे निवृत्तिपक्ष निन्दित होता तो ऐसी अवस्थामें क्या साथ ही वे उसका स्पष्ट रूपसे खण्डन नहीं कर सकते थे और उसको भी क्या निन्दित नहीं कह सकते थे कि 'हे अर्जुन! भिक्षा माँगना निर्लज्जताका व्यवहार है और

पतित करनेवाला है।' क्योंकि इस समय अर्जुनके लिये यही तो विवादका विषय बन रहा था। हाँ, यह बात ठीक है कि उन्होंने अर्जुनको इसका अधिकारी नहीं पाया और अध्याय २ श्लो. ३१ से ३५ तक 'युद्ध ही तेरा धर्म है' 'युद्ध न करनेसे तू अपने स्वधर्म व कीर्तिको नष्ट करेगा' इत्यादि रूपसे उसको उपदेश किया। परन्तु यह कहीं नहीं कहा कि निवृत्तिपक्ष निन्दित है अथवा विकर्म है। इसके विपरीत भगवान्ने तो स्पष्ट रूपसे अधिकारको स्थिर रक्खा है और स्पष्ट ही कहा है:—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावह ॥ (अ. ३-३५)

अर्थः—दूसरेके धर्मको अच्छी तरह आचरणमें लानेकी अपेक्षा अपना गुणरहित धर्म भी कल्याणकारी है, अपने धर्माचरणमें मरना भी श्रेयस्कर है, परन्तु पराया धर्म भयको देनेवाला है। यही श्लोक अ. १८. ४७. में कुछ हेर-फेरसे फिर भी निरूपण किया है और अ. १८. ४८ में फिर ताकीद की है कि अपना स्वाभाविक कर्म चाहे दोषवाला भी हो परन्तु उसका त्याग न करे, क्योंकि यूँ तो सभी कर्म धूमसे अग्निके सदृश दोषोंसे घिरे हुये होते हैं। हाँ, अर्जुनको भगवान्ने रजोगुणके कारण निवृत्तिका अधिकारी नहीं पाया और उसको युद्धमें ही जोड़ना जरूरी समझा। परन्तु न तो यह कहा जा सकता है और न कदापि भगवान्का ही यह आशय हो सकता है कि सबको प्रवृत्तिमें ही फँसे रहना जरूरी है।

विचार से देखा जाय तो कर्ममें प्रवृत्ति व निवृत्ति प्रकृतिके तीन गुणोंके अधीन ही होती है और वे प्राकृतिक गुण ही प्रवृत्ति व निवृत्तिमें प्रेरक हैं। रजोगुण वृद्धिको प्राप्त हुआ प्रवृत्तिमें

जोड़ता है और सत्त्वगुण निवृत्तिमें। (गी. अ. १४ श्लो. ६, ७)। यह बात अनुभवसिद्ध है और 'कर्मद्वारा प्रकृतिकी निवृत्ति-मुखीनता' के प्रसगमें पीछे प्रथम खण्डमें हमारे द्वारा स्पष्ट किया जा चुका है कि प्रकृतिका स्वाभाविक स्रोत निवृत्तिमुखी ही है और धर्मानुकूल प्रत्येक प्रवृत्तिके गर्भमें निवृत्ति ही गर्भित है जो अवश्य अपने समयपर प्रसवित होगी। इस नियमके अनुसार इस जन्समें अथवा गत जन्ममें जो व्यक्ति प्रवृत्तिमें रत रहकर उससे अघाये हैं और अपने बढ़े-चढ़े रजोगुणको खो बैठे हैं तथा जिनके हृदयमें सत्त्वगुणका विकास हो आया है और जिनका चित्त त्यागपरायण हुआ है, उनको अपनी प्राकृतिके विरुद्ध कोई भी धर्मशास्त्र अथवा भगवान् यह कैसे कह सकते हैं कि उनके लिये प्रवृत्तिके बन्धनमें फँसे रहना ही स्वधर्म है। यदि वह ऐसा बन्धन लगाते हैं तो न वे धर्मशास्त्र ही हैं और न वे भगवान ही हैं। पूर्व अवस्थामें भी वर्णाश्रम-धर्मका बन्धन इसी लिये था कि प्रवृत्ति उच्छृङ्खल न हो और इस प्रकार प्रवृत्ति मर्यादामें रहकर रजोगुणका वेग निकल जाय तथा निवृत्तिका स्रोत चल पड़े, नकि धर्मबन्धन प्रवृत्तिरूप बन्धनके लिये ही थे। नहीं जी ! यह बन्धन कौन सहार सकता है और धर्मशास्त्र अथवा भगवान ऐसे कठोर कैसे बन सकते हैं ? जो बन्धनसे मुक्तिके अधिकारीको भी बन्धनमें फँसानेके लिये ही उद्यत रहें और लोक व लोकसेवाकी सत्यताके गीत गाये ही जाएँ, हमारे तिलक भगवान् यह ड्यूटी भले ही सँभाले रक्खें। परन्तु हमारे धर्मशास्त्र और हमारे भगवान्‌ने तो सच्चे अधिकारीको सर्व प्रकार सच्ची स्वतन्त्रता व सच्चा स्वराज्य प्राप्त करानेके लिये कमर बाँधी हुई है और मुक्तकण्ठसे कह दिया है:-

"ब्रह्मचर्याद्वा गृहाद्वा वनाद्वा यदहरेव विरजेत तदहरेव प्रव्रजेत्"

अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रममें, गृहस्थाश्रममें अथवा वानप्रस्थाश्रममें जिस दिन भी तीव्र वैराग्य हो, उसी दिन संन्यास ले लेवे। अध्याय १३ में ज्ञानके साधनोंका निरूपण करते हुए स्वयं गीता कहती है:—

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ (श्लो ९ से ११)

अर्थ :—पुत्र, स्त्री, घर व धनादिमें आसक्तिका अभाव और ममता न होना, प्रिय-अप्रियकी प्राप्तिमें सदा ही चित्तका सम रहना, मुझमें एकीभावसे स्थितिरूप ध्यान-योगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति, एकान्त देशमें रहनेका स्वभाव, जनसमुदायमें अरति (अर्थात् अनासक्ति), अध्यात्म-ज्ञानमें नित्य स्थिति और तत्त्व-ज्ञानके अर्थरूप परमात्माको सर्वत्र देखना—यह सब तो ज्ञान है और जो इसके विपरीत है वह अज्ञान।

अध्याय १८ श्लोक ५१, ५२, ५३ में फिर भी ऐसा ही कहा गया है:—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

अर्थः-विशुद्ध बुद्धिसे युक्त और सात्त्विकी धारणासे अन्तःकरणको वशमे करके, शब्दादि विषयोंको त्यागकर और रागद्वेषको नष्ट करके एकान्त देशका सेवन करनेवाला, अल्पाहारी, मन वाणी और शरीरको वशमें रखनेवाला, दृढ़ वैराग्यको भलीभाँति आश्रित करके नित्य ध्यान-योगपरायण हुआ पुरुष अहंकार, बल, घमण्ड, काम, क्रोध और सग्रह को त्यागकर ममता रहित और शान्त अन्तःकरण होकर ब्रह्ममें एकीभाव प्राप्त करने के योग्य होता है।

साराश, उपर्युक्त विवेचन व प्रमाणोंसे यह स्पष्ट है कि कर्मकी व्यापक व्याख्यामें प्रत्येक निवृत्ति मन-बुद्धिका साक्षात परिणाम होनेसे 'कर्म' ही है, न कि 'अकर्म' वा 'विकर्म'। तथा यदि अधिकारानुसार किसी के लिये एक ओर प्रवृत्ति ही कर्म व निवृत्त विकर्म है तो दूसरी ओर किसी अन्यके लिये निवृत्ति ही कर्म व प्रवृत्ति विकर्म हो सकती है। सभी धर्मशास्त्र और स्वयं भगवान्का यही श्रेष्ठ सम्मत है। इससे हमारा यह आशय नहीं कि लोकसेवा निरर्थक वस्तु है। नहीं! जिन हृदयोंमें रजोगुण भरा हुआ है उनके लिये यह परमार्थका अद्वितीय साधन है। परन्तु एकमात्र यही साधन है इससे आगे और कोई लक्ष्य है ही नहीं, केवल इतने मात्रमें हमारा विरोध है। अजी मायाके राज्य में किसी बातका नियम कैसे बनाया जा सकता है? धर्मशास्त्र और राज्यके कानून यथाशक्ति नियम करते है, परन्तु पद-पद पर उनको भी अपवाद (exceptions) करने ही पड़ते हैं। जब पाँच-पाँच वर्षके ध्रुव व नामदेवादि बालकोंमें निवृत्ति फड़क गई

और दबानेसे न दब सकी, तब यौवनोंकी तो वार्ता ही क्या है ? धर्मशास्त्र और सर्वज्ञ ऋषि-मुनि तो इस बातकी जुम्मेवारी ले नहीं सकते थे और उन्होंने तो अपवाद (exceptions) लिख मारे 'यदहरेव विरजेत तदहरेव प्रव्रजेत्' । भगवान् तिलक भले ही इस बातकी जुम्मेवारी लेवें और चिल्लाते रहे कि निवृत्ति धर्म-विरुद्ध है । मायाके राज्यमें यह नियम तो नहीं किया जा सकता कि सभी भगवान तिलक जैसे कर्मवीर व कर्मयोगी होंगे । परन्तु अपने पिछले जन्मोंमें जो भगवान् तिलककी भाँति प्रवृत्तिपरायण हो अपने रजोगुणके वेगको खलास कर बैठे हैं और इस जन्ममें योगभ्रष्ट होकर उत्पन्न हुए हैं; अथवा अपने वर्तमान पुरुषार्थद्वारा जो सत्त्वगुण उपार्जनमें तत्पर हैं और प्रवृत्तिमें धकेलनेवाला रजोगुण जिनमें है ही नहीं, ऐसे पुरुषोंके लिये भी तिलक महोदय को कोई मार्ग खोलना चाहिये था कि वह कहाँ जाएँ और क्या करें ? प्रवृत्तिकी सामग्री उनमें रही नहीं और निवृत्तिके लिये उनका मार्ग बन्द, फिर उनकी कौन गति ? यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि इस योनिमें गीतारहस्य लिखते समय भगवान तिलक के हृदयमें पूर्ण रूपसे और निष्काम-भावसे रजोगुणका समुद्र उमँड रहा था, इसलिये उस पार उन्होंने आँख उठाकर देखा ही नहीं, तथापि प्रकृतिके राज्यमें रजोगुण निकलनेपर सत्त्वगुणका प्रसव स्वाभाविक है । यदि इस समय हम भगवान् तिलक की आत्माका आह्वान कर सकते तो इस विषयपर उनसे उचित साक्षी प्राप्त की जा सकती थी ।

(३) अब हमें यह विचार करना है कि अधिकारीके लिये भिक्षावृत्ति, जिसको तिलक महोदयने निर्लज्जतामूलक कर्म वर्णन किया है, यह उनका विचार कहाँतक उचित है ? गृहस्थके लिये नित्य ही पञ्च-महायज्ञोंकी विधि शास्त्रकारोंने विधान की है और

इन पञ्च-महायज्ञोंमें नृयज्ञको सर्वश्रेष्ठ कथन किया गया है। जाति-पाँतिका विचार न करके अनायास द्वारपर आये हुए अतिथि-अभ्यागतको ईश्वररूप जान और उसके शरीर व मनके अधिकारका विचार न कर आदर-सत्कारपूर्वक यथाशक्ति अन्न-जलादिसे उसको सन्तुष्ट करना 'नृयज्ञ' कहा गया है। यही एक ऐसी पवित्र चेष्टा है जो कि विषम-दृष्टियुक्त गृहस्थको व्यवहारिक रूपसे स्वाभाविक समतादृष्टिका पाठ पढ़ाती है और सर्वत्र ईश्वरदर्शनके आनन्दकी चटक लगाती है। भावपूर्ण दानसे स्वभावत ही कोमलता आती है और दानके अभावसे स्वभावत कठोरता उपजती है, यह नीति है। दानके मूल्यका ध्यान न रख श्रद्धाभावसे दिया हुआ एक टुकडेका भी दान दाताके चित्त को पानीके समान पतला करके बहा देनेमें समर्थ है और येन-केन प्रकारेण कोमलता उपजाना ही धर्मका लक्ष्य है। इस विषयमें महाभारतमें एक आख्यान है कि एक यतिको १०।१५ दिनके पश्चात् एक रोटी मिली। ज्यूँ ही बलिवैश्वदेव करके वह उसे खानेके लिये बैठा कि एक अतिथि उसके निकट आ पहुँचा। यतिने अतिथि-नारायणके दर्शनसे अपनेको कृतार्थ जाना और बडा प्रसन्न हुआ, उसने ईश्वररूपसे उसकी पूजाकी और प्रसन्नमनसे नम्रतापूर्वक रोटीका आधा भाग उसको निवेदन किया और शेष आधा प्रसादके रूपमें ग्रहण किया। यति जब भोजन करके उस स्थानसे चला गया, तब एक नेवला स्वाभाविक उस स्थानपर आया और यतिकी जूठनपर आनन्दसे लोट-पलोटे मारने लगा। उस जूठनसे नेवलेके मुखका स्पर्श होने का यह प्रभाव हुआ कि उसका आधा मुख स्वर्णमय हो गया। यह प्रभाव उस आधी रोटीके भावपूर्ण दानका था। वही नेवला युधिष्ठिरके राजसूय-यज्ञमें, जहाँ भगवान् कृष्णने अतिथियोंके

पादप्रक्षालन व जूठन उठानेका भार लिया हुआ था, पहुँचा और उस हजारों मन जूठनपर कई दिनतक पड़ा रहा। परन्तु युधिष्ठिरके राजसूय-यज्ञमें उस कोमल भावका महत्त्व न रहनेके कारण उसका शेष आधा मुख भी स्वर्णमय न हो सका। इससे वहाँ यही निष्कर्ष निकाला गया है कि जितना मूल्यवान् यति की आधी रोटीका दान था, युधिष्ठिरका समग्र राजसूय-यज्ञ उसके एक अंशके बराबर भी नहीं था, भावराज्य का ऐसा ही विचित्र महत्त्व है। भगवान् तिलकने स्वयं अपने गीतारहस्यमें इस आख्यानको दृष्टान्त रूपसे ग्रहण किया है। इस प्रकार धनी व निर्धनका विचार न रख, सभी गृहस्थोंके लिये उपयोगी और सबको सुलभ ऐसे महत्त्वपूर्ण नृयज्ञका विधान करके हिन्दु-धर्म तथा वेद-शास्त्रोंने संसारमें गौरव प्राप्त किया है। इसके यथार्थ उपयोगद्वारा प्राप्त हुई क्षणिक शान्ति ऐसी बहुमूल्य है कि वह लाखों रुपयोंके भोग भोगनेसे भी नहीं मिल सकती। यह शान्ति-सुख ही ऐसा प्रबल शस्त्र है जो अनेक दुराचारोंसे रत्नाकर दाताको धर्म-पथमें अग्रसर होनेके लिए बरबश धकेल देता है। स्वयं गीता इस नृयज्ञके लिये इन दृढ़ शब्दोंमे यूँ जोर देती है :—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ (अ.३-१३)

अर्थः—यज्ञशेष अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सर्व पापोंसे मुक्त हो जाते हैं और जो पापी केवल अपने ही उदरके निमित्त पकाते हैं वे अन्न नहीं, किन्तु पाप भक्षण करते हैं।

गृहस्थाश्रमकी जो महिमा तिलक महोदयने गाई है वह यथार्थ है, परन्तु उसकी यह महिमा केवल उदारतापूर्ण त्यागके सम्बन्धसे ही है, न कि कृपणतापूर्ण पकड़से। वास्तवमें यह नृयज्ञ

ही गार्हस्थ्य-धर्मका प्राण है, इसके बिना गार्हस्थ्य-धर्म ऐसा ही है जैसे बिना प्राणका पुतला—

आतिथ्यं शिवपूजनं प्रतिदिनं धन्यो गृहस्थाश्रमः। (भर्तृहरि)

अर्थात् वही गृहस्थाश्रम धन्य है, जिसमें प्रतिदिन अतिथि-सत्कार व शिवपूजन होता है। जिस आतिथ्य-धर्मके प्रभावसे मोरध्वजादि नरेशोंने अव्यक्त परमात्माको व्यक्तरूपमें आकर्षण कर लिया और आप परम गतिके भागी हुए, ऐसे पवित्र धर्माङ्गमें अश्रद्धा उपजाना तो शान्तिके स्थानपर अशान्तिका ही आह्वान करना है। इस प्रकार तिलक महोदयका यह उपदेश गृहस्थके लिये तो किसी प्रकार न इहलौकिक सुखका हेतु हो सकता है और न पारलौकिक उन्नतिका साधन।

यह तो गृहस्थके सम्बन्धमें चर्चा हुई, अब भिक्षुकके सम्बन्ध में सुनिये। अहंकारकी मूलको समूल निकाल फेंकना तथा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' रूप समताभावका केवल कथनमात्र ही नहीं किन्तु व्यवहारिक रूपसे उपार्जन करना, यही वेदान्तका एकमात्र प्रतिपाद्य विषय है। यही 'वैताल' की पहेलीका अन्तिम साध्य और यही परम पुण्य। धर्मके जितने भी अङ्ग-प्रत्यङ्ग हैं वे सभी साक्षात् अथवा परम्परासे इसी उद्देश्यकी पूर्तिमें सहायक होनेसे धर्मरूप हैं। अधिकारीके लिये व्यवहारिकरूपसे 'वसुधैव कुटुम्बकम्' (अर्थात् सम्पूर्ण पृथ्वी ही हमारा कुटुम्ब है) यह भाव उपार्जन करनेके लिये भिक्षावृत्ति एक अद्वितिय जीता-जागता साधन है। यह अधिकारीके चित्तकी परम उदारताका परिचायक है और आत्मविकासका एक अनोखे रूपसे शिक्षा देनेवाला शिक्षक है। इससे अधिकारीके चित्तमें यह भाव कूट-कूट कर भरे जाते हैं कि 'हे! मन जिसमें तूने शरीर धारण किया वही

तेरा कुटुम्ब नहीं,बल्कि समग्र संसारही तेरा कुटुम्ब है। किसी एक कुटुम्बमें उत्पन्न होना और ममत्व बाँधना तो आवश्यक है, परन्तु उसी चार-दीवारीमें अपने ममत्वको संकीर्ण रखकर मर जाना तो जीते ही क़बरमें सड़नेके समान है और पाश्विक जीवनसे भी निकृष्ट। किसी एक माताके उदरसे जन्म लेना तो ज़रूरी है, परन्तु केवल उसीका रहकर मर जाना तो माताके यौवनको नष्ट करनेके लिये कुठाररूप ही बनता है।' ऐसे उदार भावोंसे जिसका हृदय पूर्ण है वह समतारूपी प्रेमका मतवाला,

> विरह कमण्डलु कर लियो, वैरागी दो नैन।
> माँगे दरश मधूकरी, छके रहैं दिन रैन॥

जब झोली हाथमें लेकर निकलता है तब कौन ऐसा कठोर हृदय होगा जो उसकी आँखोंको देखकर पिघल न जाय, सत्य-स्वरूपकी एक लहर उसके हृदयमें उमड़ न आवे और संसारकी असारताका फोटो खेंच न देवे। तिलक महोदयके विचारसे यह 'मंगनपन' भले ही जचे, परन्तु वास्तवमें यह माँगना तो माँगना नहीं, बल्कि तन-मन-धन सर्वस्व लुटा देना है। अहंकारकी जड़को निकाल फेंकनेका यही एक सच्चा व्यवहारिक साधन है। यद्यपि अहंकारकी मूल केवल ज्ञानमें ही निकाली जा सकती है, तथापि जिस प्रकार पड़दा मोटा हो तो एका-एक उसे फाड़ा नहीं जा सकता; परन्तु जब उसको घिस कर पतला कर लिया गया तो उसका फाड़ना सहज हो जाता है, इसी प्रकार अहंकारके पड़देको पतला करनेमें भिक्षावृत्ति परम उपयोगी साधन है। जप-तप-व्रतादि जितने साधन हैं सबका फल एकमात्र मनपर विजय पाना है और मनोनाश वासनाक्षयकी सिद्धिद्वारा ही तत्त्व-विचारका अधिकार प्राप्त हो सकता है, जिससे अहंकार

समूल दग्ध हो जाता है। चिरकालीन जप-तप-व्रतादिद्वारा मन पर वैसी विजय प्राप्त नहीं की जा सकती, जैसी भिक्षावृत्तिद्वारा स्वाभाविक ही प्राप्त हो जाती है और इससे मनोनाश वासनाक्षयकी सिद्धि हो सकती है। योग-वाशिष्ठ निर्वाण प्रकरण सर्ग ६३, ६४ में राजा भागीरथका आख्यान है। जब उसको तत्त्वजिज्ञासा उत्पन्न हुई तब उसके गुरु त्रितलऋषि ने पहिला उपदेश यही किया कि "हे राजन ! तू राज-पाटका परित्याग करके अपने शत्रुओंके घर से भिक्षा माँग, जिससे तेरा मनोनाश व वासनाक्षय सिद्ध हो।" आधुनिक कालके भर्तृहरि तथा गोपीचन्द्रादि नरेश इसके ज्वलन्त दृष्टान्त हैं। इससे हमारा यह अभिप्राय नहीं कि सर्व साधारणके लिये ऐसा कर्तव्य है, परन्तु धर्मकी उपर्युक्त सोपानों को उत्तीर्ण करके जिनके हृदयोंमें 'हकीकी इश्क' तरङ्गायमान हुआ है, जो सत्यप्रेमके मतवाले हुए हैं, किसी हटीले-रंगीलेके रंगमें जिनका मन रंगा गया है और उस रंगने आगा-पीछा देखनेकी आँखें ही बन्द कर दी हैं, उनके लिये तिलक महोदय सरीखे देश-भक्त भले ही घृणा-दृष्टि उपजाते रहें और देश-भक्तिके गीत गाया करें, परन्तु वहाँ तो सुननेके कान ही किसी बदमस्तने रहने न दिये, फिर सुने कौन ? गालियाँ देनेवाले गालियोंकी बौछाड़ बाँधते ही रह जायेंगे, परन्तु जिनके सिरपर सफर सवार हुआ है उन्हें पीछे मुड़कर कब देखना है ?

सात गाँठ कोपीन की, साधु न माने शङ्क।
राम अमल माता रहे, गिने इन्द्र को रङ्क ॥

स्वामी रामदासजीने अपने ग्रन्थ दासबोधमें जिसको तिलक महोदयने स्थान-स्थानपर प्रमाणभूत माना है, दशक १४ समास २ में भिक्षावृत्तिकी महान् प्रशंसाकी है। उनका कथन है:—

'भिक्षाके समान अन्य वैराग्य नहीं और वैराग्यके समान अन्य सौभाग्य नहीं। भिक्षा कामधेनु है, जो पुरुष भिक्षान्न भोजन करता है वह मानो नित्य अमृतपान करता है।'

उनका यह भी वचन है:—

भिक्षाहारी निराहारी भिक्षा नैव प्रतिग्रह।
असन्तो वापि सन्तो वा सोमपानं दिने दिने॥

अर्थ:—भिक्षान्न आहार करनेवाला निराहारी है (क्योंकि उसने देहाभिमानको बेच डाला है और देहाभिमान रखते हुए भोजन करना ही आहार करना है।) इस प्रकार भिक्षा प्रतिग्रह भी नहीं है। चाहे सन्त हो वा असन्त, भिक्षाहारी प्रतिदिन अमृतपान करता है।

देशसुधारके मतवालों और देशस्वराज्यके प्रेमियोंकी दृष्टिमें भिक्षावृत्ति चाहे खटकती हो और द्वेषका पात्र बनी रहे, परन्तु वास्तवमें बात तो है यह कि हक़ीक़ी * स्वराज्य व हक़ीक़ी सुधार का साधन तो यह भिक्षावृत्ति जिसमें सर्वत्यागरूपी महेशका निवास है, इस ऐसे पवित्र धार्मिक कार्यसे घृणा उपजाकर तो वे देशसुधारके स्थानपर धार्मिक-अशान्ति व धार्मिक-विप्लवके ही कारण सिद्ध होंगे। हाँ, जो महाशय देशस्वराज्यके कार्यमें प्रवृत्त हैं उनके लिये उनकी प्रकृतिके अनुसार यह देशसेवा एक पवित्र साधन है, परन्तु अन्य अधिकारियोंके प्रति घृणा करना तो कोई सुधार है ही नहीं, बल्कि उल्टा उनके लिये हानिकारक है और उनकी पवित्र शक्तिका ह्रास करनेवाला है। यह तो ठीक ऐसे ही है जैसे कोई कारीगर आगे-आगे मकान बनाता जाय और पीछेसे उसको गिराता आवे। जिस सड़कसे वे जा रहे हैं तीव्र

* पारमार्थिक

वेगसे अपनी सड़कपर चले जाएँ, उनको पीछे मुड़कर क्यों देखना चाहिये ? जब वे पीछे मुड़कर देखते है उसी समय उनकी चाल वेढंगी हो जाती है। भला, आत्म-अकल्याण करते हुए देश-कल्याण कैसे होगा ?

सरांश, दाता व भिक्षुक दोनोंके लिये परमशान्तिका साधन जो यह भिक्षावृत्ति, उसे 'निर्लज्जतामूलक' कथन करनेपर तो निर्लज्जता भी लज्जित होती है।

(३) अब हमें देखना है कि अनासक्त व्यवहारिक कर्म क्या है ? प्रकृतिके राज्यमें भेद है। प्रकृतिभेद, गुणभेद, वर्णभेद, आश्रमभेद, शरीरभेद, इन्द्रियभेद और मन-बुद्धिका भेद, सारांश सर्व संसार भेदरूप ही है। जब सर्व भेदमय है तब अधिकारभेद ही क्यों न हो ? और जब अधिकारभेद सिद्ध हुआ, तब अधिकारानुसार प्रवृत्ति व निवृत्तिका भेद होना भी जरूरी है। जबकि अधिकारभेद मुख्य है तब अधिकारानुसार प्रत्येक प्रवृत्ति व प्रत्येक निवृत्ति 'व्यवहारिक कर्म' के अन्तर्गत आनी चाहिये। प्रवृत्तिरूप कर्म ही 'व्यवहारिक कर्म' है और निवृत्तिरूप कर्म 'व्यवहारिक कर्म' नहीं, ऐसा तो कोई भी बुद्धिमान् आग्रह नहीं करेगा, क्योंकि ग्रहण-त्यागरूप सम्पूर्ण व्यवहार व कर्म प्रकृतिके राज्यमें ही हैं। इसलिये अधिकारानुसार प्रवृत्ति व निवृत्ति दोनों भी प्रकृतिके राज्यमें ही हैं और अधिकारभेदसे दोनो ही 'कर्म' की व्यापक व्याख्यामें आजाते हैं। इस प्रकार क्या प्रवृत्ति व क्या निवृत्ति जब दोनों 'व्यवहारिक कर्म' ही हैं, तब फलकी आसक्ति छोड़ कर दोनों ही 'अनासक्त व्यवहारिक कर्म' बनाये जा सकते हैं। फलाशारहित कर्मको ही 'अनासक्त कर्म' कहते हैं, इससे सिद्ध हुआ कि फलकी आशाका परित्यागकर अधिकारानुसार प्रवृत्ति व निवृत्ति दोनों ही 'अनासक्त व्यवहारिक कर्म' हैं।

इस विषयमें थोड़ा और विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि प्रवृत्ति जिनके लिये अधिकारकी वस्तु और व्यवहारिक-कर्म है, निवृत्ति उनके लिये त्याज्य है और वह व्यवहारिक-कर्म नहीं है। तथा निवृत्ति जिनके अधिकारमें आती है और व्यवहारिक-कर्म है, उनके लिये प्रवृत्ति त्याज्य है और वह व्यवहारिक-कर्म नहीं है। साथ ही इस प्रकार जिनके लिये प्रवृत्ति त्याज्य है उनके लिये प्रवृत्ति प्रत्यवायरूप होगी और निवृत्ति जिनके लिये त्याज्य है उनके लिये निवृत्तिका प्रत्यवायरूप होना जरूरी है, इसमें सन्देह ही क्या है? दृष्टान्त-स्थलपर समझ सकते हैं कि गृहस्थके लिये जो धर्म है वह सन्यासीके लिये अधर्म, और संन्यासीके लिये जो धर्म है वह गृहस्थके लिये अधर्म होगा। धनसंग्रह व पुत्रोत्पत्ति गृहस्थके लिये धर्म है तो संन्यासीके लिये अधर्म, और भिक्षावृत्ति संन्यासीके लिये धर्म है तो गृहस्थके लिये अधर्मरूप होगी। हाँ सांसारिक कामनाका परित्यागकर केवल ईश्वरप्राप्ति लक्ष्य करके अपने-अपने धर्मोंका आचरण तो दोनोंके ही लिये अनासक्त व्यवहारिक कर्म हो सकते हैं। परन्तु तिलक महोदयकी अपनी एकदेशीय दृष्टिमें तो केवल प्रवृत्ति ही 'अनासक्त व्यवहारिक कर्म' है, निवृत्ति तो न कर्म ही मानी जा सकती है और न व्यवहारकी गणनामें ही आती है, फिर वह अनासक्त व्यवहारिक कर्म तो बने ही कैसे? वास्तवमें विचारसे देखा जाय तो आसक्ति व अनासक्ति ग्रहण व त्यागरूप ही है, अर्थात् आसक्ति ग्रहणरूप व प्रवृत्तिरूप है तथा अनासक्ति त्याग व निवृत्तिरूप। एकमात्र फल-त्यागके सम्बन्धसे ही जब 'आसक्ति' अर्थात् प्रवृत्ति 'अनासक्ति-के' रूपमें मानपात्र हुई, फिर सर्वत्यागरूप निवृत्तिको अनासक्त व्यवहारिक कर्म भी न मानना तो विचारोंकी अत्यन्त संकीर्णता है।

तिलकमतमें प्रमाणभूत गीताश्लोकोंकी समालोचना और उनके द्वारा स्वपक्षसिद्धि

इस अङ्कमें 'योग' शब्द व 'कर्म' शब्दकी व्याख्या हो चुकी है, इसलिये उन गीताश्लोकोंपर जिनको तिलक महोदयने अपने मतकी पुष्टिमें प्रमाणरूपसे ग्रहण किया है, विचार कर लेना आवश्यक है। आगे चलनेसे पहले तिलकमतपर व वेदान्तसिद्धान्तपर सामान्यरूपसे दृष्टिपात कर लेना चाहिये, जिससे पाठकोंको आशय समझनेमें सुविधा मिले।

(१) 'सांख्य' व 'योग' वेदान्तदृष्टिसे दो मार्ग जिज्ञासुके लिये हैं, ज्ञानीके लिये नहीं; जैसे जो छतपर पहुँच गया उसके लिये सोपान नहीं रहते, सोपान उसीके लिये हैं जो छतपर पहुँचनेकी इच्छा रखता है। परन्तु तिलक-मतके अनुसार ज्ञानके बाद भी दोनों मार्ग ज्ञानीके लिये शेष रहते है तथा दोनो मार्ग स्वतन्त्र है, एकको दूसरेकी अपेक्षा नहीं। ज्ञानी ज्ञानोत्तर मोक्ष प्राप्त करनेके लिये चाहे सांख्यमार्गसे जाय चाहे योगमार्गसे, तथापि सांख्यकी अपेक्षा योगमार्ग श्रेष्ठ है और ज्ञानीपर कर्तव्य शेष रहता है, ऐसा उनका कथन है।

(२) वेदान्त-मतमें दोनो मार्ग जिज्ञासुके लिये मानकर निष्काम-कर्मरूप 'योग' से अन्तःकरणकी शुद्धि और तत्पश्चात् ज्ञान (सांख्य) से मोक्ष माना है। वेदान्त-मतमें गीतोक्त 'सांख्यका' अर्थ 'संन्यास-आश्रम' नहीं, किन्तु श्रवण, मनन व निदिध्यासनरूप आत्मानुसन्धान है।

तिलक-मतमें 'सांख्य'से निवृत्तिपक्ष और 'योग'से प्रवृत्तिपक्ष अभिप्राय है। तिलक-मतमें प्रवृत्तिरूप चेष्टाओंको ही 'कर्म' मानकर निवृत्तिरूप चेष्टाओंका खण्डन किया है और निवृत्तिरूप चेष्टाओंको कर्म नहीं माना, जोकि वेदान्त व गीतासे विरुद्ध है।

गीताने कर्मकी व्यापक व्याख्या यही की है कि जो भावको उत्पन्न करनेवाली चेष्टाएँ हैं वे सब 'कर्म' हैं (अ ८ श्लो.३)। इस दृष्टिसे केवल शारीरिक चेष्टाएँ ही 'कर्म' नहीं, किन्तु मानसिक व बौधिक सम्पूर्ण स्पन्दरूप परिणाम भावोत्पादक होनेसे 'कर्म' हैं, चाहे शरीरसे इनका कोई सम्बन्ध न हो और चाहे वे प्रवृत्तिरूप हो या निवृत्तिरूप।

(३) वेदान्त-मतसे लोकसंग्रह प्रवृत्तिसे ही सिद्ध नहीं होता बल्कि निवृत्तिद्वारा भी सिद्ध होता है, इसको आगे स्पष्ट किया जायगा। यदि भगवद्दृष्टिसे मोक्षप्राप्ति व लोकसंग्रह केवल प्रवृत्तिद्वारा ही सम्भव होता तो उद्धवको निवृत्तिका उपदेश न किया जाता। परन्तु तिलक-मतमें केवल प्रवृत्तिद्वारा ही लोकसंग्रहकी सिद्धि मानी है, निवृत्तिद्वारा नहीं।

(४) वेदान्त-मतसे गीता प्रकृतिविरुद्ध उपदेश देनेको प्रवृत्त नहीं हुई और प्रकृतिका स्वाभाविक स्रोत प्रवृत्तिसे निवृत्तिमें ही है। रजोगुणसे प्रवृत्ति व सत्त्वगुणसे निवृत्ति उत्पन्न होती है, इस प्रकार रजोगुण निवृत्त होकर सत्त्वगुणका उत्पन्न होना प्राकृतिक है। परन्तु तिलक-मतमें प्रवृत्ति नित्य है और निवृत्त होनेके लिये नहीं। वेदान्त-मतमें निवृत्ति प्रवृत्तिको निकालकर आप भी निवृत्त होने के लिये है, स्थिर रहने के लिये दोनों ही नहीं।

इस प्रकार सामान्यरूपसे दोनों मतोंका दिग्दर्शन कराया गया।

तिलक महोदयने (१) 'ज्ञानीके लिये कर्तव्य' (२) 'मोक्षकी कर्मसे सिद्धि' (३) 'कर्मकी विशेषता' और (४) 'निवृत्ति खण्डन' में जिन गीताश्लोकोंको प्रमाणमें दिया है वे ये हैं, अब उनपर विचार किया जाता है:—

(१) यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ (अ.५.५)

अर्थ—जो स्थान सांख्योंद्वारा प्राप्त किया जाता है वही योगियोंद्वारा गमन किया जाता है, इसलिये जो पुरुष सांख्यको और योगको एक देखता है, वही देखता है।

इस श्लोकसे तिलक महोदयने यह सिद्ध किया है कि 'ज्ञान' (सांख्य) से जो मोक्ष मिलता है वही 'कर्म' (योग) से, 'कर्म' 'ज्ञान' का पूर्वांग नहीं, मोक्षदृष्टिसे यह दोनों तुल्यबलवाले और स्वतन्त्र हैं। परन्तु इनका यह विचार ठीक नहीं है, जैसे रात व दिन परस्पर विरोधी हैं इकट्ठे नहीं रह सकते, इसी प्रकार 'सांख्य' (निवृत्तिमार्ग) व 'योग' (प्रवृत्तिमार्ग) परस्पर विरोधी हैं। प्रवृत्ति (ग्रहण) व निवृत्ति (त्याग) परस्पर विरोधी पदार्थोंको स्वतन्त्र व तुल्यबल कोई भी बुद्धिमान् नहीं मान सकता। हाँ, कालभेदसे दोनों उपयोगी बनाये जा सकते हैं, परन्तु एक ही अधिकारीमें एक ही कालमें परस्पर विरोधी साधनोंको स्वतन्त्र व तुल्य बलवाले निश्चय करना ऐसा ही प्रमादजनक होगा, जैसे कोई वैद्य अपने रोगीके लिये एक ही कालमें परस्पर विरोधी रेचक व पाचक दोनों ओषधियोंको स्वतन्त्र व तुल्यबल तजवीज़ करे। भगवान् ऐसे भ्रान्तचित्त नहीं थे। साधारण बुद्धिका मनुष्य भी इसपर श्रद्धा नहीं कर सकता। हाँ, 'सांख्य' व 'योग' में लक्ष्यके अभेद करके, कि वे दोनों क्रम-क्रमसे एक ही लक्ष्यको भेदन करनेवाले हैं, एकता स्थापन की जा सकती है। दोनोंको समकालीन और स्वतन्त्र साधन मानकर एकता बनाना सर्वथा अयुक्त है। जिस प्रकार लाहौरसे दिल्ली जानेवाले दो मुसाफिर, एक गाजियाबादमें है और दूसरा सहारनपुरमें, वे दोनों एक ही स्थानको प्राप्त होनेवाले हैं और दोनोंका मार्ग भी एक ही है, इसलिये उन दोनोंका अभेद है। परन्तु लक्ष्यका अभेद रहते हुए भी मञ्जिलोंका भेद अवश्य मानना पड़ेगा। एक अपने स्थानको एक ही दिनमें

प्राप्त कर लेगा और दूसरे को कई पड़ाव लाँघने पड़ेंगे। ठीक इसी दृष्टान्तसे 'सांख्य' व 'योग' की एकता भगवान्‌को इष्ट है न कि भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र मार्ग मान करके। श्लोकमें 'सांख्य' के साथ 'प्राप्यते' और 'योग' के साथ 'गम्यते' शब्द प्रयुक्त हुए हैं:—

'यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते'

इस शब्दभेदका प्रयोजन भी यही है कि सांख्यद्वारा जो स्थान प्राप्त किया जाता है, योगद्वारा उसीको गमन किया जाता है। आशय यह कि सांख्यके द्वारा जो स्थान प्राप्त करना है योगद्वारा भी पहुँचना तो उसी स्थानको है, परन्तु गमन करके, अर्थात् परम्परासे मञ्जिल लाँघ कर। 'प्राप्यते' और 'गम्यते' शब्दका भेद इसी आशयको सूचित करता है। विपरीत इसके परस्पर विरोधी साधनोंकी स्वतन्त्रता व तुल्यबलवत्ता किसी प्रकार युक्ति को नहीं सहार सकती और न युक्तिविरुद्ध प्रमाण मान्य ही हो सकता है। परन्तु हमारा उपर्युक्त आशय तो युक्ति,प्रमाण और दृष्टान्तसे स्पष्ट सिद्ध होता है। तिलक-मतके अनुसार यदि 'सांख्य' व 'योग' को स्वतन्त्र व वैकल्पिक माना जाय तो जो मुमुक्षु इन दोनो मार्गोंमेंसे किसी एक मार्गमें प्रवृत्त हुआ है, उसके लिये दूसरा मार्ग सर्वथा निरर्थक सिद्ध हो जाता है। मानो वह दूसरा मार्ग संसारमें शून्यरूप ही है और उसका कोई मूल्य नहीं। परन्तु वेदान्त-मतमें ऐसा नहीं है, मुमुक्षुके लिये दोनो ही मार्गोंका कालभेदसे सदुपयोग किया गया है, यही वेदान्त-मतमे गौरव और तिलक-मतमें विचित्र लाघव है।

(२) लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ (अ.३.३)

अर्थः—हे निष्पाप ! पूर्व मेरे द्वारा इस संसारमें दो प्रकारकी निष्ठा कही गई हैं, 'ज्ञान-योग' द्वारा सांख्योंकी और 'कर्म-योग' द्वारा योगियोंकी। इस श्लोकसे भी तिलक महोदयकी उक्ति सिद्ध नहीं होती। अधिकारभेदसे यह दो निष्ठाएँ भिन्न-भिन्न हैं जरूर, मोक्षप्राप्तिमें दोनोंकी अपेक्षा अवश्य है, परन्तु इससे इन दोनोंकी स्वतन्त्रता व तुल्यबलवत्ता सिद्ध नहीं होती। यदि भगवान्‌को इनकी तुल्यबलवत्ता इष्ट होती तो वह कह सकते थे कि योगीजन चाहे 'कर्म-योग' से जाएँ चाहे 'ज्ञान-योग' से, और सांख्यवाले चाहे ज्ञान-योग' से जाएँ चाहे 'कर्म-योग' से। परन्तु इसके विपरीत भगवान्‌ने तो स्पष्टरूपसे अधिकारको स्थिर किया है और कहा है कि योगके अधिकारियोंको 'कर्म-योग' से ही गमन करना चाहिये न कि ज्ञान-योगसे, और सांख्यके अधिकारियोंको 'ज्ञान-योग' से ही जाना चाहिये न कि 'कर्म-योग' से। परन्तु तिलक-मतमें तो कहा गया है कि दोनों स्वतन्त्र हैं जिसकी इच्छा जिस मार्गसे जानेकी हो वह उसी मार्गसे जा सकता है इसके विपरीत इस श्लोकमें तो ऐसी स्वतन्त्रता नहीं दी गई, यहाँ तो अधिकारका बन्धन लगाया गया है। अब यदि ऐसा कहा जाय कि 'कर्म' 'ज्ञान' का पूर्वांग नहीं, तो अ० ४ श्लो. ३३ में स्पष्टरूपसे भगवान्‌ने कह दिया है कि "हे परन्तप ! द्रव्य-यज्ञकी अपेक्षा ज्ञान-यज्ञ श्रेष्ठ है, क्योंकि हे पार्थ ! समस्त कर्मोंका ज्ञानमें पर्यवसान होता है।"

यदि कर्म पूर्वांग न होता तो ज्ञानमें पर्यवसान भी न पाता, क्योंकि फलमें ही फूलका पूर्वांग होनेसे पर्यवसान होता है, और ज्ञान-यज्ञकी सर्वश्रेष्ठता भी न गाई जाती। यदि दोनों मार्ग स्वतन्त्र व तुल्यबल समझे जाएँ, तब उनमेंसे एकको 'सर्वश्रेष्ठ' कहना कोई अर्थ नहीं रखता। इससे आगे ही अ. ४ श्लो. ३५,

३६, ३७, ३८ में ज्ञान-यज्ञकी महिमा इस प्रकार गाई गई है:—

"ज्ञानके समान कोई श्रेष्ठ वस्तु संसारमें नहीं है ॥"

"ज्ञान-अग्नि सर्व कर्मोंको इसी प्रकार भस्म कर देती है, जिस प्रकार भौतिक अग्नि इंधनको जलाकर भस्म कर देती है ॥"

"तू कितना भी पापीसे पापी हो, फिर भी ज्ञान-नौकाद्वारा तू सर्व पापोको भली प्रकार तर जायगा ॥"

और श्लोक ३८ में तो स्पष्ट ही कह दिया है:—

तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥

अर्थात् उस ज्ञानको (जिसकी महिमा ऊपर कही गई है) तू स्वयं ही योगके सिद्ध होनेपर काल पाकर आप ही अपनेमें प्राप्त कर लेगा।

इससे तो योगसिद्धि ही ज्ञानका पूर्वाङ्ग सिद्ध होता है । यदि 'कर्मयोग' ही विशेष होता तो 'संसारमें ज्ञानके समान कोई पवित्र वस्तु नहीं है' इन वचनोंका कोई भावार्थ नहीं बन सकता था। 'ज्ञान' की सर्वश्रेष्ठता ही 'कर्म' की गौणताको सिद्ध करती है।

तिलक महोदयने स्थान-स्थानपर कहा है कि ज्ञानोत्तर ज्ञानीके लिये दो मार्ग हैं, परन्तु शोक! ऐसा कोई प्रमाण गीतामें नहीं मिलता जिससे ज्ञानके पश्चात् दो मार्ग सिद्ध होते हों । बल्कि ज्ञानीके लिये यह तो कहा गया है 'तस्य कार्यं न विद्यते' (अ.३, श्लो. १७, १८) अर्थात् ज्ञानीके लिये कोई कर्तव्य नहीं है। परन्तु तिलक महोदय तो मुक्तपर भी बन्धन लगाये ही जाते हैं।

(३) संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥(अ.५,२.)

अर्थ:—संन्यास और कर्मयोग दोनों ही मोक्षप्रद हैं, इन दोनोंमें भी कर्मसंन्याससे कर्मयोगकी विशेषता है।

इस श्लोकसे तिलक महोदयने यह प्रमाण किया है कि दोनों मार्ग तुल्यबल व स्वतन्त्र होते हुए भी भगवान्‌को यह इष्ट है कि कर्मसंन्याससे कर्मयोगकी विशेषता है।

(१) दोनों मार्गोंकी स्वतन्त्रता, (२) तुल्यबलवत्ता और (३) वैकल्पिक रूपसे इनका आचरण, इन तीनों विषयोंका खण्डन तो विस्तारसे हमारे समाधानके अङ्क प्रथममें इसी खण्डके पृ.४ से १४ पर तथा उपर्युक्त श्लोक नं १ व २ की व्याख्यामें पृ. ६१ से ६५ पर किया जा चुका है इस लिये पुनरुक्ति निष्प्रयोजन है। अब यहाँ विचार यह करना है कि क्या 'कर्मसंन्यास' (सांख्य, ज्ञान, निवृत्तिपक्ष) से 'कर्मयोग' की विशेषता भगवान्‌को इष्ट है? यदि ऐसा माना जाय कि वास्तवमें भगवान्‌को 'कर्मयोगकी' विशेषता इष्ट है, तो भगवान्‌के पूर्वापर वचनोंकी सङ्गति नहीं लगती। किसी वक्ताके आशयका निर्णय करनेके लिये पूर्वापरकी सङ्गति लगाना अत्यन्त जरूरी है, बिना ही सङ्गतिके अपना आशय किसी एक वचनसे सिद्ध करना तो ऐसा ही होगा, जैसे किसीने कुरानसे भी 'नुमाज* मत पढ़ो' निकाल लिया था। पीछे चतुर्थ अध्याय श्लो. ३५, ३६, ३७ में तो भगवान् ज्ञानकी सर्वश्रेष्ठता और श्लो. ३८ में योगको ज्ञानका पूर्वाङ्ग वर्णन कर आये हैं यथा:—

'तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति'

अर्थात् योग सिद्ध होनेपर साधक उस ज्ञानको समय पाकर

---

* कुरान में लिखा था कि 'नुमाज मत पढ़ो, जबकि तुम नापाक हो'। एक व्यक्ति नुमाजसे घबराता था, अपने साथियोंसे पीछा छुड़ानेके लिये 'जबकि तुम नापाक हो' इस वाक्यको दबा कर अपने साथियोंको कुरान दिखलाकर कहने लगा "देख लो! कुरानमें भी लिखा हुआ है कि नुमाज मत पढ़ो"।

अपने-आप अनुभव करेगा। तथा आगे इसी अध्याय ५ श्लोक ४ व ५ में सांख्य व योगका अभेद इस प्रकार वर्णन कर रहे हैं:—

'एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति'।
'सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः'॥

फिर बीचमें ही कर्मसंन्याससे 'कर्मयोग' की विशेषता मानी जाय तो वदतोव्याघात-दोष * आता है, इसका कोई समाधान तिलक-मतमें नहीं मिलता। वेदान्त-मतमें तो इसकी स्पष्ट सङ्गति है और वदतोव्याघात-दोष भी नहीं। वह इस प्रकार है:—

(१) 'सांख्य' व 'योग' दोनों एक ही स्थानको लेजानेवाले हैं उनके लक्ष्यका भेद नहीं। लक्ष्यके अभेद करके ही उनकी एकता कथन की गई है, परन्तु पदार्थोंका भेद अवश्य है। इसको श्लोक नं० १ की व्याख्यामें स्पष्ट किया गया है।

(२) योगसंसिद्धिके द्वारा ज्ञानप्राप्ति सम्भव है, यह अध्याय ४-३८ में भगवान्‌को इष्ट है। और ज्ञानद्वारा ही मोक्षकी सिद्धि हो सकती है, जैसा गीता अ. १३ श्लो. ६, १०, ११ व अ. १८ श्लो. ५१, ५२, ५३ में कहा गया है।

(३) जो पुरुष जिस साधनका अधिकारी है उसके लिये वही मोक्षप्रद है, क्योंकि उस साधनके द्वारा ही वह मोक्षमार्गमें अग्रसर हो सकता है। अधिकारभिन्न साधन चाहे ऊँचा भी हो वह उसके लिये अधःपतनका ही कारण होगा। जैसे ज्वरपीड़ित रोगीके लिये घृत पुष्टिकारक नहीं, किन्तु रूक्ष अन्नसे ही वह बल प्राप्त कर सकता है, वैद्य उसके लिये रूक्ष अन्न ही पथ्य बतलाता है। इसी

* पहले कुछ कहना और पीछे आप ही उसे काट देना, इस दोषको 'वदतो व्याघात' दोष कहते हैं।

प्रकार जिसके हृदयमें रजोगुण भरपूर है उस अधिकारीकी दृष्टिसे यहाँ 'कर्मयोग' को विशेषता कही गई है। रजोगुण निकलनेपर वह आप 'सांख्य' द्वारा ज्ञानको प्राप्त कर जायगा। इसी दृष्टिसे 'कर्मयोगो विशिष्यते' कहा गया है।

(४-५-६) कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥ (अ ३ श्लो ६,७,८)

अर्थः—कर्म-इन्द्रियोंको रोककर जो मूढ पुरुष मनसे इन्द्रियोंके विषयोंका स्मरण करता रहता है, वह मिथ्याचारी कहा जाता है। और जो मनसे इन्द्रियोंको रोककर कर्मेन्द्रियोंद्वारा असक्त हुआ कर्मयोगका आरम्भ करता है, हे अर्जुन! वह विशेष है। इसलिये तू नियत (अधिकारानुसार) कर्मको कर, कर्म न करनेसे कर्म करना श्रेष्ठ है, क्योंकि बिना कर्मके तेरी शरीरयात्रा भी सिद्ध नहीं होगी।

इन तीनों श्लोकोंसे तिलक-मतका कोई अङ्ग प्रमाणित नहीं होता। न तो इनसे यही सिद्ध होता है कि मोक्षप्राप्तिमें कर्म स्वतंत्र साधन है, न यह सिद्ध होता है कि ज्ञानसे कर्म विशेष है और न यह कि ज्ञानीके लिये कोई कर्तव्य है। इन श्लोकोंमें स्पष्ट यही कथन है कि जो मनमें विषयोंका चिन्तन करता रहता है और इन्द्रियोंको रोककर निश्चेष्ट हो बैठा है वह दम्भी है। वेदान्त भी ऐसे त्यागको आदर नहीं देता। परन्तु शुभसकामकर्म, निष्काम-

कर्म और भक्तिके द्वारा जिनके हृदयोंसे रजोगुण निकल चुका है, भोगोंसे जिनकी बुद्धि विरस हुई है और सांसारिक सर्व कामनाएँ निर्मूल होकर केवल भगवत्प्राप्तिरूप वासना ही जिनके चित्तमें ठस गई है, उनको वेदान्त खुले दिलसे निवृत्तिके लिये आलिङ्गन करता है। अ. ३ श्लो ८ में जो यह कहा गया है कि 'कर्म न करनेसे कर्म करना श्रेष्ठ है' उसका सम्बन्ध भी उन्हीं दम्भी पुरुषोंसे है; त्यागी पुरुषोंसे नहीं। सिद्धान्त यही है कि जैसे लोहेसे लोहा काटा जा सकता है, उसी प्रकार अधिकारानुसार नियत कर्म करते-करते कर्मसे छुटकारा पाया जाता है, परन्तु लक्ष्य छुटकारा पानेमें ही है इसके विपरीत तिलक-मतमें कदापि कर्मसे छुटकारा है ही नहीं, कर्तव्यका बन्धन विद्यमान ही है।

(७.८) कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥ (गी. २.४७)

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥ (गी.२-५०)

अर्थः—तेरा अधिकार कर्ममें ही है फल में कदापि नहीं, इस लिये तू कर्मफलका हेतुवाला बनकर कर्म न कर और कर्म न करनेका भी आग्रह न कर। बुद्धियोगसे युक्त हुआ पुरुष इसी लोकमें पाप व पुण्य दोनोंसे अलिप्त रहता है, इस लिये तू योगका आश्रय कर, कर्म करनेकी चतुराईको ही 'योग' कहते हैं। (इस श्लोकका वास्तविक तात्पर्य तो कुछ और ही है, परन्तु उनकी उक्तिको लेकर ही कहा जाता है।)

इन दोनों श्लोकोंसे भी तिलक-मतका कोई अङ्ग प्रमाणित नहीं होता। न इनसे यही सिद्ध होता है कि ज्ञानीके लिये ज्ञानोत्तर

भिन्न-भिन्न दो मार्ग हैं, अथवा मोक्ष केवल कर्मसे ही सम्भव है, अथवा ज्ञानीपर कर्तव्यरूप विधि है। इन श्लोकोंमें फलाशा-रहित कर्मकी महिमा गाई गई है, सो वेदान्तको मुक्तकण्ठसे स्वीकार है। वेदान्त निष्काम-कर्मका खण्डन नहीं करता, बल्कि मुमुक्षुके लिये इसको आदर देता है और इसमेंसे होकर इससे आगे बढ़नेके लिये भी कहता है, परन्तु तिलक-मतमें तो इससे आगे और कुछ है ही नहीं। अर्जुनके लिये भगवान्ने कर्मका अधिकार स्थिर किया है यह सही है, परन्तु तिलक महोदयका कथन है कि भगवान्ने अर्जुनको कर्मका अधिकारी बनाया है इससे सबका यही अधिकार है। यह हो कैसे सकता है ? सबकी प्रकृति समान कैसे बनाई जा सकती है ? 'प्रकृतिनां वैचित्र्यम्' प्रकृति सबकी भिन्न-भिन्न होती है। यदि तिलक महोदयकी उक्तिको ही मान लें तो इन्हीं भगवान्ने उद्धवको एकादश स्कन्ध (भागवत) में त्यागका उपदेश क्यों किया ? शायद वह इसका कोई उत्तर न दे सकेंगे और चुप ही होना पड़ेगा।

(९, १०, ११) नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥
दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥
कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥

(अ. १८ श्लो. ७, ८, ९.)

अर्थः— स्वधर्मानुसार नियत कर्मोंका संन्यास किसीको भी उचित नहीं, मोहसे नियत कर्मोंका त्याग तामस-त्याग कहा गया

है। 'कर्म दुःखरूप है' इस प्रकार शरीरक्लेशके भयसे जो कर्मका त्याग किया जाय, ऐसा पुरुष राजसिक-त्याग करके त्यागके फलको प्राप्त नहीं होता। हे अर्जुन! स्वधर्मानुसार नियत किये गये कर्मोंको जो पुरुष 'करना योग्य है' इस भावसे फल व आसक्तिको छोड़ कर करता है, वह सात्त्विक-त्याग कहा गया है।

उपर्युक्त तीनों श्लोकोंमें गुणभेदसे त्यागके तीन भेद किये गये हैं, जिनमेंसे मोह-अज्ञानपूर्वक त्यागको 'तामस' और काय-क्लेशके भयसे दुःखरूप मानकर किये हुए त्यागको 'राजस' कहा गया है और दोनों ही निन्दित कहे गये हैं। केवल सात्त्विक-त्यागको आदर दिया गया है और उसका यह लक्षण किया गया है कि आसक्ति व फलाशाको त्यागकर जो नियत कर्म (स्वधर्मानुसार) किया जाय, वह ही 'सात्त्विक-त्याग' है। अब देखना यह है कि नियत कर्मका क्या अर्थ है। ब्राह्मणका जो नियत-कर्म है वह उससे भिन्न है जो क्षत्रियका है और क्षत्रियका नियत-कर्म वैश्य व शूद्रसे भिन्न है। एक वर्णका नियत-कर्म दूसरे वर्णके लिये अनियत-कर्म बन जाता है। इसी प्रकार ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासीमेंसे प्रत्येक आश्रमका जो अपना-अपना नियत-कर्म है, वह अन्य आश्रमके लिये अनियत-कर्म अवश्य सिद्ध होगा। इतना ही नहीं, बल्कि प्रत्येक वर्ण व प्रत्येक आश्रममें व्यक्तिभेदसे प्रत्येक व्यक्तिके चित्तके अधिकारानुसार गुणतारतम्यसे नियत-कर्म भिन्न-भिन्न होगा। जिसके चित्तमे तमोगुण प्रधान है, उसके लिये वह चेष्टाएँ जो तमोगुण निवृत्त करके रजोगुणको प्रकट करनेवाली होंगी, 'नियत-कर्म' कहला सकती हैं। जिसके चित्तमें रजोगुणकी प्रधानता है, उसके लिये वह चेष्टाएँ जो रजोगुण घटाकर सत्त्वगुणका उद्बोध करनेवाली हों 'नियत-कर्म' हो सकती हैं। रजोगुणसे प्रवृत्ति और सत्त्वगुणसे

निवृत्ति सिद्ध होती है। जिसके हृदयमें सत्त्वगुण भरपूर है और जो गीता अ. १८ श्लोक ५१, ५२, ५३ के अनुसार मन-इन्द्रियोंको जीतकर वैराग्यपरायण हुआ है, ऐसे वैराग्यपरायण अधिकारीके लिये वैराग्य क्या नियत-कर्म नहीं, अनियत-कर्म है? परन्तु तिलक महोदय तो केवल प्रवृत्तिरूप कर्मोंको ही नियत-कर्म मानते हैं, निवृत्तिको न 'कर्म' ही मानते हैं और न 'नियत-कर्म'। जिनके दिमागमें रजोगुणकी प्रबलताके कारण एकमात्र प्रवृत्ति ही ठस गई है, उन एकदेशीय दृष्टिवालोंको कौन समझावे? परन्तु व्यापक भगवान्का उपदेश ऐसा एकदेशी नहीं हो सकता, वह व्यापक है और सभीके लिये श्रेयपथप्रदर्शक है। कर्मकी व्याख्याके अनुसार प्रत्येक प्रवृत्ति व प्रत्येक निवृत्ति भावोत्पादक होनेसे 'कर्म' है। जबकि 'नियत-कर्म' की व्याख्या इस रूपसे व्यापक मानी जाय, तब इन श्लोकोंसे तिलक-मतका कोई अङ्ग प्रमाणित नहीं होता।

(१२) एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥ (अ. ४. १५)

अर्थः—ऐसा जानकर पूर्व मुमुक्षुवोंद्वारा भी कर्म किया गया है, इस लिये तू भी पूर्वजोंद्वारा सदासे किये हुए कर्मको ही कर।

इस श्लोकमें भगवान्ने मुमुक्षुजनोंके लिये कर्मकी प्राचीन शैलीको बतलाया है, वेदान्तका इससे कोई विरोध नहीं है। मुमुक्षुके लिये वेदान्त कर्मका निषेध नहीं करता, बल्कि अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्मकी आवश्यकता निरूपण करता है और साथ ही यह भी कहता है कि अन्तःकरणरूपी क्षेत्र जब साफ हो चुका तब इसमें ज्ञानरूपी बीज बोनेकी जरूरत है। क्षेत्र साफ करते रहनेके लिये ही नहीं है बल्कि बीज बोकर फल पैदा

करनेके लिये है। इस प्रकार मुमुक्षुके लिये इस श्लोकमें कर्म की आवश्यकता कथन की गई, ज्ञानीके लिये कर्मका बन्धन नहीं किया गया। 'कर्म' प्रकृतिके राज्यमें है और मुमुक्षु भी अभी प्रकृतिके राज्यमें ही है, प्रकृतिराज्यसे बाहर नहीं निकला। इसलिये उसपर अधिकारानुसार प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति कर्तव्य है। परन्तु ज्ञानी जो प्रकृतिराज्यसे केसरीसिंहके समान पिञ्जरा तोड़कर निकल गया, उसपर कोई कर्तव्य कैसे लागू हो सकता है? उस ब्रह्म-कर्म समाधिवालेके लिये (ब्रह्मकर्मसमाधिना अ. ४-२४) तो सब कर्म अकर्म ही हैं, अर्थात् ब्रह्मरूप ही हैं। फिर उस ऐसे अभेददृष्टिवालेपर विधि कैसी? विधि तो भेदमें ही होती है।

(१३-१४) त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः॥
निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥
(अ ४, २०-२१)

अर्थः—कर्मफलको त्यागकर जो पुरुष कर्तृत्वाभिमानसे रहित सांसारिक आश्रयसे छूटा हुआ नित्य तृप्त है, वह कर्ममें प्रवृत्त रहता हुआ भी कुछ नहीं करता। जो पुरुष आशारहित है, चित्त और शरीरको जीते हुये है तथा जिसने सभी भोगोंकी सामग्री त्याग दी है, ऐसा पुरुष केवल शरीरसम्बन्धी कर्म करता हुआ पापको प्राप्त नहीं होता।

प्रथम श्लोकमें कहा गया है कि 'जो पुरुष सर्व आश्रयरहित नित्य ही अपने स्वरूपमें तृप्त और कर्तापनसे छूटा हुआ है, वह कर्मफलको त्यागकर कर्ममें प्रवृत्त हुआ भी कुछ नहीं करता।' इसी

प्रकार दूसरे श्लोकमें भी इसकी पुष्टि की गई है कि 'जो सब आशाओंसे छूटा हुआ है और शरीर-मनपर जिसका क़ाबू है, वह शरीरसम्बन्धी कर्म करता हुआ भी पापसे लेपायमान नहीं होता।' भगवान्‌के उपर्युक्त वचन वेदान्तसे विरोधी नहीं हैं। वेदान्तका यह आशय है कि निष्काम कर्मसे जिसका अन्तःकरण शुद्ध हुआ है और ज्ञानद्वारा कर्तापन व शरीरका अभिमान जिसका दग्ध हुआ है, उसके लिये कर्म बन्धनकारक नहीं और वह करता हुआ भी कुछ नही करता। उसके सब कर्म भुने बीजके समान हैं जो फलके हेतु नहीं रहते और वह सर्व कर्तव्योंसे मुक्त है, करे या न करे। हाँ, अन्तःकरण शुद्ध होनेके पश्चात् और ज्ञानसे पहले प्रवृत्तिसे छूटकर ज्ञानके साधनोंमें प्रवृत्त होना वेदान्तदृष्टिसे आवश्यक है, परन्तु ज्ञान प्राप्त कर चुकनेपर उसके लिये कोई विधि नहीं। जब वह रोगमुक्त हो गया तब उसके लिये ओषधि व पथ्य ज़रूरी नहीं।

तिलक-मत कहता है कि ज्ञानीके लिये भी कर्तव्य अवश्य है सो इन श्लोकोंसे ज्ञानीपर कोई कर्तव्य सिद्ध नही होता। भगवान्‌का कथन है कि ऐसा पुरुष कर्म भी करे तो भी वह कुछ नही करता और किसी पापसे लेपायमान नहीं होता। परन्तु इससे उसपर किसी कर्मकी विधि सिद्ध नहीं होती, बल्कि यह उसकी महिमा है कि वह करता हुआ भी कुछ नहीं करता और नहीं बँधता। न तिलक-मतके अनुसार इन श्लोकोंसे ज्ञानोत्तर दो भिन्न-भिन्न मार्ग स्वतन्त्र और तुल्यबल ही सिद्ध होते हैं।

(१५) तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ (४-४२)

अर्थ—इसलिये अज्ञानसे उत्पन्न हुये हृदयस्थ अपने इस संशयको (कि मैं कर्ता-भोक्ता हूँ) ज्ञानरूपी खड्गसे छेदन करके

और योगमें स्थित होकर हे भारत ! तू खड़ा हो जा।

इस श्लोकसे भी तिलक-मतका कोई अङ्ग प्रमाणित नहीं होता। इस श्लोकका तात्पर्य यह है कि यह जो तेरे हृदयमें संशय स्थिर हो गया है कि 'मैं भीष्मादिकोंको मारनेवाला हूँ और वे मारेजानेवाले हैं' यह तेरे कर्तृत्वाभिमान करके ही सिद्ध होता है। कर्तृत्वाभिमान देहाभिमानके कारणसे है, जब तूने शरीरको ही आपा करके जाना और भीष्मादिकोंको अपनेसे भिन्न जाना, तभी तू मारनेवाला बन रहा है; किन्तु यह अज्ञान-सम्भूत है। इस संशयको तू अपनी ज्ञानरूपी तलवारसे काट, कर्मरूपी तलवारसे नहीं; क्योंकि अज्ञानसिद्ध वस्तुको नाश करनेके लिये ज्ञानकी ही जरूरत है। अन्धकारको नष्ट करनेके लिये प्रकाश ही चाहिये, किसी शस्त्रादिकोंसे अथवा जप-तपादिकोंसे अन्धकारकी निवृत्ति असम्भव है। वह ज्ञान यह है कि तूने जो अपने-आपको देहरूप करके जाना है सो तू नहीं, बल्कि तू शरीरका सार व अधिष्ठानरूप आत्मा है। देहादि तेरे वास्तविक स्वरूपको ढाँपनेके लिये पोशाकके समान कल्पना किये गये हैं। जब तू आत्मस्वरूप जाग्रत्से निकलकर स्वप्नमें जाता है तब स्थूलदेह-रूपी पोशाक तेरेसे उतर जाती है, लेकिन उस समय भी तू देही (आत्मा) अवश्य रहता है और सूक्ष्मशरीरकी सब रचनाओंको देखता है। सुषुप्ति-अवस्थामें जब तू अपने वास्तविक आनन्दस्वरूपमें विश्राम करता है तब यह सूक्ष्मशरीररूपी पोशाक भी तेरेसे उतर जाती है, परन्तु तू तो यहाँ भी अवश्य रहता है और जाग्रतमें आकर सुषुप्ति व स्वप्नके अनुभवोंकी स्मृति भी करता है। इसलिये वही तू है, जो तीनों अवस्थाओंमें हाजिर-नाजिर है और यह तीनों शरीररूपी पोशाकें तेरेमें कल्पित हैं। जो तू इस अर्जुन शरीरमें है वही तू भीष्मादि सर्व शरीरोंमें है और

सर्व देश-काल-वस्तुसे अच्छेद्य है। जैसे एक ही व्यापक आकाश नाना-घटोंमें आया हुआ भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में घटोंके भेदसे आकाशका भेद और घटोंके नाशसे आकाशका नाश नहीं होता, इसी प्रकार शरीरोंके नाशसे आत्माका नाश नहीं हो सकता।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥

(अ. २. १६)

अर्थात् जो इस आत्माको मारनेवाला जानता है अथवा जो इस आत्माको मरनेवाला मानता है, वे दोनों ही यथार्थ नहीं जानते, क्योंकि वास्तवमें यह आत्मा न मारता है न मरता है।

इस प्रकार ज्ञानरूपी तलवारसे कर्तृत्वाभिमानको काटकर अपने आत्मस्वरूपी योगमें स्थित हुआ, हे भारत! तू खड़ा हो। कर्तृत्वाभिमान ही बन्धन है और इसका समूल अभाव होना ही मुक्ति। किसी प्रकार कर्मके द्वारा कर्तृत्वाभिमानको नाश नहीं किया जा सकता, बल्कि कर्मद्वारा तो इसकी वृद्धिका ही सम्भव है। एकमात्र उपर्युक्त ज्ञान ही इस अभिमानसे छुटकारा दिला सकता है और यह ज्ञान केवल उसी हृदयमें टिक सकता है जो वैराग्यरूपी झाड़ूसे साफ हो चुका हो। इस श्लोकमें भगवान्‌ने कर्मद्वारा मोक्ष निरूपण नहीं किया, बल्कि कर्तृत्व-संशयको छेदन करनेके लिये 'ज्ञानासिना' ज्ञानरूप खड्ग ही साधन बतलाया है। 'योग' शब्दका अर्थ यहाँ निष्काम-कर्म-योग नहीं है, बल्कि यहाँ आत्मस्वरूपस्थिति ही 'योग' शब्दका मुख्य अर्थ है। क्योंकि ज्ञानरूपी तलवार और निष्काम-कर्मयोग दोनों साधन तो इकट्ठे रह नहीं सकते, किन्तु ज्ञानरूप तलवार तो साधन है और 'योग' (आत्मस्वरूपस्थिति) साध्य, अर्थात् ज्ञानद्वारा ही आत्मस्वरूप

की प्राप्ति सम्भव है। ज्ञानद्वारा निष्काम-कर्मयोग किसी प्रकार साध्य नहीं बनाया जा सकता। अब यदि यह कहा जाय कि इस श्लोकमें, भगवान्‌ने अर्जुनको खड़ा होनेके लिये कहा है तो इससे ज्ञानीपर कोई कर्तव्यरूप विधि सिद्ध नहीं होती। यदि भगवान्‌के मतसे ज्ञानीपर विधि होती तो अपने उपदेशकी समाप्ति पर भगवान्‌को स्पष्ट कहना चाहिये था कि तुझे युद्ध करना कर्तव्य है, परन्तु वे तो अन्तमें कहते हैं।

'मैंने तेरेको अपना अति गुह्य-ज्ञान कह दिया है, इसको विचारकर 'यथेच्छसि तथा कुरु' अर्थात् जैसी तेरी इच्छा हो वैसा कर (अ. १८ श्लो. ६३)।'

(१६) सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥ (३. २५)

अर्थः—हे भारत! कर्ममें आसक्त हुए अज्ञानीजन जैसे कर्म करते हैं, वैसे ही अनासक्त हुआ विद्वान् लोकसंग्रहको चलाता हुआ कर्म करे।

इस श्लोकसे स्पष्ट विदित है कि भगवान्‌ने विद्वान् पर अपने निमित्त तो कोई कर्तव्य नहीं रक्खा, बल्कि लोकसंग्रहके निमित्त कर्म करनेको कहा है, सो भी कर्तव्यरूपसे नहीं किन्तु एक परामर्शरूपसे कहा है। 'कुर्यात् विद्वान्' अर्थात् विद्वान् लोकसंग्रहको करे, विद्वान्‌पर कर्तव्य है ऐसा नहीं कहा गया। यदि विद्वान्‌के लिये विधि भगवान्‌को इष्ट होती तो 'कुर्यात' के स्थानपर 'कर्तव्य' शब्दका प्रयोग क्या वह नहीं कर सकते थे? परन्तु भगवान्‌को विद्वान्‌पर विधिरूप कर्तव्य इष्ट नहीं है। दूसरे, विद्वान्‌की प्रत्येक चेष्टा स्वाभाविक ही लोकसंग्रहरूप होती है। उसको लोकसंग्रह बनानेके लिये कोई कर्तव्य धारण करना नहीं पड़ता। यदि वह कृत्रिमरूपसे कर्तव्य धारकर लोकसंग्रह करना चाहे, तब वह

लोकसंग्रह चलानेका पात्र ही नहीं। लोकसंग्रह तो इन विद्वान्‌द्वारा केवल तभी सिद्ध हो सकता है, जबकि इनकी प्रत्येक चेष्टा इसी प्रकार स्वाभाविक सत्यतापूर्ण व शिक्षाप्रद हो जाय, जैसे नेत्रोंका खोलना मून्दना और बालोंका बढ़ना स्वाभाविक होता है। तिलक महोदयका जीवन केवल प्रवृत्तिपरायण रहा, इस लिये वे केवल प्रवृत्तिमें ही लोकसंग्रहको भले ही सीमाबद्ध करें परन्तु यदि वे थोड़ा पीछे मुड़कर देखते तो उनको ज्ञात होता कि निवृत्तिद्वारा कितना कुछ लोकसंग्रह सिद्ध हो चुका है और हो रहा है। बल्कि प्रवृत्तिद्वारा वह शान्ति व स्वराज्य स्थापन नहीं हो सकता जो निवृत्तिद्वारा स्वाभाविक सिद्ध हो जाता है। इसके लिये हमको प्राचीन कालके सनकादिक व शुकादिकोंपर दृष्टि डालनेकी जरूरत नहीं, बल्कि निकटवर्ती कालके श्रीकबीरदेवजी, श्रीगुरुनानकदेवजी, गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी, श्रीस्वामीरामदासजी, श्रीज्ञानदेवजी, श्रीदादूदयालजी और श्रीरामचरणजीके जीवन तथा वर्तमान काल के श्रीस्वामी विवेकानन्दजी, श्रीस्वामी रामतीर्थजी और श्रीस्वामी मगलनाथजी आदिके जीवन इसके ज्वलन्त दृष्टान्त हैं। जिनके आचार व विचार मुर्दोंमें भी प्राणसंचार कर देते हैं। बल्कि सत्य तो यह है कि प्रवृत्तिद्वारा जो लोकसंग्रह सिद्ध होगा वह केवल भौतिकसुखको ही देनेवाला होगा, सच्ची शान्ति प्रदान करनेमें निवृत्तिरूप लोकसंग्रह ही एकमात्र साधन है। तिलक महोदयने कहा है कि सन्यासी कहते हैं 'कर्तव्य शेष नहीं, कुछ न कर।' और गीता कहती है 'कर्तव्य शेष नहीं, अनासक्त बुद्धिसे कर।' वास्तवमें कहना पड़ेगा कि तिलक महोदयने 'कर्तव्य अशेष' का भावार्थ ही न समझा। 'कर्तव्यशेष नहीं' के साथमें न तो संन्यास का ही ऐसा मत है कि 'कुछ न कर' और न गीता ही ऐसा कहती है कि 'अनासक्त बुद्धिसे कर'। यदि 'कुछ न कर' यह विधि लगाई

जाय-तो 'कुछ न करना' भी कर्तव्य बन जाता है और 'अनासक्त बुद्धिसे कर' यह विधि भी कर्तव्य हो जाता है। तिलक महोदय के दोनों कथन ही भ्रममूलक हैं। 'कर्तव्य अशेप' का भावार्थ तो यह है कि जहाँ पहुँचकर न तो 'कुछ न करना' ही कर्तव्य रहे और न 'अनासक्त बुद्धिसे करना' ही कर्तव्य रहे, वहाँ ही 'कर्तव्य अशेप' यथार्थरूपसे सिद्ध होता है। जैसे शिशुकी समस्त शारीरिक चेष्टाएँ स्वाभाविक कर्तव्यशून्य होती हैं, वैसे ही जिन ज्ञानी पुरुषोंने अपने-आपको ज्यूँ का त्यूँ जाना है उनकी शारीरिक व मानसिक सर्व चेष्टाएँ स्वाभाविक कर्तव्यशून्य होती हैं और स्वाभाविक लोकसंग्रहका आकार धारण कर लेती हैं। क्योंकि सत्यकी ज्योति उनके हृदयमें प्रकट हुई है, इसलिये जो कुछ उनसे निकलता है 'सत्य' 'प्रकाश' ही निकलता है। जैसे सूर्यसे जो कुछ निकलता है वह प्रकाशरूप रश्मि ही होती है। सारांश यह कि विद्वान्-ज्ञानीपर लोकसंग्रह किसी प्रकार कर्तव्यरूपसे आरोपित नहीं किया जा सकता। क्योंकि जहाँ कर्तव्य है वहीं अज्ञान है, कर्तव्य सदैव भेददृष्टिमें ही बनता है और भेददृष्टि ही अज्ञान है।

(१७) तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥ (३-१६)

अर्थः—इसलिये तू अनासक्त हुआ निरन्तर करनेयोग्य कर्मोंका भली प्रकार आचरण कर, क्योंकि अनासक्त कर्मोंका आचरण करता हुआ पुरुष परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

इस श्लोकमें 'तस्मात्' (इसलिये) शब्द अपनेसे पूर्व श्लोकके साथ समन्वय सिद्ध करता है। श्लोक ३. १७ व ३. १८ में भगवान् ने कहा है, -

जिसकी अपने आत्मामें प्रीति है और जो आत्मामें ही तृप्त व सन्तुष्ट है, 'तस्य कार्यं न विद्यते' उसके लिये कोई कर्तव्य

नहीं रहता (३. १७)। उसका इस संसारमें न तो कुछ किये जानेसे प्रयोजन है और न कुछ न किये जानेसे ही कोई प्रयोजन है (३. १८)।

इससे स्पष्ट है कि भगवान्‌को आत्मरूप (ज्ञानी) पर कोई कर्तव्य इष्ट नहीं है। अध्याय ३ श्लोक १७ की टीकामें तिलक महोदयने 'तस्य कार्यं न विद्यते' के अर्थमें 'स्वयं अपना कुछ कार्य नहीं रहता, परन्तु संसारके निमित्त कर्तव्य रहता है' ऐसा अधिक अर्थ किया है। यह उनका साम्प्रदायिक आग्रह है। यदि इसको सत्य भी मान ले तो अगले श्लोक ३. १८ में इसका हाथों-हाथ स्पष्ट खण्डन मिल जाता है, जिसमें कहा है कि 'उसका इस संसार में ही कुछ करने या न करने से कोई प्रयोजन नहीं रह जाता' 'न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः।' हाँ, उस उपर्युक्त अवस्थाकी प्राप्तिके लिये इस श्लोक (३ १९) में अनासक्त-बुद्धिसे करनेयोग्य कर्मोंका आचरण सहायक बतलाया गया है। इससे वेदान्तका कोई विरोध नहीं, वेदान्त कर्मों को निष्फल नहीं कहता, बल्कि उसका तो कथन है कि जैसे लोहेसे लोहा काटा जाता है, वैसे ही कर्मोंसे कर्म काटे जाते हैं। इसी प्रकार कर्तव्य-कर्म भी कर्तव्योंसे छुटकारा दिलानेके लिये हैं, नकि कर्तव्योंमें जकड़े रखने के लिये ही। इस श्लोकसे कर्मकी कर्तव्यता जिज्ञासुपर रक्खी गई है कि इस प्रकार आचरणद्वारा वह उस ज्ञानावस्था (मुक्त-कर्तव्यता) को प्राप्त हो सकता है, जिसका वर्णन पिछले श्लोक ३ १७ व ३ १८ में किया गया है। परन्तु तिलक-मतका तो कथन है कि कर्तव्योंसे कदापि छुटकारा है ही नहीं। ऐसा अर्थ इन तीनों श्लोकों की संगति लगानेसे सिद्ध नहीं होता। 'मुक्त-कर्तव्य' का अर्थ 'निश्चेष्ट होना' नहीं है, जैसा तिलक महोदयने इन श्लोकों की टीकामें वेदान्त मतका आशय जितलाया है, बल्कि 'विधिसे

मुक्त होता है। कर्मकी विधि ही बन्धन है, स्वाभाविक कर्म बन्धक नहीं। यही आशय उन योगवाशिष्ठ तथा गणेश-गीताके श्लोकोंका है, जो तिलक महोदयने इन श्लोकोंकी टीकामें अपनी ओरसे प्रमाणमें दिये हैं और श्लोक नं० १६ (अ. ३. २५) की व्याख्यामें हमारे द्वारा भी पीछे पृ. ७७ से ७६ पर उसका यही आशय स्पष्ट किया गया है।

(१८) अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥
(अ० ६-१)

अर्थ:—कर्मफलका आश्रय न करके जो करने योग्य कर्म करता है वही संन्यासी और वही योगी है, न कि अग्निको त्यागनेवाला अथवा क्रियाको त्यागनेवाला।

इस श्लोकमें फलाशारहित कर्मकी प्रशंसा की गई है और ऐसे कर्मको संन्यासकी उपमा दी गई है। इससे भगवान्‌का तात्पर्य निष्काम-कर्मकी महिमामें है न कि संन्यासकी निन्दामें। जिस संन्यासकी उपमा देकर निष्काम-कर्मकी महिमा गाई गई है, वह संन्यास इससे निन्दित नहीं ठहरता। यदि उपमान (संन्यास) निन्दित है तो उपमेय (निष्काम-कर्म) स्वाभाविक निन्दित होगा। इससे स्पष्ट है कि संन्यासकी उपमा देकर सन्यास निन्दित नहीं बनाया गया, बल्कि इसके सम्बन्धसे निष्काम-कर्मकी स्तुति गाई गई है। ऐसी स्थितिमें संन्यास तो स्वाभाविक स्तुतियोग्य है ही, जिसके द्वारा निष्काम-कर्म स्तुतिपात्र बना। परन्तु इसके विपरीत तिलक महोदयने इस श्लोकसे निष्काम-कर्म ही श्रेय और सन्यास गर्हित ठहराया है, जो उनकी अनुदारताका ही परिचय देता है। दूसरे, यद्यपि संन्यासमार्गमें शारीरिक चेष्टाको घटाया गया है,

तथापि श्रवण-मनन-निदिध्यासनादि मानसिक व बौद्धिक चेष्टाओं का विकास अधिक है। क्या तिलक महोदय कह सकते हैं कि कर्मकी जो व्याख्या भगवान्‌ने अ. ८ श्लो. ३ मे की है, उसके अन्तर यह बौद्धिक चेष्टाएँ नहीं आतीं ? क्या ये भावशून्य चेष्टाएँ हैं और अधिकारीके लिये वे नियत-कर्म नहीं ? इसके अलावा इस श्लोकसे न तो कर्मसे मोक्ष सिद्ध होता है और न ज्ञानीपर कर्तव्य ही सिद्ध होता है।

(१६) तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्धय च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥
(८-७)

अर्थ—इसलिये सर्व कालमें तू मेरा स्मरण कर और युद्ध कर, मेरेमे अर्पण किये मन-बुद्धिसे तू निस्सन्देह मेरेको ही प्राप्त होगा।

इस श्लोकमें भक्तियुक्त कर्मकी प्रशसा की गई है, सो यथार्थ ही है। वेदान्त इसका विरोध नही करता, बल्कि ऐसे कर्मको आदर देता है और ज्ञानमे इसकी परम उपयोगिता मानता है। किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि कर्म ही मोक्षका साक्षात् साधन है, अथवा ज्ञानीपर कोई कर्तव्य है।

इस प्रकार तिलक महोदयकी उक्तिके अनुसार इन श्लोकोंका अर्थ ग्रहणकर हमने विचार किया है, वस्तुतः तो इन श्लोकोंका अर्थ गम्भीर है। हमारे विचारसे गीता तिलक-मतकी, जैसा उन्होंने प्रकट किया है, पुष्टि नहीं करती। गीता एक परम उदार, व्यापक और प्राकृतिक शिक्षा देनेवाला अद्भुत ग्रन्थ है जो किसी मत-मतान्तरकी सीमामे नहीं बाँधा जा सकता। यह सब मत-मतान्तरोंको प्रकाश देनेवाला है, और सबसे निराला है

कर्मको यद्यपि इसमें आदर दिया गया है, परन्तु ज्ञान, त्याग व संन्यासकी निन्दा नहीं की गई, बल्कि त्याग, संन्यास व ज्ञानको पूर्ण महत्व दिया गया है (देखो अ. १३ श्लो. ७ से ११, अ. १८ श्लो. ५१ से ५३ व अ. ४ श्लो. ३३ से ३६)। तथा प्रकृतिके तीनों गुणोंके अनुसार अधिकारको भली-भाँति पुष्ट किया गया है। तिलक महोदयने गीताका तात्पर्य प्रवृत्तिमण्डन व निवृत्तिखण्डन में भले ही निकाला हो, परन्तु यह सम्भव नहीं जान पड़ता और सात्त्विक-बुद्धि आज्ञा नहीं देती कि वस्तुत. गीताका तात्पर्य निवृत्तिखण्डनमें है। सच बात तो है यूँ कि प्रवृत्तिको भी जो आदर गीतामें मिला है वह निवृत्तिरूप त्यागके सम्बन्धसे ही मिला है। जैसे हलवेको प्रियता मिली है तो मिश्रीके सम्बन्धसे, मिश्रीके बिना अपनी उसमें कोई प्रियता नहीं, इसी प्रकार प्रवृत्ति भी मानपात्र हुई है तो केवल फलत्यागरूप निवृत्तिके मेल करके। फिर यह क्योंकर माना जा सकता है कि निवृत्तिरूप मिश्री अपने स्वरूपसे त्याज्य है। गीताका प्रत्येक शब्द व प्रत्येक आशय व्यापक है। इसी प्रकार 'कर्म' व 'योग' शब्द भी इसमें गम्भीर हैं और व्यापक अर्थ रखते हैं। 'कर्म' शब्दका अर्थ केवल शारीरिक चेष्टाएँ ही नहीं, किन्तु मानसिक व बौद्धिक चेष्टाएँ भी गीता की व्याख्यामें 'कर्म' हैं। परन्तु तिलक महोदयने शारीरिक प्रवृत्तिरूप चेष्टाओंको ही 'कर्म' मानकर मानसिक व बौद्धिक तत्त्वचिन्तनादि निवृत्तिरूप चेष्टाओंको 'कर्म' से भिन्न त्याज्य माना है, जो किसी प्रकार गीताका तात्पर्य नहीं हो सकता। यदि निवृत्तिरूप मानसिक व बौद्धिक चेष्टाओंको भी 'कर्म' रूपसे ग्रहण किया जाय (जो गीताको मान्य है) तो तिलक-मत निर्मूल हो जाता है।

वेदान्तके आशयको न समझ, मुक्त-कर्तव्य (कर्तव्यराहित्य)

का अर्थ उन्होंने कर्महीनता व निश्चेष्टता किया है, जो सर्वथा अनुभवविरुद्ध है। मुक्त-कर्तव्यका अर्थ चेष्टाशून्य होना नहीं है, बल्कि विधिमुक्त होना है। चेष्टा अपने स्वरूपसे बन्धनका हेतु नहीं है, किन्तु चेष्टाके साथ जो विधि है कि 'अमुक कर्म करना हमारे ऊपर 'विधि' या 'फरज' है और उसको करनेके लिये हम पाबन्द हुये हैं' केवल वह विधि ही बन्धन व कर्तृत्व-अहङ्कारका हेतु है और वही दुःख है। अपनी स्वाभाविक चेष्टा, जिसके साथ विधिरूप कर्तव्य नहीं, दुःखरूप भी नहीं, बल्कि वह तो आनन्द-रूप है। जैसे बच्चे किसी कर्तव्यके बिना गुड्डे-गुडियोंके खेलमें गृहस्थके सभी प्रपञ्च रचते हैं, परन्तु वह उनके लिये केवल विनोद-रूप ही होता है, किसी प्रकार दुःखरूप नहीं होता। इसी प्रकार मुक्त-कर्तव्यका आशय तो यह है कि देहाभिमानसे ऊँचा उठकर और स्वरूपस्थिति प्राप्त करके विधिके बन्धनसे छुटकारा पा लिया जाय, जहाँ न तो 'कुछ न करना' विधि रहे और न 'कुछ करना' ही विधि रहे। वेदान्तका यह आशय नहीं कि किसी प्रकार साधन अवस्थामें ही लोक व वेदका बन्धन तोड़ा जाय। कदापि नहीं। बल्कि वेदान्त तो साधन अवस्थामें अधिकारीके अधिकारानुसार कर्तव्यका बन्धन लगाता है कि वह अपने धर्मा-नुसार कर्तव्यमें बँधा हुआ अपनी उन्नतिके मार्गमें निर्विघ्नतया तीव्र वेगसे चला जाय, जिस प्रकार नदीका प्रवाह अपने तटोंकी मर्यादामें बँधा हुआ तीव्र वेगसे समुद्रकी ओर दौड़ता जाता है। परन्तु अन्ततः तटोंकी मर्यादामें चलता हुआ समुद्रमें मिलकर उसको मर्यादामुक्त व तटमुक्त स्वाभाविक ही होना पड़ेगा। ठीक, इसी प्रकार अधिकारानुसार कर्तव्य-बन्धन भी जीवको अपनी मर्यादामें चलाता हुआ शिवरूप समुद्रमें मिलाकर मुक्त-

कर्तव्य करनेका जुम्मेवार है। जैसे वृक्षके साथ बँधा हुआ फल जब पक जाता है तब अपने-आप वृक्षसे छूट जाता है। प्रकृति का ऐसाही अटल नियम है। इसी प्रकार कर्तव्यको अपनी ओर से त्याग करना नहीं है, बल्कि सच्चा त्याग वही है कि परमानन्द-रूप समुद्रमें मिलता हुआ कर्तव्य अपने-आप छूट जाय, जिस प्रकार दबा-दब मदिरापान करते-करते मदिराप्रेमीके हाथसे प्याला अपने-आप छूट जाता है। जिन लोगोंने अपने ऊपर कर्तव्यसे मुक्त होनेकी विधि लागू की हुई है कि कर्तव्यका त्याग करना हमको कर्तव्य है वे वास्तवमें अभी बन्धनमें ही हैं। सारांश, किसी भी प्रकार जो लोग कर्तव्यके साथ बँधे हुए हैं वे अभी रोगी हैं। यह जीव शिवरूप होते हुए जब अपने वास्तविक स्व-रूपको भूल जाता है और देहादिमें अभिमान करता है, तभी यह किसी न किसी रूपमें अपने ऊपर कर्तव्यका भूत सवार कर लेता है, यही रोग है। ऐसी अवस्थामें इहलोक अथवा परलोक के सुखकी इच्छासे इसके हृदयमें रजोगुण विद्यमान हो जाता है। कर्तव्यता केवल रजोगुणका ही परिणाम है और जहाँ रजोगुण व कर्तव्य है वहाँ कर्तृत्वरूपसे परिच्छिन्न-अहङ्कार भी है। जहाँ रजोगुणमिश्रित कर्तृत्व-अहङ्कार व कर्तव्य दोनो हैं, वहाँ जो कुछ निर्णय होगा वह अवश्य एकदेशीय व दोषयुक्त ही होगा, व्यापक और निर्दोष नहीं हो सकता। क्योंकि ऐसे लोग अभी कर्तव्यके भारवाही हैं, भारसे मुक्त नहीं हुए, फिर उनकी दृष्टि क्योंकर व्यापक हो सकती है। इसके विपरीत जो पुरुष उपर्युक्त रीतिसे मुक्त-कर्तव्य हुए हैं, उनकी दृष्टि सदैव व्यापक होगी और जो कुछ उनके द्वारा निर्णय होगा वह निर्दोष, व्यापक और सर्व-श्रेयस्कर होगा; इसमें सन्देह ही क्या है?

तिलक-मतके अनुसार 'योग' व 'सांख्य' भिन्न-भिन्न दो मार्गों

की कल्पना करके उपर्युक्त रीतिसे इस मतका निराकरण किया गया। यदि तत्त्वदृष्टिसे देखा जाय तो 'योग' व 'सांख्य' भिन्न-भिन्न मार्ग नहीं है। वस्तुत: 'योग' शब्दका अर्थ न 'निष्काम-कर्म' अथवा प्रवृत्तिमार्ग ही है और 'सांख्य' शब्दका अर्थ न कर्म-त्यागरूप निवृत्ति ही है, बल्कि दोनो एक ही हैं और परस्पर दोनों की सङ्गति लगाना ही गीताका उद्देश्य है। अपने साक्षीस्वरूप आत्मामें अभेदरूपसे स्थिति पाना ही 'योग' है, तथा तत्त्व-साक्षात्कारद्वारा कर्तृत्वाभिमानसे मुक्त होकर और कर्तव्यसे छूटकर सब कुछ करके भी कुछ न करना ही 'सांख्य' है। इस विषयका विस्तारसे विवरण 'गीता-दर्पण'* की प्रस्तावनामें हमारे द्वारा किया गया है, जिनको जिज्ञासा हो वे वहाँ देखें।

तिलक-मतके षष्ठ अंकका निराकरण

तिलक-मतका छटा अङ्क कि 'अहङ्कार छुटनेसे 'मैं-मेरी' आपा नहीं रहती, उसके बदले ज्ञानीमें 'जगत् व जगत्' का अथवा भक्तिपक्षमें 'ईश्वर व ईश्वरका' यह व्यवहार होता है' इत्यादि। इसका समाधान हमारे समाधानके अङ्क नं० २ मे पृ. १८ से २२ पर आ चुका है, इसलिये पुनरुक्ति निष्प्रयोजन है।

तिलक-मतके सप्तम अंकका निराकरण

अब हम तिलक-मतके सातवें अङ्कपर आते हैं। इस अङ्कमें तिलक महोदयका कथन है कि 'लोकोको खोटी प्रवृत्तिसे बचाकर शुभ प्रवृत्तिमें लगाना लोकसंग्रह है और ज्ञानियोके गृहस्थमें रहनेसे लोकसंग्रह अधिक होता है।'

---

*यह ग्रन्थ 'भ गणपतराम गंगाराम शराफ नया बाजार, अजमेर' के पतेसे मिल सकता है।

यहाँ हमारे लिये यह विचार कर्तव्य है कि लोकसंग्रह गृहस्थमें रहकर ही सिद्ध होता है अथवा गृहस्थ त्यागकर भी और अधिक लोकसग्रह गृहस्थमें रहकर होता है अथवा गृहस्थ त्यागकर। स्वयं अपना आचार-विचार और व्यवहार इतना पवित्र व उत्कृष्ट हो कि लोकोंके लिये आदर्शरूप बन जाय, जिससे लोक स्वयं हमारे सत्यता व प्रेमपूर्ण आचार-विचारसे आकर्षित होकर हमारा अनुसरण करें और स्वयं अशुभ प्रवृत्तिसे छूटकर शुभ प्रवृत्तिमें जुड़ जाएँ, इसीका नाम लोकसंग्रह है। जिसने जितना अधिक अपना सुधार किया उतना ही अधिक वह लोकसंग्रह कर पाया, अपना सुधार करना ही लोकसंग्रहकी कुञ्जी है। जैसे सूर्य अपने प्रकाशसे प्रकाशमान होता है तब बिना ही किसी चेष्टाके संसारका अन्धकार अपने-आप दूर हो जाता है, अखिल ब्रह्माण्डवर्ती जड़-चेतन पदार्थोंमें स्वतः जागृति आ जाती है और स्वतः ही लोकसंग्रह सिद्ध हो जाता है। स्वयं प्रकाशशून्य रहकर उसके द्वारा संसारमें किसी अर्थकी सिद्धि नहीं हो सकती। सूर्यके केवल अपने प्रकाशसे प्रकाशमान होनेका ही यह फल है कि उसके उदय होते ही पशु, पंछी, मनुष्य, नदी सब सचेत हो जाते हैं और अपने-अपने व्यवहारमें प्रवृत्त होजाते हैं। वर्षा होती है तो सूर्य करके, फल-फूल व अन्नादि पकते हैं तो सूर्य करके, यद्यपि उसको यह कोई कार्य अपने-आप करना नहीं पड़ता, परन्तु यह सब कुछ सिद्ध होता है उसी सूर्यद्वारा, उसी की साक्षीमें। दीपकको अपने प्रकाशमें प्रकाशमान होनेकी ही देरी है कि पतंगे अपने-आप उसपर आपेकी बलि देनेके लिये हाज़िर हो जाते हैं, उसको (दीपक को) पतंगोंके लिये निमन्त्रण-पत्र भेजनेकी कोई जरूरत नहीं। संसारका केन्द्र हमारे अपने ही अन्दर है, इसलिये अपने-आपेको हिलाकर संसारको हिलाया

जा सकता है। इसके बिना केवल संसारको हिलानेकी चेष्टा करना प्रमाद है, वह हिल नहीं सकेगा। दृष्टान्तस्थलपर समझ सकते हैं कि मेज या चारपाई जो आपके पास पडी हुई है, यदि आप इसको हिलाना चाहते हैं तो आप इसका वह भाग जो आपके निकटतर है पकड़कर खैंचें, ऐसा करनेसे इसके समग्र भाग हिल जायेंगे। इसके विपरीत यदि आप इसके निकटतर भागको छोड़ परले भागपर हाथ डालेंगे तब आप इसको हिला न सकेंगे। ठीक, यही अवस्था ससारके सम्बन्धमें है। संसारका सबसे निकटतर भाग अपना हृदय है, इसको हिलाकर संसारको अवश्य हिलाया जा सकता है। भगवान् बुद्ध, शङ्कर, नानक, कबीर आदि इसके ज्वलन्त दृष्टान्त हैं। वे सब अपना सुधार करके ही, अपने-आपको आदर्शरूप बनाकर ही संसारका सुधार कर पाये थे, इसके बिना नहीं। यह बात विज्ञानद्वारा प्रमाणित है कि एक स्थानकी वायु सूर्यतापसे हलकी होकर जब ऊँची उठ जाती है और अपना स्थान खाली कर देती है, तब वह आप ऊँची उठकर और अपना स्थान खाली करके सम्पूर्ण ब्रह्माण्डवायु मे खलबली उत्पन्न कर देती है और उस खाली स्थानके भरनेके लिये सब ओरसे अपने-आप ब्रह्माण्डवायुमे हल-चल मच जाती है। ठीक, इसी प्रकार अधिकारी जब अपने आत्मप्रकाशके तापसे सूक्ष्म होकर परिच्छिन्न-अहङ्कारसे ऊँचा उठ जाता है, तब ससार में उसका अनुसरण करनेके लिये और उसकी खाली जगह घेरने के लिये स्वाभाविक ही हल-चल उत्पन्न हो जाती है।

तन छक मन छक बैन छक, नयन रहे मण्डराय।
छकी दृष्टि जापर पड़े, रोम रोम छक जाय॥

जब कि ठोस सत्य यही है कि अपने-आपका सुधार करना और अपने-आपको आदर्शरूप सिद्ध करना ही संसारका सुधार

करना है और यही सुदृढ़ लोकसंग्रह है, तब तिलक महोदयका यह मत कि 'ज्ञानियोंके गृहस्थमें रहनेसे ही अधिक लोकसंग्रह सिद्ध होता है' एक शून्य कल्पना और कोरा हठ है। हमारा तो कथन इतना ही है कि पहले ही संसारका सुधार करनेके लिये तथा लोकसंग्रहके लिये न झटपटाओ, इससे पहले अपना तो सुधार करलो, ठीक-ठीक ज्यूँका त्यूँ अपना और संसारका स्वरूप तो जान लो और २+२=४ की भाँति यह यथार्थ निर्णय तो कर लो कि ब्रह्मासे लेकर चींटीपर्यन्त भूत-प्राणिमात्रका जीवन किस अनोखी वस्तुके लिये कटु हो रहा है? अपनी प्रत्येक चेष्टा में वे किस सलौनी वस्तुको बटोर रहे है? वह कहाँ है? उसका वास्तव स्वरूप क्या है? और वह ठीक-ठीक कैसे प्राप्त की जा सकती है? जबतक इन पहेलियोंको ठीक-ठीक न सुलझा लोगे और आप अपनी प्यास भली-भाँति शान्त न कर लोगे, तबतक आप लोकसंग्रहके पात्र ही नहीं हो सकते। इससे पहले ही लोक-संग्रहके लिये यदि व्याकुल हो रहे हैं तो स्मरण रहे कि आप संसारके सुधारक न होकर संसारके नाशक भी हो सकते हैं। 'नीम हकीम खतरें जाँ, नीममुल्ला खतरे इमाँ'— अर्थात् अर्द्ध-वैद्य से जीवनका भय और अर्द्ध-उपदेशकसे धर्मका भय होना जरूरी है। तब यही गति संसारकी होनी निश्चित है। चौबेजीसे छब्बेजी होनेके स्थानपर दुब्बेजी ही बनना पड़ेगा। इसके विपरीत यदि आप अपना फैसला कर बैठे है तो इस चिल्लाहटका कोई अर्थ नहीं बनता कि 'ज्ञानियोंके गृहस्थमे रहनेसे ही लोकसंग्रह बनता है, अन्यथा नहीं।' प्रथम तो ज्ञानीका यह विचार कि 'मुझे लोकसंग्रह कर्तव्य है और इसके लिये मुझे गृहस्थमे ही रहना आवश्यक है, उसके ज्ञानकी सर्व प्रकार त्रुटिको ही सिद्ध कर रहा है, क्योंकि अभी उसमें आत्मप्रकाशकी मस्ती ही नहीं आई।

'लोकसंग्रह मुझको करना है, गृहस्थमें ही रहना है, संसार बिगड़ा हुआ है और इसका सुधार करना है' इत्यादि इसमें अनेक कर्तव्यरूप भ्रम उसमें भरे पड़े हैं। जहाँ कर्तव्य है वहाँ भ्रम है और भ्रम सदैव अन्धकार (अज्ञान) में ही होता है प्रकाश (ज्ञान) में नहीं। जबकि अन्धकार विद्यमान है तो अन्धकारमें अन्धकारकी निवृत्ति नहीं होती, इसके लिये तो प्रकाश ही चाहिये। ज्ञानी तो वही होगा जिसके चित्तसे घर व नगरका भेद निकल गया हो।

'गृह उद्यान एक सम जान्यो, भाव मिटायो दूजा।'

जिसकी दृष्टिमें सब संसार, क्या जड़ क्या चेतन, क्या स्थावर क्या जङ्गम अपने ही परमानन्दकी तरंगें बन गई हों, भेददृष्टि दग्ध होगई हो। फिर उसके लिये कहाँ संसार? कैसा सुधार? ज्ञान कोई वाचनिक नहीं है, बल्कि शरीरके रोम-रोममें परमानन्दकी लहरें तरङ्गायमान करता है। इस प्रकार सूर्यके समान जब ऐसा महापुरुष अपने आत्मप्रकाशमें प्रकाशमान होता है, उसके नेत्र, वाणी और प्रत्येक चेष्टासे जब आनन्दकी रश्मियाँ फूट-फूटकर निकलती हैं, तब स्वतः अज्ञानान्धकार निवृत्त होता जाता है, भावुक-भक्त उसके परमानन्दके स्रोतमें मज्जन करते हुए तन-मन से माला-माल होजाते हैं और स्वतः लोकसंग्रह सिद्ध हो जाता है। परन्तु हमारे तिलक महोदयके ज्ञानियोंमें तो प्रवृत्ति-निवृत्तिका भेद और संसारदृष्टि भरपूर भरी है, यहाँतक कि उनको तो अपने स्वरूपमें संसार बिगड़ा हुआ भान हो रहा है और उसको सुधारनेका भार उनपर लदा हुआ है। आजा! सुधारो अपनी दृष्टियोंको, जब आपकी अपनी दृष्टि सुधर जायगी तब बाहर तो संसार तीन कालमें ही नहीं हुआ। केवल आपकी दृष्टिमें ही संसार भरा पड़ा था, उखाड़ो उसको वहाँसे, फिर सेनिमाके पड़देके समान बाहर तो कुछ बना ही नहीं, केवल अपने नेत्रोंमें पीलिया होनेसे ही सब संसार पीला दीख पड़ता है।

क्या सोचे क्या समझे राम ? तीन कालका वाँ क्या काम ?
क्या सोचे क्या समझे राम ? तीन लोक नहीं उपजे धाम।
नित्य तृप्त सुख सागर राम। क्या सोचे क्या समझे राम ?

लोकसंग्रह वास्तवमें कर्तव्य नहीं हुआ करता, यदि कर्तव्य है तो वह लोकसंग्रहका पात्र ही नहीं। लोकसंग्रहका पात्र तो वही होगा जिसकी चेष्टा स्वाभाविक ऐसी पवित्र होजाय, जैसे अङ्गों का फड़कना स्वाभाविक होता है। यदि कर्तव्य रखकर चेष्टाएँ की गई हैं तो वे कृत्रिम हैं, ऐसी चेष्टाएँ लोकसंग्रहरूप नहीं हो सकतीं। क्योंकि उन चेष्टाओंका अभी उसके स्वस्वरूपमें प्रवेश नहीं हुआ वे केवल स्वाँगमात्र हैं। स्वाभाविक चेष्टाओंमें और कर्तव्यरूप चेष्टाओंमें बड़ा अन्तर है। सारांश यह है कि ज्यूँ-त्यूँ करके पहले अपना सुधार कर लेना चाहिये। जैसे-जैसे आपकी निजी प्रकृति आपके लिये मार्ग खोलती है, चाहे निवृत्तिद्वारा चाहे प्रवृत्तिद्वारा आत्मकल्याण कर जाना चाहिये। यह आग्रह और बन्धन न लगाओ कि प्रवृत्तिमें ही रहना है और निवृत्ति घृणित है। शरीररूपी रथकी बागडोर उस कृष्णके हाथमें दे दो, फिर संसाररूपी कुरुक्षेत्रसे वह तुमको साफ निकाल ले जायगा, जरा आँच भी न आने देगा। क्या प्रवृत्ति व क्या निवृत्ति संसारमें कोई पदार्थ निष्प्रयोजन नहीं है, कालभेद व अधिकारभेदसे सभी अमृत हैं। रोगीके अधिकारानुसार विषभी अमृत बन जाता है, तब अमृतस्वरूप निवृत्तिका तो कहना ही क्या है ? जिस प्रकार वह आत्मदेव रीझे उसको रिझा लेना चाहिये, अपने-आपकी प्रत्येक बलि उसके चरणोंमें भेट धरनेके लिये उद्यत रहना चाहिये। जब वह रीझ गया और आप अपनी आन्तरिक शीतलता करके शीतल हो गये, तब आपके दर्शनमात्रसे सभी शीतल हो जाएँगे। जैसे चन्द्रमा जब अपने आपमें शीतल होता है, तब उसके दर्शन-

मात्रसे क्या जड क्या चेतन सभी शीतल हो जाते हैं और उसकी किसी चेष्टाके विना सभी उससे रस ले लेते हैं।

वास्तविक दृष्टि तो यही है जो ऊपर कथन की गई। यदि नीचे उतरकर व्यवहारिक दृष्टिसे देखा जाय तो लोकसंग्रह निवृत्ति-द्वारा जिस मात्रामे सिद्ध होता है, वह प्रवृत्तिद्वारा नहीं बन पड़ता। प्रवृत्तिद्वारा लोकसंग्रहमे प्रवृत्त पुरुषोंका जीवन केवल उन्हींके लिये उपदेशरूप हो सकता है जो प्रवृत्तिमे लम्पट हैं, सो भी स्थिर शान्तिको देनेवाला नहीं, निवृत्ति वालोंके लिये उनके जीवनसे कोई भी उपदेश नहीं मिल सकता। परन्तु जो निवृत्तिद्वारा लोकसंग्रहमें प्रवृत्त हुए हैं, उनका जीवन क्या प्रवृत्तिपरायण, क्या निवृत्तिपरायण सबके लिये उपदेशरूप है और स्थिर शान्ति को प्राप्त करानेवाला है। इस सिद्धान्तकी सत्यतामे ईश्वरीय प्रकृति स्वयं साक्षी है कि जैसा स्थायी लोकसंग्रह निवृत्तिपरायण भगवान् शुकदेव, भगवान् बुद्ध, भगवान् शङ्कर, श्रीकबीर, श्री नानकदेव और स्वामी रामदास आदि महापुरुषोंद्वारा बन पड़ा है, बन रहा है और बनता रहेगा, वैसा प्रवृत्तिपरायण जनकादि-द्वारा न हुआ है और न होगा। जिन साधनोंद्वारा संसारमे स्थिर शान्ति स्थापित हो, वे ही यथार्थ लोकसंग्रहरूप हो सकते हैं और प्रकृतिकी यह नीति है कि शान्तिका उद्‌बोध निवृत्तिद्वारा ही सम्भव है, प्रवृत्तिद्वारा नहीं। जहाँ प्रवृत्ति है वहीं रगड़-झगड़ आन उपस्थित होती है। अब यह बात दूसरी है कि किसीके चित्तमें प्रवृत्ति ही घर कर बैठी हो, वह प्रवृत्तिरूप खटपटसे ही संसारका सुधार मानने लगे और निवृत्तिसे हानि। यह केवल निवृत्तिका ही प्रभाव है कि त्रितापसे तपे हुए परीक्षतको श्रीशुक-देवने सप्तम दिनमें ही ज्ञानामृत पान कराकर विदेहमोक्षको प्राप्त करा दिया और जो भागवतरूपी ज्ञान-गङ्गा उनकेद्वारा बहाई

गई, उसके प्रवाहसे पड़े हुए अनन्त मुमुक्षु ब्रह्मसमुद्रमें समा गये, समा रहे हैं और समाते रहेंगे। भाई! तेलने तो तिलोंसे ही आना है, केवल प्रवृत्तिमें ही शान्ति ढूँढना तो बालुसे तेल निकालना है। जहाँ कहीं प्रवृत्तिमें भी कुछ शान्ति देखनेमें आती है तो निवृत्तिके सम्बन्ध करके, फिर कैसे कहा जा सकता है कि निवृत्तिमें लोकसंग्रह सिद्ध नहीं होता ? यदि चमगादड़ सूर्यको न देखे तो इसमें सूर्यका क्या दोष ?

अब हम तिलक-मतके आठवें अङ्कपर आते हैं। इस अङ्कमें तिलक महोदयका यह सिद्धान्त है कि 'योग (कर्म-योग) ही मुख्य है और संन्यास एक निष्फल चेष्टा। मनुके ध्यानमें भी यह बात भलो-भाँति आ गई थी कि संन्यासकी ओर लोगोंकी फिजूल प्रवृत्ति होनेसे संसारका कर्तृत्व नष्ट हो जायगा और समाज पङ्गु हो जायगा। इसीलिये मनुने तीनों ऋण (देव, ऋषि व पितर) की मर्यादा बाँध दी थी कि इन ऋणोंसे मुक्त होकर फिर सन्यास ले। इससे यह सिद्ध होता है कि आश्रम-धर्मका मूल हेतु यह था कि यथाशास्त्र गृहस्थ चलानेयोग्य लड़कोंके सियाने हो जानेपर अपनी बुढ़ापेकी निरर्थक आशाओंसे लड़कोंकी उमङ्गोंके आड़े न आ निरा मोक्ष-परायण हो मनुष्य स्वयं आनन्दपूर्वक संसारसे निवृत्त हो जावे।'

(तिलक-मतके अष्टम अंकका निराकरण)

यहाँ हमें संक्षेपसे विचार करना है कि :-

(१) क्या मनु आदिकोंकी दृष्टिमें संन्यास फिजूल प्रवृत्ति है, इससे संसारका कर्तृत्व नष्ट हो जाता है और समाज पङ्गु हो जाता है ?

(२) तीनों ऋणोंका बन्धन संन्यासके प्रवाहको रोकनेके लिये है, या सन्यासका मार्ग खोलनेके लिये ?

(३) आश्रम-धर्मका मूल हेतु केवल युवा लड़कोंकी बढ़ी-चढ़ी उमंगोंके आड़े न आनेके लिये है अथवा आत्मकल्याणके लिये ?

इस स्थलपर सहज ही प्रश्न होता है कि संसारका कर्तव्य क्या है ? उत्तर बिना किसी विवादके स्पष्ट है कि सर्व भेदभावको दूरकर एकत्वभावमें रसभरा-भरा प्रेम स्थापन करना, यही एक-मात्र संसारका कर्तव्य है, यही स्थिर शान्तिका हेतु और यही प्राणिमात्रके जीवनका वास्तविक लक्ष्य है। प्रत्येक प्राणी जागनेतक और मरनेतक साक्षात् अथवा परम्परासे अपनी प्रत्येक चेष्टामें अपने-अपने विचारानुसार ऐसे सुखकी खोज कर रहा है जो कभी नष्ट न हो। वह अविनाशी सुख केवल इस कर्तव्यद्वारा ही सिद्ध हो सकता है और किसी प्रकार भी नहीं। इस लिये बिना किसी विवादके प्राणिमात्रके जीवनका लक्ष्य वस्तुत: यही बनता है। जब कि प्राणिमात्रका कर्तव्य यही सिद्ध हुआ तब प्रत्येक समाज व प्रत्येक व्यक्तिका कर्तव्य क्या इससे कुछ भिन्न हो सकता है ? कदापि नहीं। संसारमें प्रत्येक धर्मके प्रत्येक अङ्ग व उपाङ्गका वास्तविक लक्ष्य साक्षात् अथवा परम्परा करके इसी स्थलपर पहुँचनेके लिये ही है और जन्म-मरणपर्यन्त यावत् संसारके तापोंसे मुक्ति इसी स्थलपर पहुँचकर ही सम्भव हो सकती है।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥ (गी० १८-२०)
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः। (ईशावास्य)

अर्थ:—भिन्न-भिन्न सर्व भूतोंमें जिस ज्ञानद्वारा एक ही अभिन्न व अव्यय भाव जाना जाय, वही सात्त्विक ज्ञान है।

'जिसने एकत्वको सबमे देखा, उसके लिये कहाँ शोक और कहाँ मोह ?,

उद्भिज्ज योनिसे लेकर मनुष्यपर्यन्त प्रकृतिकी क्रम-क्रमसे प्रत्येक चेष्टाओंका विकास इसी अभेद-स्थितिपर पहुँचनेके लिये है अन्य किसी निमित्तसे नही और यहीं पहुँचकर प्रकृतिको विश्राम है। इसके बिना जीव प्रकृतिके बन्धनसे कदापि छुटकारा नही पा सकता, चाहे असंख्य योनियाँ क्यों न व्यतीत हो जाएँ और यहीं पहुँचकर बैतालकी भेटोकी पूर्णाहुति होती है। परन्तु स्मरण रहे कि जिस प्रकार अनेक प्रकारकी खाद्य सामग्रीके मेलसे भोजन बनाया जाता है, उसी प्रकार यह एकता किसी रूपमे बनाई जानेवाली वस्तु नहीं है, किन्तु स्वत.सिद्ध है। बल्कि जब उस स्वतःसिद्ध एकतामे हमारा प्रवेश होगा तब हम अनुभव करेंगे कि वहाँ भेदभाव कदापि हुआ ही नहीं था। बल्कि वह वस्तु ज्यूँकी त्यूँ सदा ही एकरस स्थित है, इस अनेकताने उसको कदापि स्पर्श किया ही न था और यह सब भेदभाव नीचे ही थे। यदि हमको उस एकतामें प्रवेश करना इष्ट है तो हमको चाहिये कि हम केवल अपने-आपेकी बलि दे छोडे और आपेको खो देवे। आपा खोकर ही हम ऊँचे उठ सकते हैं और उस समतामें प्रवेश कर सकते हैं। आपेको रखकर कदापि नहीं, क्योंकि यह आपा ही उसमें प्रतिबन्धक है। जिस प्रकार जल आपेको अग्निमें जलाकर और भापके रूपमें सूक्ष्म होकर ही ऊँचा उठ सकता है और सम्पूर्ण वातावरणके साथ एकता प्राप्त कर सकता है, न कि बर्फके रूपमे अपनेको जड़रूपमे नीचे गिराकर, उसी प्रकार आपेको रखते हुए किसी प्रकार भी एकता सम्भव नहीं है। इसके विपरीत आपेको बनाये रखकर और देहाभिमानको सुदृढ करके जो एकता बनानेकी चेष्टा की जा रही है, वह कोरा प्रमाद ही है और ऊँटके गलेमें बकरी जोड़नेके समान है।

एक गणितशास्त्रवेत्ता पण्डितकी कथा है कि वह एक बार कुटुम्बसहित देशान्तरके लिये निकला। मार्गमें एक नदी आई, विचार हुआ कि इससे कुटुम्बको कैसे पार करें। कहीं कोई छोटा-बड़ा नदीमें डूब न जाय। पण्डितजीको गणित-शास्त्रकी स्मृति आई और झट नदीके इस तीर, परले तीर तथा मध्यवर्ती जलका माप लेकर तीनोंका समभाग निकाल लाये। इधर आपने कुटुम्ब के प्रत्येक व्यक्तिकी ऊँचाई मापकर उन सबकी ऊँचाईका समभाग निकाल लिया, तब सर्व कुटुम्बकी ऊँचाईके समभागसे नदी का समतल एक फुट कमती रहा। पण्डितजीको बड़ी प्रसन्नता हुई कि कुटुम्ब निर्विघ्नतासे पार हो जायगा और सबके सब नदीमें उतर पड़े। परन्तु जब नदीके मध्यमें पहुँचे तो कई छोटे-छोटे बच्चे डूब गये। पार जाकर पण्डितजीको चिन्ता हुई और फिर अपने गणितकी पड़ताल की, परन्तु हिसाब पूर्ववत् शुद्ध निकला। बारम्बार पड़ताल करनेपर पण्डितजी व्याकुल हुए और सोचने लगे कि 'लेखा ज्यूँका त्यूँ कुनबा डूबा क्यों ?'

ठीक, वही हिसाब उन लोगोंका है जो वास्तविक रहस्यको न जान शरीरोंद्वारा एकता बनानेके पीछे पड़े हुए हैं और धार्मिक-मर्यादाओंको भङ्ग कर रहे हैं। यद्यपि धार्मिक मर्यादाएँ क्रम-क्रमसे व्यवहारमें आई हुई आपेकी भेंट लेनेके लिये है और जिज्ञासुके चित्तको ऊँचा उठा ले जाकर वास्तविक अभेदमें प्रवेश करा देनेके लिये ही हैं। तथापि जो लोग अपने चित्तोंको उन्नत किये बिना ही केवल जड़-शरीरके व्यवहारसे ही एकता बनानेके अभिमानी हैं और धार्मिक-मर्यादाएँ तोड़नेके पीछे पड़े हुए हैं, वे न आप ऊँचे उठेंगे और न दूसरोंको उठाएँगे। हम आप नीचे गिरकर गिरे हुओंको नहीं उठा सकते, बल्कि आप ऊँचा उठकर ही गिरे हुओंको उठा सकते हैं। जिस प्रकार किसी स्थानकी वायु आप

स्थूल होकर और नीचे गिरकर ब्रह्माण्डवायुको ऊँचा नहीं उठा सकती, बल्कि आप अपनी सूक्ष्मताद्वारा ऊँची उठकर ही ब्रह्माण्डवायुमें हलचल पैदा कर सकती है। शरीरोंका भेद प्राकृतिक (स्वाभाविक) है और अभेद अस्वाभाविक। प्रत्येक व्यक्तिका स्वानुभव ही इसमें प्रमाण है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने ही निजी शरीरके अङ्गोंमें अभेदव्यवहार कदापि नहीं कर सकता। जो व्यवहार उसका मस्तक व मुखके साथ है, वही व्यवहार चरण व पायु आदिके साथ असम्भव है। जबकि शरीरसम्बन्धसे अपने ही में अभेदव्यवहार असम्भव है, तब दूसरोंके साथ शरीरसम्बन्धमें अभेदव्यवहार कैसे सम्भव हो सकता है? प्रकृतिविरुद्ध होनेसे यह तो निष्फल प्रवृत्ति होगी। हाँ, मन-बुद्धि करके जो भेद बन गया है वह वास्तवमें अस्वाभाविक है और अभेद स्वाभाविक। क्योंकि शुद्ध सात्त्विकबुद्धि व शास्त्रप्रमाणद्वारा सम्पूर्ण भूतोंमें एक ही निर्विशेष अविनाशी तत्त्वतत्त्ववेत्ताओंद्वारा प्रमाणित हुआ है, केवल अशुद्ध बुद्धि करके ही उसमें भेदाभास हो रहा है वास्तवमें नहीं। शुद्धबुद्धिद्वारा उस तत्त्वमें प्रवेश करके ही यथार्थ अचलअभेद सिद्ध हो सकता है। जैसे नाना घटोंमें तथा नाना तरङ्गोंमें उपादान-दृष्टि मृत्तिकारूपसे और जलरूपसे ही अभेद स्वाभाविक है, घटों और तरङ्गोंकी व्यक्तिदृष्टिमें उनकी एकता असम्भव है, वैसे ही शुद्ध सात्त्विक बुद्धिद्वारा उस एक कारणरूपमें प्रवेश करके ही अभेद व एकता हो सकती है, अन्यथा नहीं। उस एक कारणरूपसे भिन्न रहकर और शरीरोंमें बँधे रहकर ही अभेद करना चाहें तो धात्रीकी *कथाके समान अकथ-कहानी होगी। इसलिये मन-बुद्धिद्वारा चराचर भूतजात तथा

* धात्रीकी कथा योगवासिष्ठके उपशम प्रकरणमें आती है, जिसमें अपने बालकोंके चित्त बहलानेके लिए उसने अत्यन्त असम्भव विषयोंका वर्णन किया है।

मनुष्यमात्रके प्रति एकता स्थापन करना सफल प्रवृत्ति हो सकती है। वह इस रूपसे कि हमारी जिन चेष्टाओंद्वारा वे इहलौकिक सुख तथा पारलौकिक शान्तिके भागी बन सकें, अपनी उन चेष्टाओंसे उनका 'श्रेय' साधन किया जाय, न कि 'प्रेय' और उनके श्रेयसाधनमें अपने स्वार्थोंकी भरसक बलि दी जाय। यही वास्तवमें अपने-आपको ऊँचा उठाना है और इस प्रकार आप ऊँचे उठकर उनको भी ऊँचा उठाया जा सकता है। परन्तु अपने-आपेको बनाये रखकर यदि हम स्वभावसिद्ध शारीरिक भेदको मिटानेमें ही अपनी सर्व शक्तियोंको लगा देंगे तो भी हम अभेद न कर सकेंगे, क्योंकि वह भेद तो प्राकृतिक है। उल्टा प्रवाह चल पड़नेसे मन-बुद्धिद्वारा जो यथार्थ अभेद किया जा सकता है, उस यथार्थ पुरुषार्थसे भी हम अवश्य वञ्चित रह जायँगे। न यह होगा न वह। जहाँ कहीं जितने अंशमें एकता देखनेमें आती है, उसके मूलमें कारणरूपसे उतना ही मनोंकी पवित्रता तथा स्वार्थत्याग अवश्य पाया जायगा।

खैर जी! जो कुछ भी हो, हमारा तो प्राकृतिक प्रसंग यह था कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके प्रति एकता स्थापन करना ही एकमात्र संसारका कर्तृत्व है और वह केवल आपेको खोनेसे ही सिद्ध हो सकता है। आपेका खोना सर्वत्यागरूप निवृत्ति ही है और 'संन्यास' उस निवृत्तिमें प्राणसञ्चार करनेवाला है। फिर नहीं कहा जा सकता कि संन्यासद्वारा संसारका कर्तृत्व नष्ट हो जायगा। यदि तिलक महोदयके कथनानुसार 'मनुके ध्यानमें यह बात भली-भाँति आ गई थी कि संन्यासकी ओर लोगोंकी फिजूल प्रवृत्ति होनेसे संसारका कर्तृत्व नष्ट हो जायगा और समाज पङ्गु हो जायगा' तब अपने इतने बड़े ग्रन्थमें, जहाँ उन्होंने खाने-पीने, सोने-बैठने और मल-मूत्रत्यागादि छोटी-छोटी चेष्टाओंका भी

विधान कर डाला, वहाँ शोक ! कि मनु इतनी महत्त्वशाली चर्चाके लिये, जिससे संसारका कर्तृत्व ही नष्ट हो जाता है, दो पंक्तियाँ लिखनेका अवकाश न दे सके। उनको अवश्य कहीं बोलना चाहिये था कि 'हे जीवो ! संन्यास फिजूल प्रवृत्ति है और संसार तथा समाजको विध्वंस करनेवाली है।' खैर ! भला हुआ, प्रभातका भूला-भटका सन्ध्याको घर आ जाय तो उसे भूला न कहना चाहिये। तिलक महोदयको समयपर ही सूझ आ गई, अभी तो प्रलयमें बहुत समय बाक़ी है। कलियुगके अभी पाँच हज़ार वर्ष ही व्यतीत हुए हैं, चार लाख सत्ताईस हज़ार वर्ष तो कलियुगमें और भी शेष रहते हैं। अच्छाजी ! इसमें किसीका दोष भी क्या है ? दृष्टिमय तो संसार है ही, ईश्वरकी नीति भी तो ऐसी ही है कि 'जैसी मति वैसी गति।' एक अपनी आँखोंमें पीलिमा रोग हो जानेसे सारा संसार ही पीला दिखलाई देने लग पड़ता है, फिर तिलक महोदयको संन्यास संसारनाशक कैसे न जचता और इसमें उनको भलाई कैसे दीख पड़ती ? अपनी भावनासे अमृत भी तो विष हो सकता है, त्रिगुणमय तो संसार है ही। इसीलिये भगवान्‌ने बुद्धिके सत्त्व, रज व तम गुणभेदसे तीन भाग कर डाले, यथा :—

(१) प्रवृत्ति-निवृत्ति, कर्तव्य-अकर्तव्य, भय-अभय और बन्ध-मोक्षको जो ठीक-ठीक जाने वह बुद्धि सात्त्विक कही जाती है।

(२) जो उपर्युक्त बातोंको यथावत् ज्यूँका त्यूँ न जान सके, वह राजसिक बुद्धि है।

(३) और जो इन सबको विपरीत करके जाने वह बुद्धि तामसिक कही गई है। (गी. अ १८ श्लो ३०, ३१, ३२)

जो महाशय रजोगुणपरायण हैं, संसारकी सत्यता जिनके हृदयमें दृढ़रूपसे ठस रही है और वास्तव तत्त्वसे अनभिज्ञ रहकर

ऊँटके गलेमें बकरी जोडनेके समान जो शरीरोंद्वारा ही अभेद बनानेमें तत्पर हो रहे हैं, उनको सच्ची शान्ति देनेवाला और नरकको स्वर्ग बनानेवाला यह अमृतरूप त्याग क्योंकर भला जच सकता है। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि त्यागमूर्ति सनकादिऋषि, याज्ञवल्क्यमुनि, शुकदेवस्वामी तथा शङ्करस्वामीद्वारा संसारका कर्तृत्व नष्ट हो गया था, अथवा मनुकी आज्ञाविरुद्ध उनका यह निषिद्ध व्यवहार हुआ था। ऐसा किसी दृष्टान्त या प्रमाणसे सिद्ध नहीं होता। तिलक महोदयको दोषदृष्टिसे बचकर थोड़ी सारग्राही दृष्टि भी धारण करनी चाहिये थी, परन्तु 'अर्थी दोष न पश्यति।' अपने रजोगुणी प्रभावसे प्रभावित हो तिलक महोदयने मनुके आशयकी यहाँतक खैंचातानी की और उनके वचनोंका ऐसा विपरीत भाव ग्रहण कर लिया, यथा हि :—

'संन्यासके आक्रमणसे समाजको पङ्गु होनेसे बचानेके लिये ही मनुने तीनों ऋणोंकी मर्यादा बाँध दी है कि संन्यास लेना ही हो तो इन ऋणोंसे छूटकर ले, पहिले नहीं।'

यदि ऐसा भी मान लें तो उपनिषद्के उन वचनोंसे भी तो इस आशयकी संगति लगानी चाहिये थी, जो मुक्त-कण्ठसे पुकारकर कह रहे है :—

"ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वा
यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्" (जाबाल उपनिषद्)

अर्थ:—ब्रह्मचर्यसे ही सन्यास धारण कर लेवे, चाहे गृहस्थसे और चाहे वानप्रस्थाश्रमसे, जिस दिन भी तीव्र वैराग्य हो उसी दिन सन्यास ले ले।

क्या उन सर्वज्ञ शास्त्रकारोंके दिमागमें प्रमाद था? जो अभी तो वैराग्यवान्के लिये सर्व प्रकारसे निवृत्तिका खुला मार्ग देते

हैं और अभी तीनों ऋणोंका बन्धन लगाते हैं। परन्तु नहीं जी! वहाँ तो प्रमाद कोई था ही नहीं, तिलक महोदय अपने रजोगुणी वेगसे चाहे जो समझ बैठे, दोनो वचनो की संगति तो स्पष्ट ही है।

सती-स्त्री जब अपने पतिके लिये जलनेको उद्यत होती है, तब किसकी मजाल है जो उसकी ओर देख सके और उसकी आँखोसे आँखें मिला ले? भाई! इसकी आँखोंमें तो बलाकी शक्ति भरी पड़ी है हमसे तो देखा नही जाता। सभी उसको मस्तक नवाते है, उसकी भस्मीको भी मस्तक पर धारण करते हैं और अपने लोक-परलोककी सर्व कामनाओंके लिये उससे मुरादे माँगते हैं। वेद-शास्त्र भला इसके मार्गमें रोड़े बनकर अपने-आपको कलंकित कैसे कर सकते है? उसकी ठोकरसे तो भय लगता है, कहीं पिसकर चकनाचूर न हो जाएँ। बाबा! यह अपने घर जा रही है, इसको कौन बोले? चुप-चाप कान दबाये पड़े रहो, इसके लिये ऋण-धिणका बन्धन कैसा? अरे भाई! ऋणोंका बन्धन तो उन पशुजीवोके लिये था, जो श्वानके समान सांसारिक भोगरूपी हड्डीको चबाते-चबाते थकते ही न थे। बादशाह-सलामत जब अपने घर आ गये तब सब मुसाहिब अपने-आप-ही सेवामें हाजिर हो जाते है। जब वैराग्य आया तो ऋण आप ही पूरे हो चुके, ऋणरूप मुसाहिबोकी खुशामद तो इस बादशाह-सलामत (वैराग्य) के लिये ही थी।

तर तीव्र भयो वैराग्य तो मान अपमान क्या?
जान्यो अपना आप तो वेद पुराण क्या?
खुद मस्ती कर मस्त तो मदिरा पान क्या?
किया देहाध्यास तो आत्मज्ञान क्या?
वीतराग जब भये तो जगत्की लोड क्या?
तृणवत् जान्यो जगत् तो लाख करोड़ क्या?

चाह रज्जुसे बँध्यो तो फिर मरोड़ क्या ?
किंवा भ्रान्ति साथ तो विवाद फिर और क्या ?

क्या तीनो ऋणोका बन्धन संन्यासका प्रवाह रोकनेके लिये था ? महोदयजी ! यह अनोखी नीति कहाँसे निकाल लाये ? कहीं त्यागके लिये भी बन्धन हुआ है ? हाँ, पकड़के लिये तो बन्धन हो सकता है। संसारके सभी शासन पकड़के लिये ही सारे क़ानून व विधान निर्माण करते हैं, जिनका यही आशय हुआ करता है कि यदि तुमको पकड़ ही इष्ट है तो अमुक-अमुक रीतिसे जिसमे तुम्हारा अनुचित स्वार्थका लगाव न हो और दूसरोंके स्वार्थको हड़प कर जानेवाला न हो, तुम पकड़ कर सकते हो। परन्तु निस्स्वार्थ त्यागके लिये संसारके किसी भी शासनने आजतक कोई भी विधान नहीं किया, बल्कि त्यागपरायण पुरुषके लिये तो सभी शासन आदर व मानपत्र प्रदान करते हैं। 'सर' (Sir) 'राय-बहादुर' 'खान-बहादुर' आदि टाइटल देते हैं, समाचार-पत्रोंमें उनकी प्रशंसा की जाती है, दरबारमे उनको कुरसी मिलती है और उनके स्मारकमें पत्थर भी लगाये जाते हैं। इधर, संसारके सभी धर्म त्यागपरायण यज्ञ-दान-तपादि शुभ कर्मोंको विधिरूपसे वर्णन करते हैं और आर्थिक, शारीरिक व मानसिक त्यागका जिसमें जितना अधिक सम्बन्ध है, उनको उतना ही अधिक पुण्यरूप व मोक्षरूप निरूपण किया जाता है 'हैं त्यागमे तीनो लोक वेद यही गावें'। फिर नहीं कहा जा सकता कि संन्यासरूप सच्चा त्याग जिसमे आर्थिक, शारीरिक और मानसिक तीनो त्याग पूर्णरूपसे विद्यमान हैं और जो सच्ची-सरकारको भेट दिये जा रहे हैं, किसी रूपसे धर्म-शास्त्रोंद्वारा निषिद्ध व निन्दित ठहराया जाय। क्या यह सच्ची-सरकार उसको स्वीकार न करेगी और अपने दरबारमें उस त्यागी पुरुषको अवकाश न देगी ? और न किसी प्रकार

यही ध्यानमें आता है कि मनु अथवा कोई भी धर्म-शास्त्र ऐसे त्यागको संसार व समाजके लिये अटकाव जान और उसके लिये मार्ग निरोधकर अपने-आपको कलङ्कित करेंगे। अधिभौतिक दृष्टि रखनेवाले हमारे अर्वाचीन महोदयगण यह ड्यूटी भले ही सँभाले रक्खें। परन्तु यह किसी प्रकार समझमें नहीं आता कि जो बात हमारी सच्ची-सरकार (ईश्वरीय-दरबार) को कबूल है और जिस भेंटको वह अपनी छातीपर हाथ रखकर सिर-आँखो से स्वीकार करती है, वही बात उसकी प्रजाके लिये हानिकारक बन जायगी। क्या वह सच्ची-सरकार इतनी उन्मत्त है और ब्रीटिशादि शासनोंके समान इतनी स्वार्थपरायण है कि प्रजाकी अनिष्टकारक चेष्टा उसको अपने लिये इष्ट होगी? नहीं जी! उस सच्ची-सरकारको 'प्रमाद' तथा 'स्वार्थपरायणता' का सर्टिफिकेट हमसे तो नहीं दिया जा सकता। हाँ, हमारे वर्तमान स्वतन्त्रताप्रेमी अर्वाचीन महोदय बेशक बलवान् हैं, वे निस्सन्देह उस सच्ची-गवर्नमैण्टको भी उखाड़ सकते हैं। गवर्नमैण्टसे विरोध करना तो काम ठहरा ही, फिर वहाँ जो भला लगे वह यहाँ बुरा लगना ही चाहिये। ज्वरपीड़ित रोगीको मिश्री भी तो कटु लगने लग पड़ती है।

सारांश, तिलक महोदयने सन्यासको जिस दृष्टिसे देखा है और मनुके वचनोंका जो आशय ग्रहण किया है उसमें भारी भूल की है। त्यागरूप सन्यासका मार्ग निरोध करना शास्त्रकारोंका आशय कदापि नहीं हो सकता, ऐसा आशय तो तब हो सकता था जब कि उनकी दृष्टिमें संसार वस्तुतः सत्य होता, परन्तु वे तो पुकार-पुकारकर गला फाड-फाड़कर चिल्ला रहे हैं :-

(१)'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म।' (२)'नेह नानास्ति किञ्चन।'

(३) 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।'

अर्थ.—(१) वह परमात्मा देश-काल-वस्तुपरिच्छेदसे रहित तथा सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदसे रहित एक और अद्वितीय है, भ्रम करके ही उसमे यह सर्व भेद व परिच्छेद भान होते हैं।

(२) उस परमात्मामे नानात्व कुछ भी नही है।

(३) जो यहाँ नानात्वको सत्य जानता है वह मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता है, अर्थात् आवागमन इस नानात्व-दृष्टि करके ही है।

फिर यह कैसे समझा जा सकता है कि उन सर्वज्ञ तत्त्ववेत्ता महापुरुषोका आशय भ्रमरूप संसारकी सत्यताके गीत गाते रहकर थूकके पकौडोको गटकते रहनेके लिये ही है। परन्तु ऐसा नहीं है, न तो सर्वज्ञ-ऋषियोकी दृष्टिमे ससार सत्य ही है और न त्यागद्वारा ससारकी क्षति ही होती है; बल्कि त्यागद्वारा तो ससार अपने लक्ष्यकी ओर अग्रसर होता है। सम्पूर्ण संसारका लक्ष्य एकमात्र 'सुख-शान्ति' ही है और वह केवल त्यागद्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। त्याग ही उसका मूल्य है, जितनी मात्रामे उसका मूल्य चुकाया जायगा उतनी मात्रामें ही वह खरीदी जा सकती है, फिर संन्यासका मार्ग निरोध करनेका क्या अर्थ हो सकता है? हाँ, यह माना कि देशसेवादि पवित्र चेष्टाएँ है, इनके द्वारा राग-द्वेपकी मात्रा घटाई जा सकती है और व्यक्तिगत स्वार्थसे छूटकर आत्मविकासका यह उच्च साधन है, परन्तु भस्मासुरकी भाँति यहाँ तो उल्टा इसका दुरुपयोग होने लगा। भस्मासुरने शिवजीसे वर प्राप्त किया कि जिसके सिरपर तू हाथ रक्खेगा वह भस्म हो जायगा, वर प्राप्तकर वह शिवजीपर ही इसकी परीक्षा करने दौड़ा। इसी प्रकार व्यक्तिगत स्वार्थोंसे छूटकर जिस त्यागके आशीर्वादसे देशसेवाको आदर मिला, आप तो उल्टा उस मूर्तिमान्-त्याग (सन्यास) को ही भस्म करनेको उद्यत हुए। अजी! यह तो मान ही लिया जायगा कि देश-

सेवाके मूलमें भी तो स्वार्थत्यागके द्वारा 'आत्मकल्याण' ही है और इससे ऊँचे उठकर वस्तुतः आत्मश्रेय साध लेना ही मुख्य लक्ष्य है। परन्तु आप तो इस पड़ावको ही मंजिल मान बैठे कि बस, इससे आगे और कुछ है ही नहीं। इस प्रकार उल्टा पीछे मुड़कर देखने लगे और सच्चे धर्मके प्रति द्वेष करने लग पड़े। जरा होशमें आओ, अपने अन्दर प्रवेश करके देखो, यह तो उल्टी चक्की चल पड़ी, आत्म-कल्याणके स्थानपर आत्म-अकल्याण होने लग पड़ा। द्वेष तो अपने विरोधियोंके प्रति भी निन्दित है, फिर सच्चे त्यागके प्रति द्वेष तो आश्चर्यरूप है जिसका किसीसे भी द्वेष नहीं।

इससे हमारा यह आशय नहीं कि नाटकघरमें एक्टरके समान सबको ही तुम्बी ले लेनी चाहिये। कदापि नहीं, यह तो उल्टा हानिकारक है। परन्तु धर्मकी उपर्युक्त कक्षाओंसे इसी जन्ममें अथवा भूत जन्ममें उत्तीर्ण होते हुए और त्यागकी भेंट 'वैताल' को अर्पण करते हुए जिनमें त्यागकी लाली फूट निकली है और रोके रुक नहीं सकती, उनके लिये तो मनु आदि सभी धर्म-शास्त्र हाथ बाँधे हुए 'जी हुजूर' बनकर यही वचन कहते हैं।

'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्'

अर्थात् जिस दिन भी तीव्र वैराग्य हो उसी दिन संन्यास ले लेवे। परन्तु जिनके अन्दर यह त्याग नहीं भड़का और जो भोग-परायण हैं, उनके लिये भोगोंकी मर्यादा बाँधनेके लिये वे तीनों ऋणोंका बन्धन लगाते हैं कि इन ऋणोंसे मुक्त होनेतक भोग-परायण रहो और फिर इन ऋणोंसे मुक्त होकर त्यागको डंडा मारकर कहते हैं कि अब तो तुमको त्यागपरायण होना पड़ेगा। मुख्य तात्पर्य शास्त्रकारोंका त्यागपरायणतामें ही है, न कि भोग

का मार्ग निरोध करनेमे। इस प्रकार मनु व उपनिषद्वाक्यको संगति त्यागमे ही है।

'प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला:।' (मनु)

अर्थात् जीवोकी प्रवृत्ति भोगोमें स्वाभाविक है, परन्तु निवृत्ति महाफलरूप है।

देशभक्त नवयुवको से विनती

हाँ, जो नवयुवक देशसेवादि शुभ प्रवृत्तिपरायण हैं उनके लिये यह प्रवृत्ति उत्तम है। परन्तु हमारा उनके प्रति इतना ही परामर्श है कि निवृत्ति से वे घृणा न करें और अपना द्वेषभाव न उगलें। इससे तो उनकी अपनी प्रवृत्ति भी अशुभ-प्रवृत्ति हो जायगी और उनमे दैवी मानसिक बलवृद्धि होनेके बजाय आसुरी पाशविक बल ही रह जायगा, जिससे उनको न इहलौकिक सफलता प्राप्त होगी और न पारलौकिक। अपनेसे भिन्न अधिकारी निवृत्तिपरायण पुरुषोके प्रति विष उगलकर वे अपनी ही हानि करेंगे। उनको ध्यान रखना चाहिये कि निवृत्तिपरायण पुरुषोद्वारा उनके देशका ह्रास नहीं हो सकता। हाँ, उनके प्रति द्वेष करनेसे देशका ह्रास होना अवश्य सम्भव है। किसी भी शरीरके स्वास्थ्यके लिये वात, पित्त और कफ तीनों दोषोकी समता बनाना जरूरी है, कोई एक दोष प्रबल हुआ कि शरीरके स्वास्थ्यमें बाधा आई। इसी प्रकार किसी भी देशकी उन्नतिके लिये सत्त्व, रज और तम तीनों गुणोंकी समता बनाना परमावश्यक है। यदि आप रजोगुणकी ही वृद्धि करते रहें और सत्त्वगुणके साधन निवृत्तिपरायण पुरुषोंसे द्वेषकी वृद्धि करते रहे, तो उल्टा आप देशकी आत्माके हन्ता बन जाएँगे। जिस प्रकार प्राणोंके विना शरीरकी स्थिति असम्भव है, उसी प्रकार सत्त्वगुणी त्यागी प्राणरूप हैं, इसके

बिना देशरूपी शरीर शवके समान निर्जीव हो जायगा। क्या देश, क्या व्यक्ति, जिस किसीको, जब कभी, जितनी कुछ सफलता प्राप्त हुई है, उसका हेतु उतनी ही मात्रामें 'त्याग' अवश्य होना चाहिये। इसके बिना सफलता 'नासीदस्ति भविष्यति' ही सिद्ध होगी, अर्थात् न हुई है, न है और न होगी। क्या केवल रजोगुणकी वृद्धिद्वारा देशकी उन्नति सम्भव है? कदापि नहीं। रजोगुणकी वृद्धिका ही यह प्रभाव है कि आजकल देशमें अधिभौतिक-स्वतन्त्रताका कोलाहल चहुँ ओरसे मचता चला आ रहा है। अर्थात् प्रत्येक जाति व व्यक्ति शरीरों और मनोंसे आजादी प्राप्त करनेके लिये परस्पर संग्राम करते दिखाई दे रहे हैं। क्या स्त्री-समाज, क्या मनुष्य-समाज, क्या मजदूर-दल, क्या अन्त्यज और क्या धनी, सभी जाति, व्यक्ति व सम्प्रदाय व्याकुल हो रहे हैं कि हम शरीरों व मनोंसे आजाद हों और हमारे मन-माने व्यवहार व भोगपरायणतामें कोई आड़ न रहे। परन्तु क्या यह आजादी है, क्या यह देशमें शान्तिस्थापन कर सकती है? हरगिज नहीं। आजादीके नामपर इस बन्धनके लिये और शान्तिके नामपर इस अशान्तिके लिये दुहाई है! वास्तवमें अध्यात्मिक-स्वतन्त्रता व अध्यात्मिक-शान्तिद्वारा ही सच्ची स्वतन्त्रता और सच्ची शान्ति प्राप्त की जा सकती थी और वह सात्त्विक-त्यागके हिस्सेमें ही आती है। परन्तु उस सात्त्विक-त्याग और अध्यात्म-विद्याको कुचलकर केवल रजोगुणी साइन्स-द्वारा आजादी ढूँढना तो खपुष्पके समान है। वर्तमान योरुप-देश इसका ज्वलन्त दृष्टान्त है। जिस रजोगुणी साइन्सद्वारा आर्थिक उन्नतिको ही आजादी माना गया था, वही बढ़ी-चढ़ी साइन्स आज विचित्र रूपसे युद्धकी कला-कौशलका साधन बन रही है और सम्पूर्ण संसारमें अग्निकाण्डकी सम्भावना करा

रही है। आशय यह कि केवल इस प्रकार बढ़े-चढ़े रजोगुणद्वारा देशकी उन्नति नहीं हो सकती। यद्यपि इस रजोगुणका रहना भी स्वाभाविक है, तथापि इसके साथ-साथ शान्ति स्थापन करनेवाला सात्त्विक-त्याग भी आवश्यक है। याद रखिये, अपने बढ़े-चढ़े रजोगुणके कारण वर्तमानमें आप लोग इस त्यागका अनादर भले ही करें, परन्तु कभी न कभी इस रजोगुणके खलास हो जानेपर आपमेंसे प्रत्येकको त्यागकी भेट चढ़नी पडेगी और इस शिवस्वरूपके सामने नतमस्तक होना पड़ेगा। यह बात निश्चित है कि शारीरिक बल आसुरी बल है और मानसिक व आत्मिक बल दैवी बल है तथा लोक-परलोककी सभी सफलताएँ दैवी बलसे ही सम्पादन की जा सकती हैं, न कि आसुरी बलसे। भगवान् वशिष्ठके एकमात्र ब्रह्मदण्डसे जब विश्वामित्रकी सम्पूर्ण सेना हताश हो गई तब विश्वामित्रके मुखसे स्वभाविक ही यह उद्गार निकल पडा :—

धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजो बलं बलम्।
एकेन ब्रह्मदण्डेन सर्वास्त्राणि हतानि मे ॥

अर्थात् क्षत्रिय बलको धिक्कार है, ब्रह्मतेजका बल ही एकमात्र बल है, जिस एक ब्रह्मदण्डद्वारा मेरे सारे अस्त्र कट गये।

अपने केवल मानसिक बलके प्रभावसे प्रह्लादने हिरण्यकशिपुकी सारी शक्तियोंको कुण्ठित कर दिया था। आप अपनी तमोगुणी शक्तियोंको बढाकर कैसे सफलता प्राप्त कर सकेंगे? सत्पुरुषोंके प्रति और त्यागरूप सन्यासके प्रति द्वेष तो कोरा तमोगुण है। प्रकृतिका यह नियम है कि द्वेषसे शक्ति क्षीण होती है और त्यागसे बलवृद्धि, द्वेष तमोगुणमूलक है और त्याग सत्त्वगुणमूलक, इसलिये सर्व शक्तियोंका भण्डार केवल सत्त्वगुणी त्याग ही है। प्रत्येक व्यक्ति अपने निजी अनुभवसे इसको प्रमाणित कर सकता

है कि जब-जब हृदयमें द्वेषभाव भरा गया, हृदय तपा और बल घटा और जब-जब त्यागभाव हृदयमें आया, शान्ति मिली और बलवृद्धि हुई। द्वेष तो आपको अपने विरोधियोंके प्रति भी त्याज्य है, फिर अविरोधियोंसे तो द्वेष कैसा? आप तो शक्तियोंकी मूल जो त्याग है, उसपर ही कुल्हाड़ा रखने लगे। वास्तवमें बड़ी भूल यही है कि अपने भीतर कूड़ा-कचरा भरा रखकर बाहरकी सफाई की जाय तो हो नहीं सकती और यदि अपना भवन बुहार लिया जाय तो बाहर स्वतः ही सफाई हो जाती है।

उपर्युक्त व्याख्यासे यह स्पष्ट है कि संन्यास-आश्रमका मूल-हेतु, जैसा कि तिलक महोदयने कहा है, यही नहीं था कि युवा लड़कोंकी बढ़ी-चढ़ी उमङ्गोंके आड़े न आया जाय तथा इस विचारसे कि वृद्ध अब गृहस्थके किसी कार्यके योग्य नहीं है और नवयुवकोंकी स्वतन्त्रतामें यह बाधक है, केवल इसीलिये उसको इस वृद्धावस्थामें गृहस्थसे निकलकर अपने हालपर निर्भर रहना चाहिये। यदि इस आश्रमका आशय इतना ही समझा जाय, तब तो यह एक भारी धृष्टता होगी और धर्मकी सारी उदारता ही लुप्त हो जायगी। मनुष्य सम्पूर्ण जीवनभर तो कोल्हूके बैल की भाँति गृहस्थके भरण-पोषणमें लगा रहे और बाल्यावस्थामें पुत्रोंकी तुच्छसे तुच्छ सेवा करता रहे, परन्तु वृद्धावस्थाके प्राप्त होनेपर वही पुत्र अपनी सेवाके पुरस्कारमें अपने पिताकी यह सेवा करें कि 'अब हमको तुम्हारी जरूरत नहीं, अब तुम अपना रास्ता लो और हमारी उमङ्गोंके आड़े न आओ।'

दाँत हिले और खुर घिसे, कन्धा बोझ न लेय।
ऐसे बुड्ढे बैलको, कौन बाँध भुस देय॥

इन वचनोंके अनुसार उसको उसके हालपर छोड़ देना, यह तो बड़ी आश्चर्यजनक वार्ता है! जिस धर्ममें ऐसी स्वार्थपरा-

यणता प्रधान है वह तो महान् अधर्म है। ऐसा आशय निकाल-कर तो हिन्दु-धर्मको लजाना है और इसकी मखौल उड़ाना है। परन्तु नहीं जी! धर्म इतना कृपण कैसे हो सकता है? आश्रम-धर्मका मूलहेतु तो वास्तवमें आत्मकल्याण है और वह निवृत्ति-द्वारा ही सिद्ध होता है। शास्त्रोंका वचन है :—

'प्रवृत्तिरोधको वर्णो निवृत्तिपोषकश्चाश्रमः।'

अर्थात् वर्ण-धर्मका आशय प्रवृत्तिको मर्यादामें रखना है और आश्रम-धर्मका आशय निवृत्तिको पुष्ट करना है। मूलमें निवृत्ति ही धर्मका मुख्य लक्ष्य है और यही आत्मकल्याणका मुख्य हेतु है। भर्तृहरिजीका क्या ही सुन्दर वचन है :—

यावत्स्वस्थमिदं शरीरमरुजं यावज्जरा दूरतो
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
संदीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः॥

अर्थ:— जबतक यह शरीर स्वस्थ व रोगरहित है, जबतक बुढापा दूर है, जबतक इन्द्रियोंकी शक्ति नष्ट नहीं हुई है और जबतक आयु क्षीण नहीं हुई है, तबतक विद्वान्‌को आत्मकल्याण के लिये महान् पुरुषार्थ कर लेना चाहिये, क्योंकि तत्पश्चात् घर जलने लगनेपर कूप खोदनेका उद्यम किस कामका? अर्थात् विचारवान्‌को आयु क्षीण होनेसे पहले-पहले जितना शीघ्र और जिस समय भी हो सके आत्मकल्याणके लिये जुट जाना चाहिये।

उपर्युक्त वचनोंसे स्पष्ट सिद्ध है कि संन्यास-आश्रमका जो मूलहेतु तिलक महोदयद्वारा व्यक्त किया गया है वह सर्वथा निर्मूल है और केवल उनकी अपनी कपोल-कल्पना है।

अपने मतके नवे अङ्कमे तिलक महोदयका कथन है कि गीता

तिलक-मतके नवम अंकका निराकरण

के प्रत्येक अध्यायकी समाप्तिमें 'श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे' ऐसा सङ्कल्प आया है। इसका अर्थ यह है कि ब्रह्म-विद्याकी प्राप्तिमें 'संन्यास' और 'योग' दो मार्गोंमे 'योग' श्रेष्ठ है और यही गीताका प्रतिपाद्य विषय है।'

तिलक महोदयका यह अनुमान-प्रमाण भी भ्रममूलक है। 'योग-शास्त्रे' से भावार्थ निष्काम-कर्मयोग ही नहीं है, इतना-ही अर्थ ग्रहण करनेसे तो 'योग' शब्दकी व्यापकता भङ्ग होती है। 'योग' शब्दका अर्थ 'जुड़ना' 'मिलाप पाना' है, जैसा हमारे समाधानके पञ्चम अङ्कमे इसका स्पष्ट निरूपण किया जा चुका है और वही अर्थ व्यापक रूपसे यहाँ विवक्षित है। धर्मके जितने भी अङ्ग हैं, ईश्वरप्राप्तिमे सहकारी होनेसे सभी 'योग' नामसे कहे जा सकते हैं और इसीलिये गीताका प्रत्येक अध्याय भिन्न-भिन्न योगके नामसे निरूपण किया गया है। जिस-जिस अध्यायमे जिस-जिस साधनका मुख्यतया निरूपण हुआ है वह उसी नामसे कहा गया है। यदि 'योग' शब्दसे केवल 'कर्मयोग' ही मन्तव्य होता, तो भिन्न-भिन्न नामविशिष्ट योग न कहे जाते, जैसे :—

संख्या	नाम अध्याय	संख्या	नाम अध्याय
१	अर्जुनविषादयोग	८	अक्षरब्रह्मयोग
२	सांख्ययोग	९	राजविद्याराजगुह्ययोग
३	कर्मयोग	१०	विभूतियोग
४	ज्ञानकर्मसंन्यासयोग	११	विश्वरूपदर्शनयोग
५	कर्मसंन्यासयोग	१२	भक्तियोग
६	आत्मसंयमयोग	१३	क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग
७	ज्ञानविज्ञानयोग	१४	गुणत्रयविभागयोग

संख्या नाम अध्याय	संख्या नाम अध्याय
१५ पुरुषोत्तमयोग	१७ श्रद्धात्रयविभागयोग
१६ दैवासुरसपद विभागयोग	१८ मोक्षसंन्यासयोग

इससे स्पष्ट है कि संकल्पमें 'योग-शास्त्रे' से निष्काम-कर्मयोग-शास्त्र ही नहीं, बल्कि वह शास्त्र अभिप्रेत है जो परमात्माके साथ मेल करानेवाला अर्थात् सम्बन्ध जोड़नेवाला है और यही अर्थ श्रेष्ठ है। जब 'योग' शब्दका व्यापक अर्थ प्राप्त है, तब उसकी व्यापकताको भङ्ग करके एकदेशी अर्थ लगाना तो भूल है और भगवद्वचनके महत्त्वको घटाना है।

उपसंहार } तिलक-मतके प्रत्येक अङ्गपर भिन्न-भिन्न विचार किया गया। तिलक महोदयद्वारा निवृत्तिपक्षमें जो दोष दिया गया, उनका परिहार इस स्थलपर हमारे द्वारा जरूरी समझा गया। शेषमें तिलक महोदयकी व्यक्तिके विषयमें तो कुछ कहना, सूर्यको दीपकसे दिखलानेके तुल्य है। प्रकृतिका यह नियम है कि जब-जब संसारमें देशगत अथवा समाजगत कोई विशेष क्षति उत्पन्न होती है, तब-तब उस अँशमें होनेवाली क्षति की निवृत्तिके लिये उस देश व समाजमें ईश्वरीय अँशसे किसी न किसी रूपमें विशेष शक्तिका प्रादुर्भाव होता रहता है, जो उस सुधारके निमित्त ही अवतीर्ण होती है और उसी सम्बन्धसे अपना विचित्र चमत्कार दिखला जाती है। जिस प्रकार शरीरके किसी अङ्गमें कोई क्षत उत्पन्न होता है तो शारीरिक-प्रकृति स्वयं भीतरसे उस क्षतकी पूर्त्तिका साधन करती है, डाक्टर लोग इस विषयको भली-भाँति जानते हैं। ठीक, यही व्यवस्था प्रकृतिकी देश व समाजवपुके सम्बन्धमें है। जिस प्रकार निकटवर्ती कालमें जब हिन्दू-समाजपर ईसाईयों व यवनोंका आक्रमण था, तब उस समयकी आवश्यकतानुसार स्वामी दयानन्दजीद्वारा हिन्दू-

समाजमें जागृति हुई और उन आक्रमणोंसे हिन्दू-समाजको सुरक्षित किया गया। इसी नियमके अनुसार भगवान् तिलकका प्रादुर्भाव भी उन उच्च कोटियोंमेंसे ही था और केवल वर्तमानमें गिरे हुए भारतकी देश-जागृतिके निमित्त ही उनका अवतार था। इसीलिये देशसेवाका भाव उनमें पूर्णरूपसे भरपूर था और इस विषयमें उन्होंने अपने तन-मन-धनकी पूर्णाहुति दी थी। वे परोपकारपरायण प्रभावशाली भव्य-मूर्ति थे और कविवर मैथलीशरणके इन वचनोंको उन्होंने भली-भाँति चरितार्थ किया था :-

वास उसीमें है विभुवरका, है बस सच्चा साधु वही।
जिसने दुखियोंको अपनाया, बढ़कर उनकी बाँह गही॥

इस प्रकार यद्यपि भगवान् तिलकद्वारा पूर्णरूपसे देश-जागृति में भाग लिया गया और केवल इसी दृष्टिको सम्मुख रखकर उन्होंने गीताशास्त्रकी समालोचना की, तथापि प्रकृतिराज्य अपने स्वरूपसे ही अधूरा और पङ्गु है। उसके किसी एक अङ्गमें सुधार का यत्न किया जाता है तो उसके विपरीत किसी दूसरे अङ्गमें आघातकी सम्भावना हो जाती है। सर्वाङ्गपूर्ण यह प्रकृतिराज्य कदापि हुआ ही नहीं और होगा भी नहीं, अपने स्वरूपसे तो यह कुत्तेकी पूँछके समान ही है, जो कभी सीधी नहीं होती। हाँ, यदि जीव अपने परमपुरुषार्थद्वारा प्रकृतिराज्यसे ऊँचा उठकर उस अपने वास्तविक स्वरूपमें प्रवेश करे, जो प्रकृतिका मूल व उद्गम स्थान है, तब वहाँ पहुँचकर उसको यह प्रत्यक्ष भान होगा कि यह सब उतार-चढ़ाव और बिगाड़-बनाव परे ही थे और इन सब भेदभावोंने उसको रञ्चकमात्र भी स्पर्श नहीं किया था। इसी उद्देश्यको सम्मुख रखकर प्रकृतिराज्यमें जितने भी धर्मके अङ्ग व उपाङ्गोंकी रचना हुई है, उन सबका फल साक्षात् अथवा

परम्परा करके उस परमतत्त्वमें प्रवेश कराके इन सब उतार-चढ़ावोंसे मुक्त करानेसे ही है।

इसी उद्देश्यके अनुसार देशसेवा भी आत्मविकासका एक उपयोगी साधन है और व्यक्तिगत-स्वार्थसे ऊँचा उठकर देश-स्वार्थतक स्वार्थका विकास पा जाना, एक श्रेष्ठतर उन्नति है। परन्तु 'यही जीवनका परमलक्ष्य है, इससे आगे और कुछ है ही नहीं' यह हमारे लिये मन्तव्य नहीं है। हमारा कथन तो यह है कि हाँ, यह भी एक उच्च सोपान है, परन्तु निर्दिष्ट-स्थान यही नहीं है। यह बात ध्यानमें रहे कि देशसेवाके पात्र भी वही होंगे जिन्होंने अपने व्यक्तिगतस्वार्थ, कुटुम्बस्वार्थ और जातीयस्वार्थ की बलि पहले दे छोडी हो। परन्तु जो अभी इन नीचे स्वार्थोंमें ही कहीं अटके हुए हैं, वे देशसेवाके भी अधिकारी नहीं हो सकेंगे। यह माना कि देशस्वराज्य भला है, परन्तु अपने स्वरूपसे ही यह राग-द्वेष और जन्म-मरणसे छुटकारा दिलानेवाला नहीं है। इस देशभक्तिके द्वारा स्वार्थका विकास तो हुआ, परन्तु निस्स्वार्थता अभी नहीं आई, देश-स्वार्थके साथ अभी बन्धन है ही। जिस प्रकार रेलगाडी दिनभरमें सैंकडों मील तो दौड जाती है परन्तु लाइनके साथ बँधी हुई है, लाइन छोडकर एक इञ्च भी नहीं चल सकती। इसी प्रकार स्वार्थ चाहे कितना भी उच्चकोटि-का हो परन्तु है स्वार्थ ही, लाइनके समान जीवका अपने स्वार्थ के साथ बन्धन अवश्य रहता है। और जबतक किसी भी अंशमें स्वार्थ है, राग-द्वेष व जन्म-मरण आदि विकारोंसे छुटकारा नहीं हो सकता, रहेगा यह स्वार्थ बन्धनरूप ही। वास्तवमें तो इन राग-द्वेषादि विकारोंसे मुक्ति तभी होगी, जबकि यावत् ईश्वर सृष्टिपर हमारा स्वराज्य होगा, हमारी आँखें खुलनेपर संसारकी उत्पत्ति तथा आँखें बन्द होनेपर संसारका प्रलय स्वतःसिद्ध है

जायगा और यह एकमात्र ज्ञानद्वारा ही साध्य है। निष्काम-कर्म ज्ञानका साधन होनेसे हेय नहीं किन्तु उपादेय है, परन्तु प्रकृतिका यह अटल नियम है और 'पुण्यपापकी व्याख्या' में इसका भली-भाँति सिद्धान्त किया जा चुका है कि जब हम किसी पड़ावको ही उद्दिष्ट-स्थान मान बैठते हैं और वहीं डेरा डालकर आगे बढ़नेसे इनकार करते हैं, तब हम उलटा नीचे गिरने लग पड़ते हैं और द्वेषभाव हमारी गर्दन पकड़ने लग जाता है। जिस प्रकार किसी नदीके प्रवाहको बन्धन लगाकर जब आगे बढ़नेसे रोक दिया जाता है, तब उस प्रवाहको उस बन्धनमें टक्कर खाकर पीछे लौटना पड़ता है और पानी टक्कर खानेसे झाग-झाग हो जाता है। ठीक, इसी प्रकार जब हम अपने आत्मोन्नतिके प्रवाहको मार्गके किसी पडावमें डेरा डालकर और उसीको मञ्जिल मानकर आगे बढनेसे रोक देते हैं, तब हमको टक्कर खाकर पीछे लौटना पड़ता है और झागोंके रूपमें द्वेषभाव आत्मोत्कृष्टताके कारण हमको दबा लेता है। इसलिये हमारा मुख्य कर्तव्य है कि किसी पड़ावको ही मंजिल माननेकी भूल न करें, सदैव ध्यान रक्खें कि हमको इससे आगे पहुँचना है और पीछे मुड़कर न देखें। केवल तभी निर्विघ्नतासे किसी रुकावटके विना हम अपनी मंजिलपर पहुँचनेमें समर्थ हो सकेंगे और द्वेषादि विकारोंसे सुरक्षित हो सकेंगे। सारांश :—

न योगेन न सांख्येन कर्मणा नो न विद्यया।
ब्रह्मात्मैकत्वबोधेन मोक्षः सिद्धयति नान्यथा॥

अर्थ—केवल आत्मा व ब्रह्मके एकत्वज्ञानसे ही मोक्षकी सिद्धि होती है, अन्यथा न हठादि योगसे, न प्रकृति-पुरुषविवेक-रूप सांख्यसे, न निष्काम-कर्मादिसे और न शास्त्राध्ययनरूप परोक्षज्ञानसे ही मोक्ष सम्भव है। (तिलकमत-निराकरण समाप्त हुआ)

पूर्वपक्षी—यह तो हमने जाना कि मोक्षका साधन केवल ज्ञान है, अन्य निष्काम-कर्मादि अन्तःकरणकी शुद्धिद्वारा वैराग्यके उपजानेमें सहायक हैं। परन्तु यह तुम्हारा ज्ञानका साधन वैराग्य तो बड़ा कड़वा है। इसका तो ध्यान आते ही शरीर कम्पायमान होता है, इसका दृश्य तो हम अपनी आँखोंसे ही देख चुके हैं। ऐसा दुःख परमात्मा किसीको न दिखावे, सम्बन्धियोंके लिये तो यह मृत्युसे भी अधिक शोकप्रद है। मरे हुए प्राणीका तो स्यापा सभी करते हैं और देखते हैं, परन्तु यहाँ तो जीते हुए प्राणीको सम्मुख बैठाकर स्यापा किया जाता है। हरे! हरे!! यह तो कठोरताकी अवधि है। जिन माता-पितादि सम्बन्धियोंमें जन्मे, पले-पोपे, खेले, खाये, मोज उड़ाई; समय पड़नेपर उनको इस प्रकार धोका दे बैठना, यह तो बड़ी कृतघ्नता है। धर्म तो कहता है :—

(त्याग-वैराग्यपर पूर्वपक्ष)

आत्मस्थिति जानी उसने ही, परहित जिसने व्यथा सही।
परहितार्थ जिनका वैभव है, है उनसे ही धन्य मही॥

परन्तु इसके विपरीत यहाँ तो केवल अपने स्वार्थके लिये ही सबको चिरका दे बैठना है। साथ ही तुम्हारा यह वैराग्य तो विद्वेषपूर्ण भी है, विद्वेषके बिना सम्बन्धियोंसे मुँह कैसे मोड़ा जा सकता है? भला जिस चेष्टामें कृतघ्नता, स्वार्थपरायणता व विद्वेष तीनों शामिल है, वह धर्म कैसे? यह हमारी समझमें नहीं आता।

हाँ भाई! ठीक कहते हो, संसारकी प्रत्येक गति ही जो उल्टी ठहरी, फिर तुम ऐसा क्यों न कहो? दुःखमें सुखबुद्धि, अपवित्रमें पवित्र-बुद्धि, अनित्यमें नित्यबुद्धि, अधर्ममें धर्मबुद्धि और धर्ममें अधर्म-

(उक्त पूर्वपक्षका समाधान)

बुद्धि, यही तो अविद्या-देवीकी रचना है। फिर इस अविद्या-रचित संसारमें यह सब विपरीत भावना हो तो आश्चर्य ही क्या है ? तुम्हारे अन्दर भी तो वही नटनी नृत्य कर रही है, तुम्हारा क्या दोष है ? तुम इसी लिये अपने मुँहसे थोड़ा ही बोलते हो ? न तुम अपने कानोंसे सुनते हो, न अपनी आँखोंसे देखते हो और न अपनी बुद्धिसे सोचते ही हो, बल्कि दूसरोंकी बुद्धि, आँख और कानसे ही काम लिया जाता है, यही तो पाप है। अरे भाई ! मनुष्यको ये बुद्धि, आँख, कान यूँ ही परमात्माने नहीं दिये हैं, बल्कि ये ईश्वरकी परम दात हैं और एकमात्र अपने देखने-जाननेके लिये ही प्रदान किये गये हैं। इसलिये मनुष्यका मुख्य कर्तव्य है कि सत्त्वगुणकी वृद्धिद्वारा इनका सदुपयोग करे, अपनी ही बुद्धिसे सोचे, अपनी ही आँखोंसे देखे और अपने ही कानोंसे श्रवण करे। 'अजी ! सब संसार कहता है, वैराग्य बड़ा कटु है !' अरे भाई ! सब संसारका कहना ही किसी विषयकी सत्यताका प्रमाण नहीं हो सकता। सब संसार कहता है, 'सूर्य घूमता है, पृथ्वी ठहरी हुई है।' सब संसार कहता है, 'मनुष्य-जीवन बारम्बार नहीं मिलता, इसलिये मनुष्य-शरीर पाकर खूब भोगोंको भोग लेना चाहिये, बस यही इस जीवनका फल है।' तब क्या इसको सत्य माना जाय ? दुनिया तो उल्टी ही चक्की चलाती है :—

रंगीको नारंगी कहें, बने दूधको खोया।
चलतीको गाडी कहे, देख कबीरा रोया ॥

परन्तु तुम ही कहो, उलूक-पक्षी यदि सूर्यको अन्धकारका गोला देखता है, तब इसमें सूर्यका क्या दोष ?

पत्रं नैव यदा करीरविटपे दोषो वसन्तस्य किम् ?
नोलूकोऽप्यवलोकते यदि दिवा सूर्यस्य किं दूषणम् ?

धारा नैव पतन्ति चातकमुखे मेघस्य किं दूषणम् ?

अर्थ यह कि यदि करीर (कैर) के वृक्षको पत्र नहीं लगते तो इसमें वसन्त-ऋतुका क्या दोष ? दिनमें यदि उलूक-पक्षी ही न देखे तो इसमे सूर्यका क्या दोष ? तथा चातकके मुखमे धारा नहीं पड़ती तो इसमें मेघका क्या दोष कहा जाय ? इसी प्रकार सूर्यके समान प्रकाशमान इस त्यागरूप वैराग्यमे यदि तुमको अन्धकार-बुद्धि हो तो इसमें वैराग्यका क्या दोष ?

संसारमें कड़वा क्या है ? 'कड़वा करेला और नीम चढ़ा' की भाँति संसारमे उलझे हुए इस मनके समान और कौन वस्तु कड़वी हो सकती है ? जो आठ प्रहर चौसट घड़ी ससारमें फँसा हुआ, सर्पकी भाँति शरीररूपी बिलमे बैठा हुआ राग-द्वेष-रूपी फुन्कार मार रहा है, अपनेको और इस बिलको दोनोंको जला रहा है और रौरव-नरककी तैयारियाँ कर रहा है। यहाँ भी जलना और वहाँ भी जलना। जो वासनारूपी रस्सीसे बँधा हुआ घटीयन्त्रके समान संसार-चक्रमें नीचे-ऊपर भटक रहा है और सकल्पोंके जालमे फँसकर जिसकी 'ज्यूँ मरकट तरु ऊपर चढकर डार-डारपर लटकत है' की गति बनी हुई है। भला, इसके समान कड़वा और क्या होगा, जहाँ अपनी चेष्टाओंद्वारा नीचे लिखे वचनोको भली-भाँति चरितार्थ किया जा रहा है :—

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।

यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥

(गी अ. १६ श्लो १३, १४, १५)

अर्थः—यह तो आज मैंने पाया और अपना यह मनोरथ मैं और पूरा करूँगा, इतना धन तो मेरे पास है फिर भी यह इतना और होवेगा। इस शत्रुको तो मैंने मार डाला अब औरों को भी मैं मारूँगा। मैं सबसे बड़ा हूँ, ऐश्वर्यको भोगनेवाला हूँ, मैं सिद्ध हूँ, बलवान् हूँ और सुखी हूँ। मैं बड़ा धनवान् और कुटुम्बवाला हूँ। मेरे समान दूसरा कौन है? मै यज्ञ करूँगा, दान दूंगा और भोगोका आनन्द लूँगा—जो इस प्रकारके अज्ञान व अभिमानसे मोहित हो रहे हैं।

तथा इसके फलस्वरूप जिनकी ऐसी गति हो रही है :—

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥

अर्थः—अनेक प्रकारसे भ्रमित हुए चित्तवाले, मोहरूप जाल मे फँसे और काम-भोगोमे आसक्त हुए ऐसे पुरुष अपवित्र नरकों में पड़ते हैं।

भला! इसके समान भी कोई कटु वस्तु हो सकती है? हरे! हरे!! यहाँ तो चित्त घबराता है! बडी दुर्गंध आती है! हमसे तो यहाँ ठहरा नहीं जाता। निकलो! भागो!! भला इस प्रकार इस संसारमें उलझे हुए मनके समान और कौन कड़वा होगा? जिसने अपने सम्बन्धसे इस चेतन-पुरुषको भी बाँधकर शरीररूपी कारागारमें डाल दिया है।

चेतन रोगी है रह्यो, ग्रस्यो वहम आजार,
कहूँ स्वर्ग पुनि नरककी, लाग्यो खान पजार।
लाग्यो खान पजार, रैन-दिन राखे क़िस्सा,

कहे गिरधर कविराय बुद्धि भई नख-शिख सोगी,
बिना पित्त कफ वाय भयो परमेश्वर रोगी ॥

अर्थात् चेतन-पुरुषको इन सब अवस्थाओंकी प्राप्ति एकमात्र इस कड़वे-करेले-मनके सम्बन्धसे ही है। अपने-आपको शरीर व मनसे बड़ा माननेवाले ये भोले-भाले कितने तुच्छ हो गये हैं! शरीरका मान पानेके लिये दर-दर श्वानके समान भटकते फिरते हैं और सर्वदा चित्तमें भयभीत रहते हैं। जरा इनके चित्तोको तो देखो, कितने हलके हैं? जिस चित्तसे कामनाएँ भरपूर हैं वह भारी-भरकम कहाँ? उसमे बड़ाई कैसी? जिसमे कामनाएँ हैं वह तो दरिद्री है, भिखारी है और उसकी वही गति होती है जो जलमे पड़ी हुई एक तुम्बीकी। हाँ भाई! बड़े तो तुम हो, बल्कि बड़ोंसे भी बड़े हो, परन्तु अपने स्वरूपको भुलाकर और शरीर-रूपी कारागारमें बँधे रहकर बड़े बनना चाहते हो, इसके समान तुच्छता और क्या होगी? खुशीके दिन तो उसी दिन पीठ दिखा गये जिस दिन तुमसे यह भूल हुई। अब प्रकृतिका नियम भङ्ग-कर शरीरसे बड़ा बननेके पीछे पड़े हो। याद रक्खो, ब्रह्माकी आयुपर्यन्त भी तुम इसमें सफल-मनोरथ न हो सकोगे और जब कभी भी सत्यतासे अपने-आपमें प्रवेश करोगे, अपनेको ठगा हुआ ही पाओगे। शरीर व मनके सम्बन्धसे जो जितना बड़ा बनेगा, उतना ही उसको छोटा बनना पड़ेगा। क्योंकि शरीरका अभिमान जितना अधिक दृढ़ होगा, उतना ही काम-क्रोध व राग-द्वेषकी लातें और मुक्के सहने पड़ेंगे और उतना ही वह अपने आत्मस्वरूपसे दूर पड़ता चला जायगा। इस प्रकार संसारमें फँसा हुआ मन ही कड़वेसे कड़वा है।

इसके विपरीत हमारे इस मजनूँको तो देखो, कितना शान्त

है ? हृदय वर्फके समान शीतल हो गया है, सब कामनाएँ कूँच कर गई हैं। जिस प्रकार समुद्र-मथनके पश्चात् मन्दराचल निकल जानेसे समुद्र क्षोभरहित हो गया था, इसी प्रकार देखो तो सही, इसका हृदय कितना शान्त व गम्भीर है। न मानकी इच्छा, न अपमानका भय, न किसी रागकी लगन, न द्वेषकी जलन, न भूख-प्यासकी परवाह, बल्कि शरीरके रहने-जानेकी भी चिन्ता नहीं। न किसीकी मिन्नत, न खुशामद, न किसीसे कुछ लेना है और न किसीका कुछ देना है।

हमन हैं इश्कके माते, हमनको दौलताँ क्या रे ?
नहीं कुछ मालकी परवाह, किसीकी मिन्नताँ क्या रे ?
हमनको खुश्क रोटी बस, कमरको एक लंगोटी बस ?
सिरे पे एक टोपी बस, हमनको इज्जताँ क्या रे ?
क़बा-शाला वज़ीरोंको, जरी-जरबफ्त अमीरोंको ?
हमन जैसे फक़ीरोंको, जगत्की नेमताँ क्या रे ?

कड़वापन तो विषयोंमें आसक्त हुए मनके सम्बन्धसे ही था, इसने तो सारे ही विषको धो डाला है।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ॥

अर्थात् मन ही मनुष्योंके लिये बन्ध-मोक्षका हेतु है, विषयों मे फँसा हुआ मन ही बन्धनका और विषयोंसे छूटा हुआ मन ही मोक्षका हेतु है।

यह तो बड़ा शूरवीर है ! बड़ेसे बडे योधाके लिये भी मनपर जय पाना महान् कठिन है, परन्तु इसने तो मनपर विजय पाई है। अब तुम ही कहो कड़वा वैराग्य या कड़वा संसार ? जिस वैराग्यके प्रभावसे सर्व सांसारिक आसक्तिरूप विष धोया गया,

वह आप कटु कैसे हो सकता है ? तुम तो हमारे आत्मदेवका दृश्य देख ही चुके हो। सत्य कहना, ऐसा कौन कठोरहृदय होगा जो इसके दर्शनमात्रसे पिघल न गया हो। इसके समान भी कोई सत्याग्रह हो सकता है ? वर्तमानमें जो तुम्हारा अधिभौतिक-सत्याग्रह चल रहा है, यह तो उसकी जूठन है। अपने ईश्वरको साक्षी देकर कहना, क्या तुम्हारा हृदय उसके दर्शनसे पानी-पानी नहीं हुआ ? यदि सच मुच तुम्हारा हृदय उस समय कठोर ही बना रहा तो अवश्य जन्म-जन्मान्तरके पापोंसे भरपूर रहा होगा। अन्यथा यह सम्भव नहीं था कि हृदयमें कुछ ठण्डक न आती और दो आँसुओंकी भेंट उसको न दी जाती। भला जिसके देखनेसे पत्थर भी पिघल जाते हैं, फिर उसकी अपनी शान्तिका क्या ठिकाना ? देखो, जिस वैराग्यको तुम कड़वा कहते हो, उसके समान संसारमें क्या कोई भी चीज मीठी हो सकती है ?

अब आओ ! विचार करें कि 'कठोर तुम्हारा संसार, या हमारा वैराग्य !' कठोरता क्या है ? देहमें आत्म-बुद्धि धार शरीरसम्बन्धी स्वार्थोंमें निमग्न रहना, मिथ्या भोगोंमें सत्य-बुद्धि धार पापके बीज मुट्ठी भर-भर बोते रहना और उन पापोंके फलस्वरूप आगे-पीछे, दाहिने-बाएँ, ऊपर-नीचे सब ओरसे दुःखोंकी मार खाते रहना, क्या यह कठोरता नहीं ? यदि हृदयमें जड़ता और कठोरता न होती तो दुःखोंका कोई एक थपेड़ा लगते ही मुँह उधरसे अवश्य फिर जाना चाहिये था। परन्तु अपने आचरणोंसे सच्छास्त्र व सन्तोंके हृदयवेधी वचनरूप बाणोंको भी कुण्ठितकर वारम्बार उन्हीं दुःखप्रद चेष्टाओंमें प्रवृत्त रहना, यह स्पष्ट रूपसे सिद्ध करता है कि हृदय कठोर है।

भला, इसके समान और कठोरता क्या होगी? तुम ही कहो। जो वस्तु जैसी है उसको वैसा न देख उससे विपरीत देखना, यही तो अज्ञानरूप जड़ता है और जड़ता ही कठोरता है। जो सुखस्वरूप अपने ही भीतर भरपूर है, उस परमसत्यसे मुँह मोड़ स्वप्नरूप संसारमें आसक्त हो जाना, इसके समान जड़ता और कठोरता क्या होगी?

साधो! दुइ दूर जब होवे, हमरी कौन कोई मत खोवे?
साधो! कौन नशा तुम पीया? अब लग आप सही नहीं कीया॥
सिन्धु विषे रञ्चक सम देखे, आप नहीं पर्वत सम पेखें।*
चमके नूर तेज सब तेरा, तेरे नयनन काहे अन्धेरा॥

देखो! इस समयतक सत्यताके तीर हमने तो अपनी ओरसे खूब ही खैंच-खैंचकर मारे हैं, परन्तु सम्भव नहीं जान पड़ता कि किसी हृदयमें इनका घाव हुआ हो। किसी भूले-भटकेका तो कहा नहीं जाता। हृदयकी वज्रवत् कठोरताका यह स्पष्ट प्रमाण है।

इसके विपरीत हमारे इस दीवानेकी ओर दृष्टि डालो कि सत्यके इन अचूक तीरोंने इसके हृदयको कोमल करके पानीके समान बहा दिया है, जिससे मिथ्या संसारकी कोई आसक्ति अब उसको चला नहीं सकती। सांसारिक मिथ्या आसक्तिरूप बाण अब उसके हृदयमें बिना क्षोभ पैदा किये इसी प्रकार प्रवेश कर जाते हैं, जैसे समुद्रमें फैंके हुए बम्बके गोले किसी प्रकार क्षोभ उत्पन्न किये बिना समुद्रमें समा जाते हैं। परन्तु तुम तो इस कोमल हृदयको कठोर कहते हो। भाई! यह कठोरता नहीं, यह तो परम कोमलता है। हाँ, यह बात भिन्न है कि जैसे यवन-

* अर्थात् समुद्रमें रञ्चकमात्र मोती होता है, उसको तो बड़े कष्टसे पानेके लिये व्याकुल होते हैं, परन्तु अपने भीतर पर्वतके समान जो अविनाशी मोती भरा हुआ है उसको नहीं देखते।

भाषामें 'राम' शब्दका अर्थ 'गुलाम' किया जाता है, वैसे ही तुम भी इस कोमलताका अर्थ अपनी भाषामें कठोरता करने लग पडो। परन्तु वास्तवमें तो इसका चित्त अत्यन्त कोमल और अत्यन्त निर्मल है:—

मन ऐसो निर्मल भयो जैसे गङ्गानीर।
पीछे-पीछे हर फिरत कहत कबीर-कबीर॥

अब हमको देखना है कि सांसारिक सम्बन्धोंको बनाये रखना कृतघ्नता और स्वार्थपरायणता है, अथवा इनसे ऊँचे किसी अन्य सम्बन्धको जोडनेके लिये इनका तोड़ डालना? यह बात भली-भाँति समझमें आ जानी चाहिये कि संसारमे जितने भी सम्बन्ध हैं और जितने भी धर्मके अङ्ग है, अर्थात् मातृभक्ति, पितृभक्ति, भ्रातृभक्ति, पतिसेवा, गोसेवा, पत्नीसेवा, गुरुसेवा, कुटुम्बसेवा, जातिसेवा, देशसेवा इत्यादि, इन सबका साक्षात् फल स्वार्थत्याग व अन्तःकरणकी द्रवताद्वारा केवल ईश्वरके सम्मुख होना है और इन धार्मिक सम्बन्धोद्वारा उसीसे सम्बन्ध जोड़ना है। ये सब भक्ति व सेवा उस साक्षात् फलकी उत्पत्तिमें निमित्तमात्र हैं, इनका अपना और कोई फल नहीं। ये सब सम्बन्ध उसी समयतक हमारे लिये पुण्यरूप हैं, जबतक उस साक्षात् फलकी उत्पत्तिमें सहायक हैं। परन्तु जब किसी अवस्था पर पहुँचकर ये सांसारिक सम्बन्ध उस साक्षात् फलकी उत्पत्तिमें सहायक न रहें अथवा विरोधी हो जाएँ, तब इनका जोड़ना पुण्यरूप न रहकर तोडना ही पुण्यरूप सिद्ध होता है। प्रकृति-देवीकी नीति कुछ ऐसी ही विलक्षण है कि एक अवस्थामें जो वस्तु पथ्य होती है, अन्य अवस्थामें वही कुपथ्य हो जाती है। किसी अवस्थामें पाचक द्रव्य पथ्य है और रेचक कुपथ्य, किन्तु कालान्तरमें भिन्न अवस्थाके प्राप्त होनेपर पाचक कुपथ्य सिद्ध

होता है और रेचक पथ्य। उपर्युक्त सिद्धान्तकी सत्यतामें सम्पूर्ण वेद-शास्त्र मुक्तकण्ठसे बिना किसी विवादके अपनी साक्षी देते हैं। उस सच्चे सम्बन्धको जोड़नेके लिये प्रह्लादने पिताको नमस्कार किया, ध्रुवने मातासे मुँह मोड़ा, विभीषणने भ्राताको पीठ दी, बलिने गुरुकी उपेक्षा की और ब्राह्मणोंकी स्त्रियों और गोपियोंने अपने-अपने पतियोंकी आज्ञा भङ्ग करके उनका परित्याग किया। परन्तु किसी भी शास्त्रने इन सब चेष्टाओंमें कृतघ्नतादि पापोंका आरोप न किया, बल्कि ये सब शास्त्रोंद्वारा पुण्यरूप ही प्रमाणित हुईं।

पिता बचन प्रह्लाद त्याग अपनो मत ठान्यो।
बलिराजा गुरुबचन नेक हिरदै नहीं आन्यो॥
दई भ्रातको पीठ विभीषण कुल मरवायो।
गोप्याँ पतिव्रत छाँड़ कियो अपनो मन भायो॥
यह निगम माँहि निन्दित करम करत लगे प्रतिवाय।
हरिधर्म साधत जगन्नाथ अधर्म धर्म हो जाय॥

गाथा है कि शरद्-पूर्णिमाकी रात्रिके समय यमुनातटपर जब भगवान्‌ने अपनी वंशीका मधुर-नाद किया तो गोपियाँ ज्यूँकी ज्यूँ अपने घरेलू धन्धोंका परित्यागकर उस मधुर-ध्वनिसे आकर्षित हो मदोन्मत्तके समान भगवान्‌के निकट भागी चली आईं। जो भोजन कर रही थी वह भोजन छोड़कर, जो बालकको स्तनपान करा रही थी वह बच्चेको पटककर और जो पतिसेवामें लगी हुई थी वह सेवा परित्यागकर दौड़ी। सारांश, जब सब गोपियाँ एकत्रित हो गईं तब भगवान्‌ने मधुर भाषामें उनको उपदेश किया, "हे गोपियो! स्त्रीके लिये संसारमें पतिव्रत-धर्मके समान अन्य कोई धर्म नहीं है। स्त्रियोंके लिये पति ही परमेश्वर है, इसलिये तुमको अपने पतियोंका परित्यागकर रात्रिके समय

जङ्गलमें भ्रमण करना उचित नहीं है।" इसपर सब गोपियोंने एक-स्वरसे भगवान्‌के चरणोंमें विनम्र प्रार्थना की, "हे नाथ! आपका कथन उचित है, परन्तु इस स्थलपर हमारी एक शङ्का है, आप कृपाकर उसका समाधान करें, फिर जैसी आपकी आज्ञा होगी हमारे लिये वही कर्तव्य होगा।" वह शङ्का यह है कि एक पति-व्रता पति-सेवापरायण थी। कालवशात् पतिको देशान्तर गमनकी इच्छा हुई तो उसने अपनी पत्नीसे अपना मनोरथ प्रकट किया। स्त्रीने रोकर कहा, "हे स्वामी! मेरा जीवन आपके आधार है, मैं आपको भोजन कराके आपका प्रसाद लेती हूँ, फिर आपके बिना मेरे जीवनका आधार क्या हो सकता है?" पतिने उसको अपनी एक मूर्ति बनाकर दे दी और कहा कि इसको तू मेरा रूप जान विधिपूर्वक मेरे आनेतक इसकी सेवा करना। ऐसी आज्ञा देकर पति देशान्तरको चला गया और वह पतिव्रता उस मूर्तिकी यथाविधि सेवा करती रही। काल पाकर पति अपने घरको लौट आया। गोपियाँ पूछती हैं, "हे चित्त-चोर! आप आज्ञा दीजिये कि उस सती-स्त्रीको अब कौनसे पतिपर अपना आधार करना चाहिये? पतिकी मूर्तिपर अथवा सच्चे पतिपर? इसी प्रकार पतियोंके पति सच्चे पति जब आप हमसे खोये हुए हमको प्राप्त हुए हैं, तब अब हमको किसकी शरण लेनी चाहिये? आपकी मूर्तिरूप उन पतियोंकी शरण लें या आप सच्चे पतिकी?" भग-वान् गोपियोंके अवधिरूप प्रेमपर चकित हुए और कुछ उत्तर न दे सके। ठीक तो है, उत्तर क्या देते? गीताके अन्तमें वचन तो हार बैठे हैं, उत्तर देनेका मुँह कहाँ? भला, सत्य भी कहीं छुपा रहता है?—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गी. अ. १८ श्लो. ६६)

अर्थात् सर्व धर्मोंका परित्यागकर केवल मेरी ही शरणको प्राप्त हो, मैं तुझको सारे ही पापोसे मुक्त कर दूंगा, सोच मत कर।

अजी! ये संसारके सब नाते तो टेलीफोनकी भाँति उस-समयतक ही प्यारे थे, जबतक मदनमोहन दूर बैठा हुआ इनके द्वारा अपना प्रेम-सन्देश भेज रहा था। दौड़-दौड़कर उस समय तक ही इनसे कान लगाया जाता था और उसके नातेसे ये टेलीफोन भी प्यारे लगते थे। परन्तु जब आनन्दकन्द स्वयं ही घर आ गया तब इन टेलीफोनोसे क्या प्रयोजन? अब तो ये टेलीफोनकी घंटियाँ प्यारी नहीं लगतीं, अब तो इनसे चित्त उकता गया। इसी प्रकार यह सांसारिक सम्बन्ध टेलीफोनके रूपमें परम्परासे उसी समय तक उपादेय थे जबतक उस प्रेममूर्ति से नाता नहीं जुड़ा था और वह हृदयमें नहीं उतर आया था। वास्तवमें तो इनके द्वारा उस प्रेम-मूर्तिसे ही नाता जोड़ना लक्ष्य था। परन्तु साक्षात् जब उससे नाता जुड़ गया तब ये अपने स्वरूपसे उपादेय न रहकर हेय ही सिद्ध होते हैं।

भाई! जो बीज जिस फलके लिये बोया जाय, यदि वह फल दिये बिना ही गिर जाय तो कृतघ्न है; परन्तु जो बीज बोया हुआ फलके सम्मुख हो रहा है उसको 'कृतघ्न' कहनेका साहस कैसे करते हो? मनुष्य-शरीरका फल केवल ईश्वरप्राप्ति ही है, न कि सांसारिक भोग। भोग तो पशु-पक्षी आदि योनियोंमें भी जीवको प्राप्त थे और यह नियम है कि जिसको जिस भोगकी इच्छा है वही उसको सुखदायी होता है। सूकरको अपनी योनि के भोगोंमें जो आनन्द है, इन्द्रके भोग उस समय उसके लिये वैसे आनन्दरूप नहीं रहते, क्योंकि उसको उनकी इच्छा ही नहीं है। इसलिये भोगदृष्टिसे सूकर व इन्द्रमें कोई भेद नहीं। इसी प्रकार भोगदृष्टिसे मनुष्य-शरीरमें कोई विलक्षणता नहीं। मनुष्य-शरीर

मोक्षद्वार है इसके द्वारा भगवान्‌को प्राप्त किया जा सकता है, यही एकमात्र इस शरीरकी बड़ाई है। भगवान् रामचन्द्रने राज्य-सिंहासनारूढ़ होनेके पश्चात् एक वार अपनी प्रजाको आह्वानकर क्या ही सुन्दर उपदेश किया है।

चौ०—बड़े भाग्य मानुष तनु पावा। सुरदुर्लभ सद्ग्रन्थन गावा॥
साधन धाम मोक्षकर द्वारा। पाइ न जिहि परलोक सँवारा॥
सो परत्र दुःख पावहिं, शिर धुनि धुनि पछिताहिं।
कालहिं कर्महि ईश्वरहि, मिथ्या दोष लगाहिं॥

इह तनु कर फल विषय न भाई। स्वर्गहु स्वल्प अन्त दुःखदाई॥
नर तनु पाय विषय मन देहीं। पलटि सुधा ते शठ विष लेहीं॥
नर तनु भव वारिधि के बेड़े। सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरे॥
कर्णधार सद्गुरु दृढ़ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा॥
जे न तरें भवसागरहिं, नर समाज अस पाय।
सो कृतनिन्दक मन्दमति, आतमहनि गति जाय॥

भगवान् वशिष्ठ भगवान् रामचन्द्रके प्रति उपदेश करते हैं :—

अन्नाहारार्थं कर्म कुर्यादनिन्द्यं,
कुर्यादाहारं प्राणसंधारणार्थम्।
प्राणं संधार्यात्तत्त्वजिज्ञासनार्थं,
तत्त्वं जिज्ञास्यं येन भूयो न दुःखम्॥
(योगवाशिष्ठ)

अर्थ:—इस संसारमें अहारके लिये अनिन्दित कर्म कर्तव्य है (निन्दित नहीं), प्राणरक्षणार्थ अहार कर्तव्य है (भोगार्थ नहीं), और प्राणरक्षा तत्त्व-जिज्ञासाके लिये कर्तव्य है (किसी सांसारिक यशके लिये नहीं) इस प्रकार जिसने तत्त्वकी खोज कर ली केवल इसीके लिये दुःखोंसे छुटकारा है।

यही आशय भागवतके आरम्भमें भगवान् व्यासजीने निरूपण किया है।

धर्मस्य ह्यापवर्गस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते।
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः॥
कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता।
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः॥
वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

(भागवत प्रथम स्कन्ध अ० २ श्लो० ९, १०, ११)

अर्थः—धर्मका फल धनादि नहीं है, किन्तु मोक्ष ही धर्मका फल है। धनादिका फल कामलाभ नहीं माना गया है, किन्तु सत्पात्रोंके निमित्त धन व्यय करके धर्म उपार्जन करना ही धनका मुख्य फल है। कामका फल विषयभोगद्वारा इन्द्रियप्रीति करना नहीं है, किन्तु क्षुधा-पिपासादि कामके वेगको निवृत्तकर जीवन-रक्षा करना ही कामका फल है। जीवनका फल संसारसम्बन्धी कर्मोंमें फँसे रहना नहीं है, किन्तु तत्त्वजिज्ञासा ही एकमात्र फल है, जिसको तत्त्ववेत्ता 'तत्त्व', 'अद्वैत' या 'ज्ञान' कहते हैं और जो 'ब्रह्म', 'परमात्मा', या 'भगवान्' शब्दों करके कथन किया जाता है।

इस प्रकार जब यह अपने लक्ष्यकी ओर जा रहा है, तब कृतघ्न कैसे? अब आपका यह विचार कि इस त्यागसे सम्बन्धियोंकी हानि होती है, बहुत ही थोथा है और सत्यको न जानकर ही ऐसा प्रलाप किया जाता है। भला, सत्यके सम्बन्धसे भी कभी किसीकी हानि हुई है? सूर्यका अन्धकारसे क्या सम्बन्ध?

अग्निकी ज्वाला नीचेको और जलका प्रवाह ऊपरको बहने लगे यह असम्भव तो सम्भव हो जाय, परन्तु सत्यतापूर्ण त्यागमें किसीकी हानि हो, यह सम्भव नहीं। आजतक कोई ऐसा दृष्टान्त देखने-सुननेमें नहीं आया कि जो किसीके परमार्थपरायण होनेसे उसके पीछे सम्बन्धियोंको हानि पहुँची हो। किसी वस्तुका हानि-लाभ केवल परमार्थदृष्टिसे ही प्रमाण किया जा सकता है कि वह हमारे परमार्थको बनानेवाला है या बिगाड़नेवाला। सांसारिक दृष्टिसे हानि-लाभका प्रमाण करना तो अति तुच्छ दृष्टि है। वस्तुतः इस त्यागमें तो इतना बल है कि इसके सम्बन्धसे सम्बन्धियोंकी व्यावहारिक हानि भी असम्भव है, फिर पारमार्थिक लाभका तो अन्त ही क्या है? यदि इस त्यागके सम्बन्धसे किसी सम्बन्धीको कष्ट भान होता है तो वह ऐसा ही है, जैसे किसी पके हुए फोड़ेमें चीरा लगानेसे कुछ समयके लिये कष्ट प्रतीत होता है, परन्तु पीप निकल जानेपर पूर्ण शान्ति मिलती है। जिसको तुम चरका देना कहते हो यह चिरका नहीं, बल्कि अपने पवित्र आचरणोंसे सम्बन्धियोंकी एक ऐसी सच्ची व ठोस सेवा है जो दूसरोंसे अनेक जन्म धारकर भी नहीं हो सकती। जो आम्रफल पककर वृक्षसे गिर पड़े, आप मीठा निकले और दूसरोंको मिठास दे, वह तो परम उपकारक है न कि कृतघ्न। किसी भी मनुष्यका एक चार-दीवारीके अन्दर उत्पन्न होना तो आवश्यक है, परन्तु उसी चार-दीवारीमें रहकर मर जाना तो घोर पाप है और क़बरमें सड़-सड़कर मरनेके तुल्य है। अब कहिये, क्या यह कृतघ्नता है? आप तो स्वयं हमारे आत्मदेवके चरित्र देख चुके हो, फिर प्रत्यक्षको प्रमाण क्या? जिसने उसके चरित्रोंसे और उससे प्रेम किया वही अमर हुआ। परन्तु अपनी दोषदृष्टि करके तुम उसके आचरणोंको अपने हृदयमें ठहरने नहीं देते, इसीलिये तुम्हारे

भीतरसे यह सब विकार निकल रहे हैं। भला ! देखो तो सही, जो व्यक्ति जीते ही मर गया है और मरके भी अमर हुआ है, उसको स्वार्थपरायण व कृतघ्न कहना कैसा सुफेद झूठ है। जिसने शरीरसम्बन्धी सर्व स्वार्थोंकी तिलाञ्जलि दी और संसारके लिये अपने शरीरको भी खाद बना दिया, वह तो पूर्णरूपसे स्वार्थ-त्यागी है न कि स्वार्थी। द्वेषकी मूल राग है, रागसे ही द्वेषकी उत्पत्ति होती है। जब हम परिच्छिन्न-दृष्टि धार शरीरसम्बन्धी स्वार्थको बनाये रखकर कुछ पदार्थोंमें ममत्व करते हैं, तब ममत्व के विषय जो पदार्थ है उनसे रागकी उत्पत्ति होती है। और प्रकृति-देवीकी यह नीति है कि जहाँ हमने स्वार्थदृष्टिसे दो-चार पदार्थोंमे राग किया, वहाँ ही उनसे भिन्न पदार्थोंमे द्वेष उत्पन्न हो जाता है और हृदय तपने लगता है। अर्थात् अपने हृदयगत प्रेमको स्त्री-पुत्रादि दो-चार पदार्थोंके साथ जोड़कर जब हम इसे सीमाबद्ध कर देते हैं, तब यह गंदला हो जाता है और इसमें द्वेषरूपी सड़ाँद पैदा हो जाती है। परन्तु वैराग्यकी यह बढ़ी-चढ़ी अव-स्था तो स्त्री-पुत्रादिगत प्रेमकी सीमाको तोड़कर इस पवित्र प्रेमके प्रवाहको सब ओरसे खुला कर देती है, जिससे सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंके प्रति हमारा हृदयगत प्रेम विकसित हो जाता है। इस प्रकार इस विषमताके निकल जानेसे क्या सम्बन्धी और क्या असम्बन्धी सबको हम समतापूर्ण प्रेम प्रदान कर सकते हैं और इस अवस्थापर पहुँचकर ही 'वसुधैव कुटुम्बकम्' भाव पूर्णरूपसे जागृत हो सकता है, यथा :—

माता च कमलादेवी पिता देवो जनार्दनः।
बान्धवाः विष्णुभक्ताश्च निवासो भुवनत्रयम् ॥

अर्थात् लक्ष्मीदेवी ही हमारी माता है, विष्णुदेव ही हमारे

पिता हैं तथा विष्णुभक्त ही हमारे बान्धव हैं, इस प्रकार तीनों लोक ही हमारा भवन है।

यह सब इस वैराग्यकी ही महिमा है जिसने विषमताका बन्धन तोड़कर इस समताका विस्तार किया है। सारांश, जिसको तुम कटु कहते हो वह परम-मधुर है। जिसको कठोर कहा जाता है वह परम-कोमलता है। जिसको कृतघ्नता कहा गया है, वह परम-कृतज्ञता है। जिसको चिरका देना कहते हैं वह परम-मेवा है। जिसको स्वार्थपरायणता कहा जाता है वह स्वार्थत्यागकी अवधि है और जिसको विद्वेष कहते हो वह परम-समता है। केवल तुम्हारे दृष्टिदोषके प्रभावसे ही यह सब विपरीत भावनाएँ हो रही हैं, अपनी दृष्टिको पवित्र करनेसे सभी ताप दूर हो सकते हैं। खैर जी!

बीती ताहि बिसार दे आगेकी सुधि ले।
जो बन आवे सहजमें ताहीमें चित्त दे॥

पाण्डित्याभिमानी परन्तु शास्त्रोंके केवल परोक्षज्ञानी कोई कहते हैं 'याज्ञवल्क्य का मत है कि सन्यासमें केवल ब्राह्मणका ही अधिकार है।' कोई मनुका प्रमाण निकालकर लाते हैं कि 'मनुने तीन *ऋणोंका बन्धन लगाया है, इन ऋणोंको चुकाये बिना सन्यास लेनेसे अधोगति होती है।' कोई अन्य ग्रन्थोंका प्रमाण लाते हैं और कहते हैं कि 'संन्यास तो हम भी लेते, परन्तु क्या करें! कलियुगमें सन्यासका किसी भी वर्णको अधिकार नहीं है।' इस प्रकार अपनी-अपनी काँई-काँई सब मचाते ही रह गये, परन्तु हमारा आत्मदेव तो मदमाते सिंहके समान संसार-

* देवऋण, ऋषिऋण और पितृऋण। यज्ञ-यागादि करके देवताओंको तृप्त करना देवऋणसे, वेदाध्ययनद्वारा ऋषिऋणसे और पुत्रोत्पत्तिद्वारा पितृऋणसे मुक्ति होती है।

रूपी पिञ्जरेको तोड़कर ऐसा झपटा कि वह गया! वह गया!! वह गया!!! और 'तवैवाहम्' (मैं तेरा ही हूँ) भावसे निकलकर 'त्वमेवाहम्' (मैं तू ही हूँ) भावमें जा टिका और पूर्णरूपसे सत्त्वगुणमें आरूढ हो गया। परमार्थरूपी वृक्ष हरी-भरी लह-लहाती टहनी-पत्तियोंसे सुन्दर फूलके रूपमें विकसित हो आया। बाबा! अब इसकी आँखें किसी दूसरी सखी दुल्हनसे लड़ी हैं, अब इसके कान तुमको सुननेवाले नहीं रहे, अब तुम इसके रोग की परीक्षा नहीं कर सकते, तुम इसकी नाड़ीको नहीं पहिचान सकते, इसको छोड़ अब अन्य सांसारिक पुरुषोंकी नाड़ीको टटोलो।

अरी! मैं तो राम दीवानी री! मेरा मर्म न जाने कोय।
सूली ऊपर सेज पियाकी, किस विधि मिलना होय॥

अब मैं अपने रामको रिझाऊँ। (टेक)
डाली छेड़ूँ न पत्ता छेड़ूँ, ना कोई जीव सताऊँ।
पात-पातमें प्रभु बसत है, वाहीको शीश नवाऊँ॥ (टेक)
गङ्गा जाऊँ न यमुना जाऊँ, ना कोई तीरथ न्हाऊँ।
अड़सठ तीरथ घटके भीतर, तिन ही में मल-मल न्हाऊँ॥ (टेक)
औषधि खाऊँ न बूटी लाऊँ, ना कोई वैद्य बुलाऊँ।
पूरण वैद्य मिले अविनाशी, वाहीको नब्ज दिखाऊँ॥ (टेक)
ज्ञान कुठारा कसकर बाँधूँ, सुरत कमान चढ़ाऊँ।
पाँचो चोर बसें घट भीतर, तिनको मार गिराऊँ॥ (टेक)

देखोजी! बन्धन सदैव पकड़के लिये ही होता है। भला, त्यागके लिये भी कभी बन्धन हुआ है? सच्चे ऋषि-महर्षि इतने प्रमादी कैसे हो सकते हैं कि रंगेदिल अधिकारीके लिये किसी प्रकार बन्धन लगाकर अपनेको दूषित करें। हाँ! अधिकारी होना चाहिये, फिर तो वह सर्व प्रकारसे उसे 'शुभागमन' कहनेके लिये

उद्यत हैं, यही तो उनकी उदारता है। भला, जब उनकी दृष्टिमें जीव शिवरूप ही है और केवल मिथ्या पदार्थोंकी पकड़से वह अपने-आप ही बन्धायमान हो गया है, यथा :—

\- कुण्डलिया -

मरजी चेतन की जभी झक मारन की होय।
मृगतृष्णाके नीरमें वह चल्यो बिन तोय॥
वह चल्यो बिन तोय ना कहुँ किनारो पावे।
कहुँ ऊर्ध्व कहुँ अध पुनि-पुनि गोते खावे॥
कहे गिरधर कविराय दीजिये किस ढिग अरजी।
परमेश्वरकी आप भई जब ऐसी मरजी॥

ऐसी अवस्थामें जबकि सच-मुच यह चेतनदेव मिथ्या पकड़से जीवरूपमें आप ही बँध गया है और इस पकड़का छोड़ना ही मुक्ति है तथा प्याजकी पौदके समान इधरसे उखाड़ना और उधर जमाना ही है, तब सचमुच ऋषि-मुनि सच्चे अधिकारीके लिये जो अपने घर जा रहा है, काल अथवा वर्णका बन्धन कैसे लगा सकते हैं? अपने घर जानेवालेके लिये भी कहीं कभी देश-कालका बन्धन हुआ है! हाँ, यह सब बन्धन क्रम-संन्यासके अधिकारी उन वैराग्यशून्य हृदयोंके लिये तो हो सकता है, जिनमें वैराग्यकी लाली अभी नहीं आई। परन्तु मूलमें शास्त्रके सभी मर्यादारूप बन्धन, बन्धनोंसे छुटकारा दिलानेके लिये ही हैं, न कि बाँधे रखनेके लिये। अजी! जातिका सम्बन्धतो शरीरसे ही है न कि आत्मा से, किन्तु यह तो अब शरीरसे ही हाथ धो बैठा, अब इस शवको तुम सँभालो और बन्धन लगाये जाओ। यह लो! हम तो जाते हैं!

—: ज्ञान :—

वाचस्पति-मिश्रका मत है कि 'निष्काम-कर्म उपासनादिका फल ¹विविदिषारूप जिज्ञासा है, निर्मल अन्तःकरणमें जिज्ञासाके उत्पन्न हो जानेपर कर्मजन्य ‡अपूर्व अपना फल देकर नष्ट हो जाता है। जिज्ञासाके होते हुए भी उत्तम गुरु-शास्त्रादि सामग्री सिद्ध होवे तब ज्ञानकी प्राप्ति सम्भव होती है। उत्तम गुरु-शास्त्रादि सामग्रीके बिना जिज्ञासा होनेपर भी ज्ञानका सम्भव नहीं।'

(कर्मजन्य अपूर्व ज्ञान में उपयोगी सामग्री का जनक है।)

परन्तु विवरणकार इससे आगे बढ़कर और भुजा ठोंककर क्या ही सुन्दर सिद्धान्त करते हैं कि 'निष्काम-कर्मादिका फल केवल जिज्ञासा ही नहीं, बल्कि जिज्ञासाद्वारा ज्ञान है। कर्मजन्य अपूर्व ज्ञानकी उत्पत्तिपर्यन्त शेष रहता है, वह ज्ञानको उत्पन्न करके ही नष्ट होता है और इस जन्ममें अथवा भावी जन्ममें कर्मजन्य अपूर्व उत्तम गुरु-शास्त्रादि सामग्रीको स्वयं ही सम्पादन करता है।

(सद्गुरु-महिमा)

इस सिद्धान्तके अनुसार हमारा आत्मदेव सद्गुरुकी शरण को प्राप्त हो चुका है और उनके चरणोंमें आत्मनिवेदन कर चुका है। उन सद्गुरुकी महिमा वर्णन करने के लिये न वाणीकी सामर्थ्य है और न लेखनीमें ही बल है, मन ही जानता है। परन्तु मनकी गति भी महिमा वर्णन करनेमें 'गूँगेके गुड़' के समान है। बलिहारी जाऊँ! और कोटिशः वारी-वारी जाऊँ उन सद्गुरुके चरणकमलोंपर। धन्य है, हे गुरो! आपकी कारीगरी और आपके हाथकी सफाईको बार-म्बार धन्य है! चुपके-चुपके वह काम किया, शरीर और मन-इन्द्रियोंपर ऐसा अधिकार पाया और उनको भस्मकर ऐसा

---

¹अपने आत्मस्वरूपके जाननेकी इच्छा। ‡संस्कार।

पारस बनाया कि कुछ न पूछो। इसपर खूबी यह कि जरा आँच भी तो न लगने दी, इस सफाईकी उपमा नहीं मिलती।

—: भजन :—

*मैं वारी जाऊँ सतगुरुकी, जी मैं बलिहारी जाऊँ ज्ञानी गुरुकी (टेर)
मेरा किया भरम सब दूर, मैं वारी जाऊँ सतगुरुकी ॥१॥
सतगुरु मेरा ऐसा हुआ जी, ज्यूँ दिवलाकी लोय।
आई पड़ोसन ले गई जी, दिवलारो दिवला जोय ॥२॥ (टेर)
मन धोबी तन कापड़ा जी, सुरता साबुन होय।
शील-शिला मेरा सतगुरु बैठा, सब रंग दिया है धोय ॥३॥ (टेर)

*भजनका पंक्तिवार अर्थ :—(१) मैं सद्गुरुपर वारी जाता हूँ और उन ज्ञानी गुरुपर बलिहारी जाता हूँ, जिन्होंने मेरा सब भ्रम दूर कर दिया। अर्थात् मैं अपने-आपको अज्ञान करके कर्ता-भोक्ता जीव मानकर संसारचक्रमें भ्रम रहा था, वह कर्तृत्व-भोक्तृत्व भ्रम दूर करके सभी कर्मबन्धनोंको भस्म कर दिया, ऐसे सद्गुरुपर मैं बलिहारी जाता हूँ।

(२) जिस प्रकार पड़ोसन अपने दीपकको दूसरी पड़ोसनके प्रज्वलित दीपकसे जोड़कर चली जाती है तो इससे पूर्व प्रज्वलित दीपकमें कोई न्यूनता नहीं आती और वह अपने समान ही दूसरे दीपकको प्रज्वलित कर देता है। इसी प्रकार मेरे सद्गुरु दीपककी लौ के समान स्वयं प्रकाश हैं, जो कि अपने संसर्गमें आये हुएको अपने समान ही प्रकाशमान् कर देते हैं और आप ज्यूँ के त्यूँ रहते हैं। ऐसे सद्गुरुपर मैं बलिहारी जाता हूँ।

(३) मोक्षकी तीव्र जिज्ञासावाला मन धोनेवाला धोबी है, तन अर्थात् शरीर धोनेयोग्य वस्त्र है जो अनेक विकारोंका घर है और अन्तर्मुखी आत्माकार-वृत्ति साबुन है। अर्थात् बहिर्मुखी-वृत्तिद्वारा इस देहमें ही आत्मबुद्धि हो रही थी और यही सर्व पुण्य-पापादि मल-विकारोंका हेतु था, उसको दूर करनेके लिये जो आत्माकार अन्तर्मुखी-वृत्तिरूपी साबुन दिया गया तो 'देहोऽहं'

ये घाटी हरिनामकी जी, चढ़ सकै नहि कोय।
चढ़सी हरिका सूरमा जी, जाके धड़पर सीस न होय ॥४॥ (टेर)
कबीरा मारा मान गढ़ जी, लूटे पाँचो खान।
ज्ञान कुल्हाड़ी हद कर बाही, काट किया चौगान ॥५॥ (टेर)

भाव कर्पूरके समान उड़कर 'ब्रह्मास्मि' रूपी रंग चढ गया। यह सब मल-निवारणरूप व्यवहार अचल कूटस्थरूप शिलाके आधारमें ही हो सकता है। यहाँ अधिष्ठानरूप शिला मेरे सद्गुरु हैं, जिन्होंने अपने अधिष्ठानस्वरूपसे आप ज्यूँके त्यूँ रहकर सब अहंता-ममतारूपी मलको धो दिया है। उन सद्गुरुपर मैं वारी जाता हूं, बलिहारी जाता हूं।

(४) हरि-नाम, अर्थात् निर्गुण-ब्रह्मका स्वरूप एक घाटीके तुल्य है, अर्थात् अगम्य है। इस ब्रह्मस्वरूपमें आरूढ होना दुस्तर है, इसमें कोई पुरुष जो अपनी अहन्ताको बनाये हुए है, आरूढ नहीं हो सकता। इसमें वह हरि का सूरमा अर्थात् वह तीव्रतर वैराग्यवान् ही आरूढ हो सकता है, जिसने अपने सिरको धड़से जुदा कर दिया हो। अर्थात् प्रथम जिसने सर्व संसार-सम्बन्धी स्वार्थोंकी बलि देकर फिर शरीरसम्बन्धी आसक्ति व ममताको भस्म कर शरीरसम्बन्धी अहन्ता भी भस्म कर दी हो, अर्थात् जिसने अपने-आपको ज्ञानद्वारा देहादिसे असङ्ग कर लिया हो। ऐसे मेरे सद्गुरु हैं जिन्होंने उस घाटीमें प्रवेश किया है, उनपर मैं बलिहारी जाता हूं।

(५) 'मान' अर्थात् सूक्ष्म अहंकार ही संसारकी मूल है, वही राजा है उसीसे सर्व विकार उत्पन्न होते हैं और वह अति दुर्जय है जो गढ बाँधकर बैठा है। कबीरजी कहते हैं कि मैंने उसका गढ़ अर्थात् देहाभिमान तोड़कर उसको मार दिया और उसके पाँच खान अर्थात् अमीर-उमरा (१) काम, (२) क्रोध, (३) लोभ, (४) मोह और (५) अहंकार थे, उनको मैंने लूट लिया। क्या तो वे पाँचों जीवके लुटेरे थे, परन्तु मैंने तो उनको ही लूट लिया और ज्ञानरूपी कुल्हाड़ी ऐसी बेहद चलाई कि इन सबका त्रिकालाभाव सिद्ध हो गया। इस प्रकार जितनी भी कुछ विषमतारूपी काँटेदार झाड़ियाँ

श्रद्धाभाव ऐसा प्रज्वलित हुआ कि अपना-आपा खोया गया, सद्गुरुकी वाणी ही अपनी वाणी और उनके नेत्र ही अपने नेत्र हो गये। इस प्रकार भगवानके इन वचनोंके अनुसार तीनों सामग्री एकत्रित हो चुकी है :—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥
(गी. अ ४ श्लो ३९)

अर्थ—श्रद्धा, तत्परता और जितेन्द्रियता तीनोंके मिलनेपर ही ज्ञानकी प्राप्ति होती है और अधिकारी ज्ञान प्राप्त करके तत्काल परां-शान्तिको पा जाता है।

इन्दव छन्द :-

मौज करी गुरुदेव दयाकरि, शब्द सुनाय कह्यो हरि नेरो।
ज्यों रविके प्रकटे निशि जात सु, दूर कियो भ्रम भान अन्धेरो ॥
कायिक वाचिक मानस हूँ करि, है गुरुदेवहिं वन्दन मेरो।
सुन्दर दास कहे कर जोरिजु, दादू दयालको हूँ नित चेरो ॥१॥
ज्यूँ कपड़ा दरजी गहि ब्योंतत, काठहिं को बढ़ई कसियानै।
कञ्चनको ज्यूँ सुनार कसै पुनि, लोहको घाट लुहार हि जानै ॥
पाहनको कसि लेत सिलावट, पात्र कुम्हारके हाथ निपानै।
तैसेहि शिष्य कसै गुरुदेवजु, सुन्दर दास तबै मन मानै ॥२॥
पूरण ब्रह्म बताय दियो जिन, एक अखण्डित व्यापक सारे।
राग रु द्वेष करें अब कौनसुं, जो अहै मूल वही सब डारै ॥
संशय शोक मिट्यो मनको सब, तत्त्व-विचार कह्यो निरधारै।
सुन्दर शुद्ध कियो मल धोयजु, है गुरुको उर ध्यान हमारे ॥३॥

थीं, उन सबको ज्ञान-कुल्हाड़ीसे काटकर मैदान साफ कर दिया। अर्थात् 'सर्वं ब्रह्म' दृष्टि उत्पन्न हो गई। यह सब कार्य जिन सद्गुरुद्वारा हुआ उन पर मैं बलिहारी जाता हूँ।

दोहा

सत्-गुरु श्रीहरिके चरण, अधिक अरुण अरविन्द।
दु:खहरण तारणतरण, मुक्तकरण सुखकंद ॥१॥
नमस्कार सुन्दर करत, निशिदिन वारम्वार।
सदा रहे मम शीशपर, सद्गुरु चरण तुम्हार ॥२॥
तन मन इन्द्रिय वशकरण, ऐसा सद्गुरु सूर।
शङ्क न आने जगत् की, हरि सूँ सदा हजूर ॥३॥
द्वंद्वरहित निर्मल सदा, सुखदुःख एक समान।
भेदाभेद न देखिये, सद्गुरु चतुर सयान ॥४॥
मनसा वाचा कर्मणा, सब ही सूँ निर्दोष।
क्षमा दया जिनके हृदय, लिये सत्य संतोष ॥५॥
भानु उदय ज्यूँ होत है, रजनी तमको नाश।
सुखदाई शीतल सदा, जिनके हृदय प्रकाश ॥६॥
सद्गुरु सुधा-समुद्र हैं, सुधामयी है नैन।
नख-शिख सुधास्वरूप हैं, सुधासु वर्षे बैन ॥७॥
हरि सद्गुरु शीशपर, उरमें जिनको नाम।
सुन्दर आये शरण तकि, तिन पायो निजधाम ॥८॥
बहे जात संसारमे, सद्गुरु पकड़े केश।
सुन्दर काढे डूबते, दे अद्भुत उपदेश ॥९॥
सुन्दर सद्गुरु जगतमे, पर उपकारी होय।
नीच ऊँच सब उद्धरै, शरण जु आवे कोय ॥१०॥
सुन्दर सद्गुरु सहजमे, किये सु परली पार।
और उपाय न तरि सकै, भवसागर संसार ॥११॥

सद्गुरुकृपाके विना कोई भी अपना परमार्थ सिद्ध नहीं कर सकता। श्रीगुरुकृपाके विना रज-तम धुलकर निर्मल नहीं होते

तथा आत्मज्ञानमें दृढतम निष्ठा भी नहीं होती। श्रीज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं :—

"समग्र वेद-शास्त्र पढ डाले, योगादिका भी खूब अभ्यास किया, पर इनकी सफलता तभी है जब श्रीगुरुकृपा हो। कमाई तो अपने ही परिश्रमकी होती है, तथापि उसपर जबतक श्रीगुरु-कृपाकी मोहर नहीं लगती तबतक भगवान्के दरबारमें उसका कोई मूल्य नहीं होता। अत्यन्त सूक्ष्म व विशुद्ध बुद्धिद्वारा ज्ञान प्राप्त होनेपर भी सूक्ष्म अहङ्कार सद्गुरुके चरण गहे बिना निःशेष नष्ट नहीं होता। श्रीराम व श्रीकृष्णको भी श्रीगुरुचरण-कमलोंका आश्रय लेना पडा, तब औरोंकी तो बात ही क्या है? वेद, शास्त्र, पुराण और सन्त सभी इस विषयमें एकस्वरसे कहते हैं कि सद्गुरु मनुष्य नहीं हैं, साक्षात् ब्रह्मके अवतार हैं। उनके आशीर्वाद बिना जिज्ञासुकी कमाई सफल नहीं है। जिस प्रकार भोजन-सामग्री सभी विद्यमान है, परन्तु पकानेवाला न हो तो क्षुधा निवृत्त नहीं होती, सामग्री रहते हुए भी क्षुधातुर रहना पड़ता है। इसी प्रकार साधनचतुष्टयसम्पन्न भी जिज्ञासु हुआ, परन्तु सद्गुरु बिना आवागमन नहीं छूटता। इसलिये 'शाब्दे परे च निष्णाते ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्' ऐसे सद्गुरुकी शरण लेनेको भागवतकारने कहा है। गीताका वचन है 'तद्विद्धि प्रणि-पातेन परिप्रश्नेन सेवया।' 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' इस प्रकार आत्मवेत्ता महापुरुषके चरण गहनेको वेदोंने कहा है। जगद्गुरु श्रीमत् शङ्कराचार्यकी आज्ञा है :—

षडङ्गादि वेदो मुखे शास्त्रविद्या कवित्वादि गद्यं सुपद्यं करोति।
गुरोरंघ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम्॥

अर्थात् षडङ्गादि वेद व शास्त्रविद्या जिसके मुखमें है और गद्य-

पद्य कवित्वमें भी चतुर है, परन्तु यदि सद्गुरुके चरणारविन्दमें मन न लगा तो इन सर्व विद्यादिसे क्या फल हुआ ? अर्थात् कुछ नहीं। सारांश, सभीका मत एक स्वरसे यही है :—

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

अर्थ :—जिसकी ईश्वरमें पराभक्ति है और जैसी ईश्वरमें भक्ति है वैसी ही गुरुमें है, उसी महात्माके हृदयमें यह शास्त्रके अर्थ यथार्थरूपमें प्रकाशमान होते हैं।

श्रीमद्गुरु बोलते-चालते ब्रह्म हैं, उनकी चरणधूलिमें लोटे बिना कोई भी कृतकृत्य नहीं हुआ। वह अधिकारी दीनोंपर तन-मन-वाणीसे बड़े ही दयालु होते हैं, शिष्यके भवबन्धन काट डालते हैं और अहङ्कारकी छावनी उठा देते हैं। वह शब्द-ज्ञानमें पारङ्गत होते हैं, ब्रह्म-ज्ञानमें सदा झूमते रहते हैं और निज-भाव से शिष्यको प्रबोध करानेमें समर्थ होते हैं।"

श्रीस्वामी विवेकानन्दजी अपने भक्तियोग विषयक प्रबन्धमें कहते हैं :—"गुरुकृपासे मनुष्यकी छुपी हुई अलौकिक शक्तियाँ विकसित होती हैं, उसे चैतन्य प्राप्त होता है, उसकी आध्यात्मिक वृद्धि होती है और अन्तमें वह नरसे नारायण हो जाता है। आत्मविकासका यह कार्य ग्रन्थोंके पढ़नेसे नहीं होता। जीवनभर हजारो ग्रन्थोंको उलट-पुलट करते रहो, उससे अधिक से अधिक तुम्हारा बौद्धिक ज्ञान बढ़ेगा, पर अन्तमें यही जान पड़ेगा कि इससे आध्यात्मिक बल कुछ भी नहीं बढ़ा। बौद्धिक-ज्ञान बढा तो उसके साथ आध्यात्मिक बल भी बढ़ना ही चाहिये, यह कोई कहे तो सच नहीं है। ग्रन्थोके पढ़नेसे ऐसा भ्रम होता है, पर सूक्ष्मताके साथ अवलोकन करने पर यह जान पड़ेगा कि

बुद्धिका तो खूब विकास हुआ, तो भी आध्यात्मिक शक्ति जहाँकी तहाँ ही रह गई। अध्यात्म-शक्तिका विकास करानेमें केवल ग्रन्थ असमर्थ है। किसी जीवको आध्यात्मिक संस्कार करानेके लिये ऐसे ही महात्माकी आवश्यकता है जो जीवकोटिसे पार निकल गया हो, यह शक्ति ग्रन्थमें नहीं है। आध्यात्मिक संस्कार जिसका होता है वह है शिष्य, और संस्कार करानेवाला होता है गुरु। भूमि तपकर जोत-जातकर तैयार हो और बीज भी शुद्ध हो, ऐसे संयोगमें ही अध्यात्म-विकास होता है। अध्यात्मकी तीव्र क्षुधा के लगते ही, अर्थात् भूमिके तैयार होते ही उसमें ज्ञानरूपी बीज बोया जाता है। सृष्टिका यह नियम है कि अध्यात्म ग्रहण करने की क्षमता होते ही, प्रकाश पहुँचानेवाली शक्ति प्रकट होती है। सत्यज्ञानानन्दस्वरूप सद्‌गुरुको संसार ईश्वरतुल्य मानता है। शिष्य शुद्धचित्त जिज्ञासु और परिश्रमी होना चाहिये, जब शिष्य अपनेको ऐसा बना लेता है तब उसे श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ, निष्पाप, दयालु और प्रबोधचतुर समर्थ सद्‌गुरु मिलते हैं। सद्‌गुरु शिष्यों के नेत्रोंमे ज्ञानाञ्जन लगाकर उसे दिव्य-दृष्टि देते हैं। ऐसे सद्‌गुरु बडे भाग्यसे जब मिलें तब अत्यन्त नम्रता, विमल-सद्भाव और दृढविश्वासके साथ उनकी शरण लो, अपना सम्पूर्ण हृदय उन्हें अर्पण करो, उनके प्रति अपने चित्तमें परम प्रेम धारण करो और उन्हें प्रत्यक्ष परमेश्वर समझो। इसीसे भक्ति ज्ञानका अपना समुद्र प्राप्त कर कृतकृत्य होगे।"

सारांश, संसाररूपी समुद्रसे पार होनेके लिये मनुष्य-शरीर बेड़ा है, सद्‌गुरु इसके पार करनेवाले केवट है और ईश्वरकृपा अनुकूल वायु है। ऐसे बेड़ेको प्राप्तकर जिसने सद्‌गुरुकृपा व ईश्वरकृपा प्राप्त नहीं की (वास्तवमें गुरुकृपा ही ईश्वरकृपा है, ईश्वरकृपा भिन्न नहीं), वह आत्महत्यारा है। इसके समान कोई

हत्यारा नहीं है और जानना चाहिये कि उसने बेड़ा पाकर भी अपने-आपको समुद्रमें डुबो दिया।

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान्भवाब्धिं न तरेत्स आत्महा॥

(भाग स्कं ११ अ २० श्लो १७)

जिस प्रकार आटा, घृत व शक्कर तीनों पदार्थोंके मेलसे प्रसाद (हलवा) की सिद्धि होती है, उसके लिये तीनो ही पदार्थोंकी आवश्यकता है, तीनोंमें यदि एक भी न हो तो सिद्धि असम्भव है।

ज्ञानमें उपयोगी त्रिविध कृपा व विचारमहिमा

इसी प्रकार ज्ञानरूपी अमृतके सिद्ध करनेके लिये गुरुकृपा, शास्त्रकृपा व आत्मकृपा तीनो सामग्रीका होना अत्यन्त आवश्यक है, तीनोंमें यदि एक भी न हो तो ज्ञानकी सिद्धि असम्भव है। मोक्षकी तीव्र जिज्ञासा और सारासार-विवेकरूप निर्मल विचारका नाम आत्मकृपा है। गुरुकृपा व शास्त्रकृपा विद्यमान है, परन्तु यदि आत्मकृपा जाग्रत् नही हुई, तब यह दोनो विद्यमान हुई भी यथार्थ फल नही दे सकतीं। परन्तु यदि आत्मकृपा भली-भाँति प्रज्वलित हो गई है तो उक्त दोनो कृपा स्वाभाविक आकर्षित हो जानेके लिये बाध्य हैं, ईश्वरकी नीति ऐसी ही है। जिस प्रकार दीपक यदि अपने प्रकाशमें प्रकाशित है और अपने-आपको जला रहा है, तो पतंगें बिना किसी आह्वानके अपने-आप उसपर जलनेके लिये खिंचे चले आयेंगे। इस अवस्थापर पहुँचकर हमारे आत्मदेवने तीनों कृपाओंको ही यथार्थरूपसे आलिङ्गन किया है, इसलिये इसकी सफलतामें कोई सन्देह नहीं। वास्तवमें इस अनर्थरूप संसारकी निवृत्तिका उपाय विचारसे भिन्न और कुछ है ही नहीं। अपना निर्मल विचार ही एकमात्र प्रपञ्चनिवृत्तिका

साक्षात् साधन है। यज्ञ-दान-तपादिक, निष्कामकर्म-उपासना-वैराग्यादिक तथा शम-दमादिका फल साक्षात् अथवा परम्परा करके विक्षेपादि दोषकी निवृत्तिद्वारा निर्मल विचारकी उत्पत्ति ही है। गुरुकृपा व शास्त्रकृपा भी अपने निर्मल विचारकी उत्पत्ति-द्वारा ही मोक्षमें सहायक हैं, अन्य रूपसे नहीं। सद्गुरुकृपाका फल निर्मल विचार ही है। जो वस्तु अविचारसिद्ध हो उसकी केवल विचारसे ही निवृत्ति सम्भव है। जिस प्रकार अपनी परि-छाईंमे अविचारसिद्ध बैतालकी निवृत्ति विचारद्वारा ही सम्भव है, इसी प्रकार आत्मामें अविचारसिद्ध जगत्की निवृत्ति केवल विचारद्वारा ही हो सकती है, अन्य उपायसे नहीं। केवल विचार-द्वारा ही बुद्धि तीक्ष्ण होती है, बुद्धिका भोजन विचार ही है, इसी से उसकी पुष्टि होती है। अज्ञानरूपी वनमें आपदारूपी वेलि पसरी हुई है, विचाररूपी तीक्ष्ण खड्गसे ही उसको काटा जा सकता है। दुःख अविचार करके ही है, केवल विचारसे ही उसकी निवृत्ति है। मोहरूपी हाथी जीवके हृदय-कमलको खण्ड-खण्ड कर डालता है और राग-द्वेषादि कीचड़ फैलाकर जीवको उसमें फँसा देता है, जब विचाररूपी सिंह प्रकट हो तब मोह-रूपी हाथीका नाश हो और राग-द्वेषादि पङ्क सूखकर जीवको शान्ति मिले। विचारवान् पुरुष आपदामें इसी प्रकार नहीं डूबता जैसे तुम्बी जलमें नहीं डूबती। जैसे दीपकसे पदार्थका ज्ञान होता है, इसी प्रकार केवल विचारसे ही मोक्षकी प्राप्ति होती है। अविचाररूपी रात्रिमे तृष्णादि पिशाचनी विचरती रहती हैं, जब विचाररूपी सूर्य उदय हो तब अविचाररूपी रात्रि और तृष्णारूपी पिशाचनीका पता भी नहीं चलता कि कहाँ गये। सद्गुरु व सच्छास्त्रकी युक्तिद्वारा केवल आत्मविचारसे ही संसारभयकी निवृत्ति होती है। इस अवस्थापर पहुँचकर हमारे

आत्मदेवने तीनो कृपाओंको यथार्थरूपसे आलिङ्गन किया है और विचाररूपी मित्रसे गाढ़ मित्रता की है। इस प्रकार विवेक, वैराग्य, शमादि-षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुतारूप साधन-चतुष्टयद्वारा बुद्धिरूपी पात्रको निर्मल करके शास्त्ररूपी कामधेनुको दुहा गया तो क्षीर-समुद्र उमड़ आया और विचाररूपी मथानीसे मथन किया गया तो अमृतका समुद्र बह निकला। योगवाशिष्ठ लीलोपाख्यानने संसारको लीलारूप ही सिद्ध कर दिखाया। लवण, गाधि, विपश्चित् तथा शिखोपाख्यानने देश-काल-वस्तुकी स्वसत्ता ही लुप्त कर दी। सम्पूर्ण देश-काल-वस्तुरूप विकार व परिच्छेदोंसे एक निर्विकार, अपरिच्छिन्न, सजातीय-विजातीय-स्वगत*त्रिविध-भेदशून्य सत्ता ही मनको भा गई। सदाशिव-वासिष्ठसम्वादने तो ऐसा रंग जमाया कि बाह्य सगुण-पूजा चित्तसे दूर होकर †बोध, ‡साम्य और +शम केवल इन तीन पुष्पोंद्वारा ही शिवार्चन मनमें खुब गया और मस्ती देने लगा। विचारसागर सागररूप ही सिद्ध हुआ। अष्टावक्रके स्वाग्तने आँखें खोल दी और अपने-

---

* भेद तीन प्रकारका होता है —(१) सजातीय भेद, जैसे एक मनुष्यव्यक्तिका दूसरे मनुष्यव्यक्तिसे भेद है, मनुष्यत्वजाति दोनोंमें एक है, परन्तु व्यक्तिभेद है। (२) जातीय भेदवालेको विजातीय भेद कहते हैं, जैसे मनुष्य का अश्वसे विजातीय भेद है। (३) एक ही व्यक्तिमें अङ्गभेदको स्वगत भेद कहते हैं, जैसे हाथका पाँवसे स्वगत भेद है। सर्व प्रपञ्च त्रिविध भेदवाला है, परन्तु परमात्मामें तीनों भेदोंका अभाव है।

† यथार्थ ज्ञानको बोध कहते हैं, अर्थात् आत्मतत्त्वको ज्यूँका त्यूँ जानना। ‡ उस तत्त्वको सर्वमें परिपूर्ण देखना। + चित्तको निवृत्त करना और आत्मतत्त्वसे भिन्न कुछ न फुरना।

आप चित्तमें देश-काल-वस्तुकी *अन्योऽन्याश्रयता घर कर गई, जो किसी प्रकार दूर करनेसे भी दूर न हुई। वृत्तिप्रभाकर प्रभाकररूप बनकर अज्ञानान्धकारको ग्रास कर गया। जैसे समुद्रमें गोताखोरको टटोलते-टटोलते मोतीकी खानि मिल जाती है, इसी प्रकार शास्त्ररूपी समुद्रसे विचाररूपी अमूल्य रत्नोंकी खानि खोजते-खोजते हाथ लग गई, जिनको विवेकरूपी धागेमें पिरोकर हमारे आत्मदेवने अपने कण्ठमें धारण किया। सो विचाररूपी रत्न यह हैं :—

---

* एक दूसरेके आश्रय और दूसरा पहलेके आश्रय, इसको अन्योऽन्याश्रय कहते हैं। अन्योऽन्याश्रय वस्तु अपना कोई आश्रय न होने से असत्य ही होती है। जैसे रज्जु में असत्य सर्प अपने ज्ञानके आश्रय होता है, सर्पज्ञान के सिवाय सर्पका और कोई आश्रय नहीं। तथा सर्पज्ञान भी सर्पके ही आश्रय स्थित है। इस प्रकार 'सर्प' व 'सर्पज्ञान' एक दूसरेके अन्योऽन्याश्रय होनेसे दोनों ही असत्य हैं।

—: तत्त्व-विचार :—

(१) स्थूल-सूक्ष्म और चर-अचररूप सम्पूर्ण *अध्यात्म †अधिदैव व ‡अधिभूत तथा ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेयादि त्रिपुटिरूप प्रपञ्च, देश, काल व वस्तु +त्रिविधपरिच्छेदवाला ही है। अर्थात् त्रिविधपरिच्छेदमें ही सम्पूर्ण प्रपञ्च समा जाता है, त्रिविध-परिच्छेदसे भिन्न प्रपञ्चका और कोई रूप है ही नहीं। तथा कालका छोटेसे छोटा ऐसा कोई भाग नहीं, चाहे वह क्षणका हजारवाँ अँश भी क्यों न हो, कि जिस काल-व्यक्तिमें यह प्रपञ्च निर्विकाररूपसे स्थित रहता हो। बल्कि काल के प्रत्येक अँशमें यह विकारकी ओर तीव्र वेगसे दौड़ रहा है, वही प्रपञ्च कदाचित् भी नहीं है। अपने स्वरूपसे इस प्रकार विकारी होते हुए भी 'वही यह प्रपञ्च है' ऐसी प्रतीति अपने मूल

> एक निर्विकार कूटस्थ सत्ताके आश्रय ही अशेष विकारोंका सम्भव है।

*मन-बुद्ध्यादि अन्तःकरण तथा इन्द्रियादिको, जो ज्ञानके साधन हैं 'अध्यात्म' कहते हैं।

†अन्तःकरण व इन्द्रियादिके भिन्न-भिन्न देवता, जिनकी ज्ञानमें सहायता है 'अधिदैव' कहलाते हैं।

‡पञ्चभूतरचित संसार जो ज्ञानका विषय है 'अधिभूत' कहा जाता है। जैसे चक्षु अध्यात्म है, सूर्य अधिदैव है और रूप अधिभूत है।

+सम्पूर्ण प्रपञ्च अध्यात्म व अधिदैवादिके अन्तर्गत ही है और वह देश-कृत, कालकृत तथा वस्तुकृत परिच्छेद (हद) वाला ही है। अर्थात् किसी एक देशमें है अन्य देशमें नहीं तथा एक कालमें है अन्य कालमें नहीं। परन्तु परमात्मा अपरिच्छिन्न (बेहद) होनेसे त्रिविध-परिच्छेदोंसे रहित है। जाति व व्यक्तिवाले पदार्थ 'वस्तु-परिच्छेद' कहे जाते हैं।

में किसी एक नित्य-निर्विकार वस्तुका पता देती है। वेगकी तीव्रता करके विकारी होता हुआ भी यह प्रपञ्च स्थूल नेत्रों-द्वारा इसी प्रकार स्थित प्रतीत होता है, जैसे किसी मशीनका पहिया वेगकी तीव्रता करके बिल्कुल स्थित प्रतीत होता है। अथवा जैसे बालक लट्टू खेलते हैं, तब यह अपने चक्रके वेगसे खड़ा हुआ प्रतीत होता है और बच्चे तालियाँ बजाते हैं कि वह घूमता नहीं बल्कि स्थित है।

(२) अब विचार होता है कि यह जो इतना असख्य विकार प्रतीत हो रहा है, अपने-आप तो इसकी सिद्धि हो नहीं सकती, बल्कि इसके मूलमें कोई एक निर्विकार, सत्‌वस्तु अवश्य रहनी चाहिये। क्योंकि विकारी वस्तु तो अपने स्वरूपसे किसी कालमें भी वही नहीं है और प्रत्येक कालमें नष्ट हो रही है। तथा प्रत्येक नाश अभावरूप (Negative) है, भावरूप (Positive) नहीं। और यह अचूक सिद्धान्त है कि 'अभाव' (नहीं) से 'अभाव' (नहीं) की सिद्धि कदापि हो नहीं सकती, बल्कि 'भाव' से ही 'अभाव' की सिद्धि हो सकती है। अजी! 'है' ही न हो तो 'नहीं' को कौन सिद्ध करे? पहले 'है' हो तो पीछे 'नहीं' की सिद्धि हो। जैसे शून्य (०) का अपने-आप कोई मूल्य नहीं, एका '१' (Unit) हो तब उसके आश्रय ही शून्यका मूल्य हो सकता है। इसी प्रकार यह प्रपञ्च नित्य-विकारी होनेसे अपने-आप तो (०) शून्य-रूप ही है; तथापि किसी एक अद्वैत-निर्विकारके आश्रय ही इसकी भावाभावरूप सिद्धिका सम्भव है। जैसे 'अस्ति' रूप सत्ता-सामान्य जल हो तब उसके आश्रय ही विशेषरूप तरङ्गों का भाव व अभाव सिद्ध होता है। अर्थात् 'अब तरङ्ग' है और 'अब तरङ्ग नहीं है', इन दोनों अवस्थाओंका प्रकाश सामान्य-रूप जलके द्वारा ही हो सकता है। सत्ता-सामान्य जल ही न हो

तो तरङ्गोंका भाव अथवा अभाव कैसे सिद्ध हो ? विशेषरूप तरङ्गोंकी प्रतीति ही अपने नीचे सामान्य, निर्विशेष जलको सिद्ध कर रही है। इसी प्रकार विशेषरूप प्रपञ्चका भावाभावरूप विकार अपने नीचे निर्विशेष, सामान्य, निर्विकार, अपरिच्छिन्न, सत्वस्तुको सिद्ध कर रहा है।

(३) प्रपञ्च जब कि अपने स्वरूपसे विकारी है और प्रत्येक क्षणमें नष्ट हो रहा है, ऐसी अवस्थामें यदि इसके मूलमें कोई एक अचल-कूटस्थ वस्तु न होती तो उत्तर क्षणमें इसकी प्रतीति भी न होती। यदि ऐसा मान लिया जाय कि इस प्रपञ्चके नीचे कोई एक अचल-कूटस्थ वस्तु नहीं है, तब ऐसी अवस्था में †अव्यवहित पूर्व-क्षणमें जब नष्टस्वभाव प्रपञ्चका नाश हो गया तो उत्तर-क्षणमें इस प्रपञ्चकी प्रतीति भी न होनी चाहिये थी। क्योंकि जैसा अङ्क नं० २ में ऊपर विचार किया जा चुका है, अभावसे तो भावकी उत्पत्ति हो नहीं सकती और भावरूप अचल-कूटस्थ कोई सत्वस्तु इस प्रपञ्चके नीचे मानी नहीं गई, जिसके आश्रय इसकी उत्तर-प्रतीति होती। इसलिये स्वयं अभावरूप होनेसे इस प्रपञ्चकी उत्तर क्षणमें प्रतीति ही नहीं होनी चाहिये थी। परन्तु यह प्रपञ्च तो प्रत्येक उत्तर-क्षणमें 'घट है' 'पट है' 'धन है' 'पुत्र है' 'स्त्री है' इत्यादि रूपसे 'है' 'है' करके अपने स्वभावसे अभाव-रूप हुआ भी भावरूप प्रतीत हो रहा है। इस प्रकार इस प्रपञ्च की उत्तर-प्रतीति ही, अपने मूलमें किसी एक सत्य-कूटस्थ भाव-रूप वस्तुको सिद्ध कर रही है। क्योंकि यह प्रपञ्च अपने स्वरूपसे तो प्रत्येक क्षण विकारी होनेसे अभावरूप ही है; इसलिये स्वयं अभावरूप होते हुए भी, उस भावरूप अचल-कूटस्थके आश्रय

†व्यवधानरहित, अन्तरायरहित।

स्वयं भावरूप न होते हुए भी, यह भावरूप प्रतीत हो रहा है। जैसे रज्जुमे भ्रमरूप सर्प स्वय अभावरूप होते हुए भी भावरूप-रज्जुके आश्रय भावरूप प्रतीत होता है।

(४) जब कि कोई एक भावरूप सत्‌वस्तु इस प्रपञ्चके नीचे जानी गई, तब उस वस्तुका निर्विकार होना भी जरूरी है। क्योंकि यदि देश-काल-वस्तु परिच्छेदरूप विकारोंसे उस सत्‌वस्तु को प्रभावित माना जाय और विकारी जाना जाय, तो ऐसी विकारी सत्‌वस्तुके आश्रय तो प्रापञ्चिक विकारोंकी प्रतीति ही असम्भव होगी। जैसे स्वर्णकारका अहरन यदि हथौड़ेकी चोटसे आप ही नीचे दबनेवाला हो, तो उसके आश्रय भूषणरूप विकारों की सिद्धि हो नहीं सकती। भूषणरूप विकारोंकी सिद्धि तो अपने आश्रय वह अहरन तभी कर सकता है, जब कि वह सर्व विकारोंमे आप अचल-कूटस्थ रहे। इसी प्रकार प्रापञ्चिक विकारो के नीचे उस सत्‌वस्तुका निर्विकार, अचल, कूटस्थ रहना ही निश्चित है।

(५) इस प्रकार इस प्रपञ्चके नीचे उस सत्, निर्विकार तथा भावरूप वस्तुका एक व देश-काल-वस्तु-परिच्छेदशून्य तथा सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदशून्य होना ही निश्चित है। क्योंकि यदि वह सत्‌वस्तु भेद व परिच्छेदवाली मानी जाय तो विकारी होनेसे उस भेद व परिच्छेदवाली वस्तुकी लयरूप निवृत्ति माननी होगी। यदि वह निवृत्तस्वभाव हुई तो उसकी लयरूप निवृत्ति शून्यमे तो हो न सकेगी। क्योंकि अभावरूप शून्यसे जब भाव की उत्पत्ति ही असम्भव है, तब अभावरूप शून्यमें भावकी निवृत्ति कैसे हो? यह नियम है कि जिससे जिसकी उत्पत्ति होती है उसकी निवृत्ति भी उसीमे होती है, जैसे घटकी उत्पत्ति मृत्तिका

से होती है तब घटका लय भी मृत्तिकामें ही होता है। इसलिये उसकी लयरूप निवृत्ति किसी अन्य एक, परिच्छेदशून्य व भेद-शून्य सत्वस्तुमें ही माननी होगी। यदि उस दूसरी वस्तुको भी भेद व परिच्छेदवाली मानें तो उस दूसरीकी निवृत्ति तीसरीमें और तीसरीकी निवृत्ति चौथीमें, इस प्रकार निवृत्ति-धारा मानने में *अनवस्था दोषकी प्राप्ति होगी और अन्ततः किसी एक भेद व परिच्छेदशून्य तथा निवृत्तिशून्य सत्वस्तुको मानना ही होगा, जिसके आश्रय इस असत्‌रूप प्रपञ्चकी प्रतीति होती है। ऐसी स्थितिमें बीचकी धारा निष्प्रयोजन सिद्ध होगी। इससे सिद्ध हुआ कि वह सत्‌वस्तु जिसके आश्रय प्रपञ्चकी प्रतीति हो रही है, सर्व भेद व सर्व परिच्छेदशून्य है तथा निवृत्तिशून्य है और वही इस †अध्यस्तरूप प्रपञ्चका ‡अधिष्ठान है और वह अधि-ष्ठान एक, भावरूप, अचल व निर्विकार है। इस प्रकार संक्षेपसे अधिष्ठानका विचार किया गया, अब अध्यस्तरूप प्रपञ्चका विचार कर्तव्य है।

(६) सजातीय, विजातीय व स्वगत त्रिविधभेद, देश-काल-वस्तु परिच्छेदवाले ही हैं। उपर्युक्त विचारों से त्रिविध-परिच्छेदोंका उस सत्यस्वरूप

त्रिविध-परिच्छेदोंकी अन्योऽन्याश्रयता

---

* धाराका नाम 'अनवस्था' है। † भ्रमसे कल्पित-वस्तु 'अध्यस्त' कहाती है। ‡ जिस सत्‌वस्तुके आश्रय भ्रमकी प्रतीति होती है वह 'अधि-ष्ठान' कहाती है, जैसे रज्जुमें सर्पभ्रम होता है तब सत्-रज्जु मिथ्या-सर्पका अधिष्ठान होती है। इसीको साक्षी भी कहते हैं। सर्व विकारोंमें जो निर्विकार-रूपसे स्थित रहे, वह 'साक्षी' कहा जाता है, जैसे दो पुरुषोंके झगड़ेमें निर्वि-काररूपसे रहनेवाला तीसरा पुरुष साक्षी कहा जाता है। इसी प्रकार सर्व प्रपञ्चविकारोंमें निर्विकाररूपसे स्थित रहनेसे उस सत्-वस्तुको 'साक्षी' भी कहा गया है।

परमात्माके स्वरूपमें तो प्रवेश पाया नहीं गया, बल्कि उस सत्यस्वरूपकी अधिष्ठानता व रात्रिमे, उसको स्पर्श किये बिना ही, इन त्रिविध-परिच्छेदोंकी प्रतीतिमात्र सिद्धि हुई। जैसे सत्य-शुक्तिकी अधिष्ठानतामें शुक्तिको स्पर्श किये बिना ही, मिथ्या रजत प्रतीतिमात्र होती है। अब आओ ! देखें कि यह देश-काल-वस्तुरूप प्रपञ्च अपना भी कोई स्वरूप रखता है या यह माया-मात्र ही है, क्योंकि देश, काल और वस्तुसे भिन्न प्रपञ्चका और कोई रूप है ही नहीं।

(७) देश, काल और वस्तु तीनो परिच्छेद, परस्पर वस्तु-परिच्छेदवाले ही हैं। अर्थात् तीनों एक वस्तु नहीं, बल्कि भिन्न-भिन्न वस्तु हैं और अपनी भिन्न-भिन्न जाति रखते हैं। देशमें देशत्व है कालत्व नहीं, कालमे कालत्व है देशत्व नही तथा वस्तु मे वस्तुत्व है देशत्व व कालत्व नहीं, इसलिये तीनों सजातीय नहीं विजातीय है। यद्यपि देश व काल भी वस्तुपरिच्छेदवाले होनेसे वस्तुत्व तो इन दोनोमे भी है, परन्तु जाति तीनोंमे समान नहीं, भिन्न-भिन्न जातिवाले होनेसे विजातीय ही है, सजातीय नहीं।

(८) अब देखना यह है कि यह तीनो किसके आश्रय स्थित है ? यद्यपि न्यायमतमें देश व कालको नित्य-द्रव्य माना है, परन्तु यहाँ प्रश्न होता है कि देश व काल जातिरूपसे नित्य हैं, अथवा व्यक्तिरूपसे नित्य हैं ? यदि जातिरूपसे नित्य कहा जाय तो कोई हानि नहीं, जैसे घटत्व-पटत्वादि जाति अपने प्रवाहरूपसे नित्य है, तैसे ही देश व काल भी अपने देशत्व व कालत्व जाति-रूपसे व प्रवाहरूपसे नित्य सम्भव हो सकते हैं। परन्तु यदि व्यक्तिरूपसे देश व कालको नित्य कहा जाय तो सर्वथा अस-म्भव है। क्योंकि नित्य-विकारस्वरूप जिन देश-कालके विकारसे सम्पूर्ण प्रपञ्च विकारचक्रमें घूम रहा है अर्थात् सर्व विकारोंके

मूलमें जबकि देश व कालरूप विकार ही एकमात्र हेतु है, फिर उन्हीं देश-कालको नित्य कहना किसी प्रकार भी अनुभवानुसारी नहीं। देश व काल स्वयं निर्विकार रहकर प्रपञ्चमें विकार उत्पन्न नहीं कर सकते, बल्कि आप विकारी होकर ही प्रपञ्चमें विकार उत्पन्न करते हैं। जो देश व कालरूप व्यक्ति पूर्व क्षणमें है वही उत्तर क्षणमें नहीं, इसलिये देश व कालको व्यक्तिरूपसे नित्य कहना तो हास्यजनक ही होगा।

(९) न्यायमतमें देश व कालको सर्व कार्यरूप वस्तुओंकी उत्पत्तिमें कारणरूप साधारण-सामग्रीके अन्तर्गत माना गया है। अर्थात् देश-काल सर्व कार्योंके प्रति कारण हैं, ऐसा उनका मत है, सो यह भी अनुभवविरुद्ध है। क्योंकि कारणकी कार्यसे पूर्व स्थिति सबको ही मान्य है, अर्थात् कारण कार्यसे पूर्व विद्यमान रहना चाहिये, ऐसा सबका मत है। परन्तु उपर्युक्त विचारसे कोई भी देश व कालरूप व्यक्ति कदाचित् अपने कार्यसे पूर्व स्थित पाये नहीं जाते। बल्कि जिस क्षणमें कार्यकी उत्पत्ति होती है, उसी अव्यवहित-क्षणमें देश व कालरूप व्यक्ति भी अपने कार्यके साथ-साथ नवीन ही उत्पन्न होते हैं। इसलिये उस समकालीन देश तथा कालरूप व्यक्तिको अपने कार्यके प्रति कारणता सिद्ध नहीं हो सकती। यदि पूर्व-क्षणवर्ती देश-कालरूप व्यक्तिको अपने कार्यके प्रति कारणता मानें, तो कार्योत्पत्ति-कालमें वह अविद्यमान है और नष्ट हो चुकी है। यदि नष्ट देश-कालरूप व्यक्तिने कार्यकी उत्पत्ति मानी जाय तो नष्ट कुलाल व चक्रसे भी कार्यकी सिद्धि होनी चाहिये और यह सबके अनुभवविरुद्ध है।

(१०) यदि ऐसा कहा जाय कि देश व कालरूप जाति नित्य है, उस देशत्व व कालत्व-जातिसे कार्योत्पत्ति सम्भव है और उस जातिमें कारणता माननी चाहिये, तो यह विचार भी

अनुभवशून्य है। क्योंकि जाति विशेषण है व धर्म है, जो अपने विशेष्य व धर्मीरूप-द्रव्यके आश्रय रहती है, स्वतन्त्र उस जाति की न स्थिति है और न उसमें कोई क्रिया है। क्रिया सदैव द्रव्य-रूप-व्यक्तिके आश्रय होती है, जैसे कुलालकी क्रिया कुलालरूप-व्यक्तिके और चक्रकी क्रिया चक्ररूप-व्यक्तिके आश्रय रहती है, कुलालत्व व चक्रत्व-जातिमे कोई क्रिया नहीं। यदि जातिमे क्रिया माने तो कुलालत्व-जाति समष्टि कुलालोंमें एक है, इस लिये एक कुलालमें एक क्रिया होनेसे समष्टि कुलालोंमें वही क्रिया होनी चाहिये। इस प्रकार देश व कालरूप-जातिमे भी कार्यके प्रति कारणताका असम्भव है।

(११) उपर्युक्त विचारसे देश व काल नित्य हैं और सर्व कार्योंके प्रति कारण हैं, यह मत असङ्गत हुआ। बल्कि इस विचारसे तो देश, काल तथा कार्यरूप वस्तुकी समकालीनता ही सिद्ध हुई। साथ ही अब यह भी विचार होता है कि देश व काल अपने कार्यरूप वस्तुसे भिन्न देशमें रहकर तो कार्योत्पत्ति कर नहीं सकते, जैसे कुलाल घटसे तटस्थ रहकर घटकी उत्पत्ति करता है। किन्तु देश व काल कार्यरूप वस्तुके स्वरूपमें अनुगत होकर ही रहते हैं। कुलाल एक स्थूल व्यक्ति है, अतः घटके साथ उसका तादात्म्य असम्भव है, इसलिये कुलाल घटके साथ संयोग-सम्बन्धद्वारा ही घटोत्पत्तिमे समर्थ होता है। परन्तु देश-काल तो अति सूक्ष्म हैं और यह नियम है कि सूक्ष्म-वस्तु स्थूलको व्याप्त करके ही स्थित होती है, जैसे सूक्ष्म-आकाश स्थूल-ब्रह्माण्डको व्याप्त करके ही स्थित रहता है।

(१२) यदि ऐसा कहा जाय, कि जैसे घट और जलका आधाराधेयभाव सम्बन्ध है, इसी प्रकार देश व काल घटके

समान आधारभूत होकर वस्तुको धारण कर रहे होंगे, तो यह भी अनुभवविरुद्ध है। क्योंकि घट व जलके समान आधाराधेय-भाव भी स्थूल पदार्थोंमें ही सम्भव है। जितने देशमे जल है, उतने देशमे घटकी स्थिति नहीं, किन्तु जलसे अव्यवहित-भिन्न-देशमें स्थित होकर ही घट जलको धारण करता है। परन्तु देश व काल तो वस्तुदेशमे व्यापकर ही स्थित हैं, भिन्न देशमे रहकर नहीं; क्योंकि देश-काल अपरमाणु हैं, अर्थात् पृथ्वी-जलादिके समान परमाणुवाले द्रव्य नहीं हैं। यदि परमाणुवाले द्रव्य होते तो अपना कोई भिन्न देश निरोध करते, परन्तु अपरमाणु होने से आकाशके समान वस्तुदेशमे तादात्म्यरूपसे ही स्थित रहते हैं।

(१२) उपर्युक्त व्याख्यासे सिद्ध हुआ कि जैसे देश, काल व वस्तु परस्पर समानदेशीय हैं, तैसे ही परस्पर समकालीन भी हैं। अर्थात् एक ही देश व एक ही कालमें रहनेवाले हैं और परस्पर वस्तु-परिच्छेदवाले भी हैं। यह बात तो स्पष्ट ही है कि जो भिन्न-भिन्न जातिवाली वस्तु समदेशी व समकालीन होंगी, वे अन्योऽन्याश्रयरूप ही होंगी। और जो भिन्न-भिन्न वस्तु अन्योऽन्याश्रय-रूपसे स्थित होती हैं, वे वास्तवमें अपने स्वरूपसे होती ही नहीं हैं, केवल भ्रमरूप ही होती हैं। जैसे रज्जुमें भ्रमरूप-सर्प अपने ज्ञानके आश्रय स्थित होता है और सर्पज्ञान अपने ज्ञेयरूप-सर्पके आश्रय स्थित होता है। सर्प व सर्पज्ञान परस्पर अन्योऽन्याश्रय होनेसे और समदेशी व समकालीन होनेसे दोनो ही भ्रमरूप होते हैं। सारांश, देश-कालका आश्रय वस्तु और वस्तुका आश्रय देश-काल सिद्ध हुए, इसलिये तीनों ही अन्योऽन्याश्रय होनेसे भ्रम-रूप ही हैं। क्योंकि इन तीनोमेंसे प्राक्सिद्धत्व किसीमे भी नहीं पाया गया, इसलिये एकको शेष दो की अपेक्षा है। और जो वस्तु आप ही आश्रयशून्य है वह किसी दूसरेका आश्रयभूत कैसे हो

सकती है ? जैसे वन्ध्यापुत्र आप ही नही उपजा फिर वह किसी दूसरेको उत्पन्न कैसे करेगा ?

(१४) शङ्का :—तुम्हारे उपर्युक्त विवेचनसे यह तो स्पष्ट हुआ कि 'काल' किसी क्षण भी स्थिर नहीं है और चलस्वरूप होनेके कारण व्यक्तित्वरूपसे नित्य नही है, परन्तु इससे 'देश' का चलस्वरूप व क्षणपरिणामी होना सिद्ध नहीं होता और न अनुभवमें ही आता है। दिन, रात, प्रहर, घड़ी, क्षण आदि करके 'काल' तो परिवर्तनशील प्रतीत होता है, परन्तु कालके समान 'देश' का परिवर्तन अनुभवविरुद्ध है।

(१५) समाधान —देखो जी ! देश, काल और वस्तु इन त्रिविध-परिच्छेदोंका स्वरूप, निर्विकार, शुद्धचेतनके स्वरूपमें तो प्रवेश पाया नही गया, जैसा ऊपर अङ्क ३, ४ व ५ में विवेचन किया जा चुका है, किन्तु प्रपञ्चमे ही इनका प्रवेश है और उक्त तीनो परिच्छेदोंका नाम ही प्रपञ्च है। अब यदि विचारसे देखा जाय तो देशकी स्वतन्त्र स्थिति कही भी नही पाई जाती, 'वस्तु' तथा 'काल' को आश्रय करके ही 'देश' की स्थितिका सम्भव होता है। यथा (१) देश-परिच्छेद किसी कालमे ही होगा, इस लिये 'देश' को 'काल' की अपेक्षा है। कालकृत-विकारके विना देशकृत-विकार असम्भव है, क्योकि सब विकारोंके मूलमे 'काल' ही हेतु है, यह सबके अनुभवसिद्ध है। (२) तथा कोई वस्तु-परिच्छेद उत्पन्न हो तब उसे देशकी अपेक्षा होगी ही, यदि वस्तुकृत कोई विकार ही नहीं है तो 'देश' किसको हदमें बाँधेगा ? क्योकि सीमाबद्ध करना ही 'देश' का फल है। और शुद्धचेतन तो किसी सीमामे है नहीं, वह तो असीम होनेसे सर्व सीमाओंके पार है, इसलिये वस्तु ही सीमाबद्ध होनेसे देश-परिच्छेदवाली है। जैसे घट-वस्तु व घट-कालकी उत्पत्तिके साथ ही घट-देशकी उत्पत्ति

होती है, घटकी उत्पत्तिसे पूर्व घट-देशका भी अभाव था और घट-नाशके अनन्तर भी घट-देशका अभाव हो जायगा, केवल घट-वर्तमान-कालमें ही घट-देशकी सिद्धि होती है। इससे सिद्ध हुआ कि 'देश' को 'काल' तथा 'वस्तु' की अपेक्षा रहती है, 'देश' की निरपेक्ष स्थिति नहीं रहती। जब कि 'देश' की स्थिति 'काल' तथा 'वस्तु' के आश्रय है और 'काल' तथा 'वस्तु' क्षणपरिणामी हैं, तब देशका अपरिवर्तनशील रहना कैसे सम्भव हो सकता है? कालरूपी आरेके नीचे सभी 'देश' व 'वस्तु' क्षण-क्षण करके विकृत हो रहे है। 'देश वही है' 'वस्तु वही है' इस प्रकार सर्व ही प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्ष भ्रमरूप हैं, क्योंकि जब 'काल' वही नहीं, तब 'देश' व 'वस्तु' वही कैसे रह सकते हैं? पूर्वदृष्टवस्तुके संस्कारसहित उसी वस्तुकी अन्य प्रतीतिको प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्ष कहते हैं। इस रीतिसे 'देश' काल व वस्तु सापेक्ष ही सिद्ध हुआ।

(१६) अब यदि काल-परिच्छेदका विचार किया जाय तो कालकी भी स्वतन्त्र स्थिति नहीं पाई जाती; किन्तु 'काल' को भी 'देश' तथा 'वस्तु' की अपेक्षा सिद्ध होती है। क्योंकि काल का प्रवेश शुद्ध-चेतनमें तो है नहीं, वह तो कालातीत है। यदि देशकृत तथा वस्तुकृत कोई विकार ही न हो तो कालकी गणना ही कैसे हो? अजी! किसी विकारके साथ ही तो कालका आरम्भ होगा, निर्विकारमें तो कालका कोई सम्बन्ध है ही नहीं। *जायते, †अस्ति, ‡वर्द्धते, +विपरिणमते, ×अपक्षीयते, ∠विनश्यति, मुख्य छः विकारोंवाला ही प्रपञ्च माना गया है। जब वस्तु का 'जायते' रूप पहला विकार हो तब ही शेष विकारोंकी उत्पत्ति का सम्भव होता है और तत्तत् विकारके साथ-साथ उस-उस

*उत्पन्न होता है। †मौजूद है। ‡बढ़ रहा है। +परिणामी होता है। ×घट रहा है। ∠नाश होता है।

कालकी गणना भी होती है। जैसे देवदत्तकी उत्पत्तिके साथ ही देवदत्तोत्पत्ति-काल उत्पन्न हुआ और जितनी-जितनी अवस्थाएँ देवदत्तकी परिवर्तन हुई, वैसे-वैसे ही कालकी गणना होती गई। देवदत्तकी उत्पत्तिसे पूर्व देवदत्तोत्पत्ति-काल विद्यमान नहीं था, बल्कि देवदत्तकी उत्पत्तिके साथ ही देवदत्तोत्पत्ति-काल, देवदत्तके अस्तित्वके साथ ही देवदत्त-अस्ति-कालकी गणना हुई। तथा देवदत्तकी वृद्धिके साथ ही देवदत्त-वर्द्धन-काल, देवदत्तके परिणामके साथ ही देवदत्त-परिणाम-काल, देवदत्त-क्षयके साथ ही देवदत्त-क्षय-काल और देवदत्त-नाशके साथ ही देवदत्त-नाश-कालकी उत्पत्ति व गणना होती रही। किसी वस्तुकृत, अवस्थाकृत व देशकृत विकारके बिना कालकी गणना असम्भव है, क्योंकि प्रकृतिकी साम्यावस्थामें तो कालका सम्भव है नहीं। जब प्रकृतिमें कोई क्षोभरूप विकार उत्पन्न हो और प्रकृतिकी साम्यावस्था भङ्ग हो, तब उस क्षोभरूप विकारको आश्रय करके ही कालकी उत्पत्ति होती है। इससे सिद्ध हुआ कि 'काल' की स्थिति भी निरपेक्ष व स्वतन्त्र नहीं है, किन्तु 'देश' व 'वस्तु' को आश्रय करके ही कालकी स्थिति है।

(१७) शङ्का —देवदत्तकी उत्पत्तिके साथ ही देवदत्तोत्पत्ति-काल उत्पन्न हुआ—तुम्हारा यह कथन अनुभवमें नहीं आता, क्योंकि काल ब्रह्माण्डव्यापी है, इसलिये देवदत्तकी उत्पत्तिसे पूर्व भी काल विद्यमान है। तथा जिस कालमें देवदत्तकी उत्पत्ति हुई उसी कालरूप-व्यक्तिमें असंख्य विकार ब्रह्माण्डमें उत्पन्न हुए हैं, फिर 'देवदत्तकी उत्पत्तिके साथ ही काल उत्पन्न हुआ' यह कथन असङ्गत है। देवदत्त उत्पन्न न होता तब भी उस कालरूप व्यक्तिकी उत्पत्ति अवश्य होनी थी और उस कालके अधीन उन असंख्य विकारोंने भी उत्पन्न होना ही था।

(१८) समाधान :—यद्यपि काल ब्रह्माण्डव्यापी है, तथापि जब ब्रह्माण्डरूप-व्यक्ति देशकृत व वस्तुकृत विकारको प्राप्त हुई, तब उसके साथ ही और उसको आश्रय करके ही ब्रह्माण्डव्यापी-काल उत्पन्न हुआ। ब्रह्माण्डरूप-वस्तु व ब्रह्माण्ड-देशकी उत्पत्ति से पूर्व काल स्वतन्त्र असिद्ध है और ब्रह्माण्डोत्पत्तिके पश्चात् जितने-जितने विकार देशकृत व वस्तुकृत ब्रह्माण्डमें उत्पन्न हुए, उन-उनको आश्रय करके ही कालकी गणना होती गई। किसी न किसी देश व वस्तुकृत विकारके बिना कालकी स्वतन्त्र स्थिति कहीं भी नहीं पाई जाती। आत्माके स्वरूपमें तो कालका प्रवेश है नहीं; वह तो कालातीत है। क्योंकि जब उसके स्वरूपमें कोई विकार है ही नहीं, तब उस निर्विकारमें काल कहाँसे आवे, किसी न किसी विकारके साथ ही कालकी उत्पत्ति होती है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि काल व्यक्तिरूपसे तो सर्वथा चञ्चल व अस्थिर ही है, केवल अपने कालत्व-जातिरूपसे ही नित्य माना जा सकता है। भविष्यत्काल भूतकालमें बदल रहा है, वर्तमान काल तो किसी प्रकार पकड़ा ही नहीं जा सकता, केवल भविष्यत् व भूतकी सन्धिका नाम ही वर्तमान रख लिया गया है जो किसी कालकी गणनामें नहीं आता; जैसे दो ग्रामोंकी सीमा देशके किसी भी अंशमें ग्रहण नहीं की जा सकती। इस प्रकार देवदत्तकी उत्पत्तिके साथ ही जो कालरूप-व्यक्ति उत्पन्न हुई, वह पूर्व असिद्ध है। इसलिये कहना पड़ेगा कि देवदत्तकी उत्पत्तिके साथ ही देवदत्तोत्पत्ति-काल उत्पन्न हुआ और जब कि देवदत्तकी उत्पत्तिके साथ ही वह कालरूप-व्यक्ति उत्पन्न हुई, तब देवदत्तकी उत्पत्तिमें वह किसी प्रकार कारणरूपसे ग्रहण नहीं की जा सकती। क्योंकि देवदत्तकी उत्पत्तिसे पूर्व वह कालरूप-व्यक्ति असिद्ध है और प्राक् असिद्ध होनेसे वह कारणसामग्रीमें नहीं

आ सकती। यद्यपि उसी कालरूप-व्यक्तिमें ब्रह्माण्डमें असंख्य विकार उत्पन्न हुए हैं, तथापि उन-उन विकारोंको आश्रय करके ही उस-उस कालरूप-व्यक्तिकी उत्पत्ति कही जा सकती है, काल की स्वतन्त्र उत्पत्ति कहीं भी नहीं कही जा सकती। बहुत क्या कहें? योगवासिष्ठमें अनेक इतिहास और दृष्टान्त हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि देश व कालका कोई मूल्य नहीं और ये माया-मात्र है। वसिष्ठ-ब्राह्मणकी सृष्टिमें वसिष्ठकी मृत्युको ८ दिन ही हुये थे, कि उस ब्राह्मणने मरकर अपने घरके किसी एक कोणमें ही जन्मान्तरमें राजा-पद्मका शरीर धारण किया और उस ८ दिनमें ही अखण्ड पृथ्वीका ६० हजार वर्षपर्यन्त राज्यभोगका अनुभव किया। फिर पद्म-शरीरसे मृत्यु पाकर वही ब्राह्मण जन्मान्तरमें अपने उसी गृह-कोणमें विदूरथ-राजाके शरीरसे उत्पन्न हुआ और ६० वर्ष राज्यका अनुभव किया, जहाँ इधर पद्मकी सृष्टिमें पद्मका मृत्यु-काल अर्द्ध-रात्रिका समय ही वर्त रहा है। (देखो योगवासिष्ठ उत्पत्ति-प्रकरण, सर्ग १४ से ३६) वसिष्ठ-ब्राह्मण-सृष्टिके ८ दिन = पद्म-सृष्टिके ६० हजार वर्ष तथा पद्म-सृष्टिकी १ घड़ी = विदूरथ-सृष्टिके ६० वर्ष।

(१६) शङ्का :—वस्तुकी उत्पत्तिके साथ ही काल उत्पन्न हुआ हो, तो वस्तुके नाशके साथ ही कालका नाश हो जाना चाहिये, परन्तु ऐसा अनुभवसे सिद्ध नहीं होता। बल्कि वस्तुके अभाव होनेपर भी कालकी स्थिति पाई जाती है। जब ब्रह्माका एक दिन चारों युगोंकी एक हजार चौकड़ीके व्यतीत होनेपर समाप्त हो जाता है, तब ब्रह्माण्डका प्रलय हो जाता है और फिर एक हजार चौकड़ी युगपर्यन्त ब्रह्माकी रात्रि रहती है, उस काल में ब्रह्माजी सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको अपनेमें लय करके निद्रित अवस्था में रहते हैं, ऐसा शास्त्र-प्रमाणसे जाना जाता है। तब ब्रह्माण्डके

अभावमें भी कालकी स्थिति पाई जाती है तथा घट-पटादि पदार्थोंके नाशमें भी कालकी स्थिति पाई जाती है। 'इदानीं घटो नास्ति' (अब घट नहीं है) इत्यादि ज्ञान-व्यवहारमें वस्तुके अभावमें भी कालकी स्थिति सबके अनुभवसिद्ध है।

(२०) समाधान :—'अभाव' अवस्तु नहीं बल्कि वस्तु है। जिस देश और जिस कालमें घट है, उसी देश और उसी काल में घटाभाव नहीं रहता, किन्तु अपने *प्रतियोगीसे भिन्न देश-कालादिमें ही घटाभावकी उत्पत्ति होती है। नैयायिकोंने 'अभाव' को पदार्थ माना है और प्रत्यक्ष-प्रमाणका विषय †प्रमेय ग्रहण किया है, वेदान्त तथा भट्ट-मतमें भी 'अभाव' ‡अनुपलब्धि-प्रमाणका विषय प्रमेयरूपसे ग्रहण किया गया है। इस प्रकार जब कि 'अभाव' किसी देश व कालमें उत्पन्न होनेवाला है और प्रमा-ज्ञानका विषय प्रमेय है, तब वह अवस्तु कैसे कहा जाय? किन्तु वह तो वस्तुरूप ही है और सम्पूर्ण द्रव्य, गुण व कर्म वस्तुरूप ही हैं। इस प्रकार घटाभाव-काल घटाभावरूप वस्तु व देशके आश्रय ही स्थित रहता है और घटाभावके साथ ही उत्पन्न होता है, क्योंकि कोई भी कालरूप व्यक्ति पूर्व स्थित नहीं है बल्कि नवीन ही उत्पन्न होती है। ब्रह्माण्डप्रलय तो ब्रह्माजीकी निद्रित अवस्था है, जो कि वस्तुरूप है और देशकाल-परिच्छेद-वाली है, उस अवस्थारूप विकारके आश्रय ही प्रलय-कालकी

---

* जिस वस्तुका अभाव हो वह वस्तु अपने अभावका 'प्रतियोगी' कहलाती है, जैसे घटाभावका प्रतियोगी घट है और पटाभावका प्रतियोगी पट है।

† प्रमाण (यथार्थज्ञान) का विषय जो पदार्थ वह 'प्रमेय' कहाता है।

‡ यथार्थज्ञानके साधनका नाम 'प्रमाण' है। वेदान्त-मतमें प्रमाण छः प्रकारका माना गया है—प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि।

स्थितिका सम्भव है, स्वतन्त्र नहीं। इस प्रकार यह निश्चित हुआ कि 'काल' की स्थिति निरपेक्ष नहीं, किन्तु 'देश' व 'वस्तु' की अपेक्षा करके, 'देश' व 'वस्तु' के आश्रय ही 'काल' की स्थिति है।

(२१) यदि वस्तुका विचार करे तो वस्तुको तो देश व काल की अपेक्षा सर्वके अनुभवसिद्ध है ही। वस्तु किसी देश व काल के आश्रय ही अपनी स्थिति रख सकती है। इससे सिद्ध हुआ कि 'देश' 'काल' व 'वस्तु' तीनो परस्पर वस्तु-परिच्छेदवाले हैं, भिन्न-भिन्न जातिवाले है और तीनो परस्पर समदेशी व समकालीन हैं। अत तीनो विजातीय होते हुए भी प्रत्येकको अपनी स्थितिमें शेष दो की अपेक्षा रहती है। देशको काल व वस्तुकी अपेक्षा है, कालको देश व वस्तुकी अपेक्षा है और वस्तुको काल व देशकी अपेक्षा है। इस प्रकार तीनोकी परस्पर सापेक्ष व अन्योऽन्याश्रयरूपसे स्थिति है, निरपेक्ष व स्वतन्त्र किसीकी भी स्थिति नहीं है, इसलिये तीनो ही अन्योऽन्याश्रय होनेसे स्वसत्ता-शून्य हैं। जो वस्तु अपनी कोई सत्ता नही रखती वह रज्जुमे सर्प के समान भ्रमरूप ही है, इस प्रकार यह तीनों ही अन्योऽन्याश्रय होनेसे और स्वसत्ताशून्य होनेसे अधिष्ठानचेतनमे भ्रममात्र हैं।

(२२) शङ्का —तीनों परिच्छेद अन्योऽन्याश्रयरूपसे भले ही रहे, परन्तु यह तीनो ही अपने वृत्तिरूप ज्ञानके आश्रय रहते हैं, ऐसा क्यो न माना जाय ? क्योंकि वृत्तिज्ञानद्वारा ही वस्तुका प्रकाश होता है।

(२३) समाधान :—मान लो, कि यह तीनो वस्तु अपने वृत्तिज्ञानके आश्रय स्थित है, परन्तु वृत्तिज्ञानका कोई अन्य आश्रय नहीं पाया जाता, ज्ञानकी स्थिति भी तो वस्तुके आश्रय ही माननी पड़ेगी। क्योंकि वस्तुसे पूर्व भी वस्तुका ज्ञान नहीं था और वस्तुके नाश होनेपर भी वस्तु-ज्ञान नहीं रहता। इसलिये

वस्तुको अपने स्थितिरूप प्रकाशके लिये ज्ञान की अपेक्षा है और ज्ञानको अपनी स्थितिके लिये वस्तुकी अपेक्षा सिद्ध होती है।

(२४) शङ्का :—देवदत्तकी उत्पत्तिसे पूर्व यद्यपि देवदत्त-ज्ञान नहीं था, परन्तु देवदत्तके नष्ट होनेपर देवदत्तज्ञान तो नष्ट नहीं हो जाता, किन्तु शेष रहता है। इसलिये 'वस्तुके नष्ट होने पर ज्ञान भी नष्ट हो जाता है' यह तुम्हारा कथन असङ्गत है।

(२५) समाधान :—'यह देवदत्त है' ऐसा ज्ञान देवदत्तकी विद्यमानतामें ही होता है और देवदत्तकी वर्तमान-स्थितिको सूचित करता है। परन्तु देवदत्तके नाश होनेपर 'यह देवदत्त है' यदि ऐसा ज्ञान शेष रहे तब यह माना जा सकता है कि वस्तुके नाश होनेपर भी ज्ञानका नाश नहीं होता। किन्तु देवदत्तके नष्ट होनेपर 'यह देवदत्त है' ऐसा ज्ञान किसीके भी अनुभवसिद्ध नहीं, उसके नाश होनेपर तो 'वह देवदत्त था' ऐसा ही ज्ञानका आकार शेष रहता है, जो कि देवदत्तके वर्तमान-अभावको ही बोधन करता है और वह देवदत्ताभावके आश्रय ही रहता है। इस प्रकार वस्तुकी स्थिति अपने वृत्तिज्ञानके आश्रय और वृत्ति-ज्ञान की स्थिति वस्तुके आश्रय, दोनोकी स्थिति अन्यो-ऽन्याश्रयरूपसे ही सिद्ध होती है। सुषुप्ति-अवस्थामें इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मिल जाता है कि उस समय ज्ञान नष्ट हो जाता है तब वस्तुकी प्रतीति भी नहीं होती और वस्तु भी नष्ट हो जाती है, तथा वस्तु नष्ट हो जाती है तब देश-काल भी नहीं रहते। यदि वस्तुसे पूर्व देश-काल होते तो सुषुप्ति-अवस्थामें वस्तुके अभाव होनेपर देश-कालकी प्रतीति होनी चाहिये थी, परन्तु होती नहीं। और यदि ज्ञानसे पूर्व वस्तु होती तो सुषुप्तिमें ज्ञानका लोप होने पर वस्तुकी प्रतीति होनी चाहिये थी, परन्तु नहीं होती। इसलिये इन चारोंकी अन्योऽन्याश्रयता स्पष्ट प्रमाणित होती है।

(२६) इस प्रकार देश, काल, वस्तु व ज्ञानकी परस्पर सापेक्षता व अन्योऽन्याश्रयता सिद्ध हुई। जैसे रज्जुमे सर्प व सर्पज्ञान परस्पर सापेक्ष, समकालीन और अन्योऽन्याश्रय होनेसे मिथ्या व भ्रमरूप हैं, सर्पके आश्रय सर्पज्ञान है, सर्पज्ञानके आश्रय सर्प है, दोनों ही (ज्ञान व विषय) अविद्याके परिणाम हैं, दोनों ही कल्पित होनेसे अधिष्ठान-रज्जुके आश्रय प्रतीत होते हैं और अपने अधिष्ठानमे कोई विकार नहीं करते, बल्कि अपने अधिष्ठान-रज्जुरूप ही हैं। इसी प्रकार सम्पूर्ण प्रपञ्च कल्पित होनेसे अविद्याका परिणाम है, वह अपने अधिष्ठान-चेतनके आश्रय अधिष्ठान-चेतनको स्पर्श किये बिना ही प्रतीत होता है और अधिष्ठान-चेतनरूप ही है। क्योंकि देश, काल, वस्तु और वृत्ति-ज्ञानसे भिन्न प्रपञ्चका और कोई रूप पाया नहीं जाता, जो कि उपर्युक्त रीतिसे अन्योऽन्याश्रय होनेसे कल्पित सिद्ध हुए। इस रीतिसे सम्पूर्ण प्रपञ्च अविद्याका *परिणाम और चेतनका †विवर्त्त जाना गया।

(२७) उपर्युक्त विचारोंके अनुसार कारण-कार्य, आधारा-धेय, विशेषण-विशेष्य, धर्म-धर्मी एवं भाव-अभावरूप सभी सम्बन्ध और सम्बन्धोंके ‡अनुयोगी व ‡प्रतियोगी

कारण-कार्यअभेद

*अपने उपादानसे समानसत्ता और अन्यथा स्वरूपको 'परिणाम' कहते हैं, जैसे दूध, दहीके रूपमे परिणामी होता है। दोनोंकी व्यवहारिक सत्ता होनेसे समसता है, परन्तु स्वरूपभेद है।

†अपने अधिष्ठानसे विपरीतसत्ता व अन्यथा स्वरूपको 'विवर्त्त' कहते हैं, जैसे कल्पितसर्प अधिष्ठान-रज्जुका विवर्त्त है। रज्जुकी व्यवहारिक-सत्ता और सर्पकी प्रातिभासिक-सत्ता होनेसे सत्ताभेद और अन्यथा स्वरूप भी है।

‡ ‡जिसमें सम्बन्ध रहे वह अपने सम्बन्धका 'अनुयोगी' और जिसका सम्बन्ध हो वह 'प्रतियोगी' कहलाता है। जैसे घटका भूतलमे संयोग-सम्बन्ध है इस सम्बन्धका भूतल अनुयोगी है और घट प्रतियोगी।

द्रव्य, गुण व कर्म, त्रिविध-परिच्छेदवाले होनेसे अधिष्ठान-चेतन के विवर्त्त सिद्ध हुए और वह अधिष्ठान-चेतन ही एकमात्र इन सबका विवर्त्तोपादान-कारण सिद्ध हुआ। जो आप ज्यूँका त्यूँ रहे और अपने आश्रय अन्य कल्पित विकारोंकी प्रतीति करावे वह 'विवर्त्तोपादान-कारण' कहा जाता है, जैसे रज्जु अपने विवर्त्त सर्प, दण्ड, माला आदिके प्रति विवर्त्तोपादान-कारण है।

(२८) इस दृष्टिसे घट-पटादि कार्योंके प्रति कपाल-तन्तु आदिको कारणता असिद्ध है। क्योंकि घट-पटादिके प्रति कपाल-तन्तु आदिको कारणता तब सिद्ध हो जबकि कपाल-तन्तु आदि अपने कार्योंसे पूर्व सिद्ध हों। परन्तु उपर्युक्त विचारोंसे देश-काल-वस्तुपरिच्छेदवाले किसी भी पदार्थमें प्राक्सिद्धता है नहीं, किन्तु ज्ञान-समकालीन उनकी आभासमात्र नवीन ही उत्पत्ति होती है। जैसे दर्पणमें मुख और मुखका ज्ञान जब देखते हैं तब नवीन ही उत्पन्न होता है, 'कल देखा था वही यह मुख है' ऐसी प्रतीति दर्पणमें भ्रमरूप है। इसी प्रकार साक्षी-चेतनमें कपाल-तन्तु आदि 'वस्तु' और 'वस्तुज्ञान' अपनी दृष्टि-समकालीन आभास-मात्र नवीन ही उत्पन्न होते हैं और दोनों परस्पर सापेक्ष हैं। इस प्रकार जब कि उपर्युक्त रीतिसे कपाल-तन्तु आदिमें न अपनी कोई सत्ता है और न अपने कार्योंसे पूर्व उनकी सिद्धि है, तब वे अपने कार्योंके प्रति कारणरूपसे कैसे ग्रहण किये जा सकते हैं?

(२९) इस रीतिसे सभी वृत्तिरूप ज्ञान व विषय बुद्धिके ही परिणाम हैं और साक्षी-चेतनके आश्रय बुद्धि ही भिन्न-भिन्न ज्ञान व विषयके आकारको धारती है, इनमें कारण-कार्यभाव रञ्चक-मात्र भी नहीं। जैसे स्वप्नमें बुद्धि ही ज्ञानाकार व विषयाकार परिणामको प्राप्त होती है, बाह्य कुछ भी नहीं, तैसे ही स्वप्नके समान इनकी प्रतीति केवल भ्रमरूप है। तथा जैसे स्वप्नके पिता-

पुत्रमें और गो-वत्सादिमें कारण-कार्यता प्रतीत होती है, परन्तु वास्तवमें स्वप्नके पिता-पुत्रादि समकालीन ही होते है और उनमे परस्पर कारण-कार्यताप्रतीति बुद्धिका ही भ्रमरूप परिणाम होता है। ठीक, इसी प्रकार जाग्रत्के सर्व कारण-कार्य बुद्धिके ही परिणाम हैं और क्या बुद्धि व क्या बुद्धिके परिणाम सब अधिष्ठान-चेतनके विवर्त्त ही हैं। उनका अपने अधिष्ठान-चेतनमें रञ्चक भी स्पर्श नहीं, जैसे मृग-तृष्णाका जल पृथ्वीको रञ्चकमात्र भी गीला नहीं कर सकता।

(३०) शङ्का :—तुम कहते हो कि कपाल-तन्तु आदि कारण अपने कार्योंसे पूर्व असिद्ध हैं, परन्तु यदि तुम्हारे इस कथनको सत्य माना जाय तो तुम्हारे वेदान्तसिद्धान्तकी ही हानि होगी। क्योंकि वेदान्तका कथन है कि ज्ञेयके अनुसार ही ज्ञान होता है, ज्ञेय बिना ज्ञान नहीं होता। अर्थात् ज्ञेय घट हो और ज्ञान पटका हो, यह असम्भव है, जब ज्ञेय घट है तो ज्ञान भी घट ही होना चाहिये, ज्ञान व ज्ञेय समान ही रहने चाहिये, ज्ञेयसे विपरीत ज्ञान नहीं हो सकता। इस सिद्धान्तके अनुसार कपाल-तन्तु आदि कारणोंमें यदि प्राक्सिद्धता न होती तो प्राक्सिद्धताकी प्रतीति भी न होती। परन्तु कपाल-तन्तु आदि कारणोंमें प्राक्-सिद्धता सर्वके अनुभवसिद्ध है, इसलिये तुम्हारे इस सिद्धान्तके अनुसार प्राक्सिद्धताकी प्रतीति ही उनमें प्राक्सिद्धताको सिद्ध कर रही है कि वे अपने कार्य घट-पटादिसे पूर्व सिद्ध हैं।

(३१) समाधान :—हाँ, वेदान्तका सिद्धान्त यही है कि ज्ञेय बिना ज्ञान नहीं होता। वेदान्तका आशय तो यह भी है कि जिस कालमें रज्जुमें सर्पकी प्रतीति होती है उस कालमें सर्प भी उत्पन्न होता है, निर्विषयक ज्ञान नहीं होता। अर्थात् सर्पका केवल ज्ञान ही उत्पन्न नहीं होता, बल्कि ज्ञान-कालमें सर्परूप

विषय भी उत्पन्न होता है। परन्तु ज्ञेय व ज्ञान सम-सत्तावाले ही होंगे, ज्ञेय यदि भ्रमरूप है तो उसका ज्ञान भी भ्रमरूप ही होगा, ज्ञेय भ्रम हो और उसका ज्ञान यथार्थ हो ऐसा सम्भव नहीं। अस्तु, कपाल-तन्तु आदि कारणोंमें प्राक्सिद्धता प्रतीत तो अवश्य होती है, परन्तु कपाल-तन्तु आदि कारण त्रिविध-परिच्छेदवाले होनेसे वस्तुतः अपनी कोई सत्ता ही नहीं रखते, केवल ज्ञान-समकालीन उनकी प्रतीतिमात्र है, फिर उनमें अपनी प्राक्सिद्धता कहाँसे आवे? और प्राक्सिद्धता हुए बिना प्रतीत भी नहीं हो सकती, परन्तु वह प्राक्सिद्धता कपाल-तन्तु आदिमें अपनी नहीं, बल्कि अधिष्ठान-चेतनस्थ प्राक्सिद्धता उनमें इसी प्रकार दमक मारती है, जैसे जपा-पुष्पकी रक्तता जपा-पुष्पके ऊपर स्थित स्फटिकमें। इस प्रकार कपाल-तन्तु केवल अपने अधिष्ठान-चेतनकी सत्तासे सत्तावान और उसीकी प्राक्सिद्धतासे प्राक्सिद्ध प्रतीत होते हैं, वस्तुतः कपाल-तन्तु आदि कदापि प्राक्सिद्ध नहीं और न घट-पटादि कार्योंके प्रति कारण ही हैं। जैसे स्वप्नके पदार्थ स्वसत्ताशून्य होते हुए भी अपने अधिष्ठान-चेतनकी सत्ता व प्राक्सिद्धतासे सत व प्राक्सिद्ध प्रतीत होते हैं। तथा जैसे रज्जुमें सर्प-भ्रम होता है, तब 'यह सर्प अभी उत्पन्न हुआ है' ऐसा ज्ञान नहीं होता, बल्कि 'इस सर्पकी पूर्व स्थिति है' ऐसा भ्रमका आकार होता है, सो वास्तवमें तो सर्पका त्रिकालाभाव है, तथापि अधिष्ठान-रज्जुकी सत्तासे सर्पमें सत्ता और अधिष्ठान-रज्जुकी प्राक्सिद्धतासे सर्पमें प्राक्सिद्धता का भ्रम होता है, इसी प्रकार कपाल-तन्तु आदि कारणोंमें प्राक्सिद्धता भ्रमरूप है और प्राक्सिद्धता-ज्ञान भी भ्रमरूप ही है।

(२८) जैसा-जैसा अपना मुख बनाकर हम दर्पणमें देखते हैं वैसा वैसा ही आकार दर्पणमें प्रतीत होता है। इसी प्रकार

जिस-जिस आकारको बुद्धिवृत्ति धारण करती है वैसा-वैसा ही रूप अधिष्ठान-चेतनमें प्रतीत होता है। वास्तवमें अधिष्ठान-चेतन में उन आकारोंका न कोई स्पर्श है न उनकी कोई सत्ता है, किन्तु अधिष्ठान-चेतनके आश्रय बुद्धि आप ही उन आकारोंको धारती है और उन आकारोंको अपनेसे भिन्न जानकर आप ही उन मिथ्या आकारोंमें सत्यताकी भ्रान्ति कर लेती है, जैसे चञ्चल वानर दर्पणमें अपने ही आकारको अपनेसे भिन्न सत्यरूपमें ग्रहण कर लेता है। फिर उन मिथ्या अनुभवजन्य-संस्कारोंमें भी सत्यताकी भ्रान्ति करके बुद्धि उन संस्कारोंको सत्यरूपसे अपने भीतर ले जाती है तथा उन संस्कारोंके उद्बोधद्वारा जब वृत्ति फिर उन्हीं आकारोंको धारती है, तब 'वही यह वस्तु है' ऐसा †प्रत्यभिज्ञा-भ्रम होता है। वास्तवमें तो वस्तु वही कदापि नहीं और है ही नहीं, जैसे जब हम अपना मुख दर्पणमें प्रथम देखकर पुनः-पुनः दर्पणमें देखते हैं, तब पूर्वानुभवजन्य संस्कारोंकी भ्रान्ति से ऐसा भ्रम होता है कि 'वही यह मुख है', परन्तु वास्तवमें तो जब-जब हमने दर्पणमें अपना मुख देखा, तब-तब नवीन ही मुख वहाँ होता है, 'वही यह मुख है' ऐसा प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्ष दर्पणमें तो भ्रमरूप ही है।

(३३) इस दृष्टिसे जबकि कपाल-तन्तु आदि कारण प्राक्-सिद्धरूपसे असिद्ध हैं, तब वे घट-पटादि अपने कार्योंके प्रति कारण कैसे हो सकते हैं? क्योंकि कारण वे तभी हो सकते थे जबकि अपने कार्योंसे पूर्व उनकी विद्यमानता पाई जाती। परन्तु सम्पूर्ण प्रपञ्च त्रिविध-परिच्छेदवाला होनेसे भूत-भौतिक ऐसा

---

†जिस वस्तुका पूर्व प्रत्यक्ष हुआ हो, उस पूर्व प्रत्यक्षके संस्कारसहित उसी वस्तुकी पुनः प्रतीतिको 'प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्ष' कहते हैं; उपर्युक्त रीतिसे सभी प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्ष भ्रमरूप ही है।

कोई भी पदार्थ प्रतीत नहीं होता जिसको प्राक्सिद्धरूपसे ग्रहण किया जाय और घट-पटादि कार्योंके प्रति कारण माना जाय। हाँ, निर्विकार, अजर, अमर, परिच्छेदशून्य व भेदशून्य एक अधिष्ठान-चेतन ही प्राक्सिद्ध रूपसे ग्रहण हो सकता है और केवल वही सम्पूर्ण कारण-कार्यरूप प्रपञ्चके प्रति एकमात्र विवर्त्तोपादान-कारण है। तथा क्या घट-पटादि कार्य, क्या कपाल-तन्तु आदि कारण, क्या बुद्धिरूप ज्ञाता, वृत्तिरूप-ज्ञान व प्रपञ्चरूप ज्ञेय, ये सभी उस परमउपादानके विवर्त्तरूप कार्य हैं, जो कि दर्पणके समान अपने अधिष्ठान-चेतनके आश्रय प्रतीत होकर उसको स्पर्श नहीं कर सकते।

(३४) यह हमारी अपनी ही कपोल-कल्पना नहीं, श्रुति-भगवती स्वयं इस सिद्धान्तकी साक्षी देती है। छान्दोग्योपनिषत् छठे प्रपाठकके शाङ्कर-भाष्यमें उद्दालक-श्वेतकेतुके संवादसे यही सिद्धान्त सुन्दर युक्तियोंद्वारा प्रतिपादन किया गया है कि सम्पूर्ण कारण-कार्यरूप प्रपञ्च अपने अधिष्ठान-चेतनका विवर्त्तमात्र है। संक्षेपसे जिसका आशय यह है :—

कारण-कार्यसम्बन्धमें नैयायिकोंका 'आरम्भवाद', सांख्यों का 'परिणाम-वाद' तथा वेदान्तका 'विवर्त्त-वाद' है। नैयायिकों का मत है कि उपादान कार्यरूप परिणामको प्राप्त नहीं होता जैसा सांख्यका मत है, बल्कि उपादान आप तो ज्यूँ-का-त्यूँ ही रहता है और अपने उपादानमें कार्य एक भिन्न ही वस्तु उपजती है। जैसे कपाल-तन्तु आदि उपादानमें घट-पटादि कार्योंकी उत्पत्ति हो जानेपर भी, कपाल-तन्तु अपने-आपमें ज्यूँ-के-त्यूँ ही रहते हैं और घट-पटादि कार्य अपने उपादान कपाल-तन्तुसे भिन्न नई ही वस्तु उत्पन्न होते हैं। क्योंकि धारण व आच्छादन-रूप व्यवहार कपाल-तन्तुद्वारा सिद्ध नहीं होता और घट-पटादि

द्वारा सिद्ध होता है, इसलिये कपाल-तन्तुसे घट-पटादि एक भिन्न ही वस्तु उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार कपाल-तन्तु आदिमें घट-पटादिका आरम्भ होता है, परिणाम नहीं, ऐसा मानना चाहिये। यदि कपाल-तन्तु परिणामी हुये होते तो घट-पटादिकी उत्पत्ति हो जानेपर कपाल-तन्तु स्वस्वरूपसे न रहते, क्योंकि स्वस्वरूपको त्यागकर अन्य रूपमें परिवर्तन होनेको 'परिणाम' कहते हैं; परन्तु कपाल-तन्तु तो अपने स्वरूपसे ज्यूँ-के-त्यूँ ही रहते हैं, इसलिये आरम्भ-वाद माननेयोग्य है और परिणाम-वाद असंगत है। चूँकि न्यायमतमें कार्यकी उपादानसे भिन्न नवीन उत्पत्ति मानी गई है, इसलिये न्यायमत 'असत्-कार्यवादी' कहलाता है, अर्थात् अपनी उत्पत्तिसे पूर्व कार्य असत् था।

(३५) परिणाम-वादी सांख्यका कथन है कि कार्य अपने उपादानमें एक सत्-वस्तु है, अर्थात् वह अपने उपादानमें उत्पत्ति से पूर्व अनभिव्यक्त रूपसे रहता है। क्रियाद्वारा उस सत्-कार्यकी अपने उपादानमें केवल अभिव्यक्ति होती है और नाशके पश्चात् वह फिर अपने उपादानमें ही अनभिव्यक्तरूप हो जाता है। इस प्रकार उपादान कार्यरूपमें परिणामी होता है। यदि उपादान ज्यूँ-का-त्यूँ रहे और परिणामी न हो तो घट-पटादिकी उत्पत्तिके अनन्तर कपाल-तन्तुमें अन्य घट-पटादिकी उत्पत्ति होनी चाहिये। परन्तु कार्यकी प्रथम उत्पत्ति होनेके पीछे वे कपाल-तन्तु अन्य घट-पटादिके उपादान नहीं रहते, इसलिये परिणामवादका ही अंगीकार है और आरम्भवाद असंगत है। चूँकि कपालमें घटकी ही उत्पत्ति होती है पटकी नहीं, और तन्तुसे पट ही निकलता है घट नहीं। इससे जाना जाता है कि कपालमें घट ही रहता है और तन्तुमें पट ही रहता है। इस प्रकार कार्य अपने उपादानमें नित्य रहनेसे सांख्यमत 'सत्-कार्यवादी' कहा गया है।

(३६) वेदान्त इन दोनोसे आगे बढ़कर कहता है कि न उपादानसे भिन्न कार्य कोई दूसरी वस्तु ही उत्पन्न होता है और न उपादान कार्यरूप परिणामको ही प्राप्त होता है। यदि उपादान से भिन्न कार्य कोई दूसरी वस्तु हुई होती तो उपादानसे अधिक भिन्न देश-कालसे कार्यकी प्रतीति होती, परन्तु उपादानसे भिन्न देश-कालमे कार्यकी अनुपलब्धि है। जैसे घट-पटादि कार्यमेसे यदि मृत्तिका व तन्तुको निकाल लेवे तो घट-पटादि कोई वस्तु शेष नही रहते, यदि उपादानसे भिन्न घट-पटादि नई वस्तु उपजे होते तो कपाल-तन्तुके निकाल लेनेपर उनकी उपलब्धि होनी चाहिये थी, परन्तु होती नही, इसलिये आरम्भवाद मिथ्या है। तथा उपादान यदि कार्यरूप परिणामको प्राप्त हुआ हो तो कार्य के नष्ट होनेपर उपादान शेष न रहना चाहिये, जैसे दुग्ध दधीरूप में परिणत होनेपर फिर दुग्धरूपसे शेष नहीं रहता। परन्तु घट-पटादि कार्योंके नष्ट होनेपर तो मृत्तिका व तन्तु उतनेके उतने संख्या व परिमाणमें शेष रहते है, रञ्चकमात्र भी न्यूनता नहीं होती, इसलिये परिणामवाद भी मिथ्या है।

(३७) वेदान्तका कथन है कि कार्य अपने उपादानसे भिन्न कोई वस्तु है ही नहीं, बल्कि उपादानरूप ही है। कार्य अपने उपादानका केवल विवर्त्त है और उपादानकी ही एक दूसरी सञ्ज्ञा है, वास्तवमें कार्यका उपादानसे भिन्न रूप कोई नहीं। जैसे सर्प रज्जुका विवर्त्त है, रज्जुसे भिन्न सर्पका और कोई रूप है ही नहीं, वह तो केवल प्रतीतिमात्र ही है। उपादान त्रिकाल-सत्य है, कार्यसे पूर्व, कार्यके पश्चात् तथा कार्यके मध्य उपादान ज्यूँ-का-त्यूँ है। अर्थात् उपादान आप ज्यूँ-का-त्यूँ रहता हुआ अपने आश्रय कार्यकी प्रतीतिमात्र कराता है, वास्तवमें तो कार्य अपने उपादान में कल्पित है। कार्य अपने उपादानका विवर्त्तमात्र होनेसे

वेदान्तमत 'विवर्त्त-कार्यवादी' कहलाता है। अर्थात् रज्जु-सर्पके समान कार्य अपने उपादानमें कल्पित-सत् और वास्तव असत्-रूप है। इस प्रकार उपादान व अधिष्ठानका अभेद सिद्ध हुआ।

वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्

(छान्दोग्योपनिषत्)

अर्थात् कार्य कथनमात्र व नाममात्र ही है, उपादान ही सत्य है। सुवर्ण, मृत्तिका, तन्तु आदि जिनको लौकिकदृष्टिसे भूषण, घट, पटादिके प्रति उपादान कहा जाता है, वास्तवमें यह उपादान-कारण नहीं केवल निमित्त-कारण ही है। चूँकि यह सम्पूर्ण भूत-भौतिक प्रपञ्च उत्पत्तिवाला होनेसे कार्य है और जो आप कार्य है वह किसी अन्यका उपादान नहीं हो सकता, क्योंकि कार्य रज्जुमें सर्पके समान मिथ्या व कल्पित ही होता है। इसलिये सम्पूर्ण प्रपञ्चका एकमात्र त्रिकालाबाध्य, सत्‌वस्तु, अधिष्ठान-चेतन ही विवर्त्तोपादान है। इस प्रकार क्या अविद्या, क्या बुद्धि, वृत्ति, पञ्चभूत तथा सुवर्ण-मृत्तिकादि अपने-अपने कार्योंकी उत्पत्तिमें निमित्तमात्र ही होते हैं, अविद्यादि व सुवर्ण-मृत्तिकादि के निमित्तसे वह अधिष्ठान चेतन ही भूषण-घटादिके रूपमें प्रतीत होता है और स्वप्नवत् क्या निमित्त व क्या कार्य सभी अधिष्ठान-चेतनके विवर्त्त और अधिष्ठानरूप ही होते हैं।

सन्मूलाः सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः। (छान्दोग्य)

अर्थात् हे सौम्य ! इस सर्व प्रपञ्चका मूल यह सत् ही है।

ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि

(छान्दोग्य)

अर्थ :—यह सर्व इस अपरोक्षसत् आत्मावाला है, सो परमार्थ है, सो आत्मा है, सो तू है।

(३८) इस प्रकार सुवर्ण-मृत्तिकादि अधिष्ठान-चेतनके विवर्त्त होनेसे आप ही नहीं तो भूषणादि-कार्योंको कैसे उत्पन्न करें? तथा कल्पितरूप होनेसे जब कार्य बना ही नहीं तो सुवर्ण-मृत्तिकादिमें कारणता कैसे सिद्ध हो? इसी विचारसे न तो द्रव्यके आश्रय गुण व क्रिया है और न धर्मीके आश्रय धर्म है; किन्तु सभी सम्बन्ध और अनुयोगी-प्रतियोगी अपने अधिष्ठान-चेतनके विवर्त्तमात्र हैं। क्योंकि सभी आधार व आधेय त्रिविध-परिच्छेद-वाले होनेसे स्वसत्ताशून्य मायामात्र हैं और अपने अधिष्ठान-चेतनके आश्रय केवल प्रतीतिमात्र हैं। जैसे दर्पणमें प्रतीत हुआ जो मुखरूप-द्रव्य, श्वेत-पीतादिक मुखके गुण और हिलन-चलन आदि मुखकी क्रिया, ये सब दर्पणस्थ-मुखकेआश्रय नहीं, किन्तु क्या मुख, क्या गुण व क्या क्रिया सभी दर्पणके आश्रय हैं। दर्पणके अज्ञानसे मुखमें आश्रयता तथा गुण-क्रियामें आश्रितता-प्रतीति भ्रम है।

(३९) जाग्रत्के क्षणिक-काल और कण्ठगत हिता नाड़ी- नामा अल्प-देशमें ही यद्यपि स्वप्न-सृष्टिके दीर्घकाल और विस्तृत-देशकी प्रतीति होती है, तथापि जाग्रत्के क्षणिक-काल व अल्प-देशको आधारता और स्वप्नके दीर्घ-काल व विस्तृत-देशको आधेयताका अङ्गीकार नहीं और सम्भव भी नहीं। किन्तु एक अधिष्ठान-चेतनके आश्रय ही क्या जाग्रत् व क्या स्वप्न दोनोंकी अपने-अपने समयमें प्रतीति होती है, इन दोनों में परस्पर कारण-कार्यता व आधाराधेयता मिथ्या है। जैसे नाटकघरके प्लेटफार्मपर पहले भानमतीके खेलके पड़दे खुलते हैं पश्चात् हरिश्चन्द्रके, परन्तु इन दोनोंमेंसे आधाराधेय-भाव किसी में भी नहीं, केवल प्लेटफार्म ही दोनोंका आधारभूत हो सकता है।

जाग्रत व स्वप्नअभेद

(४०) जाग्रत्-देश-कालको स्वप्न-सृष्टिके प्रति आधारता व

कारणता तब सिद्ध हो, जब कि जाग्रत-देश-काल स्वतन्त्र हो और स्थिर हो। परन्तु जैसा पीछे (अङ्क ६ से २६ में) विवेचन किया जा चुका है, जाग्रत्-देशकाल जाग्रत-पदार्थोंके साथ अन्योऽन्याश्रयरूपसे समकालीन ही उत्पत्ति-नाशवान् हैं, वे स्वतन्त्र नहीं और स्थिर भी नहीं। जो वस्तु अपने स्वरूपसे चलायमान है और स्वतन्त्र भी नहीं, वह किसी अन्यका आधारभूत कैसे बन सकती है? अर्थात् जाग्रत्-देशकाल जाग्रत-पदार्थोंके प्रति ही जब कारणरूप सिद्ध न हुवे, तब स्वप्न-सृष्टिके प्रति वे कारण कैसे बन सकते हैं?

दूसरे, वेदान्त-सिद्धान्तमें भ्रमस्थलमें *अनिर्वचनीय-ख्याति का अङ्गीकार किया गया है, जिसका यह आशय है कि जो भी ज्ञान होता है वह सविपयक होता है, निर्विपयक-ज्ञान अलीक है। अर्थात् ज्ञानके साथ विपय भी उत्पन्न होता है, विपयके बिना केवल ज्ञान ही नहीं होता। इस सिद्धान्तके अनुसार स्वप्न-ज्ञानके विपय पदार्थ भी स्वप्नकालमें उत्पन्न होते हैं। श्रुतिभगवती भी स्वप्नपदार्थोंकी उत्पत्तिकी साक्षी देती है:—

'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो
भवन्त्यथ रथान्रथयोगान्पथः सृजते।'

इस श्रुतिमें व्यवहारिक रथ, अश्व व मार्गका निपेध करके

---

* सत् व असत्से विलक्षणको 'अनिर्वचनीय' कहते हैं, ऐसा यह जाग्रत् जगत् है। तीनों कालमें जिसका अभाव न हो उसको 'सत्' कहा जाता है, परन्तु यह जगत् ऐसा है नहीं, इसलिये सत्से विलक्षण है। तथा तीनों काल में जिसकी प्रतीति न हो उसको 'असत्' कहते हैं, जैसे शशशृङ्ग, वन्ध्यापुत्रादि, परन्तु यह संसार प्रतीत होता है, इसलिये असत्से भी विलक्षण होनेसे 'अनिर्वचनीय' कहा जाता है।

स्वप्नमें अनिर्वचनीय रथ, अश्व व मार्गकी उत्पत्ति वर्णन की है। और जब कि स्वप्नपदार्थोंकी उत्पत्ति मानी गई, तब उन पदार्थोंके योग्य देश-कालकी अपेक्षा होनी चाहिये, जाग्रत्‌के अल्प देश-कालको उनके प्रति आधारताका असम्भव ही है।

(४१)वास्तव दृष्टिसे तो क्या जाग्रत्-प्रपञ्च और क्या स्वप्न-प्रपञ्च दोनोंका *परिणामी-उपादान मूलाविद्यारूप सुषुप्ति-अवस्था ही है। सुषुप्तिसे ही जाग्रत्-प्रपञ्च निकलता है और सुषुप्तिसे ही स्वप्न-प्रपञ्च, तथा दोनोंका लय भी सुषुप्तिमें ही होता है। जाग्रत्‌के पश्चात् जब स्वप्न आता है तब जाग्रत्‌का लय स्वप्नमें नहीं होता, किन्तु सुषुप्तिमें ही होता है और फिर सुषुप्तिसे ही स्वप्न-प्रपञ्च निकलता है। जाग्रत् और स्वप्नके मध्यमें सुषुप्तिका आना आवश्यक है, चाहे वह सुषुप्ति क्षणिक हो अथवा क्षणके किसी अंशमें ही हो; परन्तु दोनोंके मध्य सुषुप्तिका होना जरूरी है। जैसे नाटक-घरमें भानमतीके खेलके पड़दे जब खुल चुके और खेले जा चुके, तब हरिश्चन्द्रका खेल आरम्भ होनेसे पहले प्लेटफार्मको साफ कर लेना जरूरी है। इसी प्रकार जब जाग्रत्‌के भोग अपना फल देनेसे उदासीन हो जाते हैं और स्वप्नभोग फलके सम्मुख होते हैं, तब जाग्रत्-प्रपञ्चका सुषुप्तिमें लय होना आवश्यक है, जिससे स्वप्नके भोगोंको अवकाश मिले। क्योंकि क्या जाग्रत्-भोग और क्या स्वप्न-भोग दोनोंका कर्ता-भोक्ता सुषुप्ति-अवस्थाभिमानी प्राज्ञनामा जीव ही है और ये दोनो अवस्थाएँ इसके भोगकी सामग्री व भोग-स्थल हैं। वही †प्राज्ञ जाग्रत् और स्वप्नमें ‡विश्व व +तैजसरूपसे

---

*जो वस्तु स्वयं कार्यरूपमें परिवर्तित हो, उसको 'परिणामी-उपादान' कहते हैं। †सुषुप्ति-अवस्थाभिमानी जीवका नाम 'प्राज्ञ' है।

‡जाग्रत्-अवस्थाभिमानी जीवका नाम 'विश्व' है।

+स्वप्न-अवस्थाभिमानी जीवका नाम 'तैजस' है।

प्रकट होकर इन अवस्थाओमे कर्ता-भोक्ता होता है और वही इनके सञ्चित-संस्कारोसे जन्मान्तरसे अपने भोगके लिये शरीर धारण करता है।

(४२) विचारसे देखा जाय तो जाग्रत्-प्रपञ्चका लय स्वप्नमे सम्भव हो भी नही सकता। स्वप्नमे तो जाग्रत्की लयरूप-निवृत्ति तभी मानी जा सकती थी, जब कि स्वप्नसे जाग्रत्की उत्पत्ति मानी जाती। क्योकि कार्यका लय अपने उपादानमे ही होता है, जैसे घटका प्रध्वंसरूप लय कपालोमे ही होता है और स्वप्नसे जाग्रत्की उत्पत्ति किसीको इष्ट है नहीं, इसलिये परिणामी-उपादानरूप सुषुप्तिमे ही जाग्रत्की निवृत्ति माननी होगी। जब कि जाग्रत्का लय सुषुप्तिमे माना गया, तब जाग्रत्से स्वप्नकी भी उत्पत्ति असम्भव है, क्योकि जाग्रत् जब अपने स्वरूपसे ही स्वप्न-कालमे नहीं रहता, तब वह स्वप्नका कारण कैसे हो? वस्तुत: स्वप्नकालमे न जाग्रत्देह ही रहता है, न जाग्रत्इन्द्रियाँ और न मन-बुद्धयादि जाग्रत्अन्तःकरण ही शेष रहता है, बल्कि वहाँ सारी त्रिपुटी नवीन ही होती है। इस प्रकार न जाग्रत्का कारण स्वप्न है और न स्वप्नका कारण जाग्रत, बल्कि क्या स्वप्न और क्या जाग्रत् दोनोका परिणामी-उपादान सुषुप्ति ही स्वतः सिद्ध है, क्रम-क्रमसे दोनो ही अपने उपादान सुषुप्तिमे लय होते है और सुषुप्तिसे ही निकलते है।

(४३) शङ्का :—यदि जाग्रत् और स्वप्न दोनोका परिणामी-उपादान सुषुप्ति ही है तो स्वप्नसे जागे मनुष्यको स्वप्न-प्रपञ्चमे मिथ्यात्व तथा जाग्रत्मे सत्यत्वप्रतीति नहीं होनी चाहिये। क्योकि एक ही उपादानसे एक कार्य सत्य तथा एक मिथ्या हो नहीं सकता, या तो दोनों ही सत्य प्रतीत होने चाहियें अथवा दोनों ही मिथ्या। किन्तु इन दोनोंमें सत्यता व मिथ्यात्व विलक्षण

प्रतीति है, इसलिये दोनोका एक उपादान अनुभवानुसारी नहीं।

(४४) समाधान :—वास्तवमें तो सत्यता न जाग्रत्-प्रपञ्च में अपनी है और न स्वप्न-प्रपञ्चमें ही अपनी, किन्तु अधिष्ठान-चेतनकी सत्यता ही अपने-अपने समयपर दोनोमे प्रतीत होती है और उसकी सत्तासे ही ये दोनो असत् हुए भी सत्तावान् प्रतीत होते हैं। इसलिये जैसा अपने कालमें जाग्रत्-प्रपञ्च सत् भान होता है, वैसा ही अपने कालमे स्वप्न-प्रपञ्च भी सत् प्रतीत होता है। 'यह स्वप्न-प्रपञ्च मिथ्या है और यह स्वप्न है' ऐसी प्रतीति तो स्वप्न-कालमे किसीको भी होती नहीं है, अतः दोनोंमें ही सत्यताप्रतीति अधिष्ठानके अज्ञान करके ही है। अधिष्ठानके ज्ञान विना कभी 'वह प्रपञ्च सत्य है' और कभी 'यह प्रपञ्च सत्य है' ऐसी सत्यताप्रतीति दोनोके परस्पर विरोधी ज्ञान करके ही होती है। जैसे रज्जुमे रज्जुके अज्ञानसे कभी 'यह सर्प है' ऐसी प्रतीति होती है और कभी 'यह दण्ड है' ऐसा ज्ञान होता है। तहाँ रज्जुके ज्ञान विना ही सर्पप्रतीतिसे दण्डप्रतीति और दण्ड-प्रतीतिसे सर्पप्रतीतिकी निवृत्ति हो जाती है तथा दोनो प्रतीतियाँ भ्रमरूप ही होती हैं। इस प्रकार अधिष्ठान-रज्जुके अपरोक्ष बिना एक भ्रम-ज्ञानसे दूसरे विरोधी भ्रमज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है, सो अधिष्ठानके ज्ञान बिना परस्पर विरोधी ज्ञानोसे ही होती है। इसी प्रकार जाग्रत्-प्रपञ्चकी प्रतीतिसे स्वप्नप्रतीति मिथ्या हो जाती है और स्वप्नप्रतीतिसे जाग्रत्प्रतीति मिथ्या हो जाती है तथा दोनों ही भ्रमरूप हैं। अपने स्वरूपसे असत् हुए भी अधि-ष्ठान-चेतनकी सत्तासे अपने-अपने कालमें दोनो ही सत् प्रतीत होते हैं और अधिष्ठान-चेतनके अपरोक्ष होनेपर दोनो ही मिथ्या हो जाते हैं। इस प्रकार इन दोनोंका परिणामी-उपादान सुषुप्ति-अवस्थारूप मूलाज्ञान ही जानना चाहिये।

(४५) शङ्का :—जाग्रत्मे स्वप्नकी स्मृति होती है, क्योंकि स्वप्नके अनुभवजन्य-संस्कार जाग्रत्मे रहते है और यह नियम है कि जिसने अनुभव किया हो उसीमे अनुभवजन्य-संस्कार रहने चाहियें और स्मृति करनेवाला भी वही होना चाहिये। अनुभव करनेवाला और हो तथा स्मृति करनेवाला कोई और, यह असम्भव है। इस प्रकार स्वप्नकी स्मृति जाग्रत्मे रहने से जाग्रत् ही स्वप्नका कारण सिद्ध होता है और स्वप्नको जाग्रत्के प्रति कार्यता सिद्ध होती है।

अन्य शङ्का :—स्वप्नमें जाग्रत्की स्मृति होती नहीं, बल्कि जाग्रत्के संस्कारोसे स्वप्नमें कभी-कभी जाग्रत्-पदार्थोंका प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्ष तो होता है, परन्तु स्मृति कभी नहीं होती। इससे भी जाग्रत्को ही स्वप्न-सृष्टिके प्रति कारणता सिद्ध होती है, क्योकि जाग्रत्के संस्कार उन पदार्थोंके कारण हैं।

(४६) समाधान :—यद्यपि जाग्रत् व स्वप्न दोनो अवस्थाओ का अनुभव करनेवाला एक ही है, परन्तु वह अनुभव-कर्ता जाग्रत्-अन्तःकरण अथवा स्वप्न-अन्तःकरण नहीं हो सकता, क्योकि जाग्रत्-अवस्था और स्वप्न-अवस्थामे अन्तःकरण एक नही है, किन्तु दोनों अवस्थाओंमें अन्तःकरण भिन्न-भिन्न हैं। जाग्रत्-अवस्थामें जिस पुरुषके अन्तःकरणने 'मैं राजा हूँ' ऐसा राज्यका अहङ्कार धारण किया हुआ है तथा हस्ति-अश्वादि जिन पदार्थोंमें सुखबुद्धि धारी हुई है, उसी पुरुषका स्वप्न-अन्तःकरण स्वप्नमे अपने-आपको चाण्डाल देखता है, चाण्डाल-वृत्ति में ही सुखबुद्धि करता है, जाग्रत्-पुण्यको पापरूप व जाग्रत्-पाप को पुण्यरूप जानता है, कभी पक्षीके समान मनुष्य-शरीरसे ही अपनेको उडता हुआ देखता है, कभी अपना सिर कटा हुआ देखता है, कभी चितामें अपने-आपको भस्म होता हुआ देखता

है और कभी अग्निको शीतलस्वभाव तथा जलको उष्णस्वभाव जानता है, जो कि जाग्रत्-अन्तःकरणकी मर्यादासे विलक्षण है और जाग्रत्में ऐसा अनुभव कभी नहीं हुआ। इस प्रकार जाति व रूपकी विलक्षणता, सुख-दुःखकी विलक्षणता, पुण्य-पापकी मर्यादाकी विलक्षणता, भूतोंके गुणोंकी विलक्षणता और नीति की विलक्षणता होनेसे यह स्पष्ट है कि दोनो अवस्थाओमे अन्तः-करणकी एकता नहीं है। क्योंकि रूप, जाति, गुण, पुण्य, पाप, सुख, दुःख, मर्यादा व नीति इन सबका बोध केवल अन्तःकरण मे ही है। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि सुषुप्तिमे अन्तःकरणके लीन हो जानेपर रूप, जाति व गुणादिके सब ज्ञान अन्तःकरण में ही लीन हो जाते हैं और फिर अन्तःकरणका विकास होनेपर यह सब ज्ञान उसीसे निकल पड़ते हैं। इसीलिये सुषुप्ति-अवस्थामे इनका कोई भेदभाव नही रहता, बल्कि वहाँ अन्तःकरणके अभाव से क्या चाण्डाल, क्या राजा, क्या पशु, क्या पक्षी सबका ही अभेद हो जाता है, इससे स्पष्ट है कि यह सब भेद अन्तःकरणमें ही हैं। इस प्रकार जबकि सुख-दुःख, पुण्य-पापादि व जाति-गुणादि सब मर्यादाओंका सम्बन्ध केवल अन्तःकरणसे ही है, तब यदि दोनो अवस्थाओंमे एक ही अन्तःकरण हो तो इस प्रकारकी विचित्र विलक्षणता नहीं होनी चाहिये। क्योंकि पदार्थों का स्वरूप, गुण, पुण्य-पाप और सुख-दुःखादिकी मर्यादा व नीतिका निर्णय करनेवाला जब कि अन्तःकरण ही है तो फिर जिस अन्तःकरणने जाग्रत्मे जैसा रूप-गुणादिका निश्चय किया है, उसके अत्यन्त विरुद्ध वही स्वप्नमे कैसे निश्चय कर सकता है? इसलिये मानना पड़ेगा कि दोनो अवस्थाओंमे अन्तःकरणकी एकता नहीं है। इस प्रकार दोनो अवस्थाओंमे अन्तःकरणोंका भेद होनेसे और दोनों अवस्थाओंका अनुभव-कर्ता कोई एक

अन्तःकरण न होनेसे प्राज्ञरूप-जीवको ही इन सबका अनुभव-कर्ता मानना होगा। वही राजाधिराजके समान कभी अपने भीतरसे जाग्रत्-अवस्थारूपी दरबारको निकालता है और त्रिपुटी-रूप अपनी लीलाओंको देखता है। और जब यहाँसे थकता है तब अपने इस दरबारको भङ्ग करके स्वप्न-अवस्थारूपी रनिवासमे प्रवेश करता है और कभी सबको लयकर अपने निजी महल सुषुप्ति-अवस्थामे विश्राम करता है।

(४७) 'अन्त करण' शब्दका अर्थ है 'अन्तर्ज्ञानका साधन', और जो ज्ञानका साधन है वह ज्ञानका कर्ता नहीं हो सकता। जिस प्रकार खड्ग छेदनरूप व्यापारका साधन होनेसे कर्ता नही हो सकता। साधनसे कर्ता सदैव भिन्न ही होता है, छेदन-व्यापार का कर्ता तो वह पुरुष ही हो सकता है जिसके हाथमें खड्ग है। इसी प्रकार ज्ञानका साधन होनेसे अन्तःकरण ज्ञानका कर्ता नही हो सकता, ज्ञानका कर्ता तो केवल प्राज्ञ-जीव ही हो सकता है। क्या जाग्रत्-अन्तःकरण व जाग्रत्के सस्कार और क्या स्वप्न-अन्तःकरण व स्वप्न-सस्कार अपने-अपने कालमे उसीमें लय होते हैं और उसीसे निकलते हैं तथा मरण-अवस्थामे तो जाग्रत् व स्वप्न दोनों ही अन्तःकरण सस्कारोंसहित उसीमें स्वरूपसे ही लीन हो जाते हैं। इसीलिये सर्व सस्कारोंका सञ्चितरूप कोष वह प्राज्ञ ही है और उसमेंसे ही जो संस्कार प्रारब्धरूपसे उद्बुध होते हैं, वे ही जन्मान्तरके भोगकी सामग्री बन जाते है और पुन-र्जन्मके हेतु होते हैं।

(४८) उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध हुआ कि:—(१) जाग्रत् व स्वप्नमें अन्तःकरण एक नही किन्तु भिन्न-भिन्न है। (२) अन्तः-करणरूप-प्रमाताका ही भेद नही किन्तु इन्द्रियरूप-प्रमाण तथा

*प्रमेयका भी भेद है। स्वप्नमें इन्द्रियाँ नवीन ही अन्तःकरणके साथ उत्पन्न होती हैं, उस समय जाग्रत्‌इन्द्रियाँ अपने अन्तःकरण में लीन होकर रहती हैं। (३) और यह भी सिद्ध हुआ कि जाग्रत्‌ तथा स्वप्नके अनुभवजन्य संस्कारोंका आश्रय एकमात्र प्राज्ञ ही है, न जाग्रत्-अन्तःकरण ही संस्कारोंका आश्रय हो सकता है और न स्वप्न-अन्तःकरण। क्योंकि आधारभूत अन्तः-करण ही जब लयको प्राप्त होता है, तब वह आधेयरूप संस्कारों का आश्रय कैसे रह सकता है? जिस प्रकार देह व इन्द्रियाँ जब आप ही अपने स्वरूपसे लय होते हैं तब वे संस्कारोंके आधार-भूत नहीं रहते, इसी प्रकार अन्तःकरण भी लयस्वरूप होनेसे और गुणोंका कार्य होनेसे संस्कारोंका आधारभूत नहीं हो सकता। यद्यपि इसमें संस्कारोंका उद्‌बोध होता है, तथापि संस्कारोंका आश्रय तो वह कारणरूप-प्राज्ञ ही होगा जिसमें अन्तःकरणका लय होता है।

वह प्राज्ञ ही जब अपने निजालय-हृदयाकाशसे निकलकर नेत्रोंमें अपना आसन लगाता है, तब वही अपनेमेंसे अन्तःकरण और इन्द्रियादि-त्रिपुटी निकालकर जाग्रत्-प्रपञ्चको देखता है और 'विश्व' नामसे पुकारा जाता है। जब वहाँसे उपराम हो कण्ठगत हितानामा नाड़ीमें प्रवेश करता है, तब जाग्रत्-प्रपञ्च व त्रिपुटीको अपनेमें लय कर स्वप्न-त्रिपुटीको अपनेमेंसे निकालता है और स्वप्न-प्रपञ्चको देखता है तथा 'तैजस' नामसे कथन किया जाता है, वास्तवमें इन सबका अनुभव-कर्ता वह एक ही है। और वही सुषुप्तिमें दोनों अवस्थाओंके संस्कारोंको, अनुभवके साधन अन्तःकरण-इन्द्रियादिको तथा उन अवस्थाओंके दृश्योंको अपनेमें लय करके हृदयाकाशमें निजस्वरूपसे स्थित रहता है।

---

*इन्द्रियादि-प्रमाणद्वारा जिस वस्तुका ज्ञान हो वह 'प्रमेय' कहलाता है।

जैसे नटवा एक स्वाँग अपने अन्दरसे निकालकर लाता है और उस स्वाँगको अपनेमे लय कर दूसरे स्वाँगमें प्रकट होता है तथा जब अपना खेल कर चुकता है तब सब स्वाँगोको अपनेमे लय कर अपने स्वस्वरूपमे स्थित रहता है।

जाग्रत्मे स्वप्नकी स्मृति होनेका कारण यह है कि जाग्रत्-अवस्थामे वह प्राज्ञ सत्त्वगुणसम्पन्न होता है, जिससे जाग्रत्-अवस्थाके ज्ञान व व्यवहार टिकाऊ प्रतीत होते हैं और अवस्था टिकाऊ होनेसे संस्कारोका उद्बोध भी होता है। परन्तु स्वप्न-अवस्थामें वह प्राज्ञ रजोगुण करके आच्छादित रहता है, इसी-लिये उस कालमें अवस्था बड़ी चञ्चल रहती है और उस चञ्चल दशामें अन्य अवस्थाके संस्कारोंका उद्बोध असम्भव हो जाता है। जैसे तीव्र वेगसे वहते हुए जलमे जलके अन्तःस्थित मृत्तिका के परमाणुओको यदि आलोडन किया जाय तो वे जलके ऊपर आकर स्थिर रूपमे नहीं रह सकते, तत्काल वह जाते हैं; परन्तु स्थिर तालजलमें परमाणु ऊपर आकर कुछ कालके लिये टिके हुए रहते हैं। इसी प्रकार स्वप्न-अवस्था चञ्चल होनेसे उसमें संस्कारोका उद्बोध नहीं होता, उद्बोध भी हो तो स्थिरता नहीं होती, परन्तु जाग्रत्-अवस्थामे सत्त्वगुणकी प्रधानतासे संस्कारो का उद्बोध व स्थिरता दोनो होते हैं।

(४६) इस प्रकार जाग्रत्मे स्वप्नकी स्मृति होनेसे जाग्रत्को स्वप्नके प्रति कारणता किसी प्रकार सिद्ध नहीं होती, क्योंकि स्वप्न का अनुभव-कर्ता जाग्रत्-अन्त करण नहीं पाया गया, किन्तु जाग्रत् व स्वप्न दोनों ही इस प्राज्ञके खेलनेकी रङ्गभूमियाँ जानी गई। एक रङ्गभूमिमें बैठकर उसने देखा और दूसरीमें आकर स्मृति की, तो इससे उन भूमियोंमे कारण-कार्यता नहीं हो सकती, किन्तु कारणरूप तो वह खेल करनेवाला ही हो सकता है। तथा

जाग्रत्‌के संस्कारोंसे यदि स्वप्नमें कोई पदार्थ जाग्रत् जैसे देखे गये तो भी जाग्रत्‌को कारणता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि जाग्रत्-अवस्था भी उस प्राज्ञके खेलनेकी एक भूमि ही है। जाग्रत्‌के सादृश्य कोई पदार्थ स्वप्नमें देखे भी गये, तो भी इसीसे जाग्रत्‌भूमि कारणरूप नहीं हो जाती, बल्कि कारणरूप तो वह अनुभव-कर्ता प्राज्ञ ही हो सकता है। इसके इलावा पूर्वपक्षीने जो स्वप्नमें जाग्रत्-पदार्थोंकी प्रत्यभिज्ञाकी शङ्का की, सो तो सर्वथा निर्मूल ही है, क्योंकि जाग्रत्‌में जिन पुरुषोंको देखा वही पुरुष यदि स्वप्नमें आते तो प्रत्यभिज्ञा हो सकती थी। परन्तु स्वप्नसे जागकर जाग्रत्‌में उन्हीं पुरुषोंसे स्वप्नके लेन-देन व्यवहारकी चर्चा करे तो कोई भी अपनी कुछ भी साक्षी नहीं देता। इसलिये उस समय प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्ष नहीं, किन्तु प्रत्यभिज्ञा-भ्रम होता है और जाग्रत्-पदार्थोंके सादृश्य अन्य पदार्थोंकी उत्पत्ति होती है। सारांश, जाग्रत्‌में स्वप्नकी स्मृति होनेसे, अथवा स्वप्नमें जाग्रत्‌के सादृश्य पदार्थोंकी प्रतीति होनेसे जाग्रत्‌को स्वप्नके प्रति कारणता असिद्ध है। किन्तु यह दोनों ही कार्य हैं और इन दोनोंका कारण वह प्राज्ञ ही है। जाग्रत् व स्वप्न दोनोंमें परस्पर कारण-कार्यभाव मिथ्या है, क्योंकि जाग्रत्‌में स्वप्न-अन्तःकरण नहीं और स्वप्नमें जाग्रत्-अन्तःकरण नहीं; फिर उनका कारण-कार्यभाव कैसे हो?

(५०) वास्तवमें बात तो यूँ है कि स्वप्नसे जागकर जब हम जाग्रत्‌में आते हैं, तब वर्तमान-जाग्रत्‌के पदार्थ वही कदापि नहीं हो सकते जो कि पूर्व-जाग्रत्‌में थे, किन्तु पूर्व-जाग्रत्‌के सजातीय अन्य ही पदार्थ वर्तमान-जाग्रत्‌में होते हैं। क्योंकि देश, काल व वस्तु अन्योऽन्याश्रयरूप होनेसे व ज्ञान-समकालीन होनेसे उनमें स्थिरता कदाचित् होती नहीं है। इसलिये वही ये पदार्थ कदाचित् नहीं रह सकते, परन्तु उन पूर्व-जाग्रत्‌के सजातीय वर्तमान-

पदार्थोंमें प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्षका भ्रम हो जाता है कि वही ये पदार्थ हैं जो पूर्व-जाग्रत्‌मे थे। वास्तवमे तो सब ही प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्ष भ्रमरूप ही हैं, परन्तु निरन्तर प्रतिदिन भ्रमकी दृढ़ता करके कि 'वही ये पदार्थ हैं, वही ये पदार्थ हैं', इस प्रत्यभिज्ञा-भ्रममें ही सत्यत्वबुद्धि स्थिर हो जाती है। इसका रहस्य यह है :—

अज्ञानद्वारा मिथ्या जाग्रत्‌अनुभवमें सत्यबुद्धि धारकर जब हम अन्य अवस्थामे जाते हैं, तब उन अनुभवजन्य संस्कारोको सत्यरूपसे ग्रहण करके अपने अन्तर ले जाते हैं। उस अवस्थासे उठनेके उपरान्त उत्तर-जाग्रत्‌में फिर वे ही संस्कार उद्बुध होकर उन पूर्व पदार्थोंके सजातीय अन्य पदार्थ सम्मुख खड़े कर देते हैं, क्योंकि संस्कार ही उन पदार्थोंके हेतु हैं। अधिष्ठानरूप परमात्मा तो सम व चेतन है और सर्वसाक्षी है, इसलिये जैसा-जैसा संस्कारोंका उद्बोध होता है, वैसी-वैसी ही प्रतीति वह अपने आश्रय करा देता है। जैसे जब-जब दर्पणमें हम अपना मुख देखते हैं तब-तब उसमे सजातीय मुख ही प्रतीत होता है, परन्तु दर्पणके अज्ञानसे पूर्व संस्कारोंके आवेशमे आकर सजातीय मुख मे तत्ता-भ्रम हो जाता है कि वही यह मुख है जो कल देखा था। तैसे ही अधिष्ठान-चेतनके अज्ञानसे पूर्व संस्कारोंके आवेशमे सजातीय जाग्रत्‌मे जीवको तत्ताका भ्रम हो जाता है कि वही यह जाग्रत्-प्रपञ्च है जो कल देखा था, क्योंकि जैसा-जैसा उस अधिष्ठानके आश्रय संकल्प होता है तथा जैसा-जैसा संस्कारोंका उद्बोध होता है, वैसा-वैसा ही सिद्ध होता है। इस रीतिसे अनुभवमें सत्यत्वबुद्धिसे संस्कारोंमे सत्यता और संस्कारोमे सत्यत्वसे अनुभवमें सत्यताका प्रवाह चल पड़ता है। इस प्रकार अनुभवजन्य उद्बुध-संस्कार मिथ्या पदार्थोंमे सत्यबुद्धि और भी दृढ़ कराते चले जाते हैं। प्रकृतिमें यदि संस्कारोंका उद्बोध

न होता तो पदार्थोंमें सत्यता-प्रतीति ही न होती, परन्तु संस्कारों के उद्बोध करके ही 'वही ये पदार्थ हैं' ऐसा सजातीय वस्तुओंमें प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्षका भ्रम होता रहता है। इससे स्पष्ट हुआ कि सजातीय वस्तुओंमें प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्षका भ्रम ही जीवके अहं-ममत्व रूपसे बन्धनका मूल है। यदि अहन्ता-ममताके विषय सजातीय पदार्थोंमें प्रत्यभिज्ञा-भ्रम न होता तो जीवके लिये कदापि कोई बन्धन ही नहीं था।

(५१) इस प्रकार जाग्रत्-प्रपञ्चमें सत्यताकी भ्रान्ति दृढ़ हो जानेसे इसके विपरीत स्वप्न-प्रपञ्चमें असत्य-निश्चय स्वाभाविक हो जाता है। असत्य-निश्चयके कारण ही स्वप्नके अनुभवजन्य संस्कार दृढ़ व स्थिर नहीं रहते और इसीसे न पुण्य-पापके जनक ही होते हैं। इसी कारण स्वप्नसे जागकर स्वप्नकी स्मृति कुछ कालके लिये तो रहती है फिर विस्मृत हो जाती है। जिस प्रकार बाल्या-वस्थासे लेकर वृद्धावस्थापर्यन्त प्रत्येक मनुष्यको अपने जीवनकी चेष्टाओंकी स्मृति ज्यूँ-की-त्यूँ रहती है, उसी प्रकार ऐसा मनुष्य कोई नहीं जो एक मासके स्वप्नोंकी भी स्मृति रखता हो।

(५२) इस रीतिसे जाग्रत व स्वप्नमें कोई भेद नहीं है। जिस प्रकार स्वप्नके कर्ता-भोक्ता व भोग्य मिथ्या हैं और इस जीवके स्वरूपमें कोई विकार नहीं करते, उसी प्रकार जाग्रत्‌के कर्ता-भोक्ता, भोग्य व पुण्य-पापादि अत्यन्त असत्य हैं। परन्तु केवल उन सजातीय वस्तुओंमें प्रत्यभिज्ञात्व-भ्रम करके कि 'वही मैं हूँ और वही ये पदार्थ हैं' असत्यमें सत्य-बुद्धिके कारण ही यह जीव कर्तृत्व-भोक्तृत्वके बन्धनमें बन्धायमान हो जाता है और मिथ्या कर्तृत्व-अभिमान करके मिथ्या कर्म-संस्कारोंसे बँधा हुआ आप

ही 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे शयनम्' के चक्रमे पड़ जाता है। आप ही संसारको अपने अन्दरसे निकाला परन्तु इसको न जानकर कि यह संसार मेरा ही चमत्कार है, अपने अज्ञानद्वारा आप ही इसमे भेदबुद्धि की तथा उस भेद-बुद्धि के प्रभावसे अनुकूल-प्रतिकूल ज्ञानद्वारा राग-द्वेप व पुण्य-पापके चक्रमे भ्रमने लगा। जैसे मकड़ी आप ही अपने अन्दरसे जाला निकालकर आप ही उसमें फँस मरती है। धन्य है! इस मायाकी विचित्रताको जिसने बाजीगरके बन्दरकी भाँति अजर-अमरको जरा-मरणके कल्पित-बन्धनमे बाँध लिया। जाग्रत् व स्वप्नमें भेद तो तब हो जब कि जाग्रत्-प्रपञ्च कुछ बाहर बना हो; परन्तु वस्तुतः बाह्य कुछ भी नहीं है, केवल फलोन्मुख सूक्ष्म-संस्कार ही साक्षी-चेतनकी सत्तासे स्थूलाकारमें बाह्य प्रतीत होते हैं। जैसे सिनेमाके खेलमें फिल्मके ऊपर अङ्कित सूक्ष्म आकार विद्युतकी सत्तासे बाहर पड़देपर स्थूलरूपमें बिना हुए ही प्रतीत होते हैं तथा जैसे स्वप्न-प्रपञ्च अपने संस्कारोंके अनुसार अन्तःस्थित ही अपनेसे भिन्न बाह्य प्रतीत होता है। सारांश, जाग्रत् व स्वप्नमें कोई भेद नही है, यह जीवात्मा आप ही अपनी कल्पित अविद्यासे बन्धायमान हुआ आप ही जाग्रत्-स्वप्न प्रपञ्चकी रचना करता है और अपने अज्ञान करके इनमें सत्य-असत्यकी कल्पना करता है तथा अपनेसे भिन्न जान असत्यमे सत्यबुद्धि करके मिथ्या कर्तृत्वाभिमानद्वारा अपनी प्रकृतिसे बँधा हुआ जन्म-मरणके प्रवाहमें बहा चला जाता है। परन्तु जब सद्गुरु व सच्छास्त्रकृपा और अपने पुरुषार्थद्वारा अपने वास्तविक स्वरूपका साक्षात्कार कर लेता है, तब अविद्याके बन्धनसे मुक्त हुआ ज्यूँ-का-त्यूँ शिवस्वरूप ही रहता है और आकाशके समान अपनेमें किसी प्रकारका कोई लेप नहीं देखता।

(५३) इस प्रकार यह जीव वस्तुतः शिवरूप होते हुए भी अज्ञानरूपी मदिराको पान करके मिथ्या पुण्य-पापके आवेशसे आप ही अपने लिये स्वर्ग-नरककी रचना करता है। यहाँ प्रश्न होता है कि जब सर्व कर्ता-धर्ता यह आप ही है, तब दुःख की इच्छा तो कोई भी नहीं करता, इसलिये सर्पादि नीच योनियों की प्राप्ति तो किसीको भी नहीं होनी चाहिये। यद्यपि यह सत्य है, तथापि जैसे बड़े-बड़े धनी पुरुष मदिरादिके आवेशमें आये हुये न करनेयोग्य भी अपने लिये करना पसन्द करते हैं, उसी प्रकार यह आत्मदेव मिथ्या कर्तृत्वाभिमानद्वारा अनिष्ट कर्मोंके प्रभावसे अपने लिए न करनेयोग्य भी करना पसन्द करता है और अरुचिकरमे भी रुचि करता है। यह सब हमारी अपनी ही कल्पना नहीं स्वयं भगवान्‌के वचन इसकी साक्षी देते हैं :—

वसिष्ठमत, वाचस्पतिमत और एक जीववाद निरूपण तथा उक्त तीनों मतोंकी परस्पर संगति,

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥
नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥

(गी अ. ५ श्लो. १४-१५)

अर्थ :—परमेश्वर तो वास्तवमें भूत-प्राणियोंके न कर्तापनको, न कर्मोंको और न कर्म-फल-संयोगको ही रचता है, किन्तु परमात्माकी साक्षीमें स्वभाव (प्रकृति) ही इन सब व्यापारोंमे वर्त रहा है। सर्वव्यापी परमात्मा तो न किसीके पाप कर्मको ही ग्रहण करता है और न शुभ कर्मको, किन्तु अज्ञानद्वारा वह ज्ञानस्वरूप परमात्मा ढका हुआ है, इसी अज्ञानसे सर्व जीव मोहित हो रहे हैं (और कर्ता-कर्तव्यादिके चक्रमें पड़े भ्रमते हैं)।

इस अज्ञान करके ही जीव अपनेको कर्मोंका कर्ता और भगवान्‌को फलप्रदाता मानता है। वास्तवमें तो अपने अज्ञान करके क्या *प्रमाता, क्या †प्रमाण, क्या ‡प्रमा और क्या देश-काल-वस्तुरूप प्रमेय, सर्व प्रपञ्चको स्वप्नवत् एक साथ अपने भीतरसे ही निकालता है, इनमें कारण-कार्यभाव कोई नहीं। परन्तु इस तत्त्वको न जान अपनेसे भिन्न ईश्वररूप व्यक्ति-विशेषको इस सर्व प्रपञ्चका रचयिता मानता है और 'मैं और हूँ यह और है' इस भेदबुद्धि करके अनहुए कर्तृत्व-भोक्तृत्व-अभिमानको अपनेमें धार लेता है। प्रकृतिमें यह नियम है कि कर्तृत्व-अभिमानके साथ ही पुण्य-पापका बन्धन होता है, कर्तृत्वाभिमान आया कि विधि-निषेध व पुण्य-पापका बन्धन उसपर लागू हुआ। इस प्रकार अपनी ही रची हुई नीतिसे बन्धायमान हुआ यह आत्मदेव आप ही घटीयन्त्रके समान अध-ऊर्ध्व भटकता फिरता है।

सो मायावश भयउ गुसाईं। बँध्यो कीर मरकटकी नाईं॥

अर्थात् सो जीवात्मा आप ही अपनी मायाके वश होकर इसी प्रकार बन्धायमान हो गया है जैसे +बन्दर और ×तोता अपने अज्ञान करके आप ही बँध जाते हैं।

---

* अन्तःकरणविशिष्ट चेतनका नाम 'प्रमाता' है।

† इन्द्रियादि ज्ञानकी सामग्रीको 'प्रमाण' कहते हैं, अर्थात् प्रमा-ज्ञानके साधनको 'प्रमाण' कहते हैं।

‡ व्यवहारिक सत्ताके यथार्थ ज्ञानका नाम 'प्रमा' है।

+ बन्दर जिस प्रकार अपने अज्ञानसे बन्धायमान होता है, वह प्र खं.पृ.६०, ६१ पर देखो।

× तोतेको चिड़ीमार इस युक्तिसे पकड़ते हैं कि एक थोथे बाँसकी पोरी बारीक रस्सीमें पिरोकर रस्सीके दोनों भाग वृक्षोंसे बाँध देते हैं और पोरीके ऊपर कुछ रुचिकर चुग्गा रख देते हैं। तोता उसको खानेके लिए जब बाँसकी पोरीके ऊपर बैठता है, तब उसके भारसे पोरी घूम जाती है और ऊपरका भाग नीचेको आ जाता है। तोता तब भय करके पोरीके साथ नीचेको लटक

(५४) उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध हुआ कि अनुभवसे संस्कार और संस्कारसे अनुभवकी सत्यताका प्रवाह अज्ञान करके चल पड़ता है और इस सत्यबुद्धिसे कर्ता-भोक्तापन तथा कर्ता-भोक्तापनसे सत्यबुद्धि परस्पर दृढ़ होती चली जाती है। इस प्रकार अनहुए कर्तृत्वाभिमान करके इस मिथ्या प्रवाहमें पड़ा हुआ यह जीव तृणके समान भटकता फिरता है, कहीं विश्राम नहीं पाता। इस स्थलपर फिर स्वाभाविक ही यह प्रश्न होता है कि मिथ्यामें सत्यबुद्धि हुई तो क्योंकर ? और आप ही अपने गलेमें यह बन्धन डाला गया तो क्योंकर ? इसका रहस्य यह है कि मायाके राज्य में द्रष्टा-जीव (अविद्या-विशिष्ट-चेतन) ही दृश्यरूप परिणामको प्राप्त होता है, जैसे मृत्तिका ही घटादि परिणामको प्राप्त होती है। आप ही देखनेवाला होता है और आप ही देखे जानेवाला, आप ही ज्ञाता होता है और आप ही ज्ञेय। जैसे रज्जुमें अविद्या-वृत्ति आप ही सर्पाकार और आप ही ज्ञानाकार परिणामको प्राप्त होती है, अथवा जैसे स्वप्नमें यह जीव आप ही ज्ञानाकार व विषयाकार रूपको धारण करता है, अथवा जैसे दर्पणमें वृत्ति आप ही मुखाकार व ज्ञानाकार होती है। ठीक, इसी प्रकार यह द्रष्टा-जीव ही जाग्रत्में ज्ञानाकार व विषयाकार परिणामको प्राप्त होता है। अर्थात् यह 'प्राज्ञ' जीव ही 'विश्व' रूपमे परिणत होता है और अपनी दृष्टिमात्रसे अन्तःकरणको प्रमाता और इन्द्रियों को प्रमाणता का प्रमाणपत्र देता है। सूर्यको प्रकाश, चन्द्रमाको शीतलता, अग्निको उष्णता और जलको द्रवता प्रदान करता है। आकाशमें शून्यता, वायुमें स्पन्दता, पृथ्वी व पहाड़ोंमें जड़ता सिद्ध करनेवाला यह आप ही है। रूपोंको सौन्दर्य, फूलोंको सुगन्ध,

---

जाता है, अपने पञ्जोंसे आप ही पोरीको पकड़ लेता है और जानता है कि मुझे किसीने पकड़ लिया है। इतनेमें चिड़ीमार आकर उसको पकड़ ही लेता है।

शब्दों व रसोंको माधुर्य और स्पर्शोंको कोमल आप ही बनाता है। रेलोंको सरसर, जहाजोंको झर-झर और तारोंको फर-फर आप ही उड़ाता है। बुल्बुलोंमें चहचहाट, सिंहोंमें दहाड़, हाथियों में चिंहाड़ देने-दिलानेवाला भी यह आप ही है। इस प्रकार अपनी दृष्टिमात्रसे सबको सब कुछ लुटा देनेवाला तो यह आप ही है, परन्तु अपने अज्ञान करके आप ही अपनी दृष्टिपर मोहित हो गया। शोक! महाशोक!!

तेरी ही तेग तुझे दे गई चिरका क़ातिल।
हो गया तू अपनी ही आप अदा पे बिस्मिल॥

आया तो था इन सब रूपोंमें 'सोऽहं' 'सोऽहं' का गीत गाने, परन्तु अज्ञानके नशेमें अपने-आपको भूल 'कोऽहं' 'कोऽहं' का स्यापा करने लग पड़ा। जो कुछ देखता है वह सब आप ही बना है, परन्तु उस सब दृश्यको अपनेसे भिन्न जान विस्मयको प्राप्त होता है।

* † ‡ +
आइना मुक़ाबिले रुख़ जो रखा, झट बोल उठा यूँ अक्स उसका।
क्यों देखके हैरान यार हुआ? तुम और नहीं हम और नहीं॥

इस प्रकार जब अपने जाग्रत् व स्वप्नके स्यापेसे थक पड़ता है, तब अपने निजालय-सुषुप्तिमें आप ही अपनी सब दृष्टियों व दृश्योंको लयकर अपने-आपमें विश्राम करता है। यही प्रकृतिकी साम्यावस्था है जिससे विषमरूप त्रिगुणमय संसार निकल पड़ता है। यही मूलाज्ञान है, यही कारण-शरीर है, जिससे स्थूल-सूक्ष्म प्रपञ्चकी उत्पत्ति होती है। वास्तवमें तो यह प्राज्ञ चेतन-स्वरूप साक्षी ही है, परन्तु अविद्यमान अविद्याके सम्बन्ध करके साक्ष्यरूप परिच्छिन्न-अहङ्कारमें आप ही आत्मबुद्धि करने लगा

* दर्पण। † सम्मुख। ‡ मुँह। + प्रतिबिम्ब।

और इसको सत्य जानने लगा। चूँकि आप ही 'अहं' से 'त्वं' रूप दृश्यमें परिणत होकर आया है, इसलिये कारणरूप परिच्छिन्न-अहंमें सत्यबुद्धि होनेसे कार्यरूप दृश्यको भी सत्य मानने लगा। दृश्यमें सत्यता कहीं बाहरसे नहीं आई, अपने परिणाम करके दृश्यको सत्यता प्रदान करनेवाला यह आप ही है और जब मनोनाश, वासनाक्षय व तत्त्व-विचारद्वारा कल्पित-साक्षरूप परिच्छिन्न-अहंसे निकलकर अपने साक्षी-स्वरूपमे झंडे जमा देवे तब न अहं रहे न त्वं, न द्रष्टा रहे न दृश्य।

(५५) अब हम इस सिद्धान्तपर आये हैं कि 'जो कुछ तू देखता है वह तू ही है।' भगवान् वसिष्ठ हमारे इस सिद्धान्तकी सत्यतामें मुक्तकण्ठसे अपनी साक्षी देते हैं और अपने ग्रन्थ योग-वासिष्ठमें स्थान-स्थानपर पुकारकर कहते हैं :—

"हे राम ! पृथ्वीके परमाणु असंख्य हैं। उन परमाणुवोंकी संख्या चाहे कोई कर भी लेवे, परन्तु सृष्टियोंकी संख्या करनेमें कोई समर्थ नहीं। जीव-जीव प्रति अपनी-अपनी सृष्टि है, जितने जीव है उतनी ही सृष्टियाँ हैं। अनन्त-चेतनका ऐसा कोई अणु नहीं जहाँ सृष्टि न हो। जैसे जहाँ जल है वहाँ तरङ्ग भी है, तरङ्गा-यमान होना जलका स्वभाव है, तैसे ही चेतनके आश्रय सृष्टिरूप तरंगें स्वाभाविक फुरती है। परन्तु जैसे जलसे भिन्न तरङ्गका और कोई रूप नहीं है, अपनी फुरना ही भ्रम करके तरङ्गरूप हो भासती है, तैसे ही आत्मासे भिन्न सृष्टिका और कोई रूप नहीं है। अपनी फुरना ही अज्ञान करके संसाररूप हो भासती है, वास्तवमे सृष्टिरूप संसार कुछ उपजा नहीं।"

(५६) वाचस्पति-मिश्र भी हमारे इसी सिद्धान्तकी साक्षी देते हैं। उनका मत है कि जितने जीव है उतने ही ब्रह्माण्ड हैं और उतने ही ईश्वर हैं। आशय यह है कि ब्रह्माण्ड-रचना जीव

की अपनी कल्पना है। वह आप ही ब्रह्माण्डकी कल्पना करता हुआ, इसको न जानकर कि यह सब मेरा ही खेल है, अपनेसे भिन्न किसी व्यक्तिविशेष अन्य देवको इसका रचयिता जानता है।

विवरणकारका मत है कि जैसे दर्पणके सन्निधानसे मुखका प्रतिबिम्ब दर्पणमें प्रतीत होता है और दर्पणस्थ-मुखमें प्रतिबिम्बत्व-धर्मकी कल्पना करके ही ग्रीवास्थ-मुखमें बिम्बत्व-धर्म कल्पना किया जाता है, अर्थात् एक ही मुखमें बिम्बत्व-प्रतिबिम्बत्व धर्म की कल्पना दर्पणके सम्बन्धसे है, दर्पणके बिना शुद्ध मुखमें न बिम्बत्व है और न प्रतिबिम्बत्व, केवल ज्यूँ-का-त्यूँ मुख ही है। इसी प्रकार एक ही चेतनमें जो जीवत्व और ईश्वरत्व-धर्मकी प्रतीति होती है, सो दर्पणस्थानीय अज्ञानकी उपाधिके सन्निधानसे ही है, वस्तुतः जीवत्व व ईश्वरत्व-धर्म दोनों ही मिथ्या हैं। अज्ञान-रूप उपाधिके बाध हुए न जीवत्व-धर्म रहता है और न ईश्वरत्व, केवल शुद्ध चेतन अपने-आपमें ज्यूँ-का-त्यूँ ही शेष रहता है। इस रीतिसे अज्ञानरूप उपाधिके सद्भाव करके अज्ञानदेशमें प्रति-बिम्बित चेतन ही अपनेमें जीवत्वकी कल्पना करता हुआ, बिम्ब-रूप-चेतनमें ईश्वरत्वकी कल्पना करता है।

(५७) शङ्का :—तुमने यह तो विचित्र वार्ता कथन की, तुम कहते हो जितने जीव हैं उतने ही ब्रह्माण्ड हैं और जीव-जीव प्रति अपनी-अपनी सृष्टि है। तुम्हारे यह वचन तो किसीके भी अनुभवमें आरूढ़ नहीं हो सकते। वर्तमान ब्रह्माण्डमें असंख्य जीव हैं, फिर तुम्हारे कथनके अनुसार तो असंख्य ही ब्रह्माण्डों की प्रतीति होनी चाहिये। परन्तु सभी जीव एक मुख होकर एक ही ब्रह्माण्डको सम्मुख देख रहे हैं। तथा तुम कहते हो 'जीव-जीव प्रति अपनी-अपनी सृष्टि है', यदि ऐसा ही हो तो यह घट जो सम्मुख देशमें रक्खा है और सभी मनुष्य इस एक ही घटकी

स्थितिको सिद्ध कर रहे हैं, ऐसा नहीं होना चाहिए, बल्कि जितने द्रष्टा हैं उतने ही घट मिलने चाहियें। इस प्रकार घटके दृष्टान्तसे सभी वस्तुओंको जान लेना।

(५८) समाधान :—हमारे ये वचन सर्व साधारणके लिए नहीं हैं। सर्व साधारण इन वचनोके अधिकारी नहीं हो सकते; किन्तु जो साधन इस लेखमें आरम्भसे निरूपण किये गये हैं वे भली-भाँति जिनके हृदयमें उतरे हैं, इस प्रकार जिनके अन्तःकरणसे मल-विक्षेप निवृत्त हुए हैं, जो साधन-चतुष्टय-सम्पन्न हैं और जिनकी वैराग्यवती बुद्धि कुतर्क, दुराग्रह व मन्दतादि दोषों से निर्दोष होकर तीक्ष्ण हुई है, ऐसे उत्तम अधिकारी ही इन वचनोंके पात्र हो सकते हैं। इन वचनो करके वे शोभायमान होंगे और उन करके ये वचन शोभायमान होंगे।

अब देखो, संसारमे 'प्रकृतीनां वैचित्र्यम्' व 'रुचीनां वैचित्र्यम्' तो प्रसिद्ध हैं ही, अर्थात् अपनी-अपनी प्रकृति और अपनी-अपनी रुचि भिन्न-भिन्न होती है। संसारमे चिउँटीसे लेकर ब्रह्मा-पर्यन्त वृक्ष, तिर्यक्, मनुष्य, देव, पितर सम्पूर्ण योनियोंमे प्रकृति व रुचिका भेद व्यक्तिगत देखनेमें आता है। अर्थात् तिर्यक्-मनुष्यादि सम्पूर्ण योनियोंमें चाहे अपनी-अपनी जातिका भेद न हो, जाति उनकी एक ही हो, तथापि समान जाति रहते हुए भी व्यक्तिगत प्रकृति व रुचिका भेद अवश्य रहना चाहिए, जिससे जीव-जीव प्रति अपनी-अपनी सृष्टि होना ही प्रमाणित होता है। संसारभरको खोज देखो, ऐसी कोई दो व्यक्ति न मिलेंगी जिनमे आकृति, प्रकृति व रुचिकी समता देखनेमें आवे, किन्तु व्यक्तिगत भेद अवश्य रहना ही चाहिये।

(५९) एक जाति रहते हुए आकृति व प्रकृतिका भेद उद्भिज्ज-योनिमें भी पाया जाता है। आकृतिभेद तो स्वाभाविक ही है

किन्हीं भी दो उद्भिज्जोंका रूप एक जैसा न हुआ है, न होगा। प्रकृति-दृष्टिसे भी कोई आम्रफल खट्टा है तो कोई मीठा, कोई बडा कोई छोटा, कोई अधिक उष्ण कोई सामान्य उष्ण। इस प्रकार सब जातिवाले उद्भिज्जोंमें आकृतिक व प्राकृतिक भेद प्रमाणित हो सकता है। जब कि उन योनियोंमें भी, जिनमें केवल अन्नमय कोशका ही विकास है और प्राणमय-मनोमयादि कोशका अभी विकास नहीं हुआ, आकृतिक व प्राकृतिक भेद पाया गया, तब जिन योनियोंमें प्राणमय व मनोमयादि कोश भी विकसित हुऐ हैं, उनमें व्यक्तिगत आकृति, प्रकृति व रुचिका भेद हो, इसमें आश्चर्य ही क्या है? अण्डज-योनिवाले कपोत-मयूरादिमें व्यक्तिगत प्रकृति व रुचिका भेद स्पष्टरूपसे प्रमाणित होता है। आकृतिका भेद तो निर्विवाद है ही, मनुष्य उनके झुण्डके झुण्ड पालते हैं, उस झुण्डमें देखा जाता है कि किसीमें प्रेमका विकास अधिक होता है, कोई अधिक पालतू होते हैं कोई न्यून। कोई-कोई साधने से ऐसे भी सध जाते हैं, जिनके द्वारा दूतकार्य भली-भाँति लिया जाता है। तोते, मैना आदि पक्षियोंमें देखा जाता है कि किसी की प्रकृति स्वभाविक क्रूर होती है और किसीकी शान्त। जरायुज-योनिमें जहाँ कुछ बौद्धिक विकास हो आता है, वहाँ कुत्ते, गौ, अश्वादिमें तो प्रकृति व रुचिका व्यक्तिगत भेद स्पष्ट ही है; किसीमें क्रोध, किसीमें शान्ति, किसीमें राग, किसीमें द्वेष, किसी में कला-कौशलकी न्यूनता और किसीमें अधिकता स्पष्ट रूपसे पाई जाती है। तथा मनुष्य, देव, पितरादिमें जहाँ बुद्धिका पूर्ण विकास है, वहाँ तो आकृति, प्रकृति व रुचिका भेद निर्विवाद ही है, क्योंकि सर्व भेदोंके मूलमें निमित्तरूप विकासको प्राप्त हुई संसारी बुद्धि ही है।

(६०) शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गन्ध पञ्च विषयरूप ही

संसार है। पञ्च विषयोंको छोड़कर देखें तो संसारकी गन्धमात्र भी नहीं मिलती। इन पञ्च विषयोंमें भी विलक्षणताप्रतीति स्वाभाविक है। सूर्य जो सबके लिए प्रकाशरूप व तेजपुञ्ज है, उलूक और चमगादड़ आदि पक्षियोंके लिए अन्धकारका गोला है। सर्व साधारणके लिये सूर्य सुखदाई है, परन्तु सिंह-व्याघ्रादि व चोरादिके लिये दुःखदाई है। चन्द्रमा जहाँ सबको सुखदाई व शीतल है, वहाँ चकवा-चकवी पक्षीको दुःखदाई और विरही पुरुषोंके लिये दाहक है। अग्नि सबकी दृष्टिसे उष्ण स्पर्श है, परन्तु अग्निकीटके लिये शीतल है। निम्बवृक्ष जो सबके लिये कटु है, ऊँट-बकरीके लिये मधुर है। मल-मूत्रादि जो सबके लिये दुर्गन्ध है, वही विष्टाकीट और चाण्डालके लिये दुर्गन्धरहित सिद्ध होता है। जो शब्द एकके लिये प्रिय है वह अन्यके लिये भयङ्कर बन जाता है। सिंहका शब्द सिंहके लिये प्रिय है, परन्तु दूसरोंके लिये भयङ्कर। सम्मुख देशमें स्थित घट चिउँटीके प्रत्यक्ष-प्रमाणमें पर्वततुल्य है, परन्तु हाथीके प्रत्यक्ष-प्रमाणमें अत्यन्त तुच्छ है। इसी प्रकार शब्दभेद, स्पर्शभेद, रूपभेद, रसभेद व गन्धभेद स्पष्ट प्रमाणित होता है।

(६१) यदि सृष्टि एक ही होती तथा किसी एक ही व्यक्तिद्वारा रची गई होती, तो इस प्रकारकी विलक्षणता प्रकट न होनी चाहिये थी। उष्ण वस्तु उष्ण ही रहनी चाहिये थी, शीतल शीतल ही, प्रकाश प्रकाश ही रहना चाहिये था, अन्धकार अन्धकार ही, कटु कटु ही रहना चाहिये था, मिष्ट मिष्ट ही। परन्तु इसके विपरीत जो एकके लिये उष्ण है वह दूसरेके लिये शीतल, जो एकके लिये प्रकाश है वह दूसरेके लिये अन्धकार, जो एकके लिये कटु है वह अन्यके लिये मिष्ट और जो वस्तु एककी दृष्टिमें पर्वत-परिमाण है वह दूसरेकी दृष्टिमें तुच्छ-परिमाण। प्रमाज्ञानके

साधन प्रत्यक्ष-अनुमानादि षट प्रमाण ही शास्त्रकारोंने अङ्गीकार किये हैं, जिनमे प्रत्यक्ष-प्रमाणको सब शास्त्रकारोंने शेष सब प्रमाणोंका राजा अङ्गीकार किया है। अर्थात् प्रत्यक्ष-प्रमाणके बिना अन्य किसी भी प्रमाणकी सिद्धि हो नहीं सकती। परन्तु उपर्युक्त रीतिसे श्रौत, चाक्षुष, त्वाच, रासनादि सभी प्रत्यक्ष अनिश्चित हैं। एकके प्रत्यक्ष-प्रमाणमे जो वस्तु जैसी अनुभव हुई, अन्य अपने प्रत्यक्ष-प्रमाणमें ही उसी वस्तुको अन्य रूपसे प्रमाणित करता है। जो एक ही रचयिता एक ही सृष्टि इतनी विचित्र स्वभाव रचना करे, ऐसा रचयिता प्रमादी ही कहा जायगा। इस प्रकार प्रत्येक जातिगत व व्यक्तिगत आकृति, प्रकृति व रुचि का भेद तथा द्रव्य व गुणकी विलक्षणता ही जीव-जीव प्रति अपनी-अपनी सृष्टिको सिद्ध कर रही है। जो चेष्टा एकके लिये पुण्य है वह दूसरेके लिये पाप और जो एकके लिये पाप है वह दूसरेके लिये पुण्य सिद्ध हो जाती है। कोई धनमे सुख ढूँढ रहा है तो कोई पुत्र-स्त्रीमें, कोई राज्यमें सुख ढूँढ रहा है तो कोई त्यागमें। इस प्रकार कोई एक वस्तु सबके लिये सुखरूप व दुःख-रूप प्रमाणित नहीं होती। कहावत है, किसीको बैंगन भेषज है और किसीको कुपथ्य। अजी! सृष्टिका और तो कोई निमित्त है ही नहीं, केवल अपने-अपने कर्म-संस्कार ही भोगके लिये स्थूल आकार धारकर सृष्टिके रूपमें प्रकट होते हैं तथा कर्मोंके अनुसार ही प्रकृति और प्रकृतिके अनुसार ही कर्म होते हैं। इस प्रकार जब कि जीव-जीवकी प्रकृति भिन्न-भिन्न है और कर्म भिन्न-भिन्न हैं तब सृष्टिकी एकता कैसे सम्भव हो सकती है?

(६२) एक ही स्त्री पतिके लिये पत्नीरूपसे, पुत्रके लिये माता-रूपसे; माताके लिये पुत्रीरूपसे, भाईके लिये भगिनीरूपसे, श्वशुर के लिये पुत्रवधूरूपसे ग्रहण होती है। एक ही पुरुष पत्नीके लिये

पतिरूपसे, पुत्रके लिये पितारूपसे, माताके लिये पुत्ररूपसे, भाई के लिये भ्रातारूपसे, श्वसुरके लिये जामातारूपसे इत्यादिक अनेक सम्बन्धोंसे एक ही वस्तु ग्रहण होती है। एक ही वस्तुमे भिन्न-भिन्न सम्बन्धोंके भेद, रूपभेद, गुणभेद, व्यवहारभेद, मात्राभेद, अनुकूलता-प्रतिकूलताभेद, पाप-पुण्यभेद, रुचिभेद, राग-द्वेषादिभेद जीव-जीव प्रति अपनी-अपनी सृष्टिको ही स्पष्ट प्रमाणित करते हैं। एक ही स्त्रीके साथ पिताका कुछ व्यवहार है और पतिका कुछ और, तथा एक ही व्यवहार एक ही वस्तुमें एकके लिये अनुकूल व पुण्यरूप है तो दूसरेके लिये प्रतिकूल व पापरूप। कहाँ तक स्पष्ट किया जाय, इत्यादि बातोंसे अपनी-अपनी सृष्टिकी विलक्षणता सिद्ध नहीं होती तो और क्या सिद्ध होता है? एक ही क्षणमें कोई हँस रहा है, कोई गा रहा है, कोई लड़ रहा है, कोई झगड़ रहा है, कोई रो रहा है, कोई सो रहा है, कोई सोच रहा है, कोई खाता है, कोई पीता है, किसीकी दृष्टि किसीसे लड़ी है और किसीकी कहीं अड़ी है। एक ही क्षणमें जब असंख्य भिन्न-भिन्न विलक्षण क्रियाएँ हो रही हैं, फिर सृष्टि एक कैसे हुई?

(६३) उपर्युक्त व्याख्यासे कमसे कम अपनी-अपनी मानसिक सृष्टिकी विलक्षणता तो स्पष्ट हो चुकी। अब अधिभौतिक-सृष्टिके सम्बन्धमें तुम्हारी यह शङ्का भी कि 'यदि सृष्टि अपनी-अपनी होती तो सम्मुख देशमें स्थित एक ही घटकी सबको उपलब्धि न होती, किन्तु जितने द्रष्टा हैं उतने ही घट सम्मुख देशमें मिलने चाहियें' सर्वथा निर्मूल है। यदि हमारे मतमें सृष्टिकी उत्पत्ति होती तब तुम्हारी इस शङ्काका कुछ मूल्य हो सकता था, क्योंकि यदि सृष्टिकी उत्पत्ति अङ्गीकार होती तो जो देश एककी सृष्टिसे निरुद्ध है, उसी देशमें अन्यकी सृष्टिको अवकाश नहीं मिल सकता था, इसलिये जितने द्रष्टा हैं उतने ही घटोंकी उपलब्धि

सम्मुख देशमें असम्भव थी। परन्तु हमारे मतमे तो सृष्टि की उत्पत्तिका अङ्गीकार ही नहीं, उत्पत्तिस्वरूप सृष्टि नहीं किन्तु प्रतीतिमात्र ही सृष्टि है। अर्थात् किसी आरम्भ-परिणाम करके सृष्टिकी उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु दृष्टिमात्र ही सृष्टि होती है। इस प्रकार सम्मुख देशमें स्थित जो घट है वह उत्पन्न नहीं हुआ, बल्कि द्रष्टा-पुरुषोंकी अपनी-अपनी दृष्टि ही घटाकार हो रही है और स्वप्नवत् उनकी अपनी दृष्टिमात्र ही घट है। क्योंकि पाञ्च-भौतिक सर्व सृष्टियाँ देश-काल-वस्तुपरिच्छेद्य हैं और जैसा पीछे अङ्क ६ से २६ में निरूपण किया गया है, इन त्रिविध-परिच्छेदों की उत्पत्ति सिद्ध नहीं हुई, किन्तु ये प्रतीतिमात्र ही पाये गये। इसीलिये सम्मुख देशमें स्थित जो घट है वह उत्पन्न नहीं हुआ, किन्तु अपनी-अपनी सृष्टिमें दृष्टिमात्र ही घट जाना गया। और यह नियम है कि एककी दृष्टिका दूसरेकी दृष्टिसे कोई विरोध नहीं होता; जैसे दस पुरुष किसी एक ही स्थानमे सोये हुए हों और अपने-अपने स्वप्नमें विरोधी स्वभावकी भिन्न-भिन्न सृष्टियाँ रच रहे हों, तो एककी सृष्टि दूसरेकी सृष्टिका न देश निरोध करती है और न विरोध ही करती है, क्योंकि वह दृष्टिमात्र ही सृष्टि है। एक की सृष्टिमें प्रचण्ड अग्नि लग रही हो, दूसरेकी सृष्टिमे प्रचण्ड पवन चल रहा हो और तीसरेकी सृष्टिमें प्रलय कालका जल उमण्ड रहा हो, तो एक सृष्टिकी वायु दूसरी सृष्टिकी अग्निका न सहायक है और न तीसरी सृष्टिका जल उस अग्निका बाधक। अपनी दृष्टि तो अपने लिये बाधक है। हमारी दृष्टिमें जो देश घट से निरुद्ध है उसी देशसे हमारी दृष्टिके लोष्टादिके लिये अवकाश नहीं है, परन्तु हमारी दृष्टि दूसरेकी दृष्टिकी बाधक नहीं हो सकती। इस रीति से चूँकि उत्पत्तिस्वरूप घट नहीं केवल दृष्टिमात्र ही घट है, इसलिये एककी घटाकार-दृष्टि दूसरेकी घटाकार-दृष्टि अथवा

अन्धाकार-दृष्टिका किसी भी रूपसे प्रतिबन्धक नहीं हो सकती। जिस प्रकार सूर्यमें सब प्राणियोंकी प्रकाशमय-दृष्टि उलूककी अन्धकारमय-दृष्टिका विरोध नहीं करती। इस प्रकार सम्मुख देशमें अनेक घट अनुपलब्धिकी शङ्का सर्वथा निर्मूल है और सिद्धान्तको न जान करके ही है। जितने द्रष्टा हैं उतने ही घटो का सम्मुख देशमें सम्भव है और प्रत्येक द्रष्टाकी अपनी दृष्टिमें आभासरूप ही घट है, आभासरूप होनेसे वे सब घट परस्पर देशका निरोध नहीं कर सकते।

(६४) अथवा जैसे किसी विशाल दर्पणमे पर्वतादिका प्रतिबिम्ब पड़ रहा हो तो दर्पणमे पर्वतादिक उत्पन्न नहीं होते, अधिष्ठानरूप दर्पणमें केवल देखनेवालोंकी अपनी-अपनी दृष्टिमात्र ही पर्वतादिक होते हैं। जितने मनुष्य उन पर्वतादिक प्रतिबिम्बोंके द्रष्टा हैं, अधिष्ठानरूप दर्पणमें उतने ही पर्वतादिककी उपलब्धिकी आवश्यकता नहीं रहती। क्योंकि अधिष्ठान-दर्पणके आश्रय अपनी-अपनी दृष्टिमें ही उनकी स्थिति है, वास्तवमें तो दर्पणमें एक भी पर्वतादि नहीं, हुए ही नहीं और हैं ही नहीं। तैसे ही चेतनरूपी महान् आदर्शमे घट-पटादि पदार्थोंका आभास होता है, सो देखनेवालोंका अपना-अपना संकल्प ही घट-पटादिरूप होकर चेतनके आश्रय फुरता है। चेतनमे घट-पटादिकी उत्पत्तिरूप सृष्टि नहीं, किन्तु दृष्टिमात्र ही सृष्टि है और क्या द्रष्टा व क्या दृश्य सब आभासमात्र ही हैं और सब दृश्य ही हैं। इस प्रकार जितने जीव हैं उतने ही ब्रह्माण्ड प्रतीत होने चाहियें और जितने द्रष्टा हैं उतने ही घट-पटादिकी उपलब्धि होनी चाहिये, यह आपत्ति तत्त्वके अज्ञान करके ही है। वास्तवमें तो एक भी ब्रह्माण्ड वा एक भी घट-पटादिकी उत्पत्ति नहीं हुई, किन्तु द्रष्टाओं की अपनी-अपनी संकल्परूप दृष्टियोंमें ही पदार्थोंकी सृष्टि होती

है। इस रीतिसे जीव-जीव प्रति अपनी-अपनी सृष्टि भी सिद्ध हो जाती है और 'जितने द्रष्टा हैं उतने ही ब्रह्माण्डोंकी उपलब्धि होनी चाहिये' यह आपत्ति भी नहीं रहती, क्योंकि सभी उत्पत्ति, सभी स्थिति और सभी लयादिरूप द्रव्य, गुण व क्रिया दृष्टिमात्र ही हैं।

(६५) शङ्का :—तुम्हारे इस विवेचनसे जीव-जीव प्रति अपनी-अपनी सृष्टि क्या मानसिक व क्या पाञ्चभौतिक तो भली-भाँति प्रमाणित हुई। परन्तु जीव भी तो असंख्य हैं और अपनी-अपनी सृष्टिके स्रष्टा हैं; तथा जो स्रष्टा है वह सृष्ट नहीं होना चाहिये। इसलिए अनेक स्रष्टा-जीव स्वस्वरूपसे ही रहे, फिर इस अनेकतामें एकताका आनन्द कहाँ? इस प्रकार जब असंख्य स्रष्टा-जीव प्राकृतिक रूपसे ही रहे, तब चेतनमें तो खलबली ज्यूँ-की-त्यूँ ही रही, 'आत्मा नित्य मुक्त है' इसका सुस्वाद तो प्राप्त न हुआ।

(६६) समाधान :—वेदान्त-सिद्धान्त-मुक्तावलीका मत है कि मुख्य जीव एक ही है, अन्य सब जीव जीवाभास हैं, मुख्य नहीं। जैसे स्वप्नमें मुख्य एक ही जीव होता है अन्य सब स्वप्न-जीव जीवाभास होते हैं। उस एक मुख्य-जीवके संकल्पमें ही सम्पूर्ण स्वप्न-प्रपञ्च होता है और उसके जाग्रत् होनेपर सम्पूर्ण स्वप्न-संसार का अत्यन्ताभाव हो जाता है। इसी प्रकार इस जाग्रत्-प्रपञ्चकी स्थिति भी एक मुख्य-जीवके संकल्पमें ही है। वह आप ही तत्त्व रूप हुआ अपने-आपको स्वप्नवत् नानारूप देखता है और अपने अज्ञानसे बन्ध-मोक्ष, गुरु-शास्त्र व स्वर्ग-नरकादिकी कल्पना करता है। उसकी ज्ञान-जागृति व मुक्ति होनेपर अखिल संसारका मोक्ष हो जाता है। इस मतमें ऐसी शङ्का उत्पन्न होती है :—

'यदि मुख्य एक ही जीव माना जाय तो शुक-वामदेवादिक

अभी मोक्ष नहीं होना चाहिये और आजतक किसीकी भी मुक्ति न होनी चाहिये। इससे तो शुकादिका मोक्ष-प्रतिपादन करनेवाले शास्त्र-वचन भी असंगत हो जाएँगे तथा मोक्षनिमित्त जीवोंका पुरुषार्थ भी निष्फल ही रहेगा। क्योंकि मुख्य-जीवका मोक्ष हुए बिना तो किसीकी भी मुक्ति असम्भव ही है और जब उसकी मुक्ति होगी तब स्वतः ही दूसरोका मोक्ष हो जायगा। संसार अभी विद्यमान है ही, इससे सिद्ध होता है कि मुख्य-जीव अभी मुक्त नहीं हुआ तथा शुकादि किसीकी भी मुक्ति नहीं हुई'

यद्यपि ऐसी शङ्काका सम्भव है, तथापि अब हमको इस विषयकी खोज करनी चाहिये कि वह मुख्य-जीव कौन है? इसका निर्णय होनेपर ये सभी शङ्काएँ निवृत्त हो सकती है।

(६७) 'मुख्य एक जीव है' इस वचनका तात्पर्य किसी एक जीवको अमुकत्व रूपसे मुख्य-जीव निर्देश करनेमें नहीं है। किन्तु इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक द्रष्टा-जीव अपनी-अपनी दृष्टिमें अपनी-अपनी सृष्टिका मुख्य-जीव है और अन्य दृश्य-जीव जीवाभास हैं। परन्तु वह द्रष्टा-जीव अपने अज्ञान करके जीवाभासोंमे भी अपने समान मुख्य-जीवोकी कल्पना करता है और ज्ञानसे पूर्व उन जीवाभासोमेंसे किसी-किसीको मुक्त मानता हुआ दूसरो मे अपने समान बद्धकी कल्पना करता है तथा अपने और दूसरो के मोक्षमें संशय करता है कि यह भी मेरे समान द्रष्टा-जीव ही है और अपने-अपने कर्मो करके बँधे हुए हैं। यह सब अज्ञानकी महिमा है, ज्ञान हुए पीछे निश्चय करता है कि मुझ साक्षीसे भिन्न न कुछ था, न है और न होगा। जैसे देवदत्तकी सृष्टिमें देवदत्त मुख्य-जीव है और यज्ञदत्त-सोमदत्तादि जीवाभास हैं, यज्ञदत्तकी सृष्टिमें यज्ञदत्त मुख्य-जीव है, देवदत्त-सोमदत्तादि जीवाभास हैं तथा सोमदत्तकी सृष्टिमें सोमदत्त मुख्य-जीव है, यज्ञदत्त-देवदत्तादि

जीवाभास है। यद्यपि इनमेंसे प्रत्येक अपनी-अपनी सृष्टिके मुख्य-जीव हैं और अन्य दृश्य-जीव जीवाभास हैं, परन्तु अज्ञानकी दृढ़ता करके अन्य जीवाभासोंमे भी वे-वे मुख्य-जीवोंकी कल्पना करते है और उनको भी अपने समान बद्ध देखते हैं। परन्तु इनमें से जब-जब जिस-जिसका अज्ञान ज्ञानद्वारा बाधित होकर साक्षी-चेतनसे अभेद हो जाता है, उस-उसकी दृष्टिमे अज्ञान, जीव, जगत् और †ईश्वरका अत्यन्ताभाव सिद्ध हो जाता है और वह निश्चय करता है कि अहं-त्वं रूपसे कदाचित् कुछ बना ही नहीं था, यह सब मेरी ही कल्पना थी।

(६८) इस रीतिसे देवदत्त, यज्ञदत्त, सोमदत्तादिमेंसे प्रत्येक दूसरेकी दृष्टिरूप सृष्टिमें तो आभासरूप जीव है ही, केवल अपनी-अपनी सृष्टिमें ही वे मुख्य-जीव होते है, सो मुख्यता अज्ञानकल्पित है, वास्तवमे तो सभी आभासरूप है। इनमेंसे जिस-जिसकी अज्ञानरूप उपाधि निवृत्त हुई, उस-उसका साक्षी-चेतनसे अभेद हुआ। अभेद कोई बनाना नहीं था, अभेद तो स्वतःसिद्ध था, केवल अज्ञानकी उपाधि करके ही सोपाधिक भेद बन रहा था और जब कल्पित-उपाधिकी निवृत्ति हुई तो न कोई मुख्य-जीव रहा और न जीवाभास रहे। इस रीतिसे द्रष्टा-जीवकी सृष्टिमें शुक-वामदेवादि जीवाभासोंका मोक्ष सम्भव है, अपने समान

† माया-विशिष्टचेतन, जो अपनी मायाद्वारा सृष्टिकी रचना करता है, 'ईश्वर' कहाता है। जबतक सृष्टिकी उत्पत्ति-स्थितिमें सद्बुद्धि रहती है, तब तक उसके रचयिता ईश्वरमें भी सद्बुद्धि बनी रहती है। परन्तु ज्ञानद्वारा सृष्टिका त्रिकालाभाव सिद्ध हो जानेपर कार्यके अभावसे ईश्वरसंज्ञा भी बाधित हो जाती है और शुद्ध-चेतन ही शेष रह जाता है। क्योंकि मायाके सम्बन्ध करके ही माया-दृष्टि करके उसमें ईश्वरता फली हुई थी, सो माया ज्ञानद्वारा बाधित हो चुकी।

अन्य जीवाभासोंका बन्ध सम्भव है, मोक्षप्रतिपादक शास्त्र सफल हैं और मोक्षनिमित्त पुरुषार्थ भी सफल है। अपने पुरुषार्थद्वारा इस द्रष्टा-जीवके ज्ञान प्राप्त कर लेनेपर सब संसारकी मुक्ति निर्भर है और बद्ध-मुक्तकी सब कल्पनाएँ असत्य हो जाती हैं। प्रश्न-कर्ताके इस प्रश्नका कि 'मुख्य-जीव कौन है ?' स्पष्ट उत्तर यही है कि 'वह मुख्य-जीव तू ही है और तेरे ही मोक्षसे संसारकी मुक्ति है। वस्तुतः तो संसारका त्रिकालाभाव है, परन्तु तूने ही अपने संकल्पसे ससारको खड़ा किया हुआ है। तू ही अपने अज्ञान-स्वप्नमें संसारकी रचना कर रहा है, तेरी ज्ञानजागृति हुई कि संसार तो पहले ही नित्य-निवृत्त है, संसारकी उत्पत्तिका तो सम्भव है ही नहीं।'

(६९) योगवासिष्ठ भाषा, निर्वाण प्रकरण, उत्तरार्द्ध सर्ग १८३ में भगवान् वसिष्ठ इसी आशयको यूँ स्पष्ट करते हैं :—

"हे रामजी ! जीवोंको औरकी सृष्टिका ज्ञान नहीं होता, अपनी ही सृष्टिको जानते और देखते हैं, क्योंकि संकल्प भिन्न-भिन्न है। कितनोंके (अज्ञान) स्वप्नमें हम स्वप्न-नर (जीवाभास) हैं और कितने हमारे (अज्ञानरूपी) स्वप्नमें स्वप्न-नर (जीवाभास) हैं। वे और सृष्टिमें सोये है और हमारी सृष्टि उनको अपने स्वप्नमे भास आई है, तिनके हम स्वप्न-नर (जीवाभास) हैं। और जो हमारी सृष्टिमें सोये है, हमारे स्वप्नमें उनकी और सृष्टि हमको भास आई है, सो हमारे स्वप्न-नर (जीवाभास) हैं। हे रामजी ! इस प्रकार आत्म-तत्त्वके आश्रय अनन्त सृष्टियाँ भासती हैं, जो जीव सृष्टि को सत् जानकर विचरते हैं वे मोक्षमार्गसे शून्य हैं।"

(७०) इस स्थलपर पहुँचकर तीनो मतोंकी सङ्गति भली-भाँति हो जाती है।

(१) भगवान् वसिष्ठके मतमे 'जीव-जीव प्रति अपनी-अपनी सृष्टि है।'

(२) वाचस्पति मिश्रके मतसे 'जितने जीव हैं, उतने ही ब्रह्माण्ड है और उतने ही ईश्वर हैं।'

(३) एक-जीववादीके मतसे 'मुख्य एक जीव है, अन्य सब जीवाभास हैं।'

उपर्युक्त तीनो मतोंकी संगति इस प्रकार है :—

(१) वसिष्ठ-मत और वाचस्पति-मतकी संगति तो स्पष्ट ही है।

(अ) जीव-जीव प्रति अपनी-अपनी सृष्टि है।

(इ) जितने जीव हैं, उतने ही ब्रह्माण्ड हैं और उतने ही ईश्वर हैं। इन दोनो मतोंसे तो प्रत्येक जीवकी अपनी-अपनी कल्पित ही ब्रह्माण्डादिकी सृष्टि सिद्ध होती है।

(२) एक-जीववादीका तात्पर्य भी यही है कि दृश्यका द्रष्टा ही मुख्य एक जीव है। द्रष्टा ही अपनी दृष्टिसे दृश्यकी सृष्टि करता है और वे दृश्यरूप जीव ही जीवाभास है तथा प्रत्येक जीव अपनी-अपनी सृष्टिका द्रष्टा-जीव है। जबकि प्रत्येक जीव अपनी-अपनी सृष्टिका मुख्य-जीव व द्रष्टा-जीव पाया गया, तब उपर्युक्त मतोंके अनुसार जीव-जीव प्रति अपनी-अपनी सृष्टि है अथवा मुख्य एक जीव है, इसमे केवल शब्दोंका ही भेद है अर्थका कोई भेद नहीं पाया जाता, क्योंकि जीव तथा सृष्टि अविद्याकल्पित ही है परमार्थ से नहीं है। अविद्याकी उपाधि निवृत्त होनेपर उस द्रष्टाकी मुक्ति से दृश्यकी स्वाभाविक मुक्ति हो जाती है, क्योंकि अविद्याद्वारा दृश्यका परिणामी-कारण वही था, अर्थात् वह आप ही स्वप्नवत् दृश्यके स्वरूपमे परिणामी होकर दृश्यका द्रष्टा बन रहा था।

कारणरूप द्रष्टा ही जब चेतनका विवर्त्त सिद्ध हुआ, तब कार्य-रूप दृश्यका अत्यन्ताभाव स्वतःसिद्ध है। इस रीतिसे चेतन नित्य-मुक्त है और उसमें किसी भी द्रष्टा, दर्शन व दृश्यका कदाचित् कोई लेप नहीं होता।

उपसंहार } इस रीतिसे पवित्र विचारोंने हृदयमें अपना घर बनाया, विरोधी विचारोंके लिये कोई अवकाश न रहा और अहङ्कारका बेड़ा गरक हो गया। इस प्रकार हमारा आत्मदेव 'त्वमेवाहम्' (तू ही मैं हूँ) भावसे निकलकर 'शिवोऽहम्' (मैं शिव-स्वरूप हूँ) भावमें आरूढ हो गया और सत्त्वगुणसे निकलकर गुणातीत पदमें जा टिका। इस स्थलपर पहुँचाकर और अपने वास्तविक लक्ष्यको प्राप्त कराकर धर्म अपने ऋणसे उऋण हुआ। सब कर्तव्यों और सब विधि-निषेधोंको छुट्टी मिली, अपने लक्ष्य पर पहुँचाकर उन्होंने अपनी कमर खोल दी और अपने निज-स्वरूपमें विश्राम पाया। वैताल व प्रकृति अपनी ही छाया सिद्ध हुए और अपने निज प्रकाशमें देखा गया तो उनका पता भी न चला कि कहाँ गये? त्यागकी भेंटोंकी पूर्णाहुति हुई और त्याग का भी त्याग सिद्ध हुआ। सब कुछ करके भी कुछ न करना ही मनको भाया। अहंभावकी स्थितिमें प्रकृति जहाँ नाक चने चबा रही थी और नाकमें नकेल डालकर नचा रही थी, उसको ज्यों-का-त्यों जाना तो अब दासीके समान चरणसेवा करती है।

भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः।
भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥

अर्थात् हमारे भयसे ही वायु चलता है, हमारे भयसे ही सूर्य उदय होता है और हमारे भयसे ही अग्नि, इन्द्र व मृत्यु यह पाँचों भागे फिरते हैं।

इस प्रकार परमार्थरूपी वृक्ष ऐसा फला-फूला कि कुछ न पूछो ! सब ओर आनन्द ही आनन्द टपकने लगा, सब वस्तुएँ आनन्दकी ही झाँकी देने लगी और दुःखरूप संसार आनन्द-स्वरूपमें बदल गया । मोतीमे अपनी ही झलक, हीरेमें अपनी ही दमक, सूर्य-चन्द्रमामें अपनी ही चमक, वायुमे अपनी ही रमक, नेत्रोंमें अपनी ही खटक आनन्द देने लगी । सब सुन्दरोंमें अपना ही सौन्दर्य आस्वादन होने लगा, सब वस्तुएँ अपने ही सौन्दर्यके याचक प्रतीत हुए और सब अपने ही सौन्दर्यके भिन्न-भिन्न चमत्कार भान होने लगे । अपना निजानन्द मैला न हो जाय, इस निमित्त अनेक नाम-रूपके दृष्टिरूपी पडदोंके नीचे उसको छुपाना चाहा, परन्तु न छुपा और अपने यौवनमे ऐसा मचला कि किसी प्रकार दबाये न दबा ।

नहीं छुपती छुपाये वू छुपाओ लाख पडदोंमे ।
मजा पडता है जिरा गुलपैरहन को वेहिजावीका ॥

रात्रिके घोर अन्धकाररूपी पडदे उसके मुखपर डाले गये तो उस कृष्णरूपमें ही फूट निकला और तारोंमें आँखे फाड़-फाड़कर देखने लगा । गहन पर्वतोकी चादरोंके नीचे उस सौन्दर्यको दबाना चाहा, परन्तु दबा कहाँ ? वह देखो ! अणु-अणुमें अपनी सत्ता के दर्शन दे रहा है और अपनी जड़ताकी चादरोंमे आनन्दके खर्राटे मार रहा है । गम्भीर समुद्रोंमे उस निजानन्दको रूपोश करना चाहा, परन्तु रूपोश कहाँ ? वह देखो ! उछल-उछलकर आनन्दकी बलइयाँ ले रहा है । पञ्च-कोशोंके पाँच-पाँच गिलाफ भी उसके मुँहपर डाले गये, तब भी क्या हुआ ? वह देखो ! नीली-नीली आँखोंमे अपना जल्वा दे रहा है और असंख्य मनो-वृत्तियोंमें नृत्य कर रहा है । फिर सूर्यादिके चमकीले पतले पड़दों

मे तो यह छुप ही क्या सकता था ? बल्कि उल्टा अपने हुस्नके जोशसे तपाने लगा।

सत्य है :—दिया अपनी खुदीको जो हमने उठा।
वो जो परदा-सा बीचमे था न रहा॥
रहे परदेमे अब न वॉ परदानशी।
कोई दूसरा उसके सिवा न रहा॥

प्यारे आनन्द ! थोड़ा दम लो, शान्ति पकड़ो, निचले रहो, आखिर तुम ही तुम हो, दूसरा तो कोई है ही नहीं, फिर यह नाच-कूद कैसा ?

उत्तर मिला :—जाना आखिर न यह कि फोड़ेकी तरह फूट वहे।
हम भरे बैठे थे क्यों आपने छेड़ा हमको॥

इतनेमे हमारे आत्मदेवने एक छलॉग मारी,*'दीवारे क़हक़हा' पर जा चढ़ा और हॅसता-हॅसता झट परले पार। 'न हम न तुम, दफ्तर गुम।'

हैं हम तुम दाखिले †दफ्तर, ‡खुमेमय में है दफ्तर गुम।
न मुजरिम मुद्दई बाक़ी, मिटे क्या खुश बखेड़े जा॥

करवट बदली तो आँखें खुल गईं !!!

ॐ !   ॐ !!   ॐ !!!

---

*दीवारे-क़हक़हा चीन देशमे एक दीवारका नाम है। कहावत है कि जो मनुष्य उस दीवारपर चढ जाता है, वह परली तरफको देखकर हॅसने लगता है, परली ओरका कुछ हाल नहीं कह सकता और परली ओरको छलॉग मार जाता है फिर वापिस नहीं आता।

† आनन्दमय-कोश।

‡ मदिरा-पात्र, अर्थात् निजानन्द।

मनकी एकाग्रता

मनका क्या स्वरूप है ? इस विषयमें यदि विचार किया जाय तो यह सिद्ध होगा कि भावात्मक ही मन है। अर्थात् भावोंसे भिन्न मनका और कोई रूप पाया नहीं जाता, क्योंकि जिस कालमें मन भावशून्य हो जाता है, उस कालमें वह अपने स्वरूपसे कुछ भी नहीं रहता। मनकी भावशून्य अवस्था सुषुप्ति अथवा लय ही है। यदि भावोंके विना मनका अपना कोई स्वतंत्र रूप होता तो इसका पता उस कालमे भी मिलना चाहिये था जब कि भावोंका अभाव हो जाता है। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि जब जाग्रत् व स्वप्नमें मन अनेक भावरूप तरङ्गोंमें तरङ्गायमान होता रहता है तभी उसका स्वरूप भी पाया जाता है। परन्तु सुषुप्त अवस्थामें भावोंका लय हो जाता है तो उसका भी कुछ स्वरूप नहीं मिलता। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि 'मन भावात्मक ही है' और भावके विना मनका अपना कोई स्वरूप नहीं है।

भाव क्या है ? किसी भी आकार, विचार अथवा सङ्कल्पके रूपमें मनका स्फुरण होना, तरङ्गायमान होना 'भाव' कहा जाता है। इधर यदि संसारके विषयमें विचार करें तो भावोंसे भिन्न संसारका भी अपना कोई स्वतन्त्र रूप नहीं मिलता। जैसे-जैसे जिसके भाव होते हैं वैसा-वैसा ही उसका अपना भव (संसार) होता है। बल्कि कहना पड़ेगा कि यह लोक ही नहीं; किन्तु क्या लोक, क्या परलोक सभी लोककी सृष्टि जीवके अपने-अपने भावोंके अधीन ही होती है। जीवके अपने भावोंके विना न लोककी सिद्धि होती है न परलोककी। उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज व

जरायुज इन चारों खानियोंमें क्रमशः जैसे-जैसे भावोंका विकास होता जाता है वैसे-वैसे ही उनका अपना-अपना भव (संसार) विकसित होता जाता है। भावोंकी उत्तरोत्तर न्यूनताकी ही दृष्टि से मनुष्यकी अपेक्षा पशु, पक्षी व कीटादिका संसार क्रम-क्रमसे तुच्छ होता है और भावोंकी न्यूनतासे ही देवोंकी अपेक्षा मनुष्यका संसार तुच्छ होता है। अर्थात् मनुष्यका संसार अमरीका, यूरोपतक ही विस्तृत है, परन्तु देवताओंका संसार सात समुद्र व सात द्वीपोंतक विकसित है। वर्तमान संसारमें जितने भी द्रव्य, गुण व क्रियादि हैं उन सबकी सिद्धि अपने-अपने भावोंके अधीन ही होती है। अर्थात् वे,द्रव्य-गुणादि पदार्थगत नहीं हैं, किन्तु अपने-अपने भावानुसार भावगत ही हैं। इसीलिये एक ही वस्तु एकके लिये कटु दूसरेके लिये मिष्ट, एकके लिये उष्ण अन्यके लिये शीतल तथा एकके लिये शुभ व पुण्यरूप और दूसरेके लिये अशुभ एवं पापरूप सिद्ध हो जाती है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि इन सब विलक्षणताओंमें केवल भावोंकी विलक्षणता ही हेतु है। (विस्तारके लिये देखो आत्म-विलास द्वि. खं पृ० १६३-१६७)। इसी लिये कहा भी है कि:—

भवोऽयं भावनामात्र न किञ्चित् परमार्थतः।

अर्थात् भावनामात्र ही संसार है, परमार्थसे संसारका कोई रूप नहीं है।

इसी लिये अपनी-अपनी भावनाके अनुसार संसारका स्वरूप भिन्न-भिन्न प्रकारका होता है। सकामीके लिये यह भोगरूप, निष्कामीके लिये उद्धाररूप, भक्तिमान्के लिये भगवान्की छविरूप, वैराग्यवान्के लिये अग्निकाण्डरूप और ज्ञानवान्के लिये यही संसार परमानन्दरूप सिद्ध होता है। अर्थात् 'यह संसार हमारे भोगके लिये ही रचा गया है, इसलिये

भोग भोगलेना ही हमारा कर्तव्य है' ऐसी सकामीकी दृष्टि होती है और इसी भावसे वह संसारको देखता व वर्तता है। 'यह संसार बिगड़ा हुआ है इसका सुधार करना हमारा कर्तव्य है' ऐसी निष्कामीकी दृष्टि होती है और इसी भावसे वह संसार को ग्रहण करता है। 'यह संसार भगवान्‌की ही छविरूप है, इन सब रूपोंमें वह छैल-छबीला ही अपनी झाँकी दिखला रहा है' ऐसी निष्काम-भक्तकी दृष्टि होती है और इसी भावसे वह संसारको देखता है। 'यह संसार अत्यन्त दुःखरूप है और प्रलय कालकी अग्निके समान तप रहा है, वारम्बार जन्म-मरण के चक्रमें पड़ना महान् दुःख है किसी प्रकार मैं इससे छूटूँ' ऐसी वैराग्यवान्‌की दृष्टि होती है और इसी भावसे वह संसार को देखता है। 'यह संसार अपने स्वरूपसे कदाचित् कुछ हुआ ही नहीं, किन्तु यह तो मेरे आत्माका चमत्कार ही है, अर्थात् मेरे आत्माका विवर्त है और परमानन्दस्वरूप ही है' ऐसी साक्षात्कारवान् तत्त्ववेत्ताकी दृष्टि होती है और इसी भावसे वह संसारको देखता है। (विस्तारके लिये देखो गीतादर्पण-प्रस्तावना पृ० १२० से १२८)।

इस प्रकार हम इस परिणामपर पहुँचते हैं कि 'भावके विना न मनका ही कोई स्वरूप मिलता है और न भव (संसार) का ही। अर्थात् यूँ कह लीजिये कि मन और संसारके बीचमें एक-मात्र भाव ही है, जो दोनोंको सिद्ध कर रहा है, जिसके द्वारा दोनोंका संयोग होता है और जिसके लय हुए दोनों (मन व भव) लय हो जाते हैं।

अब आओ विचार करें कि मनकी एकाग्रता क्या है, वह किस प्रकार सम्पादन की जानीचाहिये और उसका फल क्या है? लेखकके विचारसे किसी प्रकारकी प्राण-निरोधादिरूप क्रियात्मक चेष्टाओंद्वारा मनको भावशून्य कर देना, मनकी एकाग्रता नहीं

कहलाती। किन्तु ऐसी अवस्था तो मनकी सुषुप्त व लयावस्था ही होगी, जो कि किसी वास्तविक फलका हेतु नहीं हो सकती। क्योंकि शुद्धभावोद्गारके बिना केवल क्रियात्मक मनोनिरोध तो ऐसा ही होगा; जैसे किसी फोड़ेके भीतर पीप भरी रहनेपर भी ऊपरसे वह चमडा लाल-लाल दीख पड़े। बुद्धिमान् डॉक्टर की दृष्टिमें यह चमड़ेकी उत्तम अवस्था नहीं मानी जाती, किन्तु यह तो भयङ्कर अवस्था ही समझी जाती है।

मनकी वास्तविक उत्तम अवस्था तो यही है कि स्वार्थ-त्यागमय शुद्ध आचार व विचारद्वारा प्रथम सकाम-भावोंको दूर किया जाय और निष्काम-भावोंका प्रवाह चलाया जाय। तदनन्तर निष्काम-भावोंके प्रभावसे जीवनका लक्ष्य संसार न बनाकर दृढ़तासे परमार्थ ही जीवनका निशाना स्थिर किया जाय। इस प्रकार सांसारिक कामना व वासनासे पल्ला छुड़ाकर शुद्ध प्रेमाभक्तिके भावोंका प्रवाह चलाना और किसी एक भाव पर मनका अचल हो जाना, यही वास्तवमें मनकी एकाग्रता है, जिसके द्वारा मल-विक्षेपादि दोष वस्तुत. निवृत्त होजाते हैं, और इन दोषोंके निवृत्त हुए स्थिर शान्ति इसी प्रकार प्राप्त होती है, जिस प्रकार फोडेसे पीप निकल जानेपर विश्राम मिलता है। विपरीत इसके इस मार्गसे मुँह मोड़ कर यदि क्रियात्मक चेष्टाओंद्वारा ही मनोनिरोध किया गया तो मल-विक्षेपादि दोषोंके विद्यमान रहते हुए वह सारी चेष्टा ऐसी ही होगी, जिस प्रकार घावको न धोकर पट्टीको ही धोते रहे तो इससे भीतरका रोग साफ न होने के कारण घावके अच्छे होनेकी आशा नहीं की जा सकती। ऐसी क्रियात्मक चेष्टाओंद्वारा यद्यपि कुछ कालके लिये मनका निरोध (अर्थात् मनका लय) सम्भव है, परन्तु उत्थान कालमें मलविक्षेपादिके ज्यों-के त्यों बने रहनेके कारण वे किसीप्रकार स्थिर शान्ति प्रदान नहीं कर सकतीं। क्योंकि शुद्ध भावोद्गारके बिना

केवल प्राणनिरोधके द्वारा मनको इसी प्रकार रोक दिया गया था, जिस प्रकार दौड़ते हुए घोड़ेको पकड़ कर सवारको रोक दिया जाय। इस प्रकारका मनोनिरोध न मूलमें शान्ति ही देता है, न मल-विक्षेपादि ही निवृत करता है और न संसारका मूल जो परिच्छिन्न अहङ्कार है, उसको ही किसी प्रकार निवृत्त कर सकता है। बल्कि बहुत करके सम्भव है कि मल-विक्षेपादिके रहते हुए शुद्ध भावोद्गारके बिना वह मनोनिरोध अपने व्याज मे मनोनिरोधके अहङ्कारको और पुष्ट कर दे। ऐसा अहङ्कार फिर परमार्थका मार्ग ही बन्द कर देता है; न यह सन्तजन व सच्छास्त्रके वचनों मे ही विश्वास करता है और न उनकी युक्तिको ही मानता है, किन्तु खिलाड़ निकालकर अन्दर ऊँट घसा लेनेकी कहावत सिद्ध हो जाती है।

इसके विपरीत शुद्ध प्रेमा-भक्तिके भावोंके प्रवाहमें ही एक ऐसी शक्ति है जो अपने प्रभावसे इधर मल-विक्षेपादि दोषों को हृदयसे निकाल फैंकता है और उधर परिच्छिन्न-अहङ्कारकी मूलको भी हिला देता है तथा स्थिर शान्ति प्रदान करता है।

संसारमें प्रेम ही एक ऐसी वस्तु है जो आपेकी बलि लेने मे समर्थ है, दूसरी किसी वस्तुमें ऐसा सामर्थ्य नहीं है। अपने भोग-कालमें स्त्री-पुत्रादिका तुच्छ प्रेम ही जब आपा खो देता है, तब परमार्थसम्बन्धी शुद्ध-सात्त्विक प्रेम परिच्छिन्न-अहङ्कारकी समूल बलि ले लेवे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? दृष्टान्त स्थल पर देख सकते हैं कि रासलीलाके समय जब भगवान् गोपियोंकी दृष्टिसे ओझल हो गये तब उनके हृदयसे वह प्रेमा-भक्तिके भाव फूट निकले जिनके प्रभावसे उनको अपना-आपा ही विस्मरण हो गया और नाना प्रकारकी लीलाओंमें वे अपने-आपको कृष्णरूपमें ही देखने लगीं। कोई कृष्णरूपसे कालिय नागको दमनकरती थीं, कोई अपने ही वस्त्रोंकी बाँसुरी बना-बनाकर बंशीनाद निकालती

थीं इत्यादि। यही भावरूप समाधि है जो अन्य सब समाधियोंका फल है। यही वास्तविक चित्तवृत्ति-निरोध है, यही सांसारिक राग-द्वेषसे हृदयको धोकर सच्चा सुदृढ़ वैराग्य हृदयमें भरपूर कर सकता है। इसी वैराग्यके द्वारा तत्त्व-विचारोंका प्रवाह हृदयमें उमड़ आता है और तभी 'यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः' के रूपमें सहज-समाधि प्राप्त होती है। उपर्युक्त भाव-समाधिके बिना यह सहज-समाधि दुष्कर है। इस भावरूप समाधिमें ही यह बल है कि यह अपनेको और अपने संसर्गमें आनेवालोंको द्रवीभूत कर देती है। उद्धवजी जब गोपियोंको ज्ञानोपदेश देनेके लिये व्रजमें गये तो वे गोपियोंके शुद्ध प्रेमा-भक्तिके भावोद्गार में पानी-पानी हो गये और उनका सब ज्ञान-ध्यान चल बसा। प्राण-निरोधादि स्वप्नमें भी ऐसे प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकते। यही कारण है कि क्या वेद, क्या उपनिषत्, क्या स्मृति, क्या पुराण सभी सच्छास्त्र इस क्रियात्मक प्राण-निरोधादिकी चर्चा करनेसे उदासीन हैं। यदि यह क्रियामक-चेष्टा परमार्थमें सुदृढ़ साधन हो और फिर भी वे सच्छास्त्र उसकी चर्चा न करें तो यह उन शास्त्रोंकी अपूर्णताको ही सिद्ध करेगा। परन्तु सच्छास्त्रोंको वस्तुतः परमार्थमें यह सुदृढ़ साधन मन्तव्य ही नहीं है। यूँ तो संसारमें निष्फल कोई भी पदार्थ नहीं है, जो अत्यन्त वहिर्मुखी मन है मुँहजोर घोड़ेके समान उसको दमन करनेके लिये यह क्रियात्मक चेष्टा भी सफल हो सकती है। परन्तु दमन होनेके पश्चात् शुद्ध भावोद्गार ही उसका फल है, स्वतन्त्र दमन फलरूप नहीं हो सकता। सारांश, भावोंकी शुद्धि बिना मनकी शुद्धि नहीं होती और शुद्ध भावोद्गारद्वारा भावोंकी एकाग्रता बिना मनकी एकाग्रता नहीं हो सकती। जिस प्रकार लोहेसे ही लोहा काटा जा सकता है, इसी प्रकार उपर्युक्त रीतिसे भावोंकी शुद्धि व एकाग्रताद्वारा तत्त्व निर्णायक भावोंको जाग्रत् करके ही यह भावात्मक संसार निवृत्त

किया जा सकता है। मुक्तिके लिये अन्य कोई मार्ग है ही नहीं।

'नान्यः पन्था विद्यते ऽयनाय' (श्रुति)

सत्यके जिज्ञासुओंको इन पंक्तियोंपर गम्भीर विचार करनेके पश्चात् अपना मार्ग निश्चित करना चाहिये। इस प्रकार भावोद्गार व भावशुद्धिको मुख्यताको लक्ष्य करके भावोद्गारमें उपयोगी व सहायक विभिन्न अधिकारियोंके अधिकारानुसार विभिन्न प्रकारके विचार व प्रार्थनाएँ नीचे उद्धृत की जाती हैं। अपने-अपने मनकी परिस्थितिको ध्यानमें रखकर यदि पाठक सचाईसे अपने-अपने अधिकारानुसार इनका क्रमसे सेवन करेंगे तो एक बड़ी मात्रामें भावशुद्धि इनका फल होगा, ऐसी आशा की जाती है। इन सब प्रार्थनाओंमेंसे जो-जो अपने चित्तके अधिकारानुसार रूचिकर हो उस-उसको कण्ठ कर लेना चाहिये। प्रभात जागकर और रात सोते समय स्थिरचित्तसे इष्टदेवकी मूर्त्तिका हृदयमें ध्यान करके दोनों हाथ जोड़े हुए शनैः-शनैः विचारपूर्वक उस-उसका मन ही मन में मनन करना चाहिये और जिस स्थानपर मन स्थिर हो जाय वहीं रुक जाना चाहिये। हृदयमें जो अन्य निष्काम-भाव अधिक फुरे वे सचाईके साथ अधिकाधिक निकालने चाहिये ॥ ॐ ॥

विभिन्न विचार और प्रार्थनाएं

(१) भोगहरण-प्रार्थना

हे भगवन्! इस मनुष्यजन्मका फल यह भोग नहीं किन्तु चित्तकी शान्ति ही इस जीवनका मुख्य फल है। यह जन्म आपने अपनी अपार कृपा करके अपनी प्राप्तिके लिए एक चिन्तामणिरूप हमको बख़शीश किया था, जो कि वास्तवमें मोक्षद्वार है। परन्तु शोक कि हमने अबतक विषयभोगरूपी विषके बदले इसे लुटा दिया। हे प्रभो! यह भोग वास्तवमें

धोकेकी टट्टी हैं। ये देखनेमें भले ही सुन्दर लगे, परन्तु वस्तुत ये रोगरूप हैं। इसमें तो कोई सन्देह नहीं है कि बारम्बार जन्म लेना, जीवन-भर अनेक प्रकारके दुःखोंको सहना और बारम्बार दारुण मरणदुःखको भोगना इन सब दुःखोंके मूलमें इसके सिवाय और कोई कारण नहीं बनता कि इस जीवने पहले कभी न कभी इन दुःखरूप विषयोंमें सुखबुद्धि धार करके अवश्य मन फँसाया था। वही विष इन नाना दुःखोंके रूपमें फूट-फूटकर निकल रहा है और कोई निमित्त नहीं बनता। इस अविनाशी जीवके इन दुःखोंके साथ बाँधे जानेमें यह भोग अपनी इच्छा-कालमें भी इस जीवको तड़पाते हैं और अपनी निराशाकालमें भी महाकष्ट देते हैं यदि किसी प्रकार इनकी प्राप्ति हो भी जाय तो भोग चुकनेपर भी यह विषय विषरूप ही हो जाते हैं और किसी तरह हमारे लिये सुखरूप नहीं ठहरते। इस प्रकार इनकी तीनों हालतें दुःखरूप ही हैं।

इस प्रकार हे स्वामी! शोक है कि हम अबतक विषको अमृतरूप जानकर सेवन करते रहे और अमृतरूप आपके चरणकमलोंसे विमुख रहे, स्वर्गके बदले नरकको मोल ले लिया। जिस प्रकार काँच भले ही सुन्दर प्रतीत हो, परन्तु पेटमें जाकर अँतड़ियोंको फाड़ डालता है, ठीक यही अवस्था जीवकी विषयोंके सम्बन्धसे होती है। जिस प्रकार मृगतृष्णाकी नदी देखनेमें सुन्दर प्रतीत होती है, परन्तु किसी तरह उससे प्यास नहीं मिटती, बल्कि उसके पीछे दौड़नेसे प्यास अधिक-अधिक बढ़ती जाती है, इसी तरह इन झूठे सुखोंको सच्चा जान सुखी होनेके बजाय हम अपने दुःखोंको बढ़ाते रहे।

झूँठे सुखको सच कहें, मानत हैं मन मोद।
जगत चबेना कालका, कुछ मुखमें कुछ गोद॥

शोक है हम अशान्तिमें शान्ति ढूँढते रहे और शान्ति-स्वरूप आपके चरणकमलोंसे विमुख रहे। अब हम सब तरफ से हारकर आपके द्वारपर आ पड़े हैं। आप दयालु हैं हम दीन हैं, पिताके समान आप हमारे अपराधोंको क्षमा करें और हमको अपना वह सच्चा बल दें जिससे सुखस्वरूप आपके चरणकमलोंका सहारा पकड़ दुःखरूप संसार-समुद्रसे तर जाएँ।

हे भक्त वत्सल! आप शरणागत प्रतिपाल हैं,हम आपकी शरण हैं। हम पतित हैं आप पतितपावन हैं। हमारे अवगुणोंकी ओर देखकर न भागो, बल्कि अपने पतितपावन नामको सफल करो। हमारी ओर देखनेसे हमारा उद्धार न होगा, आप सम-दर्शी हैं अपनी ओर देखें। जिस तरह गन्दे नालेको शरणागत जान गङ्गा अपनेमें मिलाकर गङ्गा ही बना लेती है, जिस तरह पारस खोटे-खरे लोहेका विचार न कर उसे छूते ही खरा सोना बना देता है, इसी तरह आप अपनी ओर देख हमारा उद्धार करें। हे नाथ! अब आपकी कृपा से हमने यह जाना है कि संसारमें दुःखका कारण और कुछ नहीं, केवल पदार्थोंकी ममता ही हमारे दुःखका कारण बनती है। धन, पुत्र, स्त्री आदि जो कि वास्तवमें हमारे नहीं है हमारे इस शरीरमें आनेसे पहले भी यह किसी न किसी रूपमें थे और आपके ही थे। जब हम इस शरीरमें न रहेंगे तब भी यह किसी न किसी रूपमें रहेंगे और आपके ही होंगे। बीचमें ही इन पदार्थोंको अपना मानकर हमने अपनेको दुःखी किया है। जो चीज पहले भी हमारी न हो और बादमें भी हमारी न रहे, वह बीचमें ही हमारी कैसे हो सकती है। बीचमें भी वह उसीकी होनी चाहिये जिसकी आदि व अन्तमें रहे। बीचमें यह पदार्थ केवल हमको अमानतमें दिये गये हैं। हम अपनी भूल से बीचमें ही अमानतमें खियानत करके आपके अपराधी बन बैठे हैं। अब हम सच्चे दिलसे आपकी चीज आपके

चरणोंमें भेट करते हैं। आप हमको वह बुद्धि बल दें कि फिर कभी इनको अपना न मान बैठे और आपके आज्ञाकारी मुनीमकी भाँति आपके कुटुम्बकी सेवा करें। जो आज्ञा आप हमको हमारी बुद्धिमें देवें उसका सचाईसे पालन करें। जो खावें वह आपका प्रसाद हो, जो पीवें वह आपका चरणामृत हो, पावोंसे चलें वह आपकी परिक्रमा हो, हाथोंसे जो कुछ करें वह आपकी ही सेवा हो, आँखोंसे आपका रूप ही देखें और कानों से सुनें वह आपका गुणानवाद ही हो।

मम सर्वस्व स्वीकारहु हे कृपानिधान !
अर्पहुँ दोउ कर जोरे मैं श्रीभगवान् ! ॥१॥

स्वीकारहु हाथन को हे श्रीमहाराज !
तव सेवा के कारणे मैं अर्पूं आज ॥२॥

नयन मोर स्वीकारहु हे श्रीजगदीश !
भक्ति धुन्ध ह्वै जावें मैं नाऊँ शीश ॥३॥

चित्त मोर स्वीकारहु तुम अहो सुजान !
मन्दिर होय तुम्हारो कछु हेतु न आन ॥४॥

हिय मोर स्वीकारहु हे अति निष्काम !
तव मूरति हिय बसे सब सुख की धाम ॥५॥

अंस न रहे कछु मोपे जो होवे मोर ।
फुरे मोर सब तुममें नाहीं दूसर ठौर ॥६॥

---

१. ऐसी कोई वस्तु मेरे पास न हो जिसको मैं अपने व्यक्तिगत

(२) रागहरण-प्रार्थना

हे भगवन्! आप दयालु हैं, दयाकी मूर्त्ति हैं। यद्यपि आपके हम अपराधी हैं, परन्तु हैं आपके ही बालक। आप पिताके समान हमारे अपराधोंको क्षमा करें। हमसे भूल हुई कि धन-पुत्रादि आपके पदार्थोंको हम अपना मानते रहे। जिस प्रकार रात्रिको मुसाफिर सरायमें इकट्ठे हो जाते है,उसी प्रकार यह आपका परिवार इकट्ठा हो गया है,प्रभात होते सब अपने-अपने रास्ते लगेंगे। परन्तु इस मूर्ख मनने इनपर ममत्व करके कब्जा कर लिया है और इसी अपराध करके यह तप रहा है। अब मैं सच्चे दिलसे आपकी चीज आपके चरणोंमें भेट करता हूं। जब मैं इस शरीरमें नहीं था,तब भी ये पदार्थ किसी-न-किसी रूपमें थे और आपके ही थे और जब मैं इस शरीरमें न रहूँगा, तब भी ये आपके ही रहेंगे। बीचमें ही इनको अपनानेका भारी अपराध मेरेसे हुआ है।

"अरे मन! अब तो चेत कर। अरे मूर्ख! तूने मुझे बहुत दुखी किया है।" बन्दरकी भाँति आप ही पदार्थोंसे मुट्ठी भरकर तूने आप ही अपनेको बन्धायमान किया है। अब तो इनसे छूटकर सुखसागर भगवान्‌की शरणमें चल, जिससे तू और मैं दोनों शान्ति पावें। अब तो प्रभात होनेको आई सफर सिरपर सवार है। ;

शरीरके नातेसे अपनी जानुँ, किन्तु सर्व ममतारूप व्यवहार आपके नातेसे फुरे। जिसप्रकार सेवक अपने स्वामीके पदार्थोंमें ममताका व्यवहार करता है,अर्थात् आप स्वामीका बनकर स्वामीके पदार्थोंको स्वामीके नातेसे अपना मानता है, अपने व्यक्तिगत शरीरके नातेसे कदापि नहीं। इसीप्रकार मेरा सर्व ममतारूप व्यवहार आपमें फुरे, अन्यत्र नहीं।

*देखो टिप्पण आत्मविलास प्र. खं. पृ. ६०-६१

'काल चिरैयाँ चुग रहीं निशिदिन आयुखेत'

हे स्वामी! संसाररूपी दलदलमें मैं धस रहा हूँ, पाँव टिकने का कोई आधार नहीं पाता। आप अपने चरण-कमलोंका सहारा दीजिये, नहीं तो अपने पतित-पावन नामके निष्फल होनेपर फिर आपको भी पछताना पड़ेगा। दया करो, अपना बल दो और बुद्धिको निर्मल करो, जिससे फिर कभी आपके पदार्थोंको अपना न मानूँ। हे नाथ! ये भोग तो नीच योनियोंमें भी हमको प्राप्त थे, इस लिये इस मनुष्य-योनिका फल ये भोग नहीं, किन्तु आपके चरण-कमलोंकी प्रीति ही इस जन्मका मुख्य फल हो सकता है, जिससे हम अभीतक ठगे हुवे रहे। अब आप हमारी नौकाको पार लगावें। हमारे सुफेद बालोंकी ओर देखें और वह शक्ति दें कि जो कुछ हम करें आपकी सेवाके निमित्त ही हो। जो खावें वह आपका प्रसाद हो। जो पीवें वह आपका चरणामृत हो, जो आँखोंसे देखें उसमें आपका रूप ही देखें, जो कानोंसे सुनें वह आपका गुणानुवाद हो। पावोंसे चलें वह आपकी परिक्रमा हो और हाथोंसे जो कुछ करे वह आपकी ही सेवा हो। हे प्रभो! यह सब परिवार तो शरीरके साथ ही है, जब इस शरीरने ही साथ नहीं देना, तब इस परिवारने तो क्या साथ देना है। सच्चा नाता तो आपका ही था, उसे हम भुला बैठे। हाय! मैं अनाथ मारा गया, इस मनने मुझे धोखा दिया। हे नाथ! आपकी दुहाई है इस पापीसे मेरी रक्षा करो।

मम सर्वस्व स्वीकारहु हे कृपानिधान!
अर्पहुँ दोउ कर जोरे मैं श्रीभगवान्! ॥१॥

(शेष पृ० १० पर देखो)

(३) निष्काम-प्रार्थना

हे भगवन्! इस मनुष्य जन्मका फल ये भोग नहीं, किन्तु चित्तकी शान्ति ही इस जीवनका मुख्य लक्ष्य है। हे प्रभो! ये विषय-भोग तो अनन्त योनियोंसे हमको प्राप्त होते आये हैं, अब तक इनके संयोगसे शान्ति नहीं मिली, बल्कि अग्निमें घृतकी आहुतिके समान इन्होंने चित्तको अधिकाधिक चञ्चल ही किया। फिर आगे इनके सम्बन्धसे शान्ति प्राप्त होगी, इसकी क्या आशा की जा सकती है? शोक है कि हम अशान्तिमें शान्ति ढूँढते रहे और शान्तस्वरूप आपके चरण-कमलोंसे विमुख रहे। आप दयालु हैं हम दीन हैं, पिताके समान आप हमारे अपराधोंको क्षमा करें और हमको अपना बल दें, जिससे हम सुखस्वरूप आपके चरण-कमलोंका आश्रय पाकर दुःखस्वरूप संसार-समुद्रसे तर जाएँ और अक्षय शान्तिको प्राप्त हों।

हे नाथ! आपकी कृपासे हमने अब यह जाना है कि संसारमे अशान्तिका कारण और कोई नहीं है, केवल पदार्थोंका ममत्व ही हमारे दुःखका कारण बनता है। घर बार, कुटुम्ब-परिवार आदि वास्तवमे हमारे नहीं हैं, हमारे इस शरीरमे आनेसे पहले भी ये किसी-न किसी रूपमें थे और आपके ही थे तथा जब हम इस शरीरमें न रहेंगे तब भी ये हमारे न रहेंगे, आपके ही होंगे। जो वस्तु पहिले भी हमारी न हो और पीछे भी हमारी न रहे, फिर बीचमे ही वह वस्तु हमारी कैसे हो सकती है? बीचमे ही उस वस्तुको अपना मान बैठना चोरी है और अमानतमें खयानत। जो वस्तु पहले जिसकी हो और पीछे जिसकी रहे, बीचमें भी वह उसीकी रहती है। बीचमे जो कोई दूसरा उसपर अपना अधिकार जमाता है वह बराबर चोर है। बीचमे ही अपना कब्जा करनेसे वह वस्तु अपनी हो नहीं जाती। बीचमे धनपर अधिकार जमानेसे

जो धन हमारा हो सकता हो तो कैशियर (Cashier) के अधिकारमें आया हुआ सेठका धन कैशियरका होना चाहिये। पुत्रादि बीचमे अधिकार जमानेसे जो हमारे हो सकते हों तो जागीरदारकी भूमिमें उसके कृषिकारद्वारा आरोपण किये हुए बीजकी पैदावार कृषिकारकी होनी चाहिये। बीचमें अधिकार जमानेसे जो स्त्री हमारी हो सकती हो तो गोपालके अधिकारमें आई हुई मालिककी गौ गोपालकी होनी चाहिये। वास्तव में ये पदार्थ तीनों कालमे आपके ही हैं, बीचमें ही इनको हमने अपनाकर अपनेको दुखी किया है। अब आप कृपाकर हमें वह बुद्धिबल दें कि जिससे फिर कभी इन पदार्थोंको अपना करके न जानें, आपके आज्ञाकारी सेवककी भाँति निष्काम-भावसे आपके परिवारकी सेवा करें और हानि-लाभ अपना करके न जानें। जो आज्ञा आप हमको हमारी बुद्धिद्वारा देवें उसका सत्यतासे पालन करें जो कुछ मुँहसे बोलें वह सत्य बोलें, जो कुछ हमारे द्वारा हो वह सबकी भलाईके लिये हो, जो खावें वह आपका प्रसाद हो, जो पीवें वह आपका चरणामृत हो, हाथोंसे जो कुछ करें वह आपकी सेवा हो, पाँवोंसे चले वह आपकी परिक्रमा हो, जो आँखोंसे देखें वह आपका रूप ही देखें और कानों से सुनें वह आपका गुणानुवाद हो।

मम सर्वस्व स्वीकारहु हे कृपानिधान !
अर्पहुँ दोउ कर जोरे मैं श्रीभगवान् ! ॥१॥

(शेष पृ. १०५ देखो)

---

(४) विघ्नपहरण प्रार्थना

हे भगवन्! हमारे अपराधोंको क्षमा करें, हमसे भूल हुई कि हम आपके पदार्थोंको अपना करके जानते रहे और उनपर

कब्जा जमाते रहे। अब हम सच्चे दिलसे आपकी चीज घर-बार, कुटुम्ब-परिवार आपके चरण-कमलोंमें भेट करते हैं। जब हम इस शरीरमें न थे तब भी ये पदार्थ किसी-न-किसी रूपमें मौजूद थे और आपके ही थे। तथा जब हम इस शरीरमें न रहेंगे, तब भी ये पदार्थ किसी-न-किसी रूपमें रहेंगे और आपके ही होकर रहेंगे। बीचमें ही हमने इनको अपना माननेका भारी अपराध किया है। जो चीज पहले भी हमारी नहीं थी और बादमें भी हमारी न रहेगी, बीचमें ही उसको अपना मान बैठना अमानत में खयानत है। अब आप हमपर दया करें, हमारी बुद्धिको निर्मल करें, हमको अपना वह बल दें कि जिससे फिर कभी इस अपराधके अपराधी न बनें। दुःख केवल यही है कि करने-कराने-वाले जो आप हैं, उन आपको हमने अपने हृदय सिंहासनसे नीचे उतारकर हम ख़ुद करने-करानेवाले (स्वयं प्रभु) बन बैठे हैं। जो कुछ हम चाहते हैं वह कभी नहीं होता, होकर तो वही रहता है जो आपको मञ्जूर होता है। यह मन मूर्ख है जो अपनी भूल करके आपकी मर्जीपर सन्तुष्ट नहीं रहता और बीचमें ही अपनी टाँग अड़ाकर आप ही चिन्तारूपी अग्निमें जलता रहता है। अरे मूर्ख मन! तू क्यों नहीं अपने प्रभुपर भरोसा करता? वह विश्वम्भर जो संसारका भरण-पोषण करनेवाला है, क्या तुझे ही नहीं भरेगा? इस अपराध करके ही हे पापी! तूने आप ही अपने गलेमें बन्धन पाया हुआ है, और तो कोई तुझको बाँधने वाला है नहीं। तेरे इस दोष करके न यहाँ ही तुझे विश्राम मिलता है और न वहाँ ही।

काहेको सोच करे मन मूरख! चोंच दई सोई चिन्त करेगो।
पाँव पसार पड़ो क्यों न सोवत, पेट दियो सोई पेट भरेगो॥
जीव जिते जलके थलके, पुनि पाहनमें पहुँचाय धरेगो।
भूखहि भूख पुकारत है नर, सुन्दर तू कहा भूख मरेगो॥

हे प्रभो ! इस मनरूपी वन्दरने हमारे इन शरीररूपी वृक्षको हिला रक्खा है, एक क्षणके लिये भी यह टिकने नहीं देता ।

चञ्चल मन निशदिन भटकत है । ए जी भटकत है भटकावत है ।

ज्यों मर्कट तरु ऊपर चढ़कर । डार डार पर लटकत है ।१।

रुकत यतन से क्षण विषयनते । फिर तिन्होंमें अटकत है ।२।

कॉचके हेत लोभ कर मूरख । चिन्तामणिको पटकत है ।३।

ब्रह्मानन्द समीप छोड़कर । तुच्छ विषयरस गटकत है ।४।

यही एक ऐसा पिशाच हमारे पीछे लगा हुआ है, जिसने हमको आपके चरण-कमलोंसे विमुख कर रक्खा है । हम इसके आगे हार पड़े हैं और आपके चरण-कमलोंमें दुहाई है, आप अपनी इस मायाको समेटिये । वास्तवमें तो दुःख भी आपका भेजा हुआ एक दूत है, जोकि हमारे कल्याणके लिये ही है । और यदि हम ठीक-ठीक आपकी आज्ञाका पालन करने लग पड़े, तब फिर तो दुःखका कोई निमित्त ही नहीं बन पड़ता । दुःखके मूलमें केवल संसारकी अहंता-ममता ही है, जब कि अहंता-ममता सचाईसे आपके चरण-कमलोंमें भेंट कर दी जाय तो दुःखका कोई प्रयोजन ही नहीं रहता । हमारा प्रयोजन तो केवल आपकी मरजीपर सन्तुष्ट रहकर आपसे अभेद रहनेमें ही है । आप परम दयालु है, जो हमारी करणीपर ध्यान न देकर अपनी करणीसे नहीं चूकते हैं । हे प्रभो ! ये संसारके भोग जिनमें हम फँसे पड़े हैं, नीच योनियोंमें भी हमको प्राप्त थे । इस लिये इस मनुष्य जन्मका फल ये भोग नहीं, किन्तु आपके चरण-कमलोंकी प्रीति ही इस जन्मका मुख्य फल था, जिसमें हम अब तक वञ्चित रहे । अब आप दया करें हमारी डूबती नावको पार

लगावें और अपना वह सच्चा बल हमको प्रदान करें कि जिससे इस संसारके किसी पदार्थको हम इस शरीरके नातेसे ग्रहण न करें, किन्तु प्रत्येक वस्तुको सीधा आपके नातेसे ही धारण करें। इस प्रकार जो कुछ भी हम करें वह आपकी भक्तिके लिये हो, जो खावें वह आपका प्रसाद हो, जो पीवें सो आपका चरणामृत हो, आँखोंसे जो कुछ देखें आपका रूप ही देखें, कानोंसे जो कुछ सुनें आपका गुणानुवाद ही हो, पांवोंसे चलें वह आपकी परिक्रमा ही हो और मुखसे बोलें वह आपका कीर्तन ही हो। इसप्रकार संसारके कष्टोंसे किसी प्रकार चित्तमें कायरता न लावें।

मम सर्वस्व स्वीकारहु हे कृपानिधान !

अर्पहुं दोउ कर जोरे मैं श्रीभगवान् ! ॥१॥

(शेष पृ १० पर देखो)

---

(५) शोकहरण-प्रार्थना

हे भगवन् ! आप कल्याणस्वरूप हैं, कल्याणमूर्ति हैं और कल्याणके समुद्र हैं। आप कल्याणस्वरूपसे कोई बुराई कैसे निकल सकती है ? सूर्यसे अन्धकार कैसे प्रकट हो सकता है ? सच-मुच बुरे हम हैं, जो आपकी करणीमें बुराई-भलाईकी कल्पना करके तपते रहते हैं। जिस प्रकार बच्चेके शरीरमें उत्पन्न हुए फोड़ेको जर्राह चीरा लगाकर उसकी पीप निकाल देता है, परन्तु मूर्ख बालक जर्राहके उपकारको न समझ उलटा रुदन करता है, इसी प्रकार हे स्वामी ! आप भी हमारे संसाररूपी रोगको दूर करनेके लिये करुणा करके समय-समयपर हमारे हृदयमें चीरा लगानेकी कृपा करते हैं, परन्तु हम अपनी मूर्खता करके आपके उपकारको अनुपकार करके मान लेते हैं और उलटा आपके अपराधी बन जाते हैं।

हे प्रभो ! आपकी कृपासे अब हमको यह समझ आई है कि आपको अपने सिवाय अन्य किसी संसारी पदार्थोंका ममत्व नहीं रुचता। अर्थात् आप नहीं चाहते कि आपको छोड़ किसी अन्य पदार्थमें मन फँसाया जाय,क्योंकि सुखस्वरूप केवल आपके चरण-कमल ही हैं। परन्तु जीव अपनी भूल करके सुखस्वरूप आपके चरण-कमलोंको छोड़, जब संसारके किसी भी पदार्थको सुख-बुद्धि करके ग्रहण करता है और उसमें अपना ममत्व देता है, तब तब ही उसको दुखकी प्राप्ति होती है। वास्तवमें पदार्थ यदि हमारे होते तो हमको कभी धोखा न देते परन्तु उन पदार्थोंसे धोखा ही इस बातको सिद्ध कर देता है कि हमने अपनी भूल करके उनको अपना मान लिया था,इसी लिये हमको धोखा लगा। हमारे इस शरीरमें आनेसे पहले भी वे पदार्थ हमारे नहीं थे किन्तु आपके ही थे और जब हम इस शरीरमें न रहेंगे तब भी वे हमारे न होंगे आपके ही होकर रहेंगे।बीचमें ही उनको अपना मान बैठना, यही आपकी चोरी है और यही अमानतमें खयानत। जो चीज पहले भी हमारी न हो और पीछे भी हमारी न रहे, फिर बीचमें ही वह हमारी कैसे हो सकती है? सच-मुच वे पदार्थ सदा आपके ही हैं, आपसे वे कभी कहीं बिछुड़ते। यद्यपि हमसे उनका विछोह हुवा है, परन्तु आपके राज्यसे तो वे अब भी कहीं बाहर नहीं गये। इस प्रकार वास्तवमें हमारी चीज तो नष्ट हो जाती है, परन्तु आपकी चीज कभी नष्ट नहीं होती।

इस प्रकार हे भगवन् ! हम सब ओरसे निराश हो अब आपके द्वारपर आ पड़े हैं, जहाँ आपने चीरा लगाया है वहाँ कृपाकर फोहा भी रक्खो। और शान्तस्वरूप अपने चरण-कमलों की पवित्र भक्ति दो तथा वह सच्चा बल हमारे हृदयमें भर दो जिससे फिर कभी हम ऐसी भूल न करें और आपके चरण-कमलों के सिवाय और किसी पदार्थमें अपना ममत्व न दे बैठें। आपके

कुटम्ब-परिवारकी आपकी धाय बनकर सेवा करें और ममत्व करके किसी प्रकार कुटम्बके सुख-दुःखसे लेपायमान न हों। संसारके भोग रोगरूप हैं,ऐसी कृपा करो कि आपकेचरण-कमलों मे कदापि विमुख न हों और फिरकभी ऐसे दुःखोंका मुँह न देखें। शरीरसे जो कुछ करें वह आपकी ही सेवा हो, पाँवोंसे चलें वह सब आपकी परिक्रमा हो, आँखोंसे जो कुछ देखें उसमें आप-का रूप ही निहारें, कानोंसे जो कुछ सुनें वह सब आपका गुणा-नुवाद ही हो, जो कुछ खावें वह आपका प्रसाद हो और जो कुछ पीवें वह सब आपका चरणामृत ही हो।

मम सर्वस्व स्वीकारहु हे कृपानिधान !

अर्पहुँ दोउ कर जोरे मैं श्रीभगवान् ! ॥१॥

(शेष पृ० १० पर देखो)

(६) क्रोधदमन-प्रार्थना।

हे भगवन् ! इस मनुष्य-जन्मका फल यह भोग नहीं, किन्तु चित्तकी शान्ति ही इस जीवनका मुख्य लक्ष्य है। हे प्रभो ! ये विषयभोग तो अनन्त योनियोंसे हमको प्राप्त होते आये हैं अब तक इनके संयोगसे शान्ति न मिली। बल्कि अधिकाधिक अग्निमें घृतकी आहुतिके समान इन्होंने चित्तको चञ्चल ही किया, फिर आगेको इनके सम्बन्धसे शान्ति प्राप्त होगी इसकी क्या आशा की जा सकती है ? शोक है कि हम अशान्तिमें शान्ति ढूँढते रहे और शान्तस्वरूप आपके चरण-कमलोंसे विमुख रहे। आप दयालु हैं हम दीन हैं, पिताके समान आप हमारे अपराधोंको क्षमा करें और हमको अपना बल दें कि हम सुखस्वरूप आपके चरण-कमलोंका आश्रय कर दुःखस्वरूप संसार-समुद्रसे तर जावें और अक्षय शान्तिको प्राप्त हों।

हे नाथ ! आपकी कृपासे हमने अब यह जाना है कि संसार मे अशान्तिका कारण और कोई नहीं है केवल पदार्थोंका ममत्व ही हमारे दुःखोका कारण बनता है । घर बार कुटुम्ब-परिवार आदि वास्तवमें हमारे नहीं है, क्योंकि हमारे इस शरीरमे आनेसे पहले भी ये किसी-न-किसी रूपमें थे और आपके ही थे तथा जब हम इस संसारमे न रहेंगे तब भी यह हमारे न रहेंगे, आपके ही होंगे। बीचमे ही इनको हमने अपनाकर अपनेको दुखी किया है। अब आप कृपाकर हमे वह बुद्धिबल दे कि जिससे फिर कभी इन पदार्थोंको अपना करके न जाने, वरन् आपके आज्ञाकारी सेवक की भाँति निष्काम-भावसे आपके परिवारकी सेवा करें और हानि-लाभ अपना करके न मानें । जो आज्ञा आप हमको हमारी बुद्धिद्वारा देवें उसका सत्यतासे पालन करें। जो कुछ मुँहसे बोले वह सत्य बोले। जो कुछ हमारे द्वारा हो वह सबकी भलाईके लिये हो। जो खावें वह आपका प्रसाद हो, जो पीवें वह आपका चरणामृत हो, हाथोंसे जो कुछ करे वह आपकी सेवा हो, पाँवों से चलें वह आपकी परिक्रमा हो, आँखोंसे देखे वह आपका ही रूप देखें और कानोंसे सुने वह आपका गुणानुवाद हो।

हे भगवन् ! यह क्रोधरूपी चाण्डाल जब हमारे हृदयमें प्रकट होता है तब हम तन-मनसे अपवित्र हो जाते हैं । इसके आगे हम हार पड़े हैं आप इससे हमारी रक्षा करें हम आपकी शरण हैं। अरे मन !जब कभी तू इस भूतके प्रभावमें आया हुआ होता है उस समय अवश्य तू अपने सद्गुरुसे विमुख और नास्तिक हो जाता है।

(१) यदि किसी प्रकार हानि समझकर तू इस पिशाचके प्रभावमे आता है तो तू परम नास्तिक है । क्योंकि प्रथम तो हानि-लाभ तेरा अपना कुछ है ही नहीं, जब कि कोई पदार्थ तेरे अपने रहते ही नहीं हैं। तू तो केवल अपने कर्तव्यका पालन

करनेवाला है, सो तू कर। फिर यदि किसीने व्यर्थ इस परिवार की हानि की है तो उसका हिसाब वे सत्गुरु परमात्मा आप कर लेंगे। उन त्र्यम्बककी आँखोंमें कोई लूण नहीं डाल सकता। तुझे क्या जरूरत पड़ी है कि तू अपनी ड्यूटीसे आगे बढ़कर उल्टा अपने मनरूपी अमूल्य रत्नको इन कौडियोंके बदले मलिन कर लेवे और कुटुम्बकी ममता जोड़कर उस सद्गुरुसे भी विमुख हो जावे। क्योंकि ममता विना क्रोध नहीं होता। दूसरे, यदि विचारसे देखा जाय तो इस हानिका कारण केवल यही है कि तू पहले कभी-न-कभी इन विषयोंमें मन फँसाकर अपने परमात्मासे अवश्य ही विमुख रहा है, जिसके बदलेमें उस परमात्माने इस रूपमें प्रकट हो तुझे चाबुक लगाया है। अब तू फिर उस विरोधीसे बदला लेनेको दौड़ता है। जरा होश कर, अपनी भूलको फिर दुगनी-चौगुनी कर रहा है और फिर चाबुक खानेका सामान पैदा कर रहा है।

(२) यदि अपमान समझकर तू क्रोधित होता है तो प्रथम तो अपमान तभी होता है जब तू इस चमड़ेको आपा करके जानता है और इसका अभिमान करता है। चमडेका अभिमान करनेवाले तो नीच जाति होते हैं। और सद्गुरुने तो अपने अनुभवसे बारम्बार हमको ऐसा उपदेश किया है कि तुम देह नहीं हो बल्कि आत्मा हो, फिर इसके विपरीत तेरा देहरूप बनना और देहरूप बनकर क्रोध करना सत्गुरुके वचनोंका अनादर करना है, जो महान काफिरपन है। इस तेरी दुष्टताके कारण तो तुझे तपना ही चाहिये। फिर उल्टा उस विरोधीसे बदला लेनेको दौड़ता है। जरा सम्हलकर देख कि ऐसे पवित्र वचनोंका अनादर करके अधोगतिको प्राप्त होगा।

हे प्रभू! आपके चरण-कमलोंकी दुहाई है इस पापीसे हमको बचाओ और अपना वह आत्मिक बल हमको प्रदान करो

हम जिससे इस शत्रुको जीते और इस चाण्डालसे हमारा स्पर्श न हो।

मम सर्वस्व स्वीकारहु हे कृपानिधान !
अर्पहुँ दोऊ कर जोरे मैं श्रीभगवान ! ॥१॥

(शेष पृ० १० पर)

---

(७) सर्वत्याग-प्रार्थना

हे भगवान् ! यह अपनी मायाका गोरख-धन्धा तो आपने विचित्र फैलाया है, यह तो किसी प्रकार सुलझनेमें ही नहीं आता। ज्यूँ-ज्यूँ सुलझाने जाते हैं उल्टा-उल्टा उलझता जाता है, हम तो बेढब फँसे हैं। आपकी मायाने तो बन्दरकी भाँति बड़ा नाँच नचाया है। अब तो हमसे यह नाँच नहीं नाँचा जाता, हम तो थक चुके। आपकी कृपासे थोडी आँखे टिमटिमाई तो मालूम हुआ कि हम तो अभीतक ठगे ही पड़े थे, जिनको भोग समझते थे वे तो रोग निकले, जिनको अमृत समझा था वे तो विष निकले। आपकी मायाका तो कहीं पार ही नहीं, जन्म-मरणके चक्रका कहीं अन्त ही नजर नहीं आता। अब कृपा करो अपनी मायाका समेटो, आपका तो खेल होगया परन्तु हमारा तो मरना। आपकी तो यह हँसी हुई परन्तु हमारा तो जलना और रोना। यह तो हाँसी में खाँसी निकल पड़ी।

कै विरहनिको मीच दे कै आपा दिखलाय।
आठ पहरका दाझना मोपै सहा न जाय ॥

कृपा करो, यदि आपको अपना खेल खेलना ही मञ्जूर है तो हमको भी वह दृष्टि प्रदान करो, जिससे हम भी तमाशा देखनेवाले बनें। अब तो हमसे इस संसाररूपी नाटकघरमें एक्टर (Actor) बनकर पिटने-पिटानेका झगड़ा नहीं सहा

जाता। अपना वह गीता-ज्ञान हमको भी प्रदान करो जो अर्जुनको दिया था, जिससे हम भी सब कुछ करते हुए कुछ न करनेवाले बनकर रहें। इतने कृपण क्यों होते हो? सूर्यको बारह (१२) महीने प्रकाश बख्श दिया, हमको आठों प्रहर निजानन्द देनेसे आप भूखे तो नहीं हो जाते।

हे प्रभो! अब तो हम आप उस मायावीको देखनेके लिये तड़पते हैं, जिस अनन्तके आश्रय यह तुच्छ माया भी अनन्त हो रही है। अब तो मुझसे दो-दो बातें नहीं हो सकतीं कि आपके कुटुम्बकी भी देख-रेख रक्खूँ और आप दुलारे-प्यारेके मुखको भी निहारूँ। अब तो मेरी मधूकरी हो तो तुम, मेरी कुटी हो तो तुम और लकुटिया हो तो तुम। आपकी इच्छा हो तो भले अपने कुटुम्बकी देख-भाल रखो, मेरा क्या इनसे गुजारा होता है? कृपा करो, अपना वह बुद्धि-बल दो कि जिससे हम आपके सर्वरूपको ज्यूँ-का-त्यूँ जानें। हाथोंसे जो कुछ करें वह आपकी सेवा हो, पाँवोंसे चलें वह आपकी परिक्रमा हो, आँखोंसे जो कुछ देखें वह आपका रूप देखें, कानोंसे जो कुछ सुनें वह आपका गुणानुवाद हो, जो कुछ खावें वह आपका प्रसाद हो और जो कुछ पीवें वह आपका चरणामृत ही हो।

मम सर्वस्व स्वीकारहु हे कृपानिधान !
अर्पहुँ दोउ कर जोरे मैं श्रीभगवान् ! ॥१॥

(शेष पृ० १० पर देखो)

---

(८) अहङ्कार-दमन प्रार्थना

हे भगवान्! आप कल्याणस्वरूप हैं, कल्याणमूर्ति हैं, कल्याणके समुद्र हैं। आप कल्याणस्वरूपसे कोई बुराई कैसे निकल सकती है? सूर्यसे अन्धकार कैसे प्रकट हो सकता है?

सच-मुच बुरे हम हैं, जो आपकी करणीमें भलाई बुराईकी कल्पना करते रहते हैं और तपते हैं। जिस प्रकार बच्चेके शरीरमें उत्पन्न हुए फोड़ेको जर्राह चीरा लगाकर उसकी पीप निकाल देता है, परन्तु मूर्ख बालक जर्राहके उपकारको न जान उल्टा रुदन करता है। इसी प्रकार हे स्वामी! आप भी हमारे संसाररूपी रोगको दूर करनेके लिये करुणा करके समय-समय पर हमारे हृदयमें चीरा लगानेकी कृपा करते हैं, परन्तु हम अपनी मूर्खतासे आपके उपकारको अनुपकार करके मान लेते हैं और उल्टा आपके अपराधी बन जाते हैं।

हे प्रभो! चारों ओरसे टक्करें खा-खाकर अब हमने यह अटल निश्चय कर लिया है कि संसारमें और दुःख कोई नहीं, केवल इस तुच्छ अहङ्कारका किसी भी रूपमें उदय होना, यही दुःख है और कालीय-दमनकी भाँति इसके फणोंको मसलते रहना, यही एक सुख है। यही सब दुःखोंकी खानि है, जिससे जन्म-मरणरूपी आपदाएँ निकलती रहती हैं। आप अनन्त शान्ति-समुद्रमें संसाररूपी भँवर उठानेवाला और जीवको उनमें डुबा देनेवाला यही एक जीवका परम शत्रु है। पहले यह अपने अज्ञान करके आपके स्वरूपसे भिन्न 'अहं' रूपसे कुछ बन बैठता है, शेष प्रपंचको अपनेसे भिन्न करके जानता है और इस भेद-बुद्धि करके किसीमें अनुकूलता, किसीमें प्रतिकूलता ठानता है। इसप्रकार अनुकूलमें रागबुद्धिसे चिमटनेके लिये और प्रतिकूलमें द्वेषबुद्धिसे त्यागके लिये झटपटाता है। इसी राग-द्वेषके कारण यह कर्ता-बुद्धि करके पुण्य-पापके बन्धनमें बँधा हुआ घटीयन्त्रके समान जन्म-मरणके चक्करमें पड़ा हुआ ऊपर-नीचे भटकता फिरता है। वास्तवमें यदि विचारसे देखा जाय तो कर्तापन रञ्चकमात्र भी इसका कुछ नहीं, सब कुछ कर्ता-धर्ता तो आप ही हैं। जो काम इसकी जानकारीमें होते हैं उनमें भी केवल

बीचमें ही अपनी टँगड़ी अड़ाकर 'मैं कर्ता हूँ' इस अभिमान करके वृथा अपने गलेमें फाँसी डाल लेना ही इसका प्रयोजन रह जाता है और कुछ नहीं! शरीरमें भोजन खानेके पीछे मल, मूत्र, सप्त धातु आदि। बननेपर्यन्त असंख्य अवस्थाएँ भोजनकी बनती हैं और लखोखा क्रियाएँ प्रत्येक घड़ी शरीरमें वर्त रही हैं जिनका इसको प्रत्यक्ष भी नहीं। परन्तु उन प्रत्येक अवस्था व क्रियाके ऐन नीचे तरङ्गोंमें जलके समान आपकी सत्ता हाज़िर है, आपकी सत्ता बिना किसी भी क्रियाका उद्‌बोध सम्भव नहीं। फिर जो काम इसकी जानकारीमें हो रहे हैं, उनमें भी इसका अभिमान धार लेनेके सिवाय और कोई लगाव नहीं। पाँवके चलनेमें, हाथके हिलनेमें, नेत्रादिके देखनेमें, मन-बुद्धिके सोचने में शरीर व दिमाग़के अन्दर असंख्य नाड़ियोंमें असंख्य चेष्टाएँ होती हैं जिनसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं, परन्तु आप उन प्रत्येक चेष्टाके ऐन नीचे विराजमान हैं, प्रत्येक बौद्धिक विकासमें आपकी ही ज्योति है।

अरे तुच्छरूप अहङ्कार! अब मैंने जाना है कि तू निस्सार है और तू मेरे अनर्थके लिये है। तेरा होना मेरे व्यवहार व परमार्थके नाशके लिये ही है, तू आया कि सभी आपदाएँ व विघ्न हाज़िर हुए। इस शरीररूपी बिलमें सर्पके समान बैठा हुआ तू ही अपनी फुत्कारसे मुझे तपानेवाला है, अब मैंने अपना चोर पकड़ा है, मेरे आत्मधनको चुरानेवाला तू ही है।

हे प्रभो! अपना वह बल प्रदान करो जिससे हम इस शत्रुको जय करें, आपके चरण-कमलोंके अनुरागी हों और सच्ची शान्तिके भागी बनें। हाथसे जो कुछ करें वह आपकी सेवा हो, पाँवों से चलें वह आपकी परिक्रमा ही हो, जो देखें आपका रूप देखें, जो खावें वह आपका प्रसाद हो और जो पीवें वह आपका चरणामृत ही हो। सबको अपनी आत्मा जानें किसीको तुच्छ

न समझे। जब हम किसीको तुच्छ जानते हैं तब आप तुच्छ हो जाते हैं, क्योंकि वास्तवमें वहाँ आप ही विराजमान होते हैं और वह आपकी ही एक झाँकी होती है। अपने अज्ञान करके वास्तवमें उस वस्तुका अनादर नहीं होता, बल्कि अपनी प्रतिक्रियासे हम आपके ही अपमानके अपराधी बन बैठते हैं। हरे-हरे, हे प्रभो! हमसे ऐसी भारी भूल फिर कभी न हो।

मम सर्वस्व स्वीकारहु हे कृपानिधान!

अर्पहुँ दोउ कर जोरे मैं श्रीभगवान्! ॥१॥

(शेष पृ १० पर देखें)

---

(६) मनोबल-वर्धक-प्रार्थना

हे अन्तर्यामी देव! हे मेरे साक्षीस्वरूप! हे मेरी आत्मा! हे सर्वात्मा! सर्व कर्ता तू ही है। तेरे सिवाय इस संसारमें है ही कौन, जिसको कर्तारूपसे ग्रहण किया जाय? दुःख-सुख सबका दाता तू ही है और तेरी सब चेष्टा हमारी भलाईके लिये ही है। दुःख तेरा महाप्रसाद है, जो तू अपने प्रेमियोंके लिये ही कृपा करता है। जिस प्रकार कुम्हार घड़ोंको अवेमें रखकर पकाता है, कच्चे घट तो किस कामके, वे तो जलको धारण ही क्या करेंगे, जरा-सी ठोकर लगते ही फूट पड़ते हैं। इसी प्रकार हे मेरे निजात्मन्! तू भी हमारे ऊपर दया करके हमारे हृदयरूपी घटोंको दुःख-सन्तापरूपी अवेके भीतर रखकर पकानेका कष्ट कर रहा है, जिससे ये हृदय जरा-जरा-सी ठोकरोंसे फूट न जावें और परमानन्दरूप अमृतको धारण करनेमें समर्थ हों। धन्य है, हे कल्याणस्वरूप! तेरी चतुराईको वारम्बार धन्य है! परन्तु हे सर्वसाक्षी! थोड़ी धीमी-धीमी अग्निसे सेको, बहुत तेज अग्निमें घटोंके फूट जानेका भी भय है। हम अभी तेरे नन्हे बालक

हैं, तेरी परीक्षामें पूरे उतरनेके योग्य नहीं। हाँ! इसी प्रकार तेरी कृपा बनी रही तो कोई बड़ी बात नहीं कि हम 'बावन तोला पाव रत्ती' ठीक-ठीक उतरें। तू अपना रहम कर, तेरी दयासे सब कुछ सिद्ध होता है। हनुमानने तथा ग्वालोंने तेरी कृपा-कटाक्षसे जब पर्वतको गेंदकी समान नचा डाला तो ये दुःख तो तुच्छ हैं। तेरी मेहर हो तो ये तो हमारे लिये फूल हैं, ये तो तेरी एक प्रकारसे प्रेम-ठठोली बन सकते हैं। लाल-लाल आँखोंमें, वज्रतुल्य वचनोंमें क्या तू विराजमान नहीं है? यदि है, तो फिर हमारे लिये दुःख क्यों? हमको वह दृष्टि क्यों नहीं प्रदान करते, कि हम वहाँ आपकी झाँकी कर सकें। सब करने-करानेवाले तो तुम हो, सब नाच तुम ही तो नचाते हो, हम तो केवल काठकी पुतली हैं। जो शस्त्र रण-संग्राममें ही नहीं चलाया गया तो खाली वीर बनने से क्या? सर्व कर्तापनेका अभिमान धारके बैठे हो, जो समयपर ही वहाँ अपने देखनेकी दृष्टि न दी, तो कर्तापन तुम्हारा किस काम का? लाल-लाल आँखोंमें छुपकर चोट मारनेका क्या काम? खुले मैदानमें आओ, क्या सामने आनेमें तुझे लाज आती है? क्या तेरी सुन्दरतामें बट्टा लग जायगा?

क्यों ओहले बह बह झाँकीदा। यह पड़दा किस तों राखीदा॥

राजा दिलीप जब वनमें नन्दनीकी सेवा कर रहे थे, तब उनकी परीक्षाके लिये धर्मने सिंहरूप धारणकर नन्दनीको पकड़ लिया। दिलीपने तत्काल सिंहके सम्मुख अपना शरीर खड़ा कर दिया कि पहले इसका भक्षण कर। यह साहस देख सिंह तत्काल सौम्यरूपमें प्रकट हो आया। इसी प्रकार हे अन्तर्यामिन्! आप मुझ नन्दनीके लिये साहसरूपी दिलीप भेजें, जिससे आपका यह नृसिंहावतार मेरे लिये आनन्दरूप बन जाय। 'अर्जी हमारी आगे मर्जी तुम्हारी है।'

इष्टदेवकी प्रार्थनाके अनन्तर

मनके साथ विचार

अरे मन! आज ईश्वरस्वरूप अपने इष्टदेवको साक्षी देकर सत्य-सत्य तेरेसे तेरे इस जीवनका लेखा माँगता हूँ। निष्कपटता से मुझे आज बता कि तेरा आना इस संसारमें और इस योनिमें किस लिये हुआ था और जिस निमित्त तू आया था उसमेंसे क्या कुछ तूने किया है? यह तो तुझे तत्काल ही कबूल कर लेना पड़ेगा कि केवल सुख प्राप्त करनेके लिये और ऐसा सुख प्राप्त करनेके लिये कि जिसका कभी क्षय न हो, केवल यही निमित्त तेरे संसारमें आनेका है।

अच्छा! अब यह बतला कि अबतक इस लक्ष्यकी पूर्तीमें तू कहाँतक आगे बढ़ा या पीछे हटा? मैं जो हड़काये कुत्तेके[1] समान इस भोजन (परंसुख)का भूखा आया था, अबतक मेरी भूख मिटानेके लिये क्या तो तूने:—

(१) भोगरूपी हड्डियाँ ही मेरे सम्मुख डालीं, जिनमें तेरे करके भरमाया हुआ मैं अपना ही मसोड़ा फोड़ अपना ही ख़ून पीता रहा। परन्तु मेरी भूख तो अभीतक एक ग्रासके बराबर

---

१ कुत्ते हड्डीको चबाते हैं जिससे उनका मसोढा फूटकर ख़ून निकल आता है। अपने ही ख़ूनका पान करके जो मिठास उनको प्रतीत होता है, वह मिठास हड्डीमेंसे आया जान वे बारम्बार उसको चबाते हैं। इसी प्रकार जो सुख विषयसम्बन्धसे जीवको प्राप्त होता है वह विषयोंमें नहीं, किन्तु मनुष्यके अन्तरात्माके अभासजन्य ही वह सुख होता है, जैसा आत्मविलास प्र.खं.पृ.७४ से ८२पर स्पष्ट किया जा चुका है। परन्तु मनुष्य अपने अज्ञान करके विषयोंको ही सुखस्वरूप जान बारम्बार उनका सेवन करता है और दुःखी होता है।

भी पूरी न हुई और मै नो सारे संसारके सुखको हड़प करनेके लिये तड़प रहा हूँ, कि जिससे ऊँचा और कोई सुख दुनियाँमे न मिले। परन्तु सुखके बजाय तूने तो उल्टा तृष्णाकी अग्निमे जलाया, जिसकी स्मृतिसे अब भी कलेजा जलता है और इसका कलङ्क तो इतना काला है कि इसकी स्याही अनेक जन्मोंमे भी नहीं धुल सकती।

(२) अथवा तूने मान-बड़ाई पानेमें अबतक मुझे फँसाया और यह चिरका दिया कि इससे मैं सुखी होऊँगा। परन्तु सुखी होनेके बजाय उल्टा राग-द्वेषकी अग्नि भड़की और दीनका दीन ही रहा।

(३) अथवा तूने मेरेमे यह अभिमान भरा कि मैं बुद्धिमे निपुण हूँ। परन्तु यह बुद्धिकी चतुराई तो संसारके लिये नहीं थी, इस चतुराईका उद्देश्य तो केवल यही था कि जड़-चेतनमिश्रित इस संसारमेंसे हंस-वृत्ति करके दूधके समान परम सार वस्तु को ढूँढ निकाला जाता। न यह कि इस चतुराई करके आप ही अपने गलेमे जन्म-मरणकी फाँसी लगा ली जाती।

हाय! इस हिसाबसे तो पाया कुछ नहीं,सर्वस्व खोया!कमाया कुछ नहीं, श्वासोंकी पूँजी ही गँवा बैठा! तृप्ति कुछ न हुई, उल्टा रोग बढ़ा। अरे दुहाई है! मैं तो लुट गया, मेरी गति तो इसके हाथोंमे वही हुई जो एक गौकी कसाईके हाथोंमें होती है। अरे दुष्ट! बछड़ेके समान दूध ग्रहण करनेके बजाय तू तो जोंककी भाँति मेरे ख़ूनका प्यासा हुआ। हंस बननेके बजाय तू तो मांस-विष्ठा ग्रहण करनेवाला काक निकला।

हे प्रभो दुहाई है आपके चरण-कमलोंकी, मैं अनाथ आपकी शरण हूँ, मित्रके स्वाँगमे इस शत्रुसे मेरी रक्षा करो।

मेरे घर विच चोर उचक्के। केई दुश्मन लागे पक्के॥

घर चोर न फड़िया जाई । मेरो तेरे पास[1] दुहाई[2] ॥
मैं दीन दुखी तव टेका । तुझ बाझ न सहुरा[3] पेका ॥
मेरा उजरा धाम बसावो । 'मेरा' 'मैं' नूँ मार मुकावो ॥
बिन दर्श तुम्हारा देखे । मेरा जीवन केहिरे लेखे ॥
अब नाथ देर नहीं कीजे । मेरी डुबदी नाव कढीजे ॥

अरे मन ! तू आप अपना शत्रु मत बन, अपना मित्र बन । इन आचरणोंसे तू भी सुखी कहाँ ? हाय ! तू इतना प्रमादी क्यों हो गया, जिससे आप ही अपनेको बन्धन कर अपने संगसे मुझ चेतन-पुरुषको भी अनर्थका पात्र बनाता है । मालूम होता है तू जातिसे कोई चाण्डाल है, जिसने केवल अपने सम्बन्धसे मुझ निष्पाप-निष्कलङ्कको भी पापी-कलङ्की बना डाला । अब तो चेत कर, अब भी कुछ नहीं बिगड़ा । सोना यदि कीचड़में मिल जाय तो उसके अन्दर कुछ विकार नहीं चला जाता, वह धोनेसे ही शुद्ध है । अब तू अपने-आपको शुद्ध कर और अपने सम्बन्धसे मुझ चेतन-पुरुषको मलिन करनेके बजाय मेरे सम्बन्धसे तू निर्मल हो ।

पुत्र कलत्र सुमित्र चरित्र, धरा धन धाम हैं बन्धन जी को ।
बारहिं बार विषय-फल खात, अघात न जात सुधारस फीको ।
आन औसान तजो अभिमान, सुनो धर कान भजो सिय पी को ।
पाय परमपद हाथ सुँ जात, गई सो गई अब राख रही को ।

एक श्वाँस खाली नहीं खोइये खलक बीच,
कीचरूप कलङ्क अङ्ग धोयले तो धोयले ।

---

१. बिना २ ससुराल ३. पीहर

उर अन्धियार पाप पूर से भरयो है,
तामें ज्ञान की चिराग् चित जोय ले तो जोय ले।
मानुष जन्म बार बार ना मिलेगो मूढ़,
परं प्रभू से प्यारो होय ले तो होय ले।
क्षणभङ्गुर देह तामें जन्म सुधारिबो है,
बिजली के झमके मोती पोय ले तो पोय ले।
अबके बाजी चौपड़ की पौ में अटकी आय।
जो अबके पौ ना पड़े तो फिर चौरासी जाय॥

मेरी बहिन! मेरी प्यारी बुद्धि! तू भ्राताके समान मेरा उपकार कर। मैं तुझ प्यारी बहिनका अतिथि हूँ। तू ऐसा सत्य-सत्य निर्णय कर जिससे हम-तुम सभी परिवार सुखी हों। इस पापी मनने मेरा बल मुझसे छीन लिया है, जिससे मैं अनन्त शक्ति होता हुआ भी इस दीनके सम्बन्धसे दीन हो गया हूँ। अब तू ज्यूँ-का-त्यूँ मुझे मेरा बल स्मरण करा, जिससे केसरी-सिंहकी भाँति इस मनके पिञ्जरको तोड़ मुक्त हो जाऊँ। और पूर्ण त्यागका बल मेरेमें ऐसा भर, जिससे डंकेकी चोट मायाको जीत अपने वास्तविक स्वरूपमें प्रवेश पाऊँ, इस तुच्छ शरीरमें अहंभावको भस्मकर सर्व भूत-प्राणियोंमें अहंरूपसे स्थित होऊँ और सब सम्बन्धोंको तोड़ तुम सबका ही आत्मा हो जाऊँ।

मेरे प्यारे मन! अब तू मेरा साथी बन, अपना विरोध त्यागकर मेरे बलमें अपना बल मिला और सत्यतासे विचार कर कि बिना त्यागके तो किसी प्रकार निर्वाह है नहीं:—

(१) यदि आर्थिक दृष्टिसे कुटुम्बियोंके किसी प्रकार क्लेश का विचार करता है तो तू उनके प्रारब्धका स्वामी बनता है

और ईश्वरके कामको अपने हाथमें लेता है। यह तो महान् नास्तिकता और काफ़िरपन है।

(२) यदि ऋणके विचारको सन्मुख लाता है, तो मुख्य-ऋण वह है जो ईश्वरकी ओरसे जीवपर लगाया गया है कि 'मुझको ठीक-ठीक जानो' इस ऋणके न चुकाने करके उसके व्याज-व्याजमें ही यह सांसारिक-ऋण सिरपर बढ़ते जा रहे हैं, जिनका पूरा-पूरा चुकाना ही कठिन है। यदि किसी अंशमें चुकाया भी गया तो सञ्चित-कर्मोंका अनन्त भण्डार भरा पड़ा है जिसका चुकाना तो असम्भव ही है। परन्तु जब हम इस मुख्य-ऋणको चुका जायेंगे तो आँखें खोलते-खोलते ये सब ऋण आप पूरे हो जायेंगे और 'त्याग' ही इस ऋणकी अदायगी है।

(३) यदि शरीरका विचार करता है तो अमरपटा तो लिख कर लाये ही नहीं हैं और वास्तवमें तो मरनेसे पहले ही मरना यही अमर होना है। इस लिये छोड दो इस शरीरकी आशाको, इसकी बलि दे दो उस वेनाम पर। मर्जी हो तो वह अपने शरीर की सेवा करे। उठ खड़ा हो, क्या संसाररूपी सरायमें डेरे डाले पड़ा है? यहाँ कोई माँ तो बैठी ही नहीं, देख सिरपर काल मँडरा रहा है। सुख चाहता है तो चल रामके धामको।

उठ जाग मुसाफिर भोर भई, अब रैन कहाँ जो सोवत है।
जो सोवत है सो खोवत है, जो जागत है सो पावत है॥
जो कल करना वह आज करले, जो आज करना वह अब करले।
जब चिड़ियाँ खेतको चुग गईं, फिर पछताये क्या होवत है॥

(१) तत्त्व विचार

(१) घर-बार, कुटम्ब-परिवार, जितने भी ममताके नाते हैं, ये सब नाते केवल शरीर करके ही हैं। स्वप्नमें जब इस शरीर से हमारा सम्बन्ध नहीं रहता तभी ये ममताके नाते नहीं

रहते, फिर शरीरके नाश होनेपर तो इन नातोंने रहना ही क्या है ? अर्थात शरीरको जब मैं आपा करके जानता हूँ तभी यह ममताका बन्धन मुझको बाँध लेता है।

(२) मो शरीर मैं कदापि नहीं। किन्तु यह तो पाँचों भूतोंके साझेकी एक गठड़ी है किसी एक भूत की भी नहीं, फिर मैं यह शरीर कैसे हो सकता हूँ ? दूसरेकी वस्तुको अपना मान बैठना तो चोरी है। ऐसा पाप करके मैं दु:खका भागी क्यों बनूँ ? और मैंने तो अपनी भूलसे इस शरीरको 'मेरा' मानकर ही संतोप नहीं किया, किन्तु यह शरीर ही 'मैं' बन बैठा और ममताके नाते जोड़ने लगा। यह तो एक घर पञ्चभूतोंने रचकर मुझको थोड़े काल निवासके लिये दिया था, परन्तु मैं तो अपनी जड़ता करके घर ही आप बन बैठा और इसके सुख-दुःख, मान-अपमान से तपने लगा। सभी क्लेशोंका मूल इस शरीरके साथ अहन्ता-सम्बन्ध ही है। घरमें रहनेवाला किरायेदार आप घर नहीं हो जाता और न घरके नाश होनेसे अपना नाश हो मानता है।

(३)इसलिये न मैं शरीर हूँ और न मेरा शरीर है। और जब शरीर ही'मैं'नहीं तो ममताके विषय पदार्थ कोई भी'मेरे'नहीं। मैं तो क्या स्थूल-शरीर, क्या सूक्ष्म-शरीर,क्या कारण-शरीर अर्थात् जाग्रत, स्वप्न व सुषुप्ति तीनों अवस्थाओंका देखनेवाला व जानने-वाला हूँ। यह तीनों अवस्थाएँ व्यभिचारी हैं। अर्थात् जाग्रत् में स्वप्न-सुषुप्ति नहीं, स्वप्नमें जाग्रत्-सुषुप्ति नहीं और सुषुप्ति में जाग्रत्-स्वप्न नहीं रहते। परन्तु 'मैं' तीनों अवस्थाओंमें हूँ और तीनों अवस्थाओंको देखने-जाननेवाला साक्षीरूप से सब अवस्थाओंमें हाजिर हूँ। तथा सब अवस्थाओंमें रहनेकी अपनी प्रत्यक्ष साक्षी भी देता हूँ कि "सुषुप्तिमें मैंने देखा संसार तथा शरीर,इन्द्रियाँ,मन, बुद्धि व अहंकार कुछ भी नहीं थे, केवल सुख ही सुख था। और स्वप्नमें मैंने देखा कि बड़ी चञ्चल दशा थी,

कभी मैं राजा था कभी भिखारी और वही मैं जाग्रत्‌मे यह सब टिकाऊ रूपसे देख रहा हूँ'। इससे स्पष्ट हुआ कि मैं सब अवस्थाओंमे हाजिर हूँ।

(४) अथवा दूसरा विचार यह कि जो चीज 'मेरी' होती है वह चीज 'मैं' आप नहीं हो जाता। किन्तु मेरी चीज मुझसे सदैव भिन्न होती है, जैसे मेरा भूषण, मेरा वस्त्र मुझसे अलग ही होता है। इसी प्रकार हम अपने बयानसे सिद्ध करते हैं कि 'मेरा शरीर रोगी है,' 'मेरी आँख-कान आदि इन्द्रियाँ थकित हो गई हैं,' 'मेरा मन नहीं टिकता,' 'मेरी बुद्धि चञ्चल हो रही है,' 'मेरा अन्तःकरण दुःखी है।' इत्यादि व्यवहारसे यह सिद्ध होता है कि न मै शरीर हूँ, न इन्द्रियाँ, न मन, न बुद्धि और न अन्तःकरण ही हूँ। किन्तु यह मेरे हैं और मेरा इनसे काल्पनिक मिथ्या सम्बन्ध है,क्योंकि सुषुप्तिमें यह कोई भी नहीं रहते परन्तु मैं तो वहाँ भी हूँ।

(५) इस प्रकार मैं सब अवस्थाओंका साक्षी, सबको देखने-जाननेवाला और नित्य-निरन्तर अजर-अमर हूँ। जरा-मरण, सुख-दुःख आदि विकार शरीरके हैं, शरीर अपने भोगों को भोगे, मुझे इससे क्या? किन्तु मैं तो शरीरके सब विकारों को जाननेवाला हूँ और यह सिद्ध करता हूँ कि 'मेरा शरीर सुखी है, दुःखी है' और उन दुःखादिको भी देखने-जाननेवाला हुँ। और यह बात स्पष्ट है कि देखनेवाला-जाननेवाला देखी जानेवाली चीज नहीं बन जाता,किन्तु देखी हुई चीजसे अलग ही रहता है। जैसे घटका देखने जाननेवाला स्वयं घट नहीं बन जाता।इसीप्रकार दुःखादिको देखने-जाननेवाला मैं दुःखादिसे अलग हूँ। शरीरके मरनेसे मैं मरता नहीं, जन्मसे मैं जनमता नहीं, शरीर रहे चाहे गिरे। शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि मेरे जलस्वरूपमे तरङ्ग के समान उत्पन्न होते और लय होते हैं, किन्तु मेरे जलस्वरूप

में कोई हानि नहीं कर सकते। शरीरादिके उत्पत्ति-नाशमें मैं अपने जलस्वरूपमें ज्यूँ-का-त्यूँ हूँ। उत्पत्ति-नाश तरङ्गोंका है, मेरे जलस्वरूपकी न उत्पत्ति है न नाश। तरङ्गोंकी उत्पत्तिमें भी जल है, स्थितिमें भी जल है और तरङ्गोंके नाशमें भी जल है। यही 'सोऽहं' (वह मैं हूँ) का भावार्थ है।

नहीं देह[1] इन्द्रिय न अन्तःकरण।
नहीं बुद्ध्यहङ्कार व प्राण मन॥
नहीं क्षेत्र घर वार नारी न धन।
मैं शिव हूँ, मैं शिव हूँ, चिदानन्द घन॥

(२) तत्त्व-विचार

(१) जिस प्रकार अन्तःकरण व इन्द्रियाँ घटादिको देखती-जानती हैं, इसी प्रकार देखना व जानना आत्माका नहीं। क्योंकि अन्तःकरण आँखसे निकलकर घटादि देशमें जाता है और वस्तुके रूपको अपनी क्रिया करके देखता है। वही अन्तःकारण कानसे निकलकर शब्ददेशमें जाता है और शब्द को जानता है। परन्तु आत्मा वस्तुदेशमें जाकर वस्तुका ज्ञान नहीं करता, क्योंकि वह तो सर्वव्यापी है उसमें आना-जाना नहीं बनता, वह तो पहले ही वहाँ मौजूद है। इसलिये आत्मा का देखना व जानना अन्तःकरणकी भाँति क्रियारूप नहीं, किन्तु केवल प्रकाशरूप है।

(२) जिस प्रकार दीपक घरमें आप प्रकाशमान होता हुआ घरकी अन्य वस्तुओंको विना किसी क्रियाके प्रकाशित कर

---

[1] न मैं देह, इन्द्रिय, मन व बुद्ध्यादि हूँ और न ही क्षेत्र, घर, स्त्री व धनादि मेरे हैं, किन्तु मैं तो वह अलुप्त-प्रकाश, आनन्द-घन शिव हूँ, जिसके प्रकाशमें यह सब प्रकाशमान हो रहे हैं और जिस प्रकाशमें इनका व्यवहार हो रहा है।

देता है इसी प्रकार आत्मा स्वयंप्रकाश होता हुआ शरीरके भीतर सुख-दुखादि तथा बाहर घट-पटादि सब पदार्थोंको प्रकाशित कर देता है। यह प्रकाशरूप ही उसका देखना-जाननाहै।

(३) परन्तु इतना भेद और है कि दीपक भी घरके एक कौने में रखा हुआ अपनी किरणोंको फैलाकर वस्तुओंपर अपना प्रकाश डालता है, किन्तु आत्माका प्रकाश ऐसा भी नहीं, क्योंकि आत्मा आकाशके समान बाहर-भीतर सर्वत्र-व्यापक है। इस लिये वह सर्वत्र सुख-दुखादि तथा घट-पटादिके भीतर आप बैठा हुआ सबको प्रकाश कर रहा है, दीपकके समान एक कौनेमें रहकर नहीं।

(४ जिस प्रकार एक ही व्यापक आकाश १०० घटोंमे आया हुआ भिन्न-भिन्न एक-एक घटाकाश नामसे कहलाता है। तथा वही आकाश घरोंमे आया हुआ भिन्न-भिन्न मठाकाश नामसे कहलाता है। परन्तु उन भिन्न-भिन्न घठ तथा मठोंकी उपाधि करके व्यापक आकाशके टुकडे नहीं हो गये, किन्तु वह तो घटादि उपाधिके रहनेपर ज्यूँ-का त्यूँ है तथा घटादि उपाधिके फूट-टूट जानेपर भी ज्यूँ-का त्यूँ है। इसीप्रकार एक ही आत्मा सर्वव्यापी सब वस्तुओंके बाहर-भीतर रहता हुआ सबको प्रकाश देता है और सब वस्तुओंके उत्पत्ति-नाश में उसका उत्पत्ति-नाश नहीं होता, वह तो सब भाव अभावमें ज्यूँ-का-त्यूँ है। सुख-दुखादिके आन्तर-ज्ञान, घट-पटादिके बाह्य ज्ञान तथा उनके भाव-अभावोंको प्रकाश देता है और आप ज्यूँ-का-त्यूँ है। सो ही मैं हूँ (सोऽहम्)। 'मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ' इन आन्तर-ज्ञानोंको, 'यह पहाड़ है, यह घर है' इन जड़ पदार्थोंको, 'यह घोड़ा है, यह गाय है' इन जङ्गम वस्तुओंको, 'अब घट है अब नहीं है' इन भाव-अभावोंको तथा 'अब सूर्य-चन्द्रादिका प्रकाश है और अब अन्धकार है' इत्यादि स्थावर-जङ्गम, स्थूल-सूक्ष्म,

भाव-अभाव, अन्धकार-प्रकाशरूप सब वस्तु व ज्ञानोको प्रकाश देनेवाला है। और आप न स्थूल है न सूक्ष्म. न स्थावर न जङ्गम, बल्कि सबसे न्यारा है। सोई सबका साक्षी मैं हूँ।

नहीं देह इन्द्रिय न अन्तःकरण।
नहीं बुद्ध्यहङ्कार व प्राण मन॥
नहीं क्षेत्र घर बार नारी न धन।
मैं शिव हूँ, मैं शिव हूँ, चिदानन्द घन॥

(३) तत्व-विचार

(१) जो वस्तु उत्पन्न होती है सो कार्य है. जैसे घट उत्पत्तिवाला होनेसे कार्य है। इसीप्रकार पञ्चभूतात्मक सम्पूर्ण बाह्य प्रपञ्च और देह, इन्द्रिय, मन, बुद्ध्यादि आन्तर प्रपञ्च उत्पत्तिरूप होनेसे कार्य है।

(२) कार्य बिना किसी उपादान कारणके उत्पन्न नहीं हो सकता, जैसे मृत्तिका बिना घटकी सिद्धि असम्भव है। इसीप्रकार कार्यरूप इस आन्तर व बाह्य जगतका उपादान अवश्य चाहिये। और सो उपादान इस अखिल प्रपञ्चका कोई एक ही वस्तु होना चाहिये। यदि नाना उपादान माने जाएँ तो वे नाना उपादान घट-पटादिके समान कार्य ही होंगे और फिर उन नाना उपादानोंका कोई एक ही उपादान मानना होगा।

(३) ऐसा एक उपादान अपने कार्योंसे भिन्न होकर भी नहीं रह सकता, बल्कि अपने कार्योंके सर्व देशमें अनुगत रहकर अभिन्नरूपसे ही उसकी स्थिति सम्भव है। जैसे मृत्तिका घट में अनुगत होकर अभिन्नरूपसे ही स्थित रहती है। इसी प्रकार कार्यरूप उभय (आन्तर-बाह्य) प्रपञ्चका उपादान कारण सत्ता-सामान्य सत्-चित्त-आनन्दरूप आत्मा ही हो सकता है, जो सर्व कार्योंके अन्तर-बाहिर अनुगत होकर अभिन्नरूपसे स्थित रहताहै।

(४) अपने उपादानसे भिन्न कार्यकी अपनी कोई सत्ता नहीं

हो सकती, केवल नाममात्र व प्रतीतिमात्र ही कार्य होता है। जैसे घटकी मृत्तिकासे भिन्न अपनी कोई सत्ता नहीं, मृत्तिकामें केवल नाममात्र व प्रतीतिमात्र ही घट होता है। इसी प्रकार कार्यरूप देहादि जगत्‌की आत्मासे भिन्न अपनी कोई सत्ता नहीं, केवल नाममात्र व प्रतीतिमात्र ही जगत् है। जिस प्रकार घट मृत्तिकारूप ही है, इसीप्रकार देहादि जगत् आत्मस्वरूप ब्रह्म ही है।

(५) यदि देहादि जगत्‌का कोई अन्य कारण पञ्चभूतादि माने जाएँ तो नहीं बनता, क्योंकि पञ्चभूत स्वयं कार्य हैं। और जो कार्य है वह कारण नहीं बन सकता, क्योंकि कार्य अपने उपादानमें नाममात्र ही होता है, वस्तुतः अपनी कोई सत्ता नहीं रखता। उत्पत्तिवाले होनेसे पञ्चभूत जब स्वयं कार्य हैं, अपने उपादानमें केवल नाममात्र हैं और स्वसत्ताशून्य है, तब वे देहादि जगत्‌का उपादान कैसे हों? क्योंकि मिथ्यासे मिथ्या की उत्पत्ति अथवा प्रतीति सम्भव नहीं, किन्तु सत् वस्तुके आश्रय ही मिथ्या वस्तुकी प्रतीतिका सम्भव है।

(६) इन रीतिसे सम्पूर्ण देहादि जगत्‌का कारण एकमात्र सत्तासामान्य, अस्ति-भाति-प्रियस्वरूप आत्मा ही है और उसीमें यह सब देहादि जगत्, अन्तःकरण व वृत्तियाँ आभासमात्र व प्रतीतिमात्र ही हैं। सम्पूर्ण प्रपञ्चमें अस्तिरूपसे वह सत्ता-सामान्य स्पष्ट प्रतीत होता है और उसीके भाससे ये सब भासमान हो रहे हैं। जैसे घट है, पट है, देह है, मन है, बुद्धि है, पर्वत है, वृक्ष है इत्यादि रूपसे सब प्रपञ्च सत्तारूप स्पष्ट प्रतीत हो रहा है, 'सो सबका सत्तारूप आत्मा मैं हूँ'।

नहीं देह इन्द्रिय न अन्तःकरण।
नहीं बुद्ध्यहङ्कार व प्राण मन॥
नहीं क्षेत्र घर वार नारी न धन।
मैं शिव हूँ, मैं शिव हूँ, चिदानन्द घन॥

(४) तत्त्व-विचार

(१) जिस प्रकार कटक-कुण्डलादि सुवर्णके विशेपरूप हैं व कार्य हैं, सुवर्ण कटक-कुण्डलादिका सामान्यरूप है व उपादान है।

इसी प्रकार पञ्चभूतरचित स्थावर-जङ्गमरूप जगत्, देह, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण और सुख-दुःखादि अन्तःकरणकी वृत्तियाँ उत्पत्तिवाले हैं। जो उत्पत्तिवाले हैं सो कार्य हैं और जो कार्य हैं सो सामान्यचेतनके विशेपरूप हैं। इसप्रकार सामान्यचेतन ही इन सब कार्यों (विशेप-रूपों)का सामान्यरूप है और उपादान है।

(२) जिस प्रकार सामान्यरूप सुवर्ण विना कटक-कुण्डलादि विशेपरूपोंकी उत्पत्तिका सम्भव नहीं और सामान्यरूप सुवर्णमें विशेषरूपोंके उत्पत्ति-नाशका कोई विकार भी नहीं।

इसी प्रकार सामान्यचेतन विना इन विशेपरूप कार्योंकी उत्पत्तिका सम्भव नहीं तथा सामान्यचेतनमें इन विशेपरूप कार्योंके उत्पत्ति-नाशका कोई विकार भी नहीं।

(३) जिस प्रकार यद्यपि कटक-कुण्डलादि विशेपरूपोंका परस्पर भेद है, तथापि सामान्यरूप सुवर्णसे किसीका भी भेद नहीं, वह सामान्यरूप सुवर्ण तो सब विशेपरूपोंमें अनुगत होकर व्याप रहा है।

इसी प्रकार यद्यपि पञ्चभूत, घर, जङ्गल, नदी, वृक्ष, पर्वत व देहादि विशेपरूपोंका परस्पर भेद है, तथापि सामान्य-चेतनसे किसीका भी भेद नहीं, वह तो सब विशेपरूपोंमें अनुगत होकर व्याप रहा है।

(४) जिस प्रकार कटक-कुण्डलादि विशेपरूप अपने सामान्यरूपसे भिन्न कोई वस्तु नहीं हैं। सब कटक-कुण्डलादि विशेषरूपोंमें सुवर्ण अपने सामान्यरूपको ही देखता है, विशेष-रूप केवल प्रतीतिमात्र ही हैं व भ्रममात्र ही हैं।

इसी प्रकार पञ्चभूतादि सर्व विशेषरूप सामान्यचेतनसे भिन्न कोई वस्तु नहीं हैं, सब विशेषरूपोंमें सामान्यचेतन अपने ही रूपको देखता है, विशेषरूप केवल प्रतीतिमात्र व भ्रममात्र ही हैं। क्योंकि सामान्यचेतनको निकाल लेनेसे विशेषरूपोंकी कोई सत्ता रहती ही नहीं है, जैसे सुवर्ण निकाल लेनेपर भूषणोंकी स्थिति नहीं रहती।

(५) जिस प्रकार उत्पत्ति व नाश कटक-कुण्डलादि विशेषरूपोंका है, सामान्यरूप सुवर्णकी न उत्पत्ति है न नाश। वह तो सब विशेषरूपोंके उत्पत्ति-नाशमें ज्यूं का-त्यूं है और सब विशेषरूपोंके उत्पत्ति-नाशको अपनी सत्तामात्रसे प्रकाशता है।

इसीप्रकार उत्पत्ति-नाश पञ्चभूतादि व देहादि विशेषरूपों का ही होता है, सामान्यचेतनकी न उत्पत्ति है न नाश। वह तो सब विशेषरूपोंके उत्पत्ति-नाशमें ज्यूं-का-त्यूं है और सब विशेषरूपोंके उत्पत्ति-नाशको अपनी सत्तामात्रसे प्रकाशता है।

(६) पञ्चभूतादिमें कारणता और देहादिमें कार्यताप्रतीति भ्रमरूप है, क्योंकि पञ्चभूतादि आप उत्पत्तिवाले होनेसे कार्य हैं व विशेषरूप हैं। और जो कार्य है सो आप भ्रमरूप है, फिर वह किसी दूसरेका कारण कैसे हो? जैसे कटक आप कार्य है फिर वह कुण्डलादिका कारण कैसे हो? केवल सामान्यचेतन ही सर्व कारण-कार्योंका एकमात्र कारण है। और घर है, देह है, सुख है, दुःख है इत्यादि सब भाव अभावरूप पदार्थोंमे है, है, है, है रूपसे प्रतीत होता है। 'सो सबका सत्तारूप सामान्य चेतन मैं हूँ,' यही 'सोऽहम्' शब्दका अर्थ है।

नहीं देह इन्द्रिय न अन्तःकरण।
नहीं बुद्ध्यहङ्कार व प्राण मन ॥
नहीं क्षेत्र घर बार नारी न धन।
मैं शिव हूँ मैं शिव हूँ चिदानन्द घन॥

ॐ ॐ ॐ